अनुक्रम

साहित्य

बिहार-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का त्रैमासिक मुखपत्र

वर्ष २ | चैत्र, संवत् २००८; अप्रैल, १९५१ ई० | अंक १

सम्पादक

शिवपूजन सहाय : : नलिनविलोचन शर्मा

अनुक्रम

ग्राहकों और पाठकों से नम्र निवेदन

'साहित्य' के दूसरे वर्ष का यह पहला अंक है। इसके निकलने में महीनों की देर हुई। इसके बाद के दोनों अंक (दूसरे और तीसरे) भी, इसी अंक के साथ, अलग-अलग, निकाल दिये गये हैं। ये तीनों अंक आपलोगों की सेवा में क्रमशः पहुँचेंगे। चौथा अंक भी शीघ्र ही मिलेगा, छप रहा है। 'साहित्य' के पहले वर्ष के चार अंक आपलोग देख चुके हैं। इसे सभी साहित्यिकों और साहित्यानुरागी सज्जनों ने सराहा है। आशा है, आपलोगों को भी यह पसन्द ही होगा। इसकी पाठ्यसामग्री शुद्ध साहित्य का अध्ययन-अनुशीलन करनेवाले विद्वानों और उच्च-वर्गीय विद्यार्थियों के लिए विशेष उपयोगी होती है। इसके दोनों अवैतनिक सम्पादक बड़े परिश्रम से इसको सर्वाङ्गसुन्द[illegible] में लगे रहते हैं।

बिहार-हिन्दी-[illegible] आर्थिक स्थिति से आप भलीभाँति परिचित हैं। सम्मेलन केव[illegible]मियों और हिन्दी-हितैषियों की सहायता के बल पर ही चल रहा है[illegible]त्यक संस्था को अधिकतर साहित्यिक प्रवृत्ति के सज्जनों से ही सहायता मि[illegible]कर यह 'साहित्य' आपकी ही सहानुभूति के सहारे निकलता है। इसको केवल आपकी ही सहायता का भरोसा है। विश्वास है कि आप इसे उदारता-पूर्वक अवलम्ब देकर इसे स्थायी बनाने की कृपा करेंगे।

सम्मेलन ने किसी प्रकार के लाभ की दृष्टि से 'साहित्य' नहीं निकाला है। वह बराबर इसके लिए आर्थिक हानि सहता आ रहा है। केवल इसी वर्ष 'साहित्य' की पाँच सौ प्रतियाँ खरीदकर बिहार-सरकार ने सम्मेलन का उत्साह बढ़ाया है। किन्तु इतने से ही 'साहित्य' का यथेष्ट पोषण नहीं हो सकता। आप-जैसे हिन्दीप्रेमियों का करावलम्बन पाये विना यह आगे नहीं बढ़ सकता। यदि इसका प्रत्येक ग्राहक और पाठक एक-एक दो-दो ग्राहक भी बढ़ाने की कृपा करें तो सम्मेलन साहित्य-सेवा के अपने दृढ़ संकल्प को पूरा करने में कभी पश्चात्पद नहीं होगा। ग्राहकों से हमारा सविनय अनुरोध है कि वे स्वयं तो ग्राहक बने ही रहें, दूसरों को भी ग्राहक बनाने का उद्योग करें। जो सज्जन ग्राहक न होकर केवल पाठक ही हैं, उनसे भी विनीत प्रार्थना है कि वे भी समर्थ साहित्यानुरागियों को ग्राहक बनने के लिए प्रेरणा और प्रोत्साहन दें। यदि वे हिन्दी में 'साहित्य' के समान शोध-समीक्षा-प्रधान सुसम्पादित पत्र की अनिवार्य आवश्यकता का अनुभव करते हों तो उन्हें यथायोग्य इसकी सहायता करने पर ध्यान देना चाहिए। आशा है कि ग्राहकों, पाठकों और सहृदय सहायकों की सहानुभूतिपूर्ण कृपा से इस दूसरे वर्ष में 'साहित्य' स्वावलम्बी हो सकेगा।

हिन्दी में आज मौलिक साहित्य की सृष्टि के लिए गंभीर गवेषणात्मक निबन्धों की कितनी आवश्यकता है, यह बतलाने की जरूरत नहीं। यह भी बतलाने की जरूरत नहीं कि 'साहित्य' में कैसे अनुसंधान-मुलक और समीक्षात्मक निबन्ध प्रकाशित किये जाते हैं। साहित्य के मननशील मनीषियों के ही लेख इसमें छपा करते हैं। अभी तक 'साहित्य' अपने विद्वान लेखकों को किसी प्रकार का आर्थिक पुरस्कार देने में समर्थ नहीं हुआ है। यदि ग्राहक और अनुग्राहक कृपा करें तो हिन्दीसंसार के अन्यान्य यशस्वी निबंधकारों का सहयोग भी 'साहित्य' को प्राप्त हो सकता है।

—व्रजशंकर वर्मा, प्रधान मन्त्री
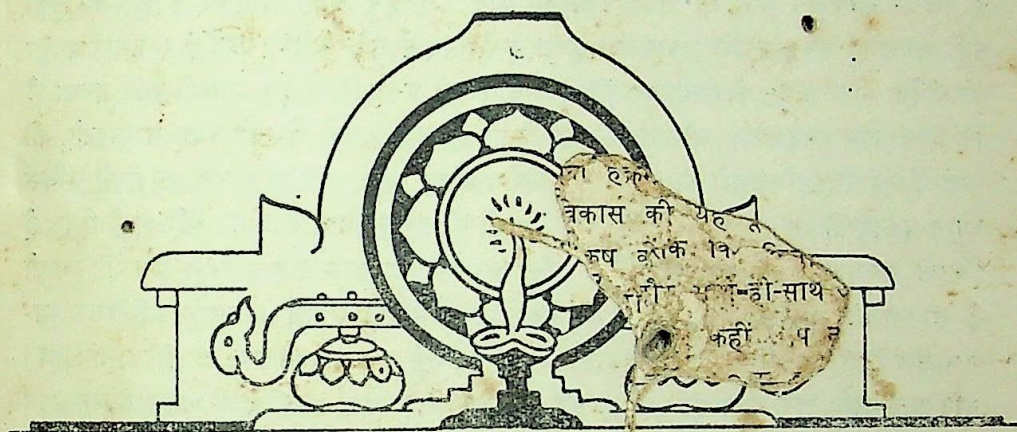
बिहार-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का त्रैमासिक मुखपत्र

वर्ष २ | चैत्र, संवत् २००८; अप्रैल, १९५१ ई० | अंक १

सम्पादकीय

हिन्दी के पत्रों की बाढ़

हिन्दी में पत्र-पत्रिकाओं की संख्या दिन-दिन बढ़ती नजर आती है। दैनिक, साप्ताहिक, पाक्षिक, मासिक, त्रैमासिक आदि नित्य नये दीख पड़ते हैं। इनमें कुछ तो बहुत ही अच्छे हैं; पर अधिकांश ग्लानिकारक ही हैं। सम्पादन-कला से बहुत कम पत्रों का सम्बन्ध है। कुछ अच्छे पत्रों का बाहरी रूपरंग तो बड़ा आकर्षक है; पर उनमें छपे महत्त्वपूर्ण लेख भी सुसम्पादित नहीं होते। अधिकांश में छपाई की गलतियाँ बहुत रहती हैं। ऐसा जान पड़ता है कि छपाई की शुद्धता पर ध्यान देना हमारे अधिकतर सम्पादक पसन्द नहीं करते। पत्र-

संचालक या प्रकाशक तो शुद्ध छपाई की चिन्ता करना अनावश्यक समझते हैं। खेद है कि भाषा की शुद्धता भी बहुतों के द्वारा उपेक्षित है। इन बातों की सचाई के प्रमाण तभी मिलेंगे जब पत्र-पत्रिकाएँ बारीकी से देखी जायँगी। प्रमुख पत्र-पत्रिकाओं में भी गिनी-चुनी ही ऐसी हैं जिनमें सम्पादन-कला का आदर्श निभाया जाता है। हम अपने 'साहित्य' को दूध का धुला नहीं समझते; पर हम उसे यथाशक्ति सुधारने-सँवारने में सदैव सचेष्ट रहते हैं। हमारे प्रयास पर अनेक उच्च कोटि के साहित्यकारों ने सन्तोष भी प्रकट किया है। हमारी यही इच्छा है कि हिन्दी जब राष्ट्रभाषा और राजभाषा हो गई है तब उसके लेखकों तथा सम्पादकों को पुस्तकों एवं पत्र-पत्रिकाओं की [illegible] में ल[illegible] विशेष ध्यान रखना चाहिए। इस पर सबसे अधिक ध्यान प्रकाशकों का [illegible] [illegible] हिन्दी में अनेक सामयिक पत्र-पत्रिकाएँ ऐसी हैं जिनके सम्पाद[illegible] [illegible]मयों और सुन्दरता पर खास तौर से ध्यान देना भी चाहते हैं तो पत्र-सं[illegible] [illegible]त्यक्ष की उदासीनता से नहीं दे पाते। हमारे अधिकतर पत्र-संचालक जित[illegible] [illegible]नकराभ का ध्यान रखते हैं उतना अपने पत्र के गौरव का नहीं। यदि कोई साहित्यिक सम्पादक स्वयं ही पत्र-संचालक भी होता है तो पूँजी के अभाव में वह अपने पत्र को मनचाहे ढंग से सर्वाङ्गसुन्दर नहीं बना पाता, और यदि बनाने का दुस्साहस करता भी है तो आर्थिक हानि के कारण पत्र को नियमित एवं स्थायी नहीं बना सकता। फिर एक बात यह भी है कि कोई पूँजीपति अथवा धनाढ्य प्रकाशक अगर सर्वाङ्गसुन्दर एवं सुसम्पादित पत्र निकालता और चलाता भी है तो उसके शान-गुमान का कभी अन्दाज ही नहीं मिलता, उसके मिजाज और दिमाग का पारा हमेशा चढ़ा ही रहता है; वह धरातल पर खड़े साहित्यिक सम्पादक पर सातवें आसमान से नजर डालता है; वह पत्रकार को चाँदी का चेरा समझता है! ऐसे संकुचित दृष्टिकोण के पत्राध्यक्षों से हिन्दी-पत्रों की मर्यादा नहीं बढ़ सकती। वर्त्तमान परिस्थिति से यही अनुमान होता है कि हिन्दी में अब न कोई चिन्तामणि घोष होगा—न महावीर प्रसाद द्विवेदी, न शिवप्रसाद गुप्त—न बाबूराव विष्णु पराड़कर, न शिवनारायण मिश्र—न गणेशशंकर विद्यार्थी, न रामानन्द चटर्जी—न बनारसीदास चतुर्वेदी। पत्र-संचालक और सम्पादक का आदर्श सम्बन्ध उन्हीं लोगों के साथ चला गया। सम्पादक की वास्तविक प्रतिष्ठा समझनेवाले पत्र-संचालक अब नहीं रहे; यदि कहीं एकाध हों भी तो उनसे केवल अनामिका सार्थवती होती है।

—शिव०

हिन्दी में प्रूफ-रीडिङ्ग की कला

साधारणतः प्रूफ-रीडिङ्ग का काम बहुत रद्दी समझा जाता है। इसे विद्वान् लोग दिमाग को दिक करनेवाला और आँख फोड़नेवाला काम समझते हैं। सचमुच हिन्दी का प्रूफ पढ़ना आँखों का इत्र निकालना है। किन्तु यह काम चाहे कितना भी फालतू या मनहूस या नेत्रोत्पीड़क हो, यह तो हर हालत में मानना ही पड़ेगा कि इस काम का महत्त्व भी सर्वोपरि है। यदि प्रूफ ठीक शोधा न जाय तो अच्छे-से-अच्छे लेख कौड़ी के तीन हो जा सकते हैं। प्रूफ-रीडिङ्ग में कसर रह गई तो अर्थ का अनर्थ हो ही जायगा। लेखक का आशय क्यों गुम हुआ? कविता में अर्थ की संगति क्यों नहीं बैठती? समस्त पदों में छत्तीस का नाता क्यों है?—इस तरह के बहुतेरे

प्रश्नों का एक ही उत्तर दिया जा सकता है——प्रूफ सावधानता से देखा न गया । ऐसी महिमा है प्रूफ-संशोधन की। इस कला की सच्ची सहायता के बिना लेखक और कवि की कला कच्ची रह जा सकती है। किन्तु यह सब कुछ तभी सही है जब हिन्दी के पत्रकार और प्रकाशक प्रूफ-संशोधन-कला की उपेक्षा न करके उसकी अपेक्षा का अनुभव करें, साथ ही जो लोग हिन्दी के सूत्रधार अथवा भाग्यविधाता हैं और उसकी गौरव-गरिमा के सुरक्षित रखने में तत्पर हैं, वे भी अनुभव करें; केवल अनुभव ही करके न रह जायँ, बल्कि इस कला की शिक्षा के लिए प्रत्येक प्रान्त में आयोजन करें। हिन्दी के सम्पादकों और पत्रकारों के जो भारतीय एवं प्रान्तीय सम्मेलन हैं उनका तो सबसे पहला काम यही है कि हिन्दी में अच्छे प्रूफ-रीडर पैदा करें——हिन्दी की प्रतिष्ठित शिक्षण-संस्थाओं में [illegible]मित शिक्षा की व्यवस्था करें। किन्तु कभी-कभी ऐसा अनुभव होता है कि [illegible]कास की यह [illegible] ध्यान देने या विचार करने को फुर्सत ही किसी को नहीं है! मानों हिन्दी [illegible] हमदर्द है ही नहीं। केवल हिन्दीहित ही जिसके चिन्तन का विषय हो, [illegible] व्यक्ति हिन्दी-संसार में नहीं रह गया। महावीर प्रसाद द्विवेदी [illegible] दास चले गये, हिन्दीहितैषणा उनके साथ गई। टंडन जी को राजनीति से छुट्टी ही नहीं। पं० बनारसीदासजी चतुर्वेदी हिन्दी-सम्बन्धी प्रश्नों पर बराबर विचार करते रहते हैं; मगर उनके सुझावों पर हिन्दीजगत् में जैसा संगठित आन्दोलन होना चाहिए वैसा नहीं होता, क्योंकि हमारे पत्रकारों और सम्पादकों की दृष्टि में हिन्दी की समस्याओं पर निरन्तर विचार या आन्दोलन करते रहने की आवश्यकता नहीं है। उदाहरण के लिए प्रूफशोधनकला ही लीजिए। इस कला की महत्ता से कौन हिन्दीप्रेमी अपरिचित है? किन्तु हमारे प्रकाशक और प्रेसों के मालिक सस्ते-से-सस्ते प्रूफशोधक खोजते हैं। उनकी दृष्टि में प्रूफशोधक एक निरीह प्राणी है, फिर भी बेचारा उनकी दया का पात्र नहीं! उसका अस्तित्व अनिवार्य नहीं समझा जाता! कितने ही प्रेसाध्यक्ष प्रूफरीडर रखने की आवश्यकता ही नहीं समझते। सचमुच हिन्दी-जगत् के अनेक प्रेसों में प्रूफरीडर हैं ही नहीं। बहुत-से पत्र-पत्रिका-कार्यालयों में भी प्रूफ-रीडर नहीं रखे जाते। छोटे-मोटे प्रकाशक, जिनके पास अपना प्रेस नहीं है, दूसरे प्रेसों पर ही निर्भर रहते हैं, नहीं तो किसी लेखक या विद्वान से ही काम लेते हैं। किन्तु प्रत्येक लेखक अच्छा प्रूफरीडर नहीं हो सकता। विद्वान से प्रूफ-रीडिङ्ग कराना तो तभी उचित है जब कोई अत्यन्त महत्त्वशाली ग्रंथ छप रहा हो। पर विद्वानों में भी अच्छे प्रूफ-शोधक बहुत कम ही होते हैं। यह आवश्यक भी नहीं कि हरएक विद्वान सुयोग्य सम्पादक और प्रूफरीडर भी हो। लेखक या विद्वान जितना समय और दिमाग प्रूफ में लगावेगा उतने में वह सुन्दर साहित्य की रचना कर सकता है। हमें पता है कि हिन्दीसंसार के अनेक यशोधन विद्वानों का काफी से ज्यादा समय प्रूफ देखने में बरबाद हो गया है और अब भी हो रहा है। यदि इस कला की शिक्षा पाये हुए योग्य व्यक्ति सुलभ होते तो अनेक विद्वानों के जीवन के अमूल्य क्षण साहित्यसृष्टि के लिए बच पाते। जब हमें इस समय हिन्दी को राष्ट्रभाषा और राजभाषा की पदमर्यादा के योग्य बनाना तथा अपने साहित्य का नवनिर्माण करना है तब यह अत्यावश्यक है कि हम अपनी भाषा की हरएक छोटी-बड़ी समस्या पर गहराई से विचारें

करते रहने में तत्पर हों, और हम समझते हैं कि प्रूफ-रीडिङ्ग की कला सिखाने तथा इस कला को उन्नत करके हिन्दी का मान बढ़ाने की समस्या सर्वापेक्षा महत्त्वपूर्ण है। —शिव०

हिन्दी के शब्दों की एकरूपता

हाथ की लिखावट और छपाई में हिन्दी के अथवा हिन्दी में प्रयुक्त होनेवाले अन्य भाषाओं के शब्द नाना रूप में दीख पड़ते हैं। अहिन्दी-भाषा-भाषियों के लिए यह बहुत बड़ी कठिनाई है और हिन्दीवालों के लिए एक जटिल समस्या। प्रचलित रूपों में इ[illegible]नी विविधता है कि हिन्दी सीखनेवाले इस विषय में सदैव संशयालु बने रहते हैं। जब कभी वे किसी अच्छे जानकार के आगे अप[illegible]पें ल[illegible] पेश करते हैं तब अच्छे-से-अच्छे जानकार को भी निरुत्तर रह जाना पड़[illegible] [illegible]वितुओं के प्रश्नों से प्रायः ऐसा अनुमान होता है कि यह अनेक[illegible]मयों[illegible]त में वस्तुतः बड़ी बाधा है। इसके कारण जवाबदेह सम्पादकों की [illegible]त्यक बढ़ जाती हैं। कुछ पत्र-पत्रिकाएँ तो ऐसी हैं ही जिनके अपने कुछ ख[illegible]तकर वे उन्हीं बँधे-सधे नियमों के साँचे में सभी रचनाओं को ढालने के लिए बाध्य हैं। विभिन्न लेखकों की विभिन्न लेखनशैलियाँ होती हैं। सम्पादक को अपने निश्चित नियमों के अनुसार सभी साहित्यकारों की रचनाएँ सुधारनी पड़ती हैं। इसमें समय और शक्ति का क्षय होता है। पर इसमें साहित्य-रचयिताओं का कोई दोष नहीं दीख पड़ता; क्योंकि हिन्दी में अभी तक लिखावट और छपाई के अन्दर शब्दों की एकरूपता निश्चित ही नहीं हुई है। पता भी नहीं लगता कि आखिर कौन इसे निश्चित करेगा। हमारे अखिल-भारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन को लज्जाजनक झगड़ों से फुर्सत नहीं। काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा भी दलबन्दी अथवा अर्थाभाव के कारण हिन्दी और नागरी के हित-साधन का अपना कार्यक्रम पूरा नहीं कर पाती। पत्रकारों और सम्पादकों को राजनीतिक प्रपंच से अवकाश ही नहीं कि लिपि और भाषा की समस्याओं के समाधान के लिए नियमित रूप से आन्दोलन करें। सरकार के बूते का यह काम नहीं। विधान-सभा के कानून से लेखन-मुद्रण-प्रणाली नहीं सुधारी जा सकती। तब फिर यह काम करेगा कौन? हिन्दी केवल राष्ट्रभाषा या राजभाषा घोषित होने से ही भारत-व्यापिनी भाषा बन जायगी? उसके विरोधियों और शत्रुओं की कुछ कमी नहीं है। उसकी राह में रोड़े अटकानेवाले बराबर सजग हैं। उसके छिद्रान्वेषक भी विलक्षण सूक्ष्मदर्शी हैं। ऐसे लोगों की गुटबन्दी भी कमजोर नहीं है। किन्तु यह सब जानते हुए भी, हम जो हिन्दी के हिमायती या हितैषी होने का दावा रखते हैं, बिलकुल बेखबर हैं, गफलत की नींद सो रहे हैं, सचमुच हिन्दी की इज्जत खो रहे हैं। हमें लिपि, भाषा, व्याकरण, मुद्रण आदि में जो भी सुधार या परिष्कार या परिवर्तन करना है उसे सामूहिक या व्यापक रूप में शीघ्र कर डालना चाहिए। सुनते हैं कि दिल्ली में एक अखिलभारतीय हिन्दीपरिषद् खुली है जो हिन्दी-नागरी-सम्बन्धी आधुनिक समस्याओं पर ध्यान रखती और विद्वानों का भी ध्यान आकृष्ट करती है, किन्तु जबतक हिन्दी की सभी प्रसिद्ध संस्थाओं और पत्र-पत्रिकाओं के द्वारा जन-साधारण के बीच नियमित आन्दोलन नहीं होगा तबतक किसी एक संस्था या एक पत्रिका के प्रयत्न

से कुछ फल न निकलेगा। दक्षिण-हैदराबाद की प्रतिष्ठित पत्रिका 'कल्पना' इस विषय में सतत सचेष्ट है ; पर मासिकों से अधिक यह काम दैनिकों एवं साप्ताहिकों का है; क्योंकि सर्वसाधारण तक उन्हीं की पहुँच है। यदि जनता में इस विषय का निरन्तर आन्दोलन होता रहे तो लोग इसका महत्त्व समझकर इसमें दिलचस्पी लेने लगेंगे। लोकमत जाग्रत होने पर ही अधिकारी विद्वानों का एक निर्णायक-मंडल बन सकेगा। विद्वन्मण्डल का निर्णय सर्वमान्य होगा, इसमें सन्देह नहीं। परन्तु इसके लिए उन सैकड़ों शब्दों का चुनाव या संग्रह करना पड़ेगा जिनके विभिन्न प्रकार के रूप प्रचलित हैं। यह चुनाव या संग्रह सामूहिक सहयोग द्वारा आसानी से हो सकता है। पत्र-पत्रिकाओं में भी ऐसे शब्दों की तालिका क्रमशः प्रकाशित की जा सकती है। पत्र-पत्रिकाओं के द्वारा ही हिन्दी-प्रेमी ज[illegible] लेखकवर्ग का मत एवं विचार जाना जा सकता है। 'साहित्य' के पाठक भी इस[illegible] करने को आगे बढ़ें तो अच्छा होगा।

—शिव०

सा[illegible]हित्य-निर्माण की पंचवर्[illegible]

देश की स्वतंत्रता के बाद की शासनावधि दूस[illegible]फल रही है या असफल इस पर हमें यहाँ कुछ नहीं कहना। जहाँ तक साहित्य-निर्माण का प्रश्न है हम इस अवधि को तो योजनाओं की अवधि भी नहीं कह सकते—और कम से कम इतना तो दूसरे क्षेत्रों के संबंध में कहा ही जा सकता है।

दूसरे क्षेत्रों में कम या ज्यादा, कुछ न कुछ, काम होता रहा है : बाँध नहीं बँधे हैं तो पैमाइश जरूर हुई है ; एंजिनें न भी बनी हों, कारखाने का ढाँचा तो खड़ा हो ही गया है ; उल्लेखनीय आविष्कार न भी हो पाये हों, अनेक प्रयोगशालाएँ तो स्थापित अवश्य हो गई हैं ; न कुछ सही तो धाराएँ पारित-स्वीकृत हुई हैं, और एक व्यापक आर्थिक योजना की रूप-रेखा तैयार कर ली गई है। बंजर खेत में हल चला कर बीजारोपण कर देना कम बड़ा काम नहीं है !

और आत्म-संतोष के लिए साहित्य-निर्माण के क्षेत्र में भी यह तो कहा ही जा सकता है कि माध्यम का प्रश्न तो हल कर ही लिया गया है ; अब सिर्फ काम करते जाना है। ऐसा कहना ठीक ही होता अगर इस समस्या के समाधान का श्रेय हम ले सकते। वस्तुतः यह समाधान तो पहले से ही वर्त्तमान था, हमने किया इतना भर ही तो है कि बहुत तर्क-वितर्क के बाद अर्ध-हार्दिक रूप से सुलभ समाधान को स्वीकार कर लिया है !

ऐसी स्थिति में, जब हमें समाधान ढूँढ़ने वाली बहुत बड़ी मुश्किल को हल नहीं करना था, हम आसानी से, साहित्य निर्माण के माध्यम को स्वीकार करते ही, तुरत बहुत आगे बढ़ सकते थे। ऐसा नहीं हो सका, यह खेदजनक है। ऐसा अब हो सके इसके लिए कृतसंकल्प होना हमारा कर्त्तव्य है।

उद्योग-धंधे के क्षेत्र में हमारा देश पाश्चात्य देशों की तुलना में पिछड़ा हुआ है तो हमें एक सुनिश्चित योजना के अनुसार कार्य करना ही होगा। इसी तरह साहित्य-निर्माण के क्षेत्र में हम उन्नत देशों की अपेक्षा बहुत पीछे हैं तो हमें देश-व्यापी पैमाने पर, शासकीय योजना के अनुसार, इस दिशा में अग्रसर होना पड़ेगा।

यदि साहित्यिक संस्थाएँ इस गुरु दायित्व को स्वीकार करने की स्थिति में होतीं तो वे सरकार क सामने महनीय आदर्श उपस्थित कर सकती थीं। अकेले सम्मेलन के पास ही ऐसे और इतने साधन थे कि हमारे पिछड़े हुए देश को भी, कम से कम इस क्षेत्र में, सरकारी योजना और चेष्टा की कोई जरूरत न रह जाती—आवश्यक सहायता तो बिना माँगे मिलती ही रहती। लेकिन जब हिंदी और देश की इस महान संस्था के संचालन के लिए ही सरकारी कर्मचारियों की जरूरत आ पड़ी है तो उसकी साधन-संपन्नता की चर्चा ही वृथा है; भरोसा सरकार का करना ही पड़ेगा।

तो साहित्य-निर्माण की यो[illegible]का भार भी अंततः सरकार पर ही है। हम आशा करें कि केंद्र अपने [illegible]को भी निभाने को तत्पर है, हम मान कर चलें कि कद्रीय सरकार[illegible]-निर्माण का भी नील-मुद्रण (Blue print) तैयार करने [illegible] आशा से, यही मान कर, अपने कुछ सुझाव सामने रख देना अना[illegible]न नहीं समझते। जो लोग कहेंगे कि अभी तो गाछ पर भी कटहल नहीं है [illegible] ओठ [illegible]र तेल लगने लगा, तो हम इस पर इतना ही कह सकते हैं कि हम उनकी तरह घोर निराशावादी नहीं हैं। जिसने देश की स्वतंत्रता जैसे असंभव व्यापार को संभव होते अपनी आँखों से देखा है वह स्वतंत्र देश की क्षिप्र उन्नति में संदेह कर भी कसे सकता है!

हम योजना का अनाहूत प्रारूप पृथक् प्रस्तुत करेंगे; यहाँ हम इसके आधारभूत सिद्धांतों का निरूपण ही अपेक्षित समझते हैं।

किसी भी योजना की सार्थकता इसी में है कि बन कर एक बार स्वीकृत हो जाने पर वह कठोरतापूर्वक निर्धारित अवधि के भीतर ही कार्यान्वित की जाए। ऐसा नहीं होता तो अच्छी से अच्छी योजना 'मसि-कागद' का अपव्यय है। ऐसा हो सके तो एक साधारण योजना भी महान् उपलब्धि बन जाती है—'पूर्णता गौरवाय'! उस्मानिया विश्वविद्यालय जैसी छोटी-सी संस्था ने देखते-देखते जो कर दिखाया था, उससे हजार गुना ज्यादा कर लेना भारत सरकार के बाएँ हाथ का खेल होगा, इसमें क्या कोई शक हो सकता है!

देश क कुछ अविकसित उद्योग-धंधों के लिए सरकार व्यवसायियों को सहायता देती है—हम नहीं जानते उन्हें किसी निश्चित अवधि में निश्चित उत्पादन के लिए प्रतिश्रुत भी होना पड़ता है; इसी प्रकार देश में प्रकांड प्रयोगशालायें खुली हैं—हम नहीं कह सकते उनके संचालकों से वचन लिया गया है या नहीं कि वे इतने दिनों के भीतर कम से कम ये-ये काम तो कर ही, करा ही डालेंगे! किंतु साहित्य-निर्माण में सरकार जो व्यय करेगी, जिस निर्माण-शाला की स्थापना करेगी, उसके लिये पहली शर्त यही हो सकती है कि जिसके हाथ में संचालन सौंपा जाएगा वह अपनी कार्यावधि की समाप्ति तक प्रायः अवैतनिक रहेगा। उसके तत्त्वावधान में योजना पूरी हो गई तो उसे जीवन-पर्यन्त आर्थिक चिंता से मुक्त रखना सरकार का कर्त्तव्य होगा, योजना

अधूरी रह गई, दायित्व का पालन नहीं हुआ तो 'पुनर्मूषिको भव'—यह नहीं कि लंबे वेतन का सरकारी ओहदा तो मिल गया, देश का काम हुआ हुआ, नहीं हुआ न सही !

योजना के इस प्रकार के कार्यान्वय के लिए सरकार को एक साथ ही संघटित संस्था को पूरी स्वतंत्रता भी देनी होगी और उस पर पूरा नियंत्रण भी रखना होगा। अगर पाँच साल की योजना बनी तो साल भर तक तो संस्था को उतनी छूट रहेगी जितनी किसी गैर-सरकारी संस्था को रहती है ; लेकिन साल पूरा होते न होते पूरा लेखा-जोखा ले लिया जाएगा कि पूर्ण अवधि के अंश के अनुपात में अनुमित कार्य हुआ या नहीं ! ऐसी शर्त्त, ऐसी मनोवृत्ति रहे[illegible] तो योजना के संचालन के लिए न तो अस्वस्थ प्रतियोगिता ही होगी न योजना क[illegible] 'बोतल की गर्दनों' में फँसना पड़ेगा या लाल फीते या सुफेद से निगडित होना[illegible]

राष्ट्र की वैज्ञानिक प्रयोगशालाओं की तरह र[illegible]-हो-साथ [illegible]क निर्माण-शाला प्रभूत व्यय को अनिवार्य नहीं बनाएगी। प्रयोगशालाए[illegible] विज्ञान के लिए है' इस सिद्धांत को ही बहुत दिनों तक प्रमाणित क[illegible]कि उनसे तत्काल प्रत्यक्ष लाभ की आशा नहीं की जा सकती—इतने लाभ की भी नहीं कि वे आत्म-निर्भर ही हो जातीं। इसके विपरीत साहित्यिक निर्माण-शाला के प्रारंभिक दो-एक वर्षों का व्यय-भार ही सरकार को उठाना पड़ेगा। नाना ज्ञान-विज्ञान क प्रामाणिक अनुवाद, मौलिक ग्रंथ, कोष, विश्व-कोष एक बार छप कर तैयार हो जाएँगे तो प्रांतीय सरकारें ही उनकी इतनी प्रतियाँ खरीद लेंगी कि लगा हुआ धन निकल आएगा; अध्ययन-अध्यापन के लिए या सामान्य ज्ञानार्जन के लिए तो उनकी इतनी माँग होगी कि उसे पूरा करना कठिन हो जायगा। प्रांतीय सरकारों और विश्वविद्यालयों की आवश्यकता को ध्यान में रख कर आंशिक क्रय का सरकारी आश्वासन दे दिया जाएगा तो पुस्तकों के प्रकाशन के लिए प्रकाशकों में होड़ मच जाएगी, निर्माण-शाला को केवल पुस्तकें तैयार कराते जाना पड़ेगा।

योजना की विस्तृत और व्यापक रूप-रेखा बनाना कठिन काम नहीं है। योजना पर विचार करने के पहले इन सिद्धांतों को स्वीकार करना सर्वथा आवश्यक है। तब जो पंचवर्षीय योजना बनेगी उससे राष्ट्र-भाषा में वैसे विशाल और सर्वांगीण साहित्य का निर्माण होगा जो राष्ट्र के अनुरूप होगा।

—न० वि० श०

प्रतिभान्वेषण

अभी-अभी प्रधान-मंत्री पंडित जवाहरलाल नेहरू ने नवयुवकों का आह्वान किया था कि वे आगे बढ़ें और राजनीति की बागडोर अपने हाथों में लेने को तैयार हो जाएँ, इसके लिए अपने को समर्थ बनाएँ, योग्य सिद्ध करें। हमें विश्वास है, अनन्य-साधारण प्रतिभा-प्रसूतिनी यह भूमि वंध्या नहीं हो गई है; हमें आशा है वय और अनुभव से वृद्ध राजनीतिज्ञ भी अपनी ओर से प्रतिभान्वषेण के कार्य में आवश्यक तत्परता से काम लेंगे।

साहित्य के क्षेत्र में यह आवश्यकता और ऐसी मनोवृत्ति और भी अधिक अपेक्षित है। जो साहित्य अपने को तुलसी-सूर का उत्तराधिकारी मान कर धन्य-धन्य है और

जिसमें कल तक प्रेमचंद-सा महान गल्पकार वर्त्तमान था, और आज भी निराला-सा महाकवि है, उस साहित्य को प्रतिभासंपन्न युवा कलाकारों का अभाव अवश्य नहीं हो सकता। यह तो इस साहित्य के प्रेमियों और कर्णधारों का कर्त्तव्य है कि वे प्रतिभा का आह्वान और अन्वेषण करें।

चाहे कितनी भी अनुकूल परिस्थिति क्यों न हो, प्रतिभा को प्रारंभ में स्वयं ही सामने आ जाना पड़ेगा, किंतु इसके बाद यह भी अनिवार्य है कि उग जाने पर उसे मुरझाने न दिया जाए। 'चीकने पात' वाला बिरवा हो पर सलिल-सिंचित आलवाल कभी बने ही नहीं तो फल-फूल की [illegible]पें ल[illegible] आशा! जहाँ तक हिंदी साहित्य का सवाल है हमें स्वीकार करना ही होगा [illegible]हीं, गुणगाहक ही हिरा गए हैं।

नवीन प्रतिभा [illegible]मयों और अभिनंदन तो दूर की बातें हैं, दुराशाएँ हैं; हिंदी साहित्य [illegible]सिद्ध कलाकारों को ही क्या अभी उचित यश और पर्याप्त धन [illegible]त्यक [illegible]नका [illegible]पनी ओर से हिंदी भाषियों की चाहे इन्होंने जितनी शिवेतरक्षति की हो, [illegible] लिए [illegible]हे जैसी कान्ता-सम्मित वाणी सुलभ कर दी हो!

हिंदी में वर्षों पूर्व की तरह आज भी मश्किल से दो-एक पत्रिकाएँ ही हैं जो लेखक की प्रसिद्धि को नहीं अपितु उसकी विशिष्टता को महत्त्व देती हैं, इस भाषा का प्रतिपालक पाठक-वर्ग शताब्दी के मध्य में भी शताब्दी के प्रारंभ की ही रुचि रखता है; हिंदी का औसत सिद्ध-हस्त––सिद्ध नहीं––लेखक पाठक-वर्ग का निर्देशक नहीं, अनुयायी बना हुआ है और समीक्षक-समालोचक को तो अपना भी अनुयायी बनाए रखना चाहता है! हिंदी के प्रकाशकों के बारे में तो जितना ज्यादा कहा जाए कम ही होगा। हिंदी का लेखक अगर लिखता है तो उनके बावजूद; उनसे प्रतिभा को कोई लाभ नहीं पहुँच सकता, पहुँच सकता है तो दुराग्रह को!

ऐसी स्थिति में अतिशय प्रतिभा के साथ थोड़ी समझ भी हो तो नवयुवक स्वभावतः साहित्य को दूर से ही नमस्कार करते हैं और इसमें रह जाते हैं वे ही जिन्हें इसका पुराना मर्ज है या जिनकी अन्यत्र कहीं गति ही नहीं! इसी लिए हिंदी साहित्य में या तो थोड़े पुराने लेखक हैं या बहुत सारे साधारण लेखक। यह दशा तब तक बनी रहेगी जब तक पत्रिकाओं, पाठकों, लेखकों, आलोचकों और प्रकाशकों की मनोवृत्ति में आमूल परिवर्त्तन नहीं होता। हम स्वीकार करते हैं, हम नहीं जानते यह कब और कैसे होगा।

'साहित्य' के माध्यम से हम इतना कर सकते हैं कि सर्वथा नवीन किंतु असाधारण प्रतिभा का परिचय देने वाले हिंदी के लेखकों, कवियों आदि का विवरण प्रस्तुत करें, उनकी रचनाओं की आलोचना प्रकाशित करें और उनके संबंध में प्राप्त अध्ययनों को स्थान दें। हम 'साहित्य' के आगामी अंकों में इस दिशा में यथाशक्ति कुछ करते रहने का प्रयास करेंगे।

—न० वि० श०

कला में नारी का स्वरूप

प्रो० वासुदेव उपाध्याय, एम्० ए०

कला ही मनुष्यों क ग्रान्तरिक मनोभावों की सच्ची परिचायिका है। काव्य के शास्त्रीय विवेचन के साथ-साथ भारतीय कला में परिवर्त्तन दृष्टिगोचर होता है। उसमें कलाकारों ने उन तत्त्वों का समावेश किया, जि[illegible]म तथा ग्रौचित्य पर ध्यान देना ग्रावश्यक था। कला के ग्रवलोकन से तद्देशीय [illegible]कास की [illegible]वृत्ति का परिचय मिल जाता है, इस कारण स्थित कला के प्रत्येक ग्रंग[illegible] [illegible] ही इस विषय के साथ न्याय हो सकता है। नारी के कलात्मक [illegible]-ही-साथ [illegible]वेचन के फल-स्वरूप हम सब एक निश्चित स्थान पर ग्रा पहुँचे है[illegible] कहीं [illegible] [illegible]ों ने विश्व की उत्पत्ति का मूल कारण नारीशक्ति को माना है ग्रौर उसी दृष्टि से विचार होता रहा है। यों तो काव्य में वैदिक काल से ही नारी का वर्णन मिलता है, जहाँ स्त्रियाँ सामाजिक कृत्यों में भाग लेती दीख पड़ती हैं। पुरुष के सदृश काव्य-सृजन ग्रथवा शास्त्रीय-विवेचन में भी स्त्रियाँ भाग लेती रहीं। कला में नारी-प्रदर्शन के उदाहरण उस रूप में नहीं मिलते ग्रौर जो वर्त्तमान है वे ऐतिहासिक युग के बाद के नमूने हैं। साहित्य में भी कवियों ने उनके विभिन्न रूपों का वर्णन किया है। जहाँ एक ग्रोर पंच-कन्या के स्मरण से पाप-नाश की बात कही गयी है, वहीं दूसरी ग्रोर साहित्यकारों ने नारी के चरित्र तथा प्रेम का वर्णन किया है। स्त्रियों के सौन्दर्य तथा रूप का ग्राकर्षण ही नाटकों का प्रधान विषय रहा है। लेकिन कलाकार उस साहित्यिक होड़ में उतने सफल नहीं होते। जहाँ तक शिल्पकला की बात है, कलाविद् साहित्य की प्रगति से ग्रनभिज्ञ न थे। जहाँ कहीं सौन्दर्य है, कला उसे ग्रहण करती है तथा उस वास्तविक स्वरूप का सुन्दर रीति से प्रदर्शन करती है। भारतीय कला में नारी जीवन के प्रत्येक ग्रंग तथा उसके विकसित स्वरूप का चित्रण मिलता है। नारी जीवन की विभिन्न समस्याग्रों को लेकर कलाविदों ने जन-साधारण के सामने जीवित मूर्त्ति खड़ी कर दी है। कहने का तात्पर्य यह है कि कला में नारी की दैवी शक्ति तथा उसके लौकिक स्वरूप को पृथक्-पृथक् स्थान दिया गया है।

भारत की कला धर्म-प्रधान कला है, या यों कहा जाय कि कला में प्रत्येक वस्तु का ग्राविर्भाव धर्म के ग्राधार पर ही हुग्रा था। ईसवी-पूर्व सदियों में कला केवल प्रतीकों के बल पर ही ग्रारम्भ हुई थी, जिनकी पूजा में लोग संलग्न रहते थे। इन में सब से प्राचीन बोधिवृक्ष, स्तूप, धर्म-चक्र तथा उष्णीश गिने जाते हैं। ये भगवान बुद्ध के जीवन से सम्बद्ध घटनाग्रों के द्योतक हैं। लौकिक कलात्मक उदाहरणों में पुरुष तथा स्त्री के भी नाम ग्राते हैं, जो उन प्रतीकों की पूजा करते दीख पड़ते हैं। स्त्री-वेशमें यक्षिणी तथा परिचारिका की मूर्त्ति तैयार होने लगी थी। साँची तथा

भारहुत की कला में स्त्रियाँ बोधिवृक्ष की पूजा करती दिखलाई गई हैं अथवा मकान के बुर्ज पर खड़ी जुलूस देखती हुई प्रदर्शित की गई हैं। अमरावती में स्वागत में खड़ी स्त्रियों का समूह दिखलाई पड़ता है। इनके अतिरिक्त घर की दासियाँ चँवर या सिंगारदान लिये भी चित्रित की गई हैं। मथुरा की कला में शुक से क्रीड़ा करती हुई स्त्री की मूर्ति मिली है। तात्पर्य यह है कि कलाकारों ने उनके साधरण लौकिक स्वरूप को ही समझा था और प्रस्तरों पर खोदकर उनका प्रदर्शन किया था। उन मूर्तियों के किसी अन्य स्वरूप को जानना कठिन है; पर कुछ विद्वान यक्षिणी प्रतिमा को देवी की अर्द्ध मूर्त्ति मानते हैं। नारी का यह सर्व-प्रथम रूप कला में मिलता है। भौतिक जगत् में स्त्री का रूप [illegible] में ले[illegible]स्पष्ट हो जाता है।

ऐतिहासिकों [illegible] छिपी नहीं है कि ईसवी-सन् के आरम्भ से भागवतधर्म ने [illegible]मय [illegible]वित किया और उसके फल-स्वरूप महायान के साथ कलामें भक्ति [illegible]त्यक [illegible] महायान के अनुयायियों ने देव-तुल्य बुद्ध की प्रतिमा तैयार की, और [illegible]नकी [illegible] प्रदर्शन गांधार-कला में होने लगा। गांधार-शैली में योगिराज के अतिरिक्त बुद्ध की जीवन-कथाओं का प्रदर्शन मिलता है। गौतम बुद्ध की पूजा भगवान के रूप में होने लगी। ब्राह्मण-धर्मावलम्बियों ने उनका अनुकरण किया। कलाविदों ने ब्राह्मण-देवी-देवताओं को भी यथोचित स्थान दिया तथा समयानुकूल उनकी प्रतिमाएँ तैयार कीं। भारतीय कला का इतिहास यह बतलाता है कि सदियों पहले ललित कला में शक्ति का प्रादुर्भाव न हो सका था। कई शताब्दियों के बाद ईश्वर कृष्ण ने उसके वास्तविक स्वरूप को प्रतिपादित कर इस बात को प्रमाणित किया कि संसार की सृष्टि के लिए शक्ति की आवश्यकता है। शक्ति से रहित ईश्वर भी सृजन में सफल नहीं हो सकता। ईश्वर की शक्ति को माया कहा गया है, जिन्हें हम पुरुष और प्रकृति के नाम से पुकारते हैं। लौकिक पुरुष तथा नारी उन्हीं के प्रतीक मात्र हैं। दार्शनिक क्षेत्र में प्रकृति का महत्त्व अधिक है। संसार की उत्पत्ति का मूल कारण माया है, जिसका लौकिक स्वरूप नारी मानी गई है। नारी के इस दार्शनिक रूप को कलाकारों ने भी समझा और कला में उसी दृष्टिकोण से काम किया। उस समय से शक्ति की प्रतिमाएँ बनने लगीं। प्रत्येक देवता की एक शक्ति (दूसरे शब्दों में देवी) मान कर उसकी कल्पना की गई और ऐसी मूर्तियाँ बनीं, जिनका अमुक देव से सम्बन्ध स्पष्ट हो जाता। पहले-पहल देवी की प्रतिमाएँ अकेली बनाई गईं, मानों उनका अस्तित्व ही पृथक् था। इन्द्राणी, ब्रह्माणी, वैष्णवी, दुर्गा आदि के नाम इस प्रसंग में लिये जा सकते हैं। भारतीय कला में उन नमूनों के द्वारा कलाकार देवी का विशिष्ट देवता से सम्बन्ध प्रतीकों से स्थापित करते रहे, अन्यथा एक देवी से दूसरी देवी में भिन्नता दिखलाना कठिन हो जाता। इस सम्बन्ध में इतना कहना उपयुक्त होगा कि इन्द्र के वाहन ऐरावत ने उनकी शक्ति इन्द्राणी के साथ कला में स्थान पाया और गरुड़ को वैष्णवी का वाहन दिखलाया गया। वैष्णवी चतुर्भुजी होती रहीं, जिनके आयुध शंख, चक्र, गदा तथा पद्म ही माने गये थे। इसी तरह अन्य देवी प्रतिमाएँ विशिष्ट वाहन

तथा आयुध से युक्त विभिन्न स्थानों में मिली हैं। इस प्रकार देवता से देवी या देवी से देवता की भावना स्पष्ट हो जाती थी। 'एलेफेण्टा' की गुफा में सप्त-मातृका की मूर्तियाँ खोदी गई हैं, जिनका नामकरण वाहन या अस्त्र-शस्त्र के कारण किया जाता है। दूसरे शब्दों में, नारी का दैवी रूप इन्हें माना जा सकता है।

इस तरह नारी-शक्ति का विकास क्रमशः होता रहा। इसी पुरुष-प्रकृति के भावों की अभिव्यक्ति संसार में पुरुष तथा स्त्री के रूप में की गई। स्त्री-शक्ति ही संतानोत्पत्ति का (सृष्टि का) मूल कारण है। अतएव गुप्त-युग से देवी-देवता की युगल मूर्त्ति का आरम्भ कला में दिखलाई पड़ता है, जिसकी चरमसीमा पूर्व-मध्य-युग में हुई थी। दार्शनिक विचार से तो शक्ति-विकास की यह दूसरी सीढ़ी है। देवी के पृथक् अस्तित्व को मिटा कर प्रकृति को पुरुष के [illegible] गया और दोनों के पारस्परिक सहयोग, मेल अथवा अनुराग का स्पष्टी[illegible]-हो-साथ। इसे कलाकारों ने शिव-पार्वती के विवाह के माध्यम से आरम्भ किया। कहीं [illegible] ने ही उस मार्ग का प्रथम चरण है। कलावंतों ने कल्याणी सुन्दर प्रतिमा से पति-पत्नी के भाव का प्रदर्शन किया, जिस में भगवान शिव-पार्वती का आलिंगन करते दिखलाये गये हैं। उसी तरह विष्णु की भार्या लक्ष्मी को कला में स्थान देकर लक्ष्मी-नारायण की प्रतिमा तैयार की गई। सूर्य की प्रतिमा में उषा या संध्या को शक्ति का ही पद दिया गया था। कहने का तात्पर्य यह है कि कला में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं, जिनके कारण युगल प्रतिमा से पुरुष-प्रकृति की लौकिक भावना सामने आती है और समाज में नारी का महिमामय स्थान स्थिर हो जाता है। नारी के समादर तथा नारी की प्रतिष्ठा की बातें कला से स्पष्ट हो जाती हैं। धार्मिक जगत् के भाव समाज में उसी रूप में लिये गये थे। इस तरह की युगल प्रतिमा से सहधर्मिणी शब्द का वास्तविक अर्थ चरितार्थ हो जाता है।

मथुरा की कला में ऐसी अनेक मूर्त्तियाँ मिली हैं, जिनमें स्त्री-पुरुष धार्मिक कृत्य में संलग्न दिखलाये गये हैं। उसकी पुष्टि गुप्तकालीन सिक्कों से भी की जा सकती है। सिक्कों पर शासकों की आकृति के साथ-साथ रानी की भी मूर्त्ति अंकित मिलती है। चन्द्रगुप्त-विक्रमादित्य का चक्र, विक्रम वाला सिक्का या स्कन्दगुप्त की राजा-रानी वाली स्वर्ण-मुद्रा उसी विचार के फलस्वरूप बनाई गई थी। अस्तु, ब्राह्मणों की शक्ति-भावना ने बौद्ध कला को भी प्रभावित किया, जिसके कारण आदि बुद्ध तथा ध्यानी बुद्ध की शक्तियों का जन्म हुआ। प्रज्ञापारमिता तथा तारा उनकी शक्तियों के नाम से प्रसिद्ध हुईं। कला में तारा का आलिंगन करते हुए ध्यानी बुद्ध प्रदर्शित किये गये। बौद्धों ने शक्ति-तत्त्व को खूब अपनाया, इसीलिए वज्रयान में ऐसी अनेक प्रतिमाएँ मिलती हैं।

भारत के बाहर, नेपाल तथा तिब्बत में, इनकी बहुलता है। तारा तो बौद्धों की प्रधान शक्ति मानी गई है।

भारतीय कला में नारी का तीसरा दार्शनिक स्वरूप अर्धनारीश्वर की मूर्त्ति द्वारा दरसाया गया है। पण्डितों ने इस के विकास का रूप पुरुष-प्रकृति के अभिन्न स्वरूप से बतलाया है, जिसमें ईश्वर माया से पृथक नहीं रह सकता, दोनों एक ही रूप के अंग हैं। कलाविदों ने उस प्रतिमा में आधा शरीर पुरुष तथा आधा स्त्री का बनाया है। नारी के उच्चतम विकसित रूप का ज्ञान अर्धनारीश्वर की प्रतिमा से हो जाता है। इन विचारों का आश्रय लेकर पत्नी के अर्द्धाङ्गिनी होने की बात प्रतिमा द्वारा चरितार्थ की जाती है। इसी को 'एकोऽहं द्वितीयो नास्ति' कहते हैं। भौतिक क्षेत्र में नारी के लिए 'अर्द्धाङ्गिनी' शब्द का प्रयोग उसी दार्शनिक भाव को व्यक्त करता है। यह कहना आवश्यक है कि इसमें कलाकारों की कोई नई कल्पना नहीं थी, वरन् प्रस्तर पर शास्त्रीय विचारों [illegible] प्रदर्शन मात्र था। इसी में उनकी कुशलता [illegible]ी। उन्होंने ललित कला [illegible] विचारों का सुन्दर ढंग से समन्वय किया है। उन्हीं के द्वारा कला [illegible]त्य नारी के विभिन्न रूपों का प्रदर्शन होता रहा। नारी के साधार[illegible]क प्रतिमा से, सहधर्मिणी को युगल प्रतिमा से तथा अर्द्धाङ्गिनी को अर्द्ध नारीश्वर की प्रतिमा द्वारा प्रकट किया गया है। इस प्रकार कला में हम नारी के स्वरूप का क्रमशः विकास पाते हैं।

भारतीय कलाकार नारी के अन्य सामाजिक कार्यों के दिखलाने में भी पीछे न रहे। यदि सर्वप्रथम शृङ्गार को ही लें, तो पता लगता है कि कला में इसकी पराकाष्ठा दिखलाई पड़ती है। प्रस्तरों पर बड़ी कुशलता के साथ नारी-शृङ्गार का प्रदर्शन कलाकारों ने किया है। अजंता तथा बाघ के भित्ति-चित्रों में केश-विन्यास तथा अन्य अलंकरणों को देखते ही बनता है। दर्पण का प्रयोग किस तरह स्त्रियाँ करती थीं, इसका चित्र अजंता में मिलता है। मिट्टी की मूर्तियों में बालों की सजावट विचित्र है। उनके देखने से पता लगता है कि केश बाँधने या सँवारने के विभिन्न प्रकार थे।

मथुरा-कला में नारी का चित्रण विशेष महत्त्वपूर्ण है। वेदिका- स्तम्भों पर स्त्री-पुरुष पुष्प-चयन करते दिखलाये गये हैं। भारहुत में उद्यान-क्रीड़ा का चित्रण पाया जाता है। पूर्व-मध्य-युग में नारी के विभिन्न रूपों का प्रदर्शन भी अच्छे ढंग से हमें मिलता है। तात्कालिक कला की यह एक विशेषता रही है कि मूर्त्तियाँ, मंदिरों के अलंकरण के निमित्त, वास्तुकला के साथ-साथ, तैयार की जाती रहीं। पृथक् प्रतिमा-निर्माण का कार्य प्रायः समाप्त हो गया था। खजुराहो तथा भुवनेश्वर (उड़ीसा) के मंदिरों में यही दिखलाई पड़ता है। उनमें पत्र-लेखन तथा मातृत्त्व के कार्य विशेष आकर्षक हैं। कई कारणों से स्त्रियों के शरीर का ऊपरी भाग नग्न ही तैयार किया जाता था और, कुछ लोगों की दृष्टि में, चादर तथा कंचुकी (अँगिया) का अभाव खटकता है। इन प्रतिमाओं में अलंकरण की कमी नहीं है। उड़ीसा के भुवनेश्वर से दो मूर्त्तियाँ मिली हैं, जिनमें पत्नी का पत्र-लेखन तथा माता का प्यार प्रदर्शित किया गया है। ऐसे सामाजिक विषयों का चित्रण अनेक स्थानों पर कला में मिलता है। भारतीय नारियों के स्वरूप का कलात्मक प्रदर्शन एक बार मनुष्य को आश्चर्य में डाल देता है।

शूद्रों का अभ्युदय और संत 'रविदास'

भागवतरत्न डाक्टर विमानविहारी मजुमदार

जो लोग मानव-मात्र की नित्य की प्रयोजनीय वस्तु को एक करने वाले थे, उन्हें प्राचीन समय में किसी भी राष्ट्र में यथोचित सम्मान नहीं मिला। ग्रीस की प्राचीन सभ्यता गुलामों के श्रम के ऊपर ही पल्लवित हुई थी। ग्रीक लोग कृषि-कर्म, शिल्प-कला, व्यवसाय-वाणिज्य, प्रभृति कार्यों को इतनी हेय दृष्टि से देखते थे कि कोई भी स्वाधीन व्यक्ति उन्हें अपनाना नहीं चाहता था। यहाँ तक कि 'अरस्तू' जैसा श्रेष्ठ दार्शनिक भी दास-प्रथा को स्वाभाविक ही मानता था, औ[illegible]-ही-साथ उसे डर भी था कि दास-प्रथा के व्यवहार के उठ जाने से ग्रीक-संस्कृति [illegible] कहीं [illegible]प न हो जाय। यद्यपि प्राचीन रोम में कृषि-कर्म स्वाधीन मनुष्य की जीविका का एक साधन-मात्र समझा जाता था, फिर भी अन्य प्रकार के कायिक श्रम और शिशु-शिक्षा गुलामों के ही कर्तव्य मानी जाती थी। शारीरिक परिश्रम को यथार्थ मर्यादा न मिलने के कारण प्राचीन रोम और ग्रीस के राजनीतिक और सामाजिक जीवन में उच्छृंखलता आ गई थी। रोम के शासकों की विलास-मग्नता के फलस्वरूप रोम-साम्राज्य तथाकथित बर्बर और बलिष्ठ मनुष्यों के हाथ चला गया।

रोम के इस पतन के इतिहास से मध्ययुग के यूरोप को विशेष कोई शिक्षा नहीं मिली। इस युग में भी कृषकों और शिल्पियों को घृणास्पद और अपमानित जीवन बिताना पड़ा। सर्फ (serf) लोगों की अवस्था क्रीतदासों की अवस्था से कोई विशेष उन्नतिशील नहीं थी। जमीन के साथ सर्फ लोगों का सम्बन्ध अविच्छिन्न-सा था, और जब उस जमीन का अधिपति जमीन को दूसरे के हाथ बेच देता था तब उसमें रहने वाले सर्फ (serf) नये मालिक के अधीन हो जाते थे। मध्ययुग के अन्त में जो थोड़े शिल्पी-जन नगर में वास करने के कारण स्वाधीन हुए थे, वे भी समाज की दृष्टि में हीन ही समझे जाते थे। कैथलिक धर्मसंप्रदाय के सन्यासियों में बहुतों ने अपने कायिक परिश्रम के द्वारा समाज के लोगों का ध्यान श्रम की मर्यादा के प्रति आकृष्ट किया। सर्फों को स्वाधीनता देना पुण्य है, इस घोषणा के कारण कितने धर्मनिष्ठ जमींदारों ने उन्हें मुक्त कर दिया। किन्तु, यदि यूरोप के आर्थिक और सामाजिक जीवन में विप्लव नहीं होता, तो सर्फ-सम्प्रदायों को मुक्ति नहीं मिलती। ईसा की चौदही शताब्दी में इंगलैंड में, अठ्ठारहवीं शताब्दी के अन्त में फ़्रास में, उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में जर्मनी और आस्ट्रिया में तथा उसके उतरार्द्ध में रूस में सर्फों को मुक्ति मिली। औद्योगिक उत्क्रांति (Industrial revolution) के प्रसार के पहले शिल्पियों को कहीं भी मनुष्योचित सत्कार और गौरव नहीं दिये गये।

अन्य राष्ट्रों के समान प्राचीन भारत में भी शारीरिक श्रम को सम्मान की दृष्टि से नहीं देखा गया। यहाँ के शिल्पियों को मनुष्यत्व के अधिकार से वंचित किया गया था; क्योंकि उनकी गणना सामान्यतः शूद्रों की श्रेणी में होती थी। आत्मोन्नति के साधन के लिए ज्ञानलाभ या तपस्या करने का अधिकार शूद्रों को नहीं था। उनके व्यक्तिगत विकास के लिए भी समाज में कोई व्यवस्था नहीं थी। न्याय की दृष्टि में ब्राह्मणों और शूद्रों को बराबरी का अधिकार नहीं था। एक ही प्रकार के अपराध के लिए जहाँ शूद्रों को फाँसी की सजा दी जाती थी, वहाँ ब्राह्मणों को साधारण आर्थिक दंड दिया जाता, अथवा गुरुतर अपराध के लिए शरीर का कोई अवयव काट कर छोड़ दिया जाता था। अस्पृश्य होने के कारण गुलामों को समाज में घृणित, दीन और हीन जीवन बिताना पड़ता था।

ब्राह्मण-धर्म में शूद्र क्षुद्र समझे जाते थे, पर भक्ति-धर्म के प्रचार के फलस्वरूप शूद्र-जनों के व्यक्तिगत [illegible] के लिए एक रास्ता तो खुला। भक्ति-शास्त्र में कहा गया है कि 'श्वपचोपि द्विजः श्रेष्ठो हरिभक्तिपरायणः' अर्थात् हरि का भक्त चांडाल भी ब्राह्मण से श्रेष्ठ है। केवल जन्म से ही मनुष्य की सामाजिक मर्यादा का निर्णय न करके भक्ति-धर्म ने एक उदार सार्वजनीन धर्म की प्रतिष्ठा की।

जिस युग में विकलिफ महोदय ने इंगलैंड में, और सावानरोला महाशय ने रोम में श्रम-जीवियों के अधिकार की घोषणा की, उसी समय उत्तर-भारत में स्वामी रामानन्द और उनके शिष्य समाज में, शूद्रों के मानवीय स्वत्वों की भावनाएँ उद्बुद्ध करने की चेष्टा कर रहे थे। यद्यपि रामानन्द जी के शिष्य जन्मगत कर्म व्यवस्था को अस्वीकार नहीं करते, तथापि उन्होंने अपने व्यक्तिगत जीवन के दृष्टान्त द्वारा यह प्रमाणित किया कि समाज में मनुष्य जन्मगत धर्म करते हुये भी मनुष्यत्व के सर्वोच्च सोपान पर पहुँच सकता है। गीता में भगवान कहते हैं।

"यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवम्॥

अर्थात् जिनसे सभी जीवों की उत्पत्ति हुई है और जो सर्वत्र व्याप्त हैं उनको अपने कर्म द्वारा उपासना करके मानव सिद्धि-लाभ करता है। कर्म को नहीं त्याग कर वरन् उसी के द्वारा भगवान की पूजा करके मनुष्य का पूर्णतम विकास होता है।

मध्ययुग के संतों ने भगवान की इसी वाणी को लोक में सार्थक करके दिखाया। यद्यपि स्वामी रामानन्द ने अपने 'आनन्दभाष्य' ग्रन्थ में शूद्रों के वेद पढ़ने के अधिकार को स्वीकार नहीं किया है, तथापि उन्होंने यह घोषणा की है कि बिना किसी भेद-भाव के परमात्मा की उपासना का अधिकार सबको है। उन्होंने कहा है कि किसी की जाति-पाँति पूछना अनावश्यक है, प्रेमपूर्वक जो हरि की शरण में जाते हैं वे हरि के जन हैं। यद्यपि उनकी शिष्य-परंपरा में तथाकथित ऊँची जाति के लोग भी थे तथापि उन्होंने हिन्दू-धर्म के निम्नस्तर के लोगों में से भी बहुत-से श्रेष्ठ शिष्य अंगीकार किये। उनमें धना जाट, सदन कसाई, सेन नापित, रैदास या रविदास चमार और कबीर जुलाहा प्रसिद्ध हैं। उन्होंने अपनी

साधना के द्वारा शूद्र जनों में अभिनव गौरव प्रदान किया। इन लोगों के बीच संत रविदास चमारों के गुरु और भगवान के रूप में आज भी पूजे जाते हैं। हम लोग इनके जीवन और वाणी की आलोचना द्वारा इस शताब्दी में शूद्रनवजागरण के स्वरूप का दिग्दर्शन करेंगे।

कबीर ने एक पद की रचना की है, जिसका विषय है त्रिलोचन और नामदेव का परिचय। इसमें उन्होंने शूद्र की भक्ति-साधना की प्रणाली बताई है। त्रिलोचन ने कहा कि नामदेव के हृदय से अभी तक आसक्ति दूर नहीं हुई, क्योंकि वह कपड़ा छाप कर अभी भी पैसा इकट्ठा करता है। इसके उत्तर में नामदेव ने कहा:—

"नामा कहै त्रिलोचना, मूखा राम सँभालि।
हाथ-पाँव कर काम सब, चित निरंजन नालि।।"

अर्थात् हे त्रिलोचन, मुख से राम-नाम कहो, हाथ-पैर द्वारा सब काम करो; लेकिन मन निरंजन—भगवान को समर्पित कर दो।

जीविकोपार्जन के हेतु किसी प्रकार के परिश्रम में दोष नहीं है, बाह्य इन्द्रियों से काम करो, उतना ही धन कमाओ जिससे साधुता-पूर्वक जीवन बीत सके। किन्तु भीतरी मन को परमात्मा में ही लगा दो। यही आदर्श संत रविदास के जीवन में मूर्तिमान हुआ।

रविदास का जन्म एक चमार के घर में हुआ था; किन्तु उन्होंने साधना के द्वारा अपने को एक महान् पवित्रात्मा सिद्ध किया। लाखों मनुष्य उनके शिष्य हुए। उनकी कवित्व-शक्ति से मुग्ध होकर देश-विदेश से अनेक गुणी और ज्ञानी व्यक्ति उनके साहचर्य लाभ के निमित्त आये भी तो उन्होंने अपने पैतृक व्यवसाय को नहीं छोड़ा। एक श्रेणी के धर्मव्यवसायियों द्वारा जो यजमानी करके पेट पालने का सहज यंत्र निकाला था, वह उन्हें उनके आदर्श से विचलित नहीं कर सका। जिस प्रकार मलिन पंक से सुन्दर कमल का विकास होता है, उसी प्रकार नीच कुल में उत्पन्न होकर रविदास ने अपने सौरभ और सौन्दर्य से जगत् को धन्य कर दिया। रविदास ने अपनी जाति और वंश को गौरव-सहित स्वीकार करते हुए उन लोगों को उन्नत और महान बनाने के लिए पथ-निर्देश किया है। उनके जीवन और उनकी वाणी से भारत वर्ष के लाखों-लाख चमारों को महान और पवित्र जीवन-यापन का संदेश मिला है। बहुत-से पदों में रविदास ने अपना परिचय 'चमार रैदास' कह कर दिया है। बिना किसी संकोच के उन्होंने एक पद में कहा है—

"ऐसी मेरी जाति विख्यात चमार। हृदय राम गोविन्द-गुन-सार।।"

उन्होंने दूसरी जगह भी कहा है—

"जाति भी ओछी, करम भी ओछा कसब हमार।
नीचै से प्रभु ऊँच कियो है, कह रैदास चमार।।"

कबीर की तरह रविदास का जन्म काशी में ही हुआ था। भगवान ने ब्राह्मण-धर्म के सुदृढ़ दुर्ग में इन लोगों को अन्दर से उस दुर्ग को विध्वंस करने के लिए ही भेजा था। रविदास ने अपने

एक पद में कहा है—'भक्तमाल' के पढ़ने से यह ज्ञात होता है कि रविदास ने रामानन्द की वृद्धावस्था में ही उनका शिष्यत्व ग्रहण किया। ऐसा कहा जाता है कि रामानन्द का एक ब्रह्मचारी शिष्य था, जिसका काम भिक्षाटन करके अपने गुरु को खिलाना था। उसे जहाँ-कहीं जो कुछ भी मिलता था उसको बड़े आदर से गुरु को समर्पित करता था। एक दिन ब्रह्मचारी को एक बनिया की दूकान की से कोई वस्तु भिक्षा में मिली। वह बनिया सेना के खाने के लिये सामग्री बेचता था, इसलिए उसकी खाद्य-वस्तु साधु-सेवा के लिये शुद्ध और उपयुक्त नहीं थी। जब स्वामी रामानन्द भोजन करने बैठे तब खाद्य-सामग्री देखकर उन्होंने ब्रह्मचारी को बुलाया और उसके विषय में पूछा। ब्रह्मचारी ने कहा कि जो कुछ भी मुझे जहाँ-कहीं मिल जाता है उसे मैं बिना किसी संकोच के ग्रहण कर लेता हूँ, और गुरु को लाकर देता हूँ। रामानन्द ने दीर्घ श्वास छोड़ कर कहा—'हा चमार!'

जनश्रुति है कि गुरु का यह आक्षेप सुनकर ब्रह्मचारी ने प्राण-त्याग किया और दूसरे जन्म में इसी कारण चमारों के घर में उसका जन्म हुआ। बाद में यही नवजात शिशु 'रविदास' के नाम से विख्यात हुआ। जब जन्म हुआ तब उन्होंने माता का स्तन-पान नहीं किया था। यह देखकर उनके स्वजन व्याकुल हो उठे। वे लोग रामानन्दजी की शरण में आये। रामानन्द स्वयं वहाँ पधारे और शिशु के कान में उन्होंने मंत्र-दान किया। उसके बाद बच्चा सानन्द माता का स्तन-पान करने लगा। यदि इस कथा का अलौकिक अंश परित्याग कर दिया जाय, तो यह अनुमान किया जा सकता है कि रविदास रामानन्द की वृद्धावस्था में शिष्य हुये थे।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'हिन्दी-साहित्य की भूमिका' में कहा है कि रविदास, कबीर से, अवस्था में बड़े थे। एक बार ब्रह्म के विषय में कबीर से पूछा गया तो उन्होंने कहा, मैं बालक था, माता की गोद में चढ़कर रास्ता पार किया; रविदास से पूछिए, जो उम्र में मुझसे बड़े हैं; मैंने अपना कुछ भार रविदास के कन्धों पर रखा है, वे ही रास्ते का वास्तविक रहस्य बतला सकेंगे।

रविदास ने अपने एक पद में नामदेव, कबीर, त्रिलोचन, सदन और सेन के नाम का इस प्रकार उल्लेख किया है—

> "नामदेव कबीर त्रिलोचन सांधना सेन तैर।
> कह रविदास सुनहु रे संतहु। हरि जिउ तें सबही सैर॥"

इस उद्धरण से स्पष्ट हो जाता है कि उपर्युक्त लिखित संतगण रविदास के पहले ही महात्मा के रूप में प्रतिष्ठित हो चुके थे। यद्यपि कबीर रविदास से उम्र में छोटे थे तथापि उनका तिरोधान रविदास के पहले ही हो चुका था। इसकी सिद्धि रविदास की वाणी से हो जाती है। उन्होंने लिखा है—

> "नामदेव कहिए जाती कै ओछ। जाको जश गाँव लोक॥
> भगति हेत भगता के चले। अंकमाल ले बीठल मिले॥
> निरगुन का गुन देखो आई। देही सहित कबीर बिधाई॥"

अर्थात् सभी लोग नामदेव को नीच जाति का समझते थे। लेकिन उनका गुणगान सभी करते हैं। भक्ति द्वारा ही भक्त का परिचय होता है, इसलिए नामदेव बीठल भगवान के हृदय में स्थान पा सके। यद्यपि सिक्ख-धर्म के इतिहास-वेत्ता सुप्रसिद्ध 'मैकालि' कबीर का जन्मकाल १३९८ ई० मानते हैं, तथापि वेस्टकॉट, मिस अंडरहील प्रभृति विद्वान १४४० ई० से १५१८ ई० तक ही कबीर का समय स्थिर करते हैं।

धना और मीराबाई, संत रविदास के नाम का उल्लेख बड़े आदर की दृष्टि से करते हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि वे इन लोगों से कुछ पहले अवश्य वर्तमान थे। मीराबाई के नाम से एक प्रचलित पद्य मिलता है--

"गुरु रैदास मिले मोहि पूरे घूर से कलम मिली।
सत गुरु सैन दई जब आके जोत में जोत रली।।"

अर्थात् गुरु रैदास ने जब हमारे घर में पदार्पण किया तब हमारे नीरस हृदय में उनके सरस वृक्ष के प्रभाव से कलम लग गई। जब सत गुरु ने अपनी कृपा के कंढाल से इशारा किया तब ज्योति मिल गई।

इस पद्य में मीराबाई का रविदास को गुरु स्वीकार करना सूचित होता है। यदि यह पद्य प्रक्षिप्त नहीं है, तो हमें यह मानना पड़ेगा कि रविदास सोलहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में जीवित थे।

महामहोपाध्याय पंडित गौरीशंकर हीराचन्द ओझा के मतानुसार मीराबाई का जन्म १४९८ ई० माना जाता है। उनका विवाह चित्तौर के प्रसिद्ध राणा सांगा के सुपुत्र से १५१६ ई० में हुआ था। अपने विवाह के दो वर्ष पश्चात् वे विधवा हो गईं। उन्होंने अपने वैधव्य-काल में ही भगवान की भक्ति स्वीकार की थी। उनकी मृत्यु १५४० ई० में अथवा श्री चैतन्य महाप्रभु के अन्तर्धान के सात वर्ष पश्चात् हुई थी।

यह स्वीकार किया जाता है कि रामानन्द जी का जन्म १३०० ई० में हुआ था। रैदास-सम्प्रदाय में यह परंपरा से चला आ रहा है कि यह महात्मा १२० वर्ष तक इस धरा-धाम पर वर्तमान थे। इसलिए यदि ऐसा कहा जाय कि उनका जीवन-काल १४०० ई० से १५२० ई० तक सिद्ध होता है, तो यह बात असंगत नहीं प्रतीत होगी।

रविदास के शिष्य विश्वास करते हैं कि रविदास एक बार सिकन्दर लोदी के द्वारा कैद किये गये थे। सिकन्दर लोदी को १४८९ ई० में गद्दी मिली और १५१७ ई० में उसकी मृत्यु हो गई। यदि हमलोग रविदास के जीवन-काल को १४०० ई० से १५२० ई० तक मानते तो यह प्रचलित मत है कि वे रामानन्द की वृद्धावस्था में शिष्य हुए थे। वे कबीर से उम्र में बड़े होकर भी उनके देहान्त के बाद तक जीवित थे, मीराबाई के द्वारा गुरु मान लिये गये थे और सिकन्दर शाह के द्वारा पीड़ित किये गये थे यह संगत प्रतीत हो जाता है।

रविदास की महत्ता 'भक्तमाल' में इस प्रकार प्रकट की गई है--

"संदेह ग्रन्थि खंडन निपुन वानी विमल रैदास की।
सदाचार-श्रुति-शास्त्र वचन अविरुद्ध उचारयो।

नीर-खीर-विवरन परम हंसनि उर धारयो ।
भगवत-कृपा-प्रसाद परम गति इहि तन पाई ।
राज-सिंहासन बैठी ज्ञाति परतीति दिखाई ।
वरनाश्रम अभिमान तजि पद राज बन्दहि जासु की ।
संदेह-ग्रन्थि-खंडन निपुन वानी विमल रैदास की ।।"

अर्थात् रैदास की जो निर्मल वाणी है वह हृदय के समस्त संशय को दूर कर देती है । जो कुछ भी उन्होंने कहा है, उससे वेदसार आदि सदाचार से कोई विरोध नहीं है । उनकी वाणी के नीर-क्षीर विवेक को परमहंसगण आदर से हृदय में धारण करते हैं । उन्होंने भगवान की कृपा से इस शरीर से परम गति पाई । राजसिंहासन पर बैठकर भी उन्होंने ज्ञान और विश्वास का बल दिखलाया । मैं वर्णाश्रम धर्म के सभी अभिमानी को छोड़कर उनकी पद-धूलि की वंदना करता हूँ ।

रविदास की वाणी के महत्व और सौन्दर्य को केवल हिन्दुओं ने ही नहीं स्वीकार किया था, वरन् सिक्ख-सम्प्रदाय के पवित्र ग्रन्थ गुरु-ग्रन्थ-साहब में भी उनकी वाणी के चालीस पद उद्धृत किये गए हैं । इनकी रचना में माधुर्य और प्रसाद-गुण का प्रसार मिलता है । इनके पद-पद में अपूर्व भक्ति, असाधारण प्रेम और अलौकिक सौंदर्य की छटा का विकास मिलता है । उदाहरण-स्वरूप उनकी रचना के पद नीचे दिये जाते हैं ।

"प्रभुजी तुम चन्दन हम पानी । जाकी अंग-अंग बास समानी ।।
प्रभुजी तुम घन हम मोरा । जैसे चितवन चन्द चकोरा ।।
प्रभुजी तुम दीपक हम बाती । जाकी जोति जरे दिन-राती ।।
प्रभुजी तुम मोती हम धागा । जैसे सोनही मिलत सुहागा ।।
प्रभुजी तुम स्वामी हम दासा । ऐसी भगति करै रैदासा ।।"

अर्थात् हे प्रभो, आप चंदन हैं और मैं जल हूँ; आपकी सुगन्धि मेरी समस्त देह में फैल गई है । आप घनश्याम हैं और मैं वन का मोर हूँ । जैसे चकोर चन्द्रमा की तरफ एक-टक देखता रहता है, मैं भी उसी तरह आपको देखता हूँ । हे भगवान, आप दीपक की शिखा हैं और मैं उसकी वर्तिका हूँ, आपकी ही ज्योति अहर्निश जलती रहती है । हे भगवान, आप मोती हैं और मैं सूत हूँ । यदि आप स्वर्ण हैं तो मैं सोहागा हूँ । आप मेरे स्वामी हैं और मैं आपका दास हूँ, इसी रूप में मुझ रैदास की भक्ति है ।

"दूध तो बच्छरै थन ही विडारेउ । फुल भवर जलू मीन विगारेउ ।।
माइ गोविन्द पूजा कहाँ ले चरावहूँ । अवरत फूल अनूपन पावउ ।।
मलया गिरवै रहइ हैं भुजंगा, विषु अमृत बसही इक संगा ।।
तन-मन अरपउँ पूज चढ़ावउँ । गुरु-परसादि निरंजन पावउँ ।।
पूजा अरचा अहिन तोरी । कहा रविदास कवनि गति मोरी ।।"

अर्थात् बछड़े ने तो दूध को जूठा कर दिया, भ्रमर ने फूल को और मत्स्य ने ने जल को अपवित्र कर दिया है, माँ तब गोविन्द की पूजा कैसे हो ! अनूप मुख मुझे कहाँ मिलेगा । मलयाचल में तो सर्प ही रहता है और विष और अमृत एक ही साथ रहते हैं ।

तन-मन को अर्पित करके ही पूजा चढ़ाऊँगा और गुरु-कृपा से निरंजन को प्राप्त करूँगा। रविदास तुम्हारी तो पूजा अर्चना बिना कुछ भी नहीं है। तुम्हारी कौन गति होगी ?

रविदास की जीवन-यापन-प्रणाली उनकी कविता की तरह सुन्दर और निर्मल थी। उन्हें अपने परिश्रम की सच्ची कमाई पर संतोष था। अपने अनुरागी शिष्यों के भी दिये रुपये वे ग्रहण नहीं करते थे।

यह कहा जाता है कि एक बार स्वयं भगवान वैष्णव के रूप में इन्हें पारस-मणि दे रहे थे, लेकिन इन्होंने उसको भी ग्रहण नहीं किया। एक बार इनके सामने भगवान ने एक जूते सीने वाले लौह-यंत्र को पारस-स्पर्श से स्वर्ण बनाकर यह दिखलाया कि उन्हें पदार्थों को इसके द्वारा सोने में बदल देना कितना आसान है। भगवान ने उनसे बार-बार अनुरोध किया कि वे उस पारस-मणि को ले लें। इसपर रविदास ने कहा कि यदि इसको समर्पण करने का ऐसा आग्रह है तो कृपया उसे सामने के छप्पर में खोंस दीजिये। बहुत दिनों के बाद भगवान ने आकर देखा कि वह पारस पत्थर उसी स्थान में उसी तरह पड़ा है और रविदास ने उसका स्पर्श तक नहीं किया है। तब भगवान ने लाचार होकर रविदास को कुछ स्वर्ण-मुहर ले लेने का अनुरोध किया। रविदास जी ने कहा कि मैं गरीब मनुष्य हूँ, सोना-चाँदी लेकर क्या करूँगा, उससे चोर-डाकू का उपद्रव बढ़ेगा। लकिन भगवान ने कहा कि मैं जानता हूँ कि आपको रुपये-पैसे की जरूरत रहीं है, फिर भी आप मेरी पूजा-अर्चना में उनका उपभोग कर सकते हैं—एक मन्दिर बना देना और उसमें हमारी शालग्राम-शिला की प्राण-प्रतिष्ठा कर नित्य भोग-राग लगाना। रविदास इस प्रस्ताव को अस्वीकार नहीं कर सके। उन्होंने एक मन्दिर बनवाया और वे नित्य उस शालग्राम की पूजा करने लगे।

देश के कोने-कोने से मनुष्य आ-आकर उनके मन्दिर में पूजा चढ़ाने लगे। इधर बनारस के जमींदार को इस बात का पता लग गया। उनके लिए यह असह्य हो गया कि एक शूद्र शालग्राम की पूजा करे। उसने रविदास को ऐसा करने से मनां किया। रविदास ने शालग्राम को एक आसन पर समासीन कर के उनके सामने भजन करना प्रारम्भ किया। जमींदार द्वारा भेजे गये ब्राह्मण लोग उस शालग्राम-शिला को उठाने की चेष्टा करते हुए भी असफल रहे। अन्त में उन्होंने रविदास की अद्भुत भक्ति के सामने मस्तक झुका लिया।

रविदास के जीवन से संबन्धित ऐसी अनेक अलौकिक कहानियाँ प्रचलित हैं। अन्त में इन सभी घटनाओं से यह निष्कर्ष निकलता है कि रविदास का जीवन बड़ा ही पवित्र था और उन्होंने चमार-जैसी नीच जाति को सदाचार में दीक्षित किया। अपनी जाति का कर्म-व्यवसाय समाज की दृष्टि में हेय होने पर भी उसी में निरत रहते हुए मनुष्य की किस प्रकार आध्यात्मिक उन्नति संभव है, इसका उदाहरण स्पष्ट रूप से उन्होंने हमारे सामने रखा है।

कबीर की तरह रविदास ने शूद्रों की उपासना के अधिकार को पूर्णरूप से स्वीकार किया। शूद्रों के आत्म-सम्मान की जागृति क लिए कबीर ने कहा है कि

ब्राह्मणों की धमनी में दूध और शूद्रों की धमनी में खन नहीं बहता---

"तुम कैसे बामन पोड़े, हम कैसे शुद्र। हमारे कैसे लोहू, तुम्हारे कैसे दूध ।।"

जैसे ब्राह्मण गर्भ से योनी-पथ में आकर भूमिष्ठ होता है, शूद्र भी वैसे ही। ब्राह्मण जन्म-समय में कपाल में तिलक लेकर नहीं उत्पन्न होते।

"जौ तू बामन वामनी जाया। आन बाट हैं कैंव नहि आया।
जो पै करता वरन विचारै। तौ जनमत हि तिन डाड़ि किन सारै ।।"

निस्संदेह कबीर, रविदास, सेन धना प्रभृति संतो के प्रचार के फलस्वरूप शूद्र-जातियों के जागरण में एक अभिनव जीवन का संचार हुआ। किन्तु पन्द्रहवीं और सोलहवीं शताब्दियों में उनलोगों की उन्नति की जो सूचना दीख पड़ी वह बाद में स्थायी न हो सकी। इसका कारण यह कि उनलोगों की आध्यात्मिक उन्नति के लिए आर्थिक और राजनीतिक क्षेत्र प्रस्तुत नहीं हुआ था। धर्म-साधना के लिए भी आर्थिक स्वच्छन्दता प्रयोजनीय है। निरंतर अभाव अनुभव करने से चित्त की शान्ति में बाधा पड़ती ह। दया-दाक्षिण्य, दान, ध्यान, व्रत-उपवास आदि सभी वस्तुएँ आर्थिक स्वच्छन्दता के ऊपर ही अवलम्बित हैं। मध्ययुग में कला-शिल्पियों की आर्थिक उन्नति के लिए कोई समुचित व्यवस्था न हो सकी। इसीलिए वे लोग अपनी अवस्था को स्थायी रूप से सुधार न सके। इस युग में उनलोगों को स्वतंत्र समवाय समिति में संघबद्ध होना पड़ेगा। एक-एक करके या दो-चार आदमियों के साथ मिलकर भी उत्पादन करके इस युग में कोई यंत्र द्वारा उत्पन्न वस्तुओं से टक्कर नहीं ले सकता। कच्चे माल को खरीद कर एक करना और श्रम-विभाग के द्वारा उनके उत्पादन का प्रवन्ध करके समवाय समिति के द्वारा उनके विक्रय की व्यवस्था करना प्रयोजनीय है। इस तरह की व्यवस्था न करने से शिल्पियों को जीवित रखना असंभव है। लेकिन समाज के सभ्यों की शिक्षा-दीक्षा के ऊपर ही ऐसी समवाय-नीति की सफलता निर्भर करती है। बिना किसी जाति-पाँति के भेद-भाव के सभी व्यक्तियों को शिक्षा देना राजकीय कर्त्तव्य है। शिक्षा और आर्थिक उन्नति राष्ट्रीय सत्ता के ऊपर निर्भर करती है। मध्य यग के संतगण जो कुछ भी धर्म के लिए कर गये हैं वह सब आज भी दीप-स्तम्भ की तरह हमारा पथ प्रकाशित करेगा। लेकिन आधुनिक युगोपयोगी उन्नतिशील जीवन-यात्रा के लिए हमी लोगों को अपना मार्ग निर्धारित करना पड़ेगा। अगर हम लोग दरिद्रता को निर्वासित कर सके और वास्तविक राष्ट्रीय अधिकार प्राप्त कर सकें, तभी यह संभव है कि रविदास जैसे संत के धार्मिक जीवन के अनुसरण की क्षमता प्राप्त कर सकेंगे।

———
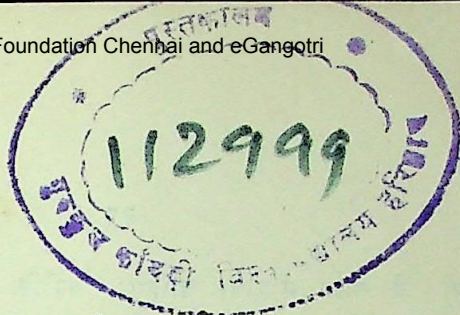
नेपाल-वंशावली

डॉक्टर देवसहाय त्रिवेद, इतिहास-शिरोमणि

अतीत काल से भारत और नेपाल का अभिन्न सम्बन्ध रहा है। भारत के विद्वान् भारतीय सभ्यता के प्रचार के लिए नदी, पहाड़, जंगलों और समुद्रों की रुकावट नहीं मानते थे।

नेपाल के इतिहास के सम्बन्ध में लोगों का ध्यान इधर कम ही गया है। नेपाल-यात्रा में मुझे ज्ञात हुआ कि वे भारत को, मुगलों के प्रताप से आक्रान्त होने के कारण, 'मुगलान' के नाम से पुकारते हैं। मैंने उनसे अनुरोध किया कि अब भारत स्वतंत्र हो गया, अब उसे इस नाम से पुकारना उचित नहीं।

प्राचीन भारत की तरह नेपाल का अतीत इतिहास भी तिमिराच्छन्न है। श्री भगवान्लाल इन्द्रजी ने 'इण्डियन ऐंटिक्वेरी' (भाग १३, सन् १८८४) में नेपाल के इतिहास पर प्रकाश डालने का यत्न किया। 'बुहलर' ने इसकी समालोचना की और इसे ऐतिहासिक दृष्टि से तुच्छ समझा।

काशीप्रसाद जायसवाल ने भी 'बिहार-उड़ीसा-रिसर्च-सोसायटी' की पत्रिका (सन् १९३६, पृष्ठ १६१-६४) में नेपाल का इतिहास प्रकाशित करना चाहा, किन्तु अगणित दशकों की भूलों और आधुनिक इतिहासकारों की दासत्व-प्रवणता को दूर करने में असमर्थ रहे।

इस लेखक को मूल नेपाल वंशावली देखने को न मिली। किन्तु तो भी वह इतिहासकारों का ध्यान आकृष्ट करने के लिए निम्नांकित अंशों को उद्धृत करता है।

बौद्ध पार्वतीय वंशावली के अनुसार गोपालवंश के आठ राजाओं ने ५२१ वर्ष राज्य किया। उसके बाद चार अभिर (?) वंशियों ने राज्य किया। इसके बाद कर्ण-वंश का प्रथम राजा 'यलम्बर', द्वापर-शेष के १८ वें वर्ष में, गद्दी पर बैठा। इस वंश के सप्तम राजा के काल में महाभारत-युद्ध तथा शाक्यसिंह का आगमन नेपाल में बताया गया है। गर्ग, वराहमिहिर तथा कल्हण के अनुसार भारत-युद्ध कलि-संवत् ६५३ में हुआ था। नेपाल की वंशावली से भी भारत-युद्ध इसी काल में प्रतीत होता है।

भगवान् बुद्ध का भी आगमन नेपाल में ठीक उसी काल में बताया गया है। इतिहासकारों के अनुसार बुद्ध-निर्वाण की ४८ तिथियों में कलि संवत् ६५३ भी एक है, जिनका वर्णन [1]अन्यत्र किया गया है।

किरात वंश के चतुर्दश राजा 'स्थुंक' के समय में अशोक का नेपाल-आगमन भ्रम ज्ञात होता है। सत्यतः भगवान् बुद्ध का नेपाल-आगमन सोमवंश के पंचम राजा

१. भारतीय विद्या, बम्बई, १९४७, पृ० २२०—३८ और
हिन्दुस्तानी, प्रयाग, १९४८

भास्कर वर्मा के समय में होना चाहिए; क्योंकि बुद्ध का वास्तविक निर्वाण-काल कलिसंवत् १३०८ है।

जगद्गुरु श्री शंकराचार्य ने ३२ वर्ष की अवस्था में, कलि संवत् २५९३ में, ब्रह्मगति प्राप्त की। अतः उनका प्रादुर्भाव कलि-संवत् २५६१ में हुआ। इन्होंने वृष-देव वर्मा के राज्य-काल में नेपाल-यात्रा की और इसकी स्मृति में राजा ने अपने पुत्र का नाम शंकरदेव वर्मा रखा। ध्यान रहे, शंकराचार्य अनेक मठों में, गत २५०० वर्षों में, अनेक होते रहे हैं और प्रायः सभी शंकर-तुल्य ही विद्वान्, यशस्वी और त्यागी हुए हैं। आधुनिक इतिहासकारों की तिथि कलि संवत् ३८८९ शंकर-काल के लिए मान्य नहीं हो सकती।

विक्रमादित्य[२] का अंशुवर्मा (कलि संवत् ३०००-३०६८) के राज्य-काल में नेपाल आना युक्ति-युक्त ज्ञात होता है।

अमीर-खुसरो की प्रतिभा

अमीर खुसरो पटियाली में पैदा हुए। यू० पी० के ज़िला 'एटा' में पटियाली एक छोटा-सा कस्बा है। पहले इसका नाम 'मोमिनाबाद' था। खुसरो के पिता अमीर सैफुद्दीन महमूद बलख से हिन्दुस्तान आये। उन दिनों हिन्दुस्तान में शम्सुद्दीन अल्तमश का राज्य था। उसने सैफुद्दीन का बड़ा मान किया। इमादुल-मुल्क ने, जो उन दिनों देहली के चोटी के अमीरों में थे, अपनी बेटी उनसे ब्याह दी। यही खुसरो की माँ थी। जब वह जरा सयाने हुए तो पढ़ने के लिए मौलाना सादुद्दीन खत्तात के पास बिठा दिया गया। खुसरो लिखते कम थे, बस दोहे गुनगुनाते रहते थे और तख्ती पर भी दोहे ही लिखते थे। एक दिन दिल्ली के नायब कोतवाल ने मौलाना सादुद्दीन को बुलाने भेजा। मौलाना अपने साथ अमीर खुसरो को भी साथ लेते गये। कोतवाल के मकान पर ख्वाजा अजीज भी बैठे थे। उनकी कविता और ज्ञान की बड़ी धूम थी। ख्वाजा से सादुद्दीन ने कहा—"यह लड़का हमेशा गुनगुनाता रहता है, जरा इसकी जाँच तो कीजिये।" ख्वाजा के हाथ में कविता की एक छोटी-सी कापी थी। अमीर को उन्होंने वह कापी देकर कहा—"इसमें से कुछ सुनाओ।" अमीर ने कुछ चीजें सुनाईं तो वह झूमने लगे और बहुत प्रसन्न हुए। खुसरो का नाम 'अबुलहसन' है, पर कवियों का नाम नहीं, उपनाम (तखल्लुस) प्रसिद्ध होता है।

मक्तबा जामिया (दिल्ली) की 'अमीर खुसरो' पुस्तक से

---

२ जैन-सिद्धान्त-भास्कर, आरा, भा० ८, पृ० ४०-४४

हिन्दी में लिंग-विधान

प्रोफेसर मुरलीधर श्रीवास्तव

हिन्दी व्याकरण के आलोचकों ने इस भाषा के शब्दों के लिंग-विधान को दोष-पूर्ण, भ्रामक और कठिन या जटिल बताया है और कुछ विद्वानों ने इसमें संशोधन की आवश्यकता पर जोर दिया है। यह बात इतनी बार और इतने मुँह से दुहराई गई है कि जिन लोगों ने इस विषय पर कभी चिन्तन-मनन नहीं किया है वे भी सहसा ऐसी आलोचनाओं से सहमत हो जाते हैं। हम भी यह नहीं कहते कि हिन्दी में लिंग-विधान सरल है और इसके नियम सर्वथा स्थिर और निरपवाद रूप में रखे जा सकते हैं।

किसी भाषा पर अधिकतर उस भाषा के नियमों का ही सर्वाधिक प्रभाव पड़ता है, जिस भाषा की वह उत्तराधिकारिणी होती है, पर साथ ही निकट सम्पर्क में आने वाली पड़ोसी विदेशी भाषाओं के नियमों का भी उस पर कुछ प्रभाव पड़ने लगता है। जैसे किसी व्यक्ति को कुछ अपने पूर्वजों से उत्तराधिकार में मिलता है और कुछ वह स्वयं उपार्जित करता है, वैसे ही भाषाएँ भी अपनी पूर्वज भाषाओं से उत्तराधिकार में कुछ नियम प्राप्त करती हैं और कुछ अन्य भाषाओं से ग्रहण करती हैं। मैंने हिन्दी के लिंग-विधान पर कुछ चिन्तन किया है। मेरी दृष्टि में हिन्दी व्याकरण के अनेक महत्त्व-पूर्ण अंगों पर आलोचनात्मक और तुलनात्मक दृष्टि से विवेचन न होने के कारण कुछ भ्रमपूर्ण विचारों का प्रचार हो गया है। मैं आगे इस सम्बन्ध के नियमों की चर्चा और आलोचना करूँगा।

हिन्दी में साहित्य के प्रश्नों की इतनी चर्चा हो रही है कि व्याकरण के कुछ आवश्यक विषयों पर विचार-विमर्श नहीं हो पाता। व्याकरण की सर्वथा उपेक्षा उचित नहीं है। इस क्षेत्र में उतरने वाले विद्वान् बहुत कम हैं। नई पीढ़ी के लेखकों में इसका अनुराग कम होता जा रहा है। ऐसी दशामें मैं आशा ही कर सकता हूँ कि लिंग-विषयक नियमों पर भी विभिन्न दृष्टिकोणों से विचार होगा।

जिन लोगों ने लिंग के नियमों पर भी वैज्ञानिक दृष्टि से अर्थात तुलनात्मक, समीक्षात्मक या निरुक्त ढंग पर विचार किया है, उन्हें ये नियम कठिन नहीं जान पड़ते। डॉक्टर ब्रजेश्वर वर्मा का मत है——"हिन्दी में लिंग-भेद की तथा-कथित जटिलता सबसे अधिक बदनाम है। पर वस्तुतः हिन्दी का लिंग-भेद इतना जटिल नहीं है, जितना समझा जाता है। हिन्दी व्याकरण में लिंग-परिवर्त्तन के नियम स्पष्ट और सरल हैं।"

यहाँ डाक्टर हरदेव बाहरी ने अन्य विद्वानों के मत का सार इस प्रकार उपस्थित किया है—"कहते हैं कि हिन्दी में लिंग की समस्या बड़ी जटिल हो गई है। मैंने सर्वश्री बाबूराम सक्सेना, धीरेन्द्र वर्मा, बीम्स, ग्रियर्सन, सुनीति कुमार चटर्जी,

कामता प्रसाद गुरु, अब्दुल हक, रामचन्द्र वर्मा आदि विद्वानों के थीसिस देखे। सब में यही पाया कि साहब, हिन्दी का लिंग–प्रयोग बड़ा कठिन है, बड़ा अजीब है। इस कठिनाई का कारण यह बताया गया है कि स्वाभाविक लिंग तीन हैं, परन्तु हिन्दी में नपुंसक लिंग उड़ा दिया और जड़-पदार्थों में भी स्त्रीत्व अथवा पुरुषत्व का आरोप कर दिया। यही नहीं,हिन्दी के सर्वनाम, विशेषण, सम्बन्ध–बोधक, क्रिया और क्रिया–विशेषण तक में लिंग–भेद कर दिया ; अर्थात् हिन्दी के मामले को बड़ा जटिल बना दिया।"

डाक्टर बाहरी का मत इसके प्रतिकूल है–"परन्तु हिन्दी में लिंग–प्रयोग सरल ही हुआ है।"[1] लिंग–विधान के नियमों में, जो गुरु या श्री अम्बिका प्रसाद वाजपेयी ने दिये हैं, कोई व्यवस्था नहीं है। यही कारण है कि कभी-कभी नियम के अन्तर्गत आने वाले शब्दों की संख्या से अधिक अपवादों की ही संख्या है। इसका प्रमाण इन व्याकरणों को देखने से मिलता है। उदाहरण के लिए गुरु के अनुसार "नक्षत्रों के नाम जैसे–अश्विनी, भरणी, कृत्तिका,रोहिणी, आर्द्रा, अश्लेषा स्त्री-लिंग हैं। पर अम्बिकाप्रसादजी ने पुंलिग शब्दों में नव नक्षत्रों को (हस्तमूल, श्रवण, पुनर्वसु, पुष्य, पूर्वाषाढ़, उत्तराषाढ, पूर्वभाद्रपद, और उत्तर भाद्रपद) पुंलिग माना है और चित्रा, स्वाति विशाखा इत्यादि १८ नक्षत्रों को स्त्रीलिंग। गुरु ने नक्षत्रों के नाम को स्त्रीलिंग के अन्तर्गत रखा है और यह नहीं बताया कि उनमें केवल अठारह स्त्रीलिंग हैं। पर ये दोनों नियम आवश्यक हैं। शब्दों के रूप के अनुसार बने हुए नियमों को हम इन पर भी लागू कर सकते हैं; नक्षत्रों के लिए फिर स्वतंत्र नियम बनाने की जरूरत नहीं पड़ेगी।

लिंग का नियम प्राणिवाचक शब्दों में कोई कठिनाई उपस्थित नहीं करता। हिन्दी में निर्जीव वस्तु–वाचक शब्दों को नपुंसक लिंग नहीं माना जाता; इस कारण अंग्रेजी व्याकरण के समान हिन्दी का लिंग–विधान सरल नहीं है। मुख्य प्रश्न यह है कि लिंग शब्द के रूप पर निर्भर है, या अर्थ पर, अथवा दोनों पर। लिंग–निर्णय के लिए प्राणिवाचक शब्दों के अर्थ को ध्यान में रखना आवश्यक है; किन्तु अप्राणिवाचक शब्दों में अर्थ नहीं, रूप को ही महत्त्व दिया गया है।

संस्कृत हिन्दी की पूर्वज और मूल भाषा है; अतः हिन्दी के लिंग–सम्बन्धी नियमों पर विचार कर लेना उचित जान पड़ता है। संस्कृत में शब्द की रचना या रूप के अनुसार लिंग के नियम बने हैं। स्त्री-प्रत्यों की सूची इसका प्रमाण है। कोई शब्द स्त्रीलिंग है या पुंलिग, यह प्रत्यय देखने से ज्ञात हो जाता है। अर्थ को यदि महत्त्व मिलता तो 'दारा', 'कलत्र' और 'स्त्री' के लिंग में अन्तर क्यों होता ? हिन्दी में ऐसा कोई शब्द नहीं है जो अर्थ से स्त्रीलिंग हो और रूप से पुंलिग हो। अतः अप्राणिवाचक शब्दों के सम्बन्ध में हीं हमें यह देखना है कि अर्थ के अनुसार लिंग होता है या रूप के अनुसार। हमारे विचार में अप्राणिवाचक शब्दों में अधिकतर

१ वास्तव में हिन्दी में लिंग-निर्णय की समस्या है भी बहुत कठिन। बहुत से अन्य भाषा-भाषी तो हिन्दी से इसीलिए घबराते हैं कि इसमें लिंगों का विलक्षण पचड़ा लगा है। इसीलिए कई बार यह प्रस्ताव भी हो चुका है कि क्रियाओं और विशेषणों आदि पर से लिंग का बन्धन हटा दिया जाय। ....भाषा में अनेक प्रकार के सुधार हो सकते हैं; परन्तु उसमें किसी प्रकार का तात्विक परिवर्त्तन नहीं किया जा सकता है।––हिंदी अनुशीलन वर्ष ३––अंक १

रूपानुसार लिंग होता है अर्थानुसार नहीं। पुंलिंग शब्दों में स्त्री–प्रत्यय जोड़ने से हिन्दी में भी शब्द बनते हैं। कुछ शब्दों में यदि ऐसा नहीं दीखता है तो इसे अपवाद ही माना जाय।

हिन्दी व्याकरण पर संस्कृत व्याकरण का प्रभाव अत्यधिक पड़ा है। अतः संस्कृत के पुंल्लिग शब्द हिन्दी में तत्सम–रूप में प्रयुक्त होने पर पुंलिंग माने जाते हैं। संस्कृत के नपुंसक लिंग शब्द जो किंचित् परिवर्तित या विकसित रूप में हिन्दी के तद्भव शब्द के रूप में प्रयुक्त होते हैं, वे पुंल्लिग हैं। जब एक शब्द भिन्न अर्थों में प्रयुक्त होता है तब अर्थ के अनुसार उसका लिंग भी बदल जाता है। अतः शब्द के रूप के साथ ही, ऐसी अवस्था में, उसकी निरुक्ति पर भी विचार करना आवश्यक हो जाता है। हिन्दी में प्रयुक्त होने वाले शब्दों को हम संस्कृत–मूलज और असंस्कृत-मूलज––दो रूपों में रख सकते हैं। तत्सम और तद्भव दोनों ही संस्कृत-मूल के हैं। असंस्कृत–मूल में अन्य भाषाओं अर्थात् विदेशी आर्य-कुल, द्रविड़-कुल के शब्द आते हैं। अंग्रेजी, फ्रेंच, पोर्तुगीज, इरानी, अरबी या द्रविड़ कुल के शब्द इसी श्रेणी में आते हैं। इनके अतिरिक्त जो शब्द 'देशज' कहे जाते हैं, उनको वस्तुतः 'अज्ञात–मूल' कहा जा सकता है। अनेक शब्दों को हम देशज केवल इसीलिए कहते हैं कि वे न तत्सम हैं, न तद्भव और न विदेशी। अधिकतर ऐसे शब्दों के मूल का हमें निश्चित पता नहीं है। हिन्दी–कोष में लगभग ८० प्रतिशत शब्द संस्कृत-मूल के ही हैं, तत्सम या तद्भव जो हों। तत्सम और तद्भव शब्दों के लिंग-निर्णय के लिए कुछ नियम निर्धारित किये जा सकते हैं।

हम नीचे तत्सम संज्ञाओं पर लागू होने वाले नियम देते हैं और कुछ अपवादों का उल्लेख भी करते हैं।

तत्सम संज्ञाओं का लिंग

नियम––(१) संस्कृत की तत्सम अकारान्त प्राणिवाचक-संज्ञा हिन्दी में पुंलिंग।
(२ तत्सम आकारान्त, इकारान्त और उकारान्त अप्राणिवाचक संज्ञा-स्त्रीलिंग।

आरोपित लिंगत्व

ये बड़े व्यापक नियम हैं। प्राणिवाचक शब्दों का लिंग जानना सरल है। प्रकृति के अनुसार उनके लिंग का ज्ञान हो जाता है। वास्तविक लिंग और व्याकरण के लिंग में ऐसी दशा में अनुकूलता रहती है। अतः अप्राणिवाचक शब्दों के लिंग जानने में ही कठिनाई रहती है। निर्जीव वस्तुओं में भी प्राचीन आर्यों ने पुंस्त्व और स्त्रीत्व आरोपित कर लिया था। प्रकृति के अनेक रूपों में देवत्व की भावना आरोपित की गई। प्रकृति के अंगों में देवी-देव-कल्पना भी की गई है। आर्यों के देवत्व-विधान को देखने से यह विदित होता है कि पर्वत, नदी, नद, नक्षत्र, तिथि, धातु, रत्न आदि में भी पुंस्त्व और स्त्रीत्व आरोपित किया गया है।। शब्दों की रचना के कारण काव्य में प्रतीकों और अनेक कल्पनाओं का जन्म हुआ है। पौराणिकों की कल्पना प्रतीकों और रूपकों से पूर्ण है। 'पृथ्वीमाता' की कल्पना कितनी उदात्त है। 'काव्य-पुरुष' और कविता-कामिनी में, रूपक के मूल में, काव्य और कविता शब्दों की रचना है। रूप के प्रभाव के कारण फूलों, लताओं और

वनस्पतियों में भी स्त्रीत्व और पुरुषत्व कल्पित किया गया है। कमल-कमलिनी, पद्म-पद्मिनी, निर्झर-निर्झरिणी, सर-सरिता, नद-नदी, तारा-तारापति नदी-नदीश (समुद्र), रजनी-रजनीश आदि शब्दों में प्राण आरोपित हैं। आज के विज्ञान के अनुसार वनस्पतियों में प्राण प्रमाणित हैं। अप्राणिवाचक शब्दों में लिंग निर्धारित करने के लिए उनके रूप को, और प्राणिवाचक शब्दों के रूप और अर्थ को भी ध्यान में रखना होता है।

नियम (१) के अपवाद

जय (और इसके साथ समस्त शब्द--यथा विजय, पराजय) विनय, इन्द्रिय, सामर्थ्य, पुस्तक, देह। 'जय' को सभी लेखक स्त्रीलिंग मानते हैं–अपवाद में गुप्तजी का प्रयोग यशोधरा में उल्लेखनीय है। विजय और समाज को गुरु ने उभयलिंग माना है। 'समाज' तो अब अधिकतर पुंलिंग ही लिखा जा रहा है, और यह ठीक भी है। कुछ लोग अकारान्त शब्द को स्त्रीलिंग मानते हैं। कहा जाता है कि 'पुस्तक' पर 'किताब' का प्रभाव पड़ा है। शायद 'पोथी' का प्रभाव भी पड़ा हो। अन्यथा, उपर्युक्त संज्ञाओं को मान लें तो अपवादों की संख्या कम हो जाय।

नियम (२) के अपवाद

अकारान्त--तारा, देवता (प्राणिवाचक, आरोपित पुंस्त्व के कारण) 'आँख का तारा' में भी तारा पुल्लिग है। पर स्त्री का नाम तारा हो तो स्त्रीलिंग। अतः ये अपवाद वास्तविक या आरोपित पुंस्त्व के कारण हैं।

उकारान्त--मधु, अश्रु, तालु, तरु (गुरु के अनुसार) भान, कृशानु, विधु आदि। भानु, कृशानु, विधु देव माने गये हैं।

इकारान्त--वारि, गिरि, बलि, आदि (गुरु) दधि, विधि (ब्रह्मा अर्थ में), प्रक्रिया में स्त्रीलिंग है। जल-देवता, पर्वत-देवता और ब्रह्मा में आरोपित देवत्व है ही।

विशेष--'देवता' शब्द हिन्दी में देव-वाचक है। कदाचित् हिन्दी का देवता तत्सम नहीं है, देवत्व का तद्भव रूप तो नहीं है?

'आत्मा' को गुरु ने उभय-लिंगी माना है; पर अब स्त्रीलिंग में अधिक प्रयोग हो रहा है। पर इससे बने समस्त शब्द--यथा, महात्मा, पापात्मा, दुरात्मा, देवात्मा, और परमात्मा पुंल्लिग हैं। ऐसी दशा में आत्मा को आकारान्त मान कर लिखना ठीक नहीं है। 'आत्मन्' शब्द के अनुसार पुंल्लिग लिखना ही उचित है। श्री किशोरी दास वाजपेयी के अनुसार आत्मा, वायु, आयु, और मृत्यु पर रूह, हवा, उम्र और मौत का प्रभाव पड़ गया है। दधि पुंल्लिग होने के कारण उसका तद्भव दही भी पुंल्लिग लिखा जाता है। श्री अम्बिका प्रसाद वाजपेयी ने हठ, परामर्श और प्रारब्ध को उभयलिंग बताया है। पर परामर्श और प्रारब्ध का अधिक प्रयोग पुंल्लिग में हो रहा है, जो नियम (१) के अनुसार, उचित ही है। अब भी कुछ लेखक हठ को स्त्रीलिंग लिखने का हठ दिखा रहे हैं। उक्त नियम के अपवाद बढ़ाने से लाभ क्या?

तद्भव संज्ञाओं के लिंग

सामान्य नियम–(१) तद्भव संज्ञाओं का लिंग मूल संस्कृत शब्दों के लिंग के अनुसार होता है।

(२) आकारान्त अतत्सम संज्ञायें पुंल्लिग हैं। हिन्दी के आँख, नाक, भीख, लाख, सिल, बाँझ, साँझ, जीभ, दूब, रात, बात, मिट्टी, घड़ी के स्त्रीलिंग होने का, इसको छोड़कर क्या कारण बताया जाय कि इनके मूल शब्द अक्षि, नासिका, भिक्षा, लाक्षा, शिला, वन्ध्या, सन्ध्या, दूर्वा, रात्रि, वार्ता, जिह्वा, मृत्ती और घटी संस्कृत में स्त्रीलिंग हैं। कुछ और भी शब्द देखें। तद्भव का लिंग तत्सम के अनुसार–इस नियम के प्रमाण में ।

कोढ़ (कुष्ठ) पहर (प्रहर) अचरज (आश्चर्य) बादल (वारिद) सांकल (शृंखला) नाच (नृत्य) जेठ (ज्येष्ठ) परख (परीक्षा) नींद (निद्रा), सच (सत्य) काठ (काष्ठ) गाँठ (ग्रंथि) ढीठ (धृष्ट) छाता (छत्र) मेह (मेघ) सुहाग (सौभाग्य)।

इस नियम के कुछ अपवाद मिलते हैं––

	स्त्री०	तत्सम	संस्कृतलिंग
ताँत	,,	तंतु	पुं०
बाँह	,,	बाहु	पुं०
बूँद	,,	विन्दु	पुं०

अब हम प्रचलित व्याकरणों के अपवादों पर विचार करेंगे। इनमें दिये गये अपवादों की संख्या भी अधिक है और नियम भी सरल नहीं हैं। 'ईकारान्त संज्ञाएं स्त्रीलिंग हैं'–यह नियम देकर पानी, घी, जी, दही, मोती को अपवाद बताया गया है। । अर्थात् ये शब्द पुंल्लिग हैं। मेरे दिये नियम के अनुसार इन तद्भवों के मूल–पूर्वज शब्दों का लिंग देखें, फिर इनके लिंग का पता लग जायगा।

पानी (पानीय), घी (घृत), जी (जीव), दही (दधि), मोती (मौक्तिक) तत्सम शब्द अकारान्त अप्राणिवाचक हैं, अतः पुंलिग ।

गुरु के अनुसार ऊकारान्त संज्ञाएँ स्त्रीलिंग हैं; जैसे बालू, ब्यालू, दारू, लू, झाड़ और गेरू। अपवाद––आलू, आँसू, टेसू, नीबू।

जिन शब्दों के मूल का ज्ञान है, उन्हें हम मूल के अनुसार निश्चित करें। 'बालू' को, बालुका से उत्पन्न होने के कारण, स्त्रीलिंग मानना ही ठीक है। 'आँसू' अश्रु (पुं०) से बना है, अतः पुंल्लिग।

तकारान्त संज्ञाओं को स्त्रीलिंग मान कर दाँत, भात, खेत और सूत को अपवाद कहा गया। इस प्रकार बिना विचारे नियम देने से ही ये सारे अपवाद आते हैं, अन्यथा मेरे नियम से भक्तं, दन्तं, क्षेत्रं, सूत्रं के वंश के कारण इन्हें पुंल्लिंग होना ही चाहिए।

हमारा यह दावा है कि तत्सम-सम्बन्धी और तद्भव-सम्बन्धी ऊपर दिये हुए दो सुगम नियमों को मान लेने पर अपवादों की संख्या प्रचलित व्याकरणों से कम हो

जाती है। इन व्याकरणों में व्यर्थ नियमों को बना कर जटिलता उत्पन्न की गई है। यथा—संस्कृत संज्ञाएँ पुंल्लिग कब होती हैं, वह इस प्रकार छै नियमों द्वारा बताया गया है—

"(१) जिन संज्ञाओं के अंत में 'आर' 'आय' या 'हास'—जैसे विकार, विस्तार अध्याय, विकास। अपवाद—सहाय और आय।

(२) जिन संज्ञाओं के अंत में 'ज' व 'द' हो, जैसे जलद, जलज।

(३) त् प्रत्ययांत संज्ञाएँ—मत, स्वागत।

(४) जिनके अंत में 'त्र' हो—चित्र, चरित्र।

(५) नांत संज्ञाएँ। जैसे—नयन, वचन।

(६) जिन भाववाचक संज्ञाओं के अंत में 'त्व', 'त्य', 'व' अथवा 'य' होता है। जैसे–सतीत्व, नृत्य, लाघव, सौन्दर्य आदि।"

इन छै नियमों को हम एक ही सामान्य नियम के अन्तर्गत रख सकते हैं। वह सरल नियम है—'अकारान्त अप्राणिवाचक-तत्सम शब्द पुंल्लिग'। ऐसे ही अन्य दिये नियम भी अनावश्यक और जटिल हैं। फिर देशों, पर्वतों, समुद्रों के नाम के लिए एक नियम; ग्रहों, समय के विभागों, रत्नों आदि के अलग नियमों के बनाने और उनके अपवाद लिखने की आवश्यकता ही नहीं रह जाती। ग्रहों के नाम को पुंल्लिग बता कर पृथ्वी को अपवाद कहा गया है। रूप के अनुसार, ईकारान्त होने के कारण, पृथ्वी को स्त्रीलिंग होना ही चाहिए। पुनः पृथ्वीमाता की कल्पना में स्त्रीत्व आरोपित ही है। इसी प्रकार स्त्रीलिंग के नियमों में—(१) नदियों और झीलों के नाम (२) तिथियों और (३) नक्षत्रों के नाम के लिए पृथक् नियमों का उल्लेख व्यर्थ जटिलता बढ़ाना है। पर गुरु जी के व्याकरण की यह अवैज्ञानिकता परवर्त्ती व्याकरणों में भी चली आई है। श्री अम्बिका प्रसादजी वाजपेयी ने भी यही रास्ता पकड़ा है। आपने नियमों की रचना इस प्रकार की है—"पुंल्लिग—कुछ को छोड़ कर सब नगरों के नाम।" भला यह भी कोई नियम है, जिसमें 'कुछ' भी सैकड़ों तक पहुँच सकता है और 'इत्यादि'—निश्चित संख्या का सूचक है ही नहीं। ऐसे नियम याद करने से पाठक का क्या लाभ हो सकता है?

तद्भव संज्ञाओं के लिंग

अतत्सम शब्दों में उर्दू और अंग्रेजी के ही शब्द अधिक हैं। प्रचलित व्याकरणों में उर्दू शब्दों पर लागू होने वाले नियम भी सदोष हैं। इनमें अधिकांश का लिंग मूल फ़ारसी या अरबी शब्द के लिंग के अनुसार होता है। पर हिन्दी वालों से फारसी या अरबी मूल के जानने की आशा नहीं की जा सकती। अंग्रेजी के शब्द जब हिन्दी में प्रयुक्त होते हैं, तब कुछ लेखक उनके हिन्दी अर्थ के अनुसार और कुछ तो रूप के अनुसार उनका लिंग निर्धारित करते हैं। अभी ऐसे शब्दों की संख्या अधिक नहीं है, अतः ऐसे अंग्रेजी शब्दों के लिए सर्वमान्य नियम बन जाना चाहिए। रूप के अनुसार इन का लिंग निश्चित हो तो अच्छा हो। हिन्दी के तद्भव शब्दों में आकारान्त पुंल्लिग और इकारान्त सामान्य स्त्रीलिंग होते हैं। इस नियम से लिखना ठीक जान पड़ता है। अकारान्त को

पुंल्लिग लिखना ही अच्छा है, पर कुछ शब्द अर्थ के कारण स्त्रीलिंग व्यवहृत हो रहे हैं—रेल (पटरी या गाड़ी) काँग्रेस (सभा) युनिवर्सिटी, स्कीम (योजना) नोटिस (सूचना)।

इस विषय पर विद्वान एक मत नहीं हैं। 'हिन्दी-अनुशीलन' जैसे शोध-पत्र में, थीसिस' शब्द को एक विद्वान ने पुंलिग और दूसरे ने स्त्रीलिंग मानकर लिखा है। शायद एक ने अकारान्त या निबन्ध-अर्थ में लिखा है, तो दूसरे ने सकारान्त संज्ञा मानकर स्त्रीलिंग। इस सम्बन्ध में रूप के अनुसार अकारान्त मानकर पुंलिग लिखना सही होगा, क्योंकि अकारान्त का नियम अधिक व्यापक है।' 'दर्जनों ही हिन्दी थीसिस आज भी विश्वविद्यालयों में सड़ रहें हैं।' 'विश्वविद्यालय के अँग्रेजी-विभाग के अन्तर्गत लिखी गई अंग्रेजी में थीसिस[१]' अंग्रेजी[२] शब्द के लिंग निर्धारित करने के लिए नियम अब भी बन सकते हैं, क्योंकि उनके प्रयोग की परम्परा अभी पुरानी नहीं हुई है।

हमारा विश्वास है कि हिन्दी व्याकरण के इस कठिन माने जाने वाले अंग पर विद्वान् यदि अधिक विचार करेंगे तो उपर्युक्त नियमों की सरलता और सुबोधता को अवश्य स्वीकार करेंगे।

अमीर खुसरो की समाधि

सच पूछिए तो अमीर खुसरो पेट ही से कवि पैदा हुए थे। उर्दू और फारसी के साथ वे हिन्दी के भी बहुत अच्छे कवि थे। ८४ वर्ष की उम्र में उनका स्वर्गवास हुआ। दिल्ली से तीन मील की दूरी पर प्रसिद्ध बस्ती 'निजामुद्दीन' में उनकी समाधि है। उनके मरने के १७२ वर्ष बाद मेंहदी ख्वाजा ने उनकी कब्र के चारों ओर लाल पत्थर की जाली लगवा दी थी। मेंहदी ख्वाजा बादशाह बाबर के समय बड़े अमीरों में था। सफेद पत्थर का गुम्बद बाद में बना है। यह गुम्बद अमीर ताहिर ने बनवाया था, जो बादशाह जहाँगीर के दरबारियों में था और खुसरो को बहुत मानता था। जाली खुसरो के मरने के १७२ वर्ष बाद लगी और गुंबद २९८ वर्ष बाद बना।

——मक्तबा जामिया (दिल्ली) की 'अमीर खुसरो' पुस्तक से।

---

१ हिन्दी अनुशीशलन—पृ० ४८।
२ डा० लक्ष्मीशंकर वार्ष्णेय—पृ० ५०, वर्ष २—अंक ३।

आचाराङ्गसूत्र का अध्ययन

श्री रञ्जन सूरिदेव, साहित्याचार्य, साहित्यरत्न,

विभिन्न साहित्यों के बीच जैन-साहित्य भी अपना एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। यद्यपि वह सप्तर्षियों के बीच अरुन्धती की तरह अन्तर्हितावस्था में पड़ा हुआ है, तथापि उसकी समुज्ज्वलता निष्कलंक है और उसकी शिवता-सुन्दरता अन्य सत्साहित्यों के समकक्ष।

भाषा-वैज्ञानिकों की दृष्टि में जैन-साहित्य की भाषा मध्ययुग (ईसवी पूर्व ५०० से १००० ई० तक) की भाषा है। इसका नाम है जैन-प्राकृत। जैन-प्राकृत के आर्ष, शौरसेनी, मागधी, पैशाची आदि कई भेद हैं। जैन-प्राकृतों में प्रमुख आर्ष (अर्द्ध-मागधी) है। आर्ष (अर्द्धमागधी) भाषा में ही श्वेताम्बर-संप्रदाय के ग्यारह अंग, बारह उपाङ्ग आदि पैंतालीस आगम-ग्रन्थ उपलब्ध हैं। ४५ जैन-आगम-ग्रन्थों में ग्यारह अंगों के नाम इस प्रकार हैं-(१) आचारांग (सूत्र), (२) सूत्रकृताङ्ग, (३) स्थानाङ्ग (४) समवायाङ्ग (५) व्याख्याप्रज्ञप्तिः (भगवती सूत्र), (६) ज्ञातृधर्मकथासूत्र, (७) उपासक-दशासूत्र, (८) अन्तःकृतदशासूत्र, (९) अनुत्तरौपपातिक दशा-सूत्र, (१०) प्रश्न-व्याकरण-सूत्र और (११) विपाकसूत्र।

ऐतिहासिकों की दृष्टि में जैनमत का प्रादुर्भाव ईसा के आठ सौ वर्ष पूर्व भारत के कोशल, वाराणसी (बनारस), मगध आदि जनपदों में हुआ। ऐसी जनश्रुति है कि इनके (जैनों के) धर्म-ग्रंथ कई सौ वर्षों तक मौखिक रहे। प्रथम बार इनके धर्म-ग्रन्थों का संकलन चन्द्रगुप्त-मौर्य के समय (चौथी शती ई० पू०) में पाटलिपुत्र (पटना) में हुआ। अथच इनका संपादन पाँचवीं शती ई० में देवर्द्धिगणि-जैन ने समाप्त किया।

भाषाविदों के विचार में अन्य जैन-आगम-ग्रन्थों की अपेक्षा जैन-अंगों की भाषा प्राचीन है। गठन में यह अर्द्ध मागधी, अर्थात् शौरसेनी और मागधी के बीच की, भाषा प्रतीत होती है। श्वेताम्बर-सम्प्रदाय का अन्य कथा-साहित्य महाराष्ट्री (जैन-महा-राष्ट्री) में है। दिगम्बर-सम्प्रदाय का साहित्य जैन शौरसेनी में है। इन दोनों का रूप 'आर्ष' से प्राचीन होना संभव नहीं है। अस्तु, यहाँ मैं आचाराङ्ग-सूत्र पर विहंगावलोकनात्मक अध्ययन प्रस्तुत कर रहा हूँ।

उपर्युक्त गणनानुसार यह स्पष्ट है कि आचारांग-सूत्र श्वेताम्बरीय जैनों के ग्यारह अंगों में प्रथम अंग है। यह आचारांग-सूत्र अपने नाम को यथार्थतः अन्वर्थ करता है। जैन-भिक्षु और जैन-भिक्षुणियों के विविध संयुक्त-आचारों का समान और सुचारु रूप से निर्देशन करने वाले अन्य अंगों (सूत्रों) की भाँति आचाराङ्ग-सूत्र भी सुधर्मा और जम्बु के संवाद का संकलन है। प्रति अध्ययन की समाप्ति पर स्वामी सुधर्माजी ने केवल जम्बू से कहा है- "श्रमण भगवान् महावीर ने जैसा प्रवचन किया, वैसा ही मैं कह रहा हूँ।"

मूल आचाराङ्ग-सूत्र के दो भाग हैं--प्रथम श्रुतस्कन्ध और द्वितीय श्रुतस्कन्ध। प्रथम श्रुतस्कन्ध में नौ अध्ययन हैं और द्वितीय में सोलह। कुल मिलाकर सम्पूर्ण आचारांग-सूत्र में पच्चीस (किन्तु, मेरी दृष्टि में चौबीस) अध्ययनों (लेक्चरों) का संग्रह है। प्रत्येक अध्ययन में कई 'उद्देशक' हैं। उद्देशक, अध्ययन के बीच का, विराम-सा प्रतीत होता है।

आचारांग-सूत्र की 'दीपिका' नाम की संस्कृत टीका के कर्त्ता श्री जिनहंस सूरि ने द्वितीय श्रुतस्कन्ध में सोलह अध्ययनों को भी चार चूड़ाओं में विभक्त किया है। श्री सूरिजी के अनुसार आचारांग-सूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध में आठ ही अध्ययन हैं। इस लेख के लेखक को भी आठ ही अध्ययन दृष्टिगत हुए। परन्तु आचारांग-सूत्र की द्वितीय संस्कृत टीका के कर्त्ता श्री शीलंगाचार्यजी तथा 'बालबोध' नाम की भाषा टीका के कर्त्ता श्री पार्श्वचन्द्रजी सूरि के अनुसार आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध में नौ अध्ययन हैं। न जाने, आप दोनों नौ अध्ययन कैसे गिनते हैं? मूल के अनुसार तो आठ ही अध्ययनों का उल्लेख मिलता है। आप दोनों ने सप्तम अध्ययन के बाद नवम अध्ययन को समाप्त किया है, अष्टम की कोई चर्चा ही नहीं चलाई। हाँ, एक बात लिख दी है-"अधुना सप्तमाध्ययनस्य महापरिज्ञाख्यस्य अवसरः तच्च व्यवच्छिन्नमित्यतिलङ्घ्य अष्टमस्य सम्बन्धो वाच्यः।"

'बालबोध' नाम की हिन्दी टीका की भाषा पश्चिम की कोई विशेष-बोली प्रतीत होती है, जो बड़ी ऊटपटाँग-सी लगती है। जो हो, उपर्युक्त तीनों टीकाओं की शैली बड़ी पुरानी है और भद्दी भी, जिसमें दुरूहस्थल भी 'सुगमम्' कह कर छोड़ दिये गये हैं तथा साधारण बातों पर व्यर्थ पन्ने-के-पन्ने रंग डाले गये हैं। सबसे विचित्र और मजे की बात तो यह है कि तीनों टीकाएँ अक्षरशः एक समान हैं। तीनों में प्रायशः विन्दु-विसर्ग का भी अन्तर न होने पाया है। ऐसा प्रतीत होता है कि तीनों टीकाकारों ने एक दूसरे का अक्षरशः अनुकरण किया है।

आचाराङ्ग-सूत्र की वर्णन-शैली गद्यात्मक है। परंतु कहीं-कहीं श्लोक भी दृष्टिगत होते हैं। श्री शीलंगाचार्यजी के अनुसार सभी श्लोक हैं। अथच प्रथम श्रुतस्कन्ध के अन्त में उन्होंने उल्लेख किया है--"श्लोकतो ग्रन्थमानं ९७६।" श्री शीलंगाचार्यजी का टीकाकाल है वैशाख शुद्ध पञ्चमी संवत् ७९८।--"शकवृषकालातीतसंवत्सरशतेषु अष्टानवतीत्यधिकेषु वैशाखशुद्ध पञ्चमीपञ्चम्यां आचार-टीका कृतेति।" आचार्यजी ने टीका करने में तत्त्वादित्योपनामक श्री शीलाचार्य साधु से सहायता भी ली है।

मुझे विहार रिसर्च सोसाइटी (पटना) के सौजन्य से आचारांग-सूत्र का अध्ययन, अवलोकन और अनुवर्त्तन करने का अवसर प्राप्त हुआ है। उसका परिचय उसके ही मुखपृष्ठ पर प्रकाशित है--

॥ श्रीयुक्त राय धनपति सिंह बहादुर का आगम संग्रह भाग १ प्रथम ॥

श्री आचारांग जी सूत्र प्रथमाङ्ग

गणधर श्रीसुधर्मा स्वामीकृत मूल सूत्र तदुपरी श्रीशीलंगाचार्यकृत टीका तदुपरी श्रीजिनहंससूरिकृत दीपिका तदुपरी पार्श्वचन्द्रसूरि कृत बालाबोध।

कलकत्ता, नूतन संस्कृत यंत्र में छपा गया।

रेजिष्टरी कराया गया, संवत् १९३६।

इय पुस्तक ५०० मकसुदाबाद, अजीमगंज निवासी श्रीयुक्त राय धनपति सिंह बहादुर के तरफ से भण्डार करने को छपी।"

प्रस्तुत आचाराङ्गसूत्र के उपर्युक्त परिचय से यह स्पष्ट है कि उसका मुद्रण-प्रकाशन पाठकों के अध्ययन के लिए नहीं, वरन् प्रदर्शन-गृह (म्युजियम) में रखने के विचार से हुआ है। वस्तुतः बात भी कुछ ऐसी ही है। मूल या टीकाओं में कहीं भी पूर्ण विराम या अर्द्ध-विराम आदि का प्रयोग नहीं किया गया है। मालूम होता है, मानों घनपाठ के लिए वेद की ऋचाएँ लिखी गई हैं। परन्तु, टीकाओं में अध्ययनों के नाम के अनुसार विभाग कर दिये गये हैं। अथच कई पारिभाषिक जैसे शब्दों की व्याख्या भी कर दी गई है, जिससे मूल के समझने में स्वल्पाधिक सुविधा उपलब्ध हो जाया करती है।

निकट अतीत में ही मुझे आरा नगर के जैन-सिद्धान्त-भवन में आचाराङ्ग-सूत्र की एक दूसरी प्रति भी सौभाग्य से देखने को मिली है, जिसके हिन्दी-भाषानुवाद कर्त्ता हैं श्री बालब्रह्मचारी पंडित मुनि श्रीअमोलक ऋषिजी महाराज और प्रसिद्धि-कर्त्ता हैं दक्षिण हैदराबाद निवासी राजाबहादुर लाला सुखदेव सहायजी ज्वाला प्रसादजी जौहरी। मुद्रित हुआ है जैन-शास्त्रोद्धार-मुद्रणालय सिकन्दराबाद—(दक्षिण) में। मूल्य है केवल प्रेम से पाठ!

आचाराङ्गसूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध के आठ अध्ययन के नाम निम्नलिखित रूप में हैं—(१) शस्त्रपरिज्ञाध्ययन, (२) लोक-विजयाध्ययन, (३) शीतोष्णीयाध्ययन, (४) सम्यक्चारित्राध्ययन, (५) लोकसाराध्ययन, (६) धूताध्ययन, (७) महापरिज्ञा (विमोक्षा) ध्ययन तथा (८) उपधानश्रुताध्ययन।

प्रति अध्ययन में जीव—हिंसा या लोक—पीड़न का प्रचंड प्रतिषेध किया गया है। स्वामी महावीर का आत्मवाद ही लोकवाद का प्रतिरूप था।

"नैव स्वयं लोकमभ्याचक्षीत, नैवात्मानमभ्याचक्षीत, य आत्मानमभ्याख्याति, स लोकमभ्याख्याति।" (आचारांग-सूत्र, प्रथमश्रुतस्कन्ध, अध्ययन १)

प्रथम श्रुतस्कन्ध के प्रथम शस्त्रपरिज्ञाध्ययन में शस्त्र—प्रयोग का निषेध किया गया है। भगवान महावीर ने लोगों को कर्मसमारंभ का परिज्ञान कराते हुए कहा है कि संसार में अज्ञानी मनुष्य पृथ्वीकर्म के लिए पृथ्वीशस्त्र (हल, कुदाल आदि) का प्रयोग कर विविध भूचर प्राणियों की हिंसा करते रहते हैं, उदक-कर्म के लिए उदक-शस्त्र का प्रयोग कर विविध जलचर जीवों का प्राणनाश करते रहते हैं तथा अग्नि-कर्म (रसोई बनाने आदि) के लिये अग्निशस्त्र का प्रयोग कर विविध प्राणियों का संहार करते रहते हैं। इदमित्थं वनस्पति-कर्म के लिए वनस्पति-शस्त्र, त्रसकाय (स्थावरेतर—अंडज-जरायुज

आदि) कर्म के लिए (चमड़ा, दाँत आदि के लिए) त्रसकाय शस्त्र एवं वायुकर्म के लिए वायुशस्त्र (पंखा, सूप आदि) का प्रयोग कर विविध प्राणियों की हिंसा करते रहते हैं। मेधावी पुरुष उक्त जघन्य हिंसाओं का परिज्ञान कर उनसे विमुख होने की स्वयं चेष्टा करे और दूसरों को भी उन जघन्य हिंसात्मक कर्मों से विमुख कराने का प्रयत्न करे। जिसे इस "षड्जीवनिक" शस्त्र–समारंभ का परिज्ञान हो जाता है वही वस्तुतः परिज्ञातकर्मा मुनि है।

द्वितीय लोकविजयाध्ययन में स्वामी वर्द्धमान महावीर ने लोकासक्ति का निर्भय निषेध किया और कहा है कि जिस मनुष्य ने लोक (सांसारिक विषय-वासना) पर विजय प्राप्त कर ली है वही वास्तविक 'वीर' है। आगे भगवान् ने वीर का लक्षण और उसके विषयासक्त न होने का कारण निर्देश करते हुए कहा है–

"णारतिं सहते वीरे वीरे णो सहते रतिम्।
जम्हा अविमणे वीरे तम्हावीरे ण रज्जति ॥"
(नारतिं सहते वीरो वीरो णो सहते रतिम्।
यस्माद् विमनाः वीरस्तस्माद्वीरो न रज्यति ॥

—(आचाराङ्गसूत्र, प्र० श्रु० अध्ययन २)

इस अध्ययन में भगवान ने एक गृहस्थ की उस समय की दशा का मार्मिक और करुण चित्र खींचा है जिस समय वह वृद्ध हो जाता है और उसकी युवावस्था के समस्त उपकारों को उसका अपना परिवार एक दम भूल जाता है और उसकी (बूढ़े की) घृणा और उपेक्षा करने लगता है। अतएव स्वामी महावीर ने लोकविजयी मनुष्य को ही वीर, पंडित और मेधावी विशेषण के उपयुक्त माना है।

तृतीय शीतोष्णीयाध्ययन में भगवान् महावीर ने तथाकथित मुनि को "दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः" बनने का आदेश दिया है। साथ ही उन्होंने यह भी बतलाया है कि मनुष्य (मुनि) को आतंकदर्शी होकर पापकर्म से अपने को बचाते रहना चाहिए, ताकि उसको पुनः गर्भस्थिति (पुनर्जन्म) की पीड़ा न सहनी पड़े। आगे स्वामी ने कहा है–जिस मुनि को शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध का प्रभाव अभिसमन्वागत हो जाता है वही वास्तव में आत्मवित्, ज्ञानवित्, वेदवित् और धर्मवित् मुनि है।

चतुर्थ सम्यक् चारित्राध्ययन में महामना महावीर ने उद्घोषित किया है कि संसार के समस्त जीव प्राणिमात्र अवध्य और अपरिताप्य हैं। यह शुद्ध, नित्य और शाश्वत धर्म है। साथ ही, आगे कहा––"धीर लोगों को चाहिए कि वे खेदज्ञों (जीव–पीडाविदों) द्वारा प्रवेदित धर्म-मार्ग पर चलें और अपने को बहिरन्तः कनक-निर्मल बनाने का प्रयत्न करें।"

पंचम लोकसाराध्ययन में शरीर की निस्सारता की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट कराया गया है। जो मनुष्य सांसारिक विषय-मोह के जाल को तथा वासना-लोभ के ख्याल को कुचलता-मसलता, तोड़ता-रौंदता परिव्राजक-पथ पर

निर्भय बढ़ता जाता है वही मनुष्य धीर, सम्यग्दर्शी, ओघंतर, मुक्त और विरतमुनि है।

स्वामी महावीर तर्कहीन बुद्धि के प्रबल विरोधी हैं। तर्क-हीन बुद्धि तो थोथी और भोंड़ी होती है, उसकी ग्राहिकाशक्ति नष्ट रहती है–

"तक्का जत्थ न विज्जती मती तथ्य ण गाहिया।"
(तर्को यत्र न विद्यते मतिस्तत्र न ग्राहिका।)
(आचाराङ्गसूत्र, प्र० श्रु०, अध्ययन ५)

जो मोक्षार्थी मनुष्य तर्कपूर्ण मति द्वारा मोक्ष और नरक की स्थिति का परिज्ञान प्राप्त कर लेता है वही मनुष्य द्वन्द्वातीत और पदविशेष या सत्ताविशेष से रहित होकर उपमानोपमेय भाव से परे हो जाता है।

षष्ठ धूताध्ययन में ज्ञाति-परित्याग के लिए स्वमीकृत प्रवेदन दृष्टिगत होता है। जो आगतप्रज्ञ व्यक्ति माता-पिता और बन्धु-बान्धव के कुल से अपना नाता तोड़ कर ब्रह्मचर्य में लीन हो जाता है, तथा सांसारिक जीवों को बहुदुःखी जान कर उनके दुःखनिवारणार्थ भिक्षावृत्ति को स्वीकार करता है, अथच कठोर संयमाभ्यासी होते हुए भिक्षु-धर्म का यावज्जीवन पालन करता हैं, वही पारगामी मुनि है।

सप्तम महापरिज्ञा (विमोक्षा) ध्ययन में–ग्राम्यधर्म के बुद्धिविचालक मोह से भिक्षुधर्मियों को बचाने के लिए सुन्दर और संयत उपायों का उपनिर्देश किया गया है। भगवान् महावीर ने स्पष्ट शब्दों में कहा है–"भिक्षु न जीने की चाह रखे, न मरने की परवा करे। जीवन-मरण से निःसंग होकर वह केवल समाधि का अनुपालन करे और बहिरन्तः मोह-युक्त होकर शुद्ध अध्यात्म के अन्वेषण में अपने शरीर का विसर्जन करे। अथच निम्नलिखित तीन नियमों के सम्यगनुपालन में तल्लीन रहे–

"अयं से अवरे धम्मे णायपुत्तेण साहिए।
आय वज्जंपडीयारं विजहेज्जाणिधा तिधा॥"
"हरिएसु ण णिवज्जेज्जा थंडिल्ल मणुयांसए।
विडसेज्ज अणाहारे पुट्ठो तत्र हियासए॥"
(अयं स अपरो धर्मः ज्ञात पुत्रेण साधितः।
आत्मवर्जं प्रतिचारं विजह्यात्त्रिधा॥
हरितेषु न निवर्त्तयेत्, स्थण्डिलमनुशयीत।
व्युत्सृज्य अनाहारः स्पृष्टस्तमाध्यासेत॥)
(आचारांगसूत्र, प्र० श्रु०, अध्ययन ७)

संक्षेप में, गृहपतिप्रदत्त सम्मान का भिक्षुओं द्वारा प्रत्याख्यान ही सप्तम अध्ययन की वर्ण्य वस्तु है।

अष्टम उपधान श्रुताध्ययन में भिक्षुकों के लिए चर्याविधि का उल्लेख उट्टंकित है, जिसमें प्रसंगवश एक मनोरंजक एवं अद्भुत कथा का समावेश है। कथा का सारांश यह है कि महावीर ने अपनी चर्या के क्रम में एक दिन 'लाढ़' नाम के जनपद में

प्रवेश किया। वहाँ के नागरिकों ने उनके ऊपर एक भयानक कुत्ते को ललकार दिया। कुत्ते ने उनके पावन शरीर को बुरी तरह नोंच डाला। फिर भी भगवान् महावीर ने दुःखसहिष्णुता, महामानवता और उज्ज्वल अप्रतिक्रियावादिता का परिचय देते हुए अपने पर्यटन को जारी रखा एवं कई महीने रोग-यंत्रणा को झेलते रहे तथा ऐसे ही कई दिनों तक अन्न के विना फाकेमस्ती में समय बिताया।

थोड़े में, इस अध्ययन का मुख्य विषय है–"पर्यटक स्वयं प्रमाद में कभी न पड़े।

आचारांगसूत्र के द्वितीय श्रुतस्कन्ध के सोलह अध्ययनों के नाम निम्नलिखित हैं–– (१) पिण्डैषणाध्ययन, (२) शय्याध्ययन, (३) इर्याध्ययन, (४) भाषाजाताध्ययन, (५) वस्त्रैषणाध्ययन, (६) पात्रैषणाध्ययन, (६) अवग्रहप्रतिमाध्ययन, (८) स्थानसाप्तैककाध्ययन, (९) निषीथिकाध्ययन, ,(१०) उच्चारप्रस्रवणाध्ययन, (११) शब्दसाप्तैककाध्ययन, (१२) रूपप्रतिज्ञाध्ययन, (१३) कायप्रतिज्ञाध्ययन, (१४) स्वादप्रतिज्ञाध्ययन, (१५) भावनाध्ययन तथा (१६) विमुक्त्यध्ययन।

उपर्युक्त प्रत्येक अध्ययन में जैन भिक्षुओं और जैन भिक्षुणियों की विविध चर्याओं का सम्यक् प्रतिपादन किया गया है, जो अत्यधिक मनोरंजक और अद्भुत प्रतीत होती हैं। यह स्मरणीय है कि भिक्षु और भिक्षुणियों की चर्या में रंचमात्र भी अन्तर नहीं है। साधना की दृष्टि से दोनों की आचार-विधि एक-सी कही गई है, जो पर्याप्त कुतूहलोद्दीपक है।

सुविस्तृत प्रथम पिण्डैषणाध्ययन में–भिक्षु और भिक्षुणी की पिण्डैषणा (भिक्षाचर्या) की विशाल और व्यापक विधि का विश्लेषण किया गया है। पिण्ड–प्राप्त्यर्थ भिक्षु और भिक्षुणी गृहपति के गृह जाकर किस प्रकार के पिण्ड की अभ्यर्थना करे, इसके सुविवेचित विधान की व्याख्या भगवान् महावीर ने की है। भिक्षु–भिक्षुणी के प्रति गृहपति का कैसा व्यवहार होना चाहिए, इसका सम्यक्प्रतिपादन प्रस्तुत अध्ययन में हुआ है। पिण्डैषणा के ही अन्तर्गत सात प्रकार की पानैषणा वर्णित है। त्याज्य और ग्राह्य पिण्ड–पान की भी चर्चा चमत्कारपूर्ण है।

विस्तृत द्वितीय शय्याध्ययन में भिक्षु–भिक्षुणी के आसनोपवेशन की व्यापक व्याख्या की गई है। साथ ही, बात-बात पर स्त्रियों के साथ (केवल भिक्षु के लिए) संवास और परिहास का प्रखर प्रतिरोध विहित है। आसन पर आसीन होने के पूर्व आसन का फूँक द्वारा प्रमार्जन तथा विभक्त उपवेशन का निर्देश नियमित है। इसमें भी त्याज्य-ग्राह्य आसनों का उल्लेख है।

तृतीय इर्याध्ययन में भिक्षु-भिक्षुणी के पर्यटन-विधान का पर्याप्त पर्यालोचन परिस्फुटित हुआ है, जिसमें पर्यटन-भूमि, पर्यटन-रीति और पर्यटन-काल का सुस्पष्ट और सरस अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। साथ ही, गृहपति और भिक्षुक के पारस्परिक व्यवहार की विधि भी बड़ी अच्छी तथा विस्मयोत्पादक बन पड़ी है।

चतुर्थ भाषाजाताध्ययन में भिक्षु-भिक्षुणी की व्यवहार्य भाषाओं का समुल्लेख है। विचिन्त्यभाषी भिक्षु–भिक्षुणी के लिए संयत भाषा के व्यवहार का निर्देश किया गया है। उन दोनों का भाषा–प्रयोग ऐसा होना चाहिए कि जीवमात्र को तिल-मात्र भी क्लेश न होने पाये। इसकी भी विस्तृत व्याख्या स्वामी महावीर ने की है।

पंचम वस्त्रैषणाध्ययन में भिक्षु-भिक्षुणी के वस्त्र-याञ्चा-विधान और वस्त्र–परि-धान-विधान का व्युत्पन्न विश्लेषण है। साथ ही, वस्त्र के भेदों का भी विस्मयोत्पा-दक वर्णन है। लज्जा-भावना को बिल्कुल दूर न कर सकने वाले दिगम्बर भिक्षु-भिक्षुणियों के लिए चार अंगुल के कौपीन का परिधान-विधान प्रतिविहित है।

षष्ठ पात्रैषणाध्ययन में भिक्षु-भिक्षुणियों के लिए पात्रों के व्यवहार और पात्रों की याञ्चा के नियम-उपनियमों का उल्लेख है। साथ ही, पात्र के प्रकारों और पात्रों की संशोधन-विधियों का भी समुल्लेख है।

सप्तम अवग्रह प्रतिमाध्ययन में विशेष का विशिष्ट वर्णन है। भिक्षु–भिक्षुणियों के लिए उक्त सात अवग्रहप्रतिमाओं द्वारा अवग्रहप्राप्ति (आश्रय-लाभ) के नियम यथाक्रम वर्णित हैं। अध्ययन के अन्त में अवग्रह के पाँच भेद प्रदर्शित किये गये हैं––(१) देवेन्द्रावग्रह, (२) राजावग्रह, (३) गृहपत्यवग्रह, (४) सागरिकावग्रह तथा (५) साधर्मिकावग्रह।

अष्टम स्थान साप्तैककाध्ययन में भिक्षु-भिक्षुणी के पर्यटनोपयोगी चार स्थान-प्रतिमाओं का उल्लेख है। विहारार्थी भिक्षु-भिक्षुणियों के लिए चारों स्थान-प्रतिमाओं के नियमों का पालन अनिवार्य बताया गया है।

नवम निषीथिकाध्ययन में भिक्षु-भिक्षुणी के लिए स्वाध्याय-भूमि-सम्बन्धी नियमों का ज्ञानोपदेश किया गया है।

दशम उच्चार-प्रस्रवणाध्ययन में भिक्षु-भिक्षुणी के मलमूत्रविसर्जनोपयोगी स्थान तथा मलमूत्रोत्सर्ग के नियम और काल का समुल्लेख है। संक्षेप में भिक्षु-भिक्षुणी के लिए अनुर्वर और अल्पप्राण भूमि को मलमूत्र-विसर्जन के उपयुक्त बताया गया है तथा उर्वर और महाप्राण भूमि को अनुपयुक्त।

ग्यारहवें शब्द प्रतिज्ञाध्ययन में भिक्षु-भिक्षुणी को मधुर कर्कश शब्द सुनकर 'न हृष्येत्, न ग्लायेत्' के अभ्यासी बनने की ओर प्रयत्न करने की प्रेरणा प्रदान की गई है।

बारहवें रूपप्रतिज्ञाध्ययन में उद्वेगकारी कुरूप के प्रति घृणा न करने तथा हृदयहारी सुरूप के प्रति अनुराग न दिखलाने की ओर अभ्यास करने को कहा गया है। अर्थात् कुरूप और सुरूप के प्रति भिक्षु-भिक्षुणियों को समभाव रखने का आदेश किया गया है।

तेरहवें काय-प्रतिज्ञाध्ययन में एवं चौदहवें स्वाद-प्रतिज्ञाध्ययन में भिक्षु-भिक्षुणियों के लिए गृहपति के स्वागत को निर्विकार रूप से ग्रहण करने का आदेश दिया गया है। यदि गृहपति भिक्षुक-शरीर को किसी तरह पीड़ित या लालित करे तो भिक्षु उस पीड़ा का न निषेध करे और न उस लालन का आस्वाद उपलब्ध कर आनन्दलाभ

करे। संक्षेप में, ब्रह्मचर्यनिष्ठ भिक्षु-भिक्षुणी को जितेन्द्रिय बनने का आदेशोपदेश किया गया है ; जैसा मनु ने कहा है--

"श्रुत्वा स्पृष्ट्वा दृष्ट्वा च भुक्त्वा घ्रात्वा च यो नरः।
न हृष्यति न ग्लायति वा स विज्ञेयो जितेन्द्रियः ॥"

पन्द्रहवें भावनाध्ययन में स्वामी भगवान् महावीर के मनोरंजक जन्म-ग्रहण, नामकरण, अलौकिककार्य-संपादन, वंश-परिचय आदि का तथा कुतूहलवर्द्धक वर्णन लिखा गया है। साथ ही, महावीर की संसार-विरक्ति और प्रव्रज्या-स्वीकृति एवं उनके द्वारा महद्व्रत के पालन का भी उल्लेख किया गया है।

सोलहवें, 'विमुक्ति' नाम के, अध्ययन में बारह श्लोकों द्वारा आचारांग-सूत्र का उपसंहार प्रस्तुत किया गया है। अन्त में जैन-धर्म के नियमों के पालन करने वालों तथा जैन-सिद्धान्त के अनुयायियों को मोक्ष-प्राप्ति का फल-प्रदान किया गया है।

"अस्मिँल्लोके परत्र च द्वयोरपि न विद्यते बन्धनं यस्य किञ्चिदपि।
स निरालम्बनोऽप्रतिष्ठितः कलंकलीनावपर्यटनाद्विमुच्यते ॥"

--(प्राकृत से संस्कृत, द्वि० श्रु० अ० १६)

यह श्लोक आचारांग-सूत्र के मंगलाचरण का पूरक है। मंगलाचरण का प्रथम श्लोक देखिए, कितना मधुर और भावपूर्ण है--

"अर्हत् जिनवचनकल्पवृक्षोऽनेक सूत्रार्थ सारविच्छिन्नः।
तपोनियमकुसुमगुच्छः स्वर्गतिफलबन्धनो जयति ॥"

(प्राकृत से संस्कृत, प्र० श्रु० अ० १)

उपर्युक्त मंगलाचरण के देखने से "अनीश्वरवादी जैनियों के ग्रन्थ में मंगलाचरण नहीं मिलते"---ऐसा प्रवाद खण्डित-सा प्रतीत होता है। जैन-सिद्धान्त के दृष्टिकोण के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि जैनमतावलम्बी यद्यपि ईश्वर के प्रति अन्य धर्मावलंबियों की तरह पूर्ण अन्धविश्वासी नहीं हैं, तथापि उन लोगों ने पुनर्जन्म और मोक्ष की सत्ता मान कर ईश्वर से दूरत्व नहीं वरन् अतिसान्निध्य का संबंध प्राप्त कर लिया है। जैन-मत के अनुसार लोकविजयी व्यक्ति ही ईश्वर है। निरन्तर संघर्ष में पिसते रहने से जिन आधुनिक मानवों का विश्वास वेद के ईश्वर की सत्ता से विलग होता जा रहा है उनका विश्वास जैनियों के ईश्वर पर एक बार अचल हो सकता है, इसमें संदेह संभव नहीं।

आचाराङ्गसूत्र के आधार पर जैनियों का सिद्धान्त गीता के कर्मयोग, ज्ञान-योग, संन्यासयोग और ध्यानयोग से यद्यपि अल्पाधिक मेल खाता है तथापि उनका (जैनियों का) सिद्धान्त मानव को संकोची संदेही फलतः अकर्मण्य और अगतिशील बना सकता है। भला बताइए, जिस धर्म के अनुसार धूल पड़ जाने पर भी आँखों को जीव-हिंसा के भय से मसल नहीं सकते तथा देह को खुजला नहीं सकते एवं बस्तिप्रदेश तक के रोएँ उखाड़े जाने पर भी चीं-चपड़ नहीं कर सकते, ऐसे नियम भिक्षुओं या भिक्षुणियों को संसार में एक भी पग चलने दे सकते हैं ?

संक्षेप में, जैनियों का धर्म उदार न होकर व्यष्टिगत संकीर्ण भावना में सिमट गया है जिससे इसकी व्यापकता विपन्न हो गई है। गीता के ही आधार पर यह मत स्थिर है कि एक की हिंसा से यदि सौ की प्राण-रक्षा होती है तो वह हिंसा अश्रेयस्कर और प्रतिषिद्ध नहीं। परन्तु, जैन-सिद्धान्त इसके विपरीत है। उसका दृष्टिकोण आत्मवादिता का समर्थक एवं समष्टिवादिता का विरोधी है। उसका कथन है--"सोहं से आया वादी।" (अर्थात् आत्मरक्षा ही लोक-रक्षा है।)

अस्तु, अब इस अध्ययन को समाप्त करने की आकांक्षा से मैं स्वामी महावीर के जीवन-वृत्तान्त की झीनी-सी, पर प्रामाणिक, झाँकी उपस्थित कर देता हूँ, जिसका सांगोपांग वर्णन आचारांग-सूत्र के द्वितीय श्रुतस्कन्ध के १५ वें 'भावना' नाम के अध्ययन में आया है--

आयु:क्षयोपरान्त स्वर्ग से च्युत होकर भगवान् महावीर ने पुनर्जन्म-ग्रहणार्थ ऋषभ (देव) दत्त ब्राह्मण की देवानन्द ब्राह्मणी के गर्भ में अवतार लिया। ऋषभदत्त ब्राह्मण भारतवर्ष के जम्बु-द्वीपस्थित दक्षिण ब्राह्मणकुंडपुर नामक एक संनिवेश में निवास करते थे। ये 'कोटाल' गोत्र के ब्राह्मण थे और इनकी पत्नी देवानन्दा 'जालन्धरायण' गोत्र की थी।

इसके बाद उसी (गर्भावतरण के) वर्ष के तीसरे महीने अर्थात् पाँचवें पक्ष के शुक्ल पक्ष त्रयोदशी को, हस्तोत्तरानक्षत्र के योग में, बयासी (८२) रात-दिन के बीत जाने पर, तिरासिवें दिवा-रात्रि के मध्य-काल में, त्रिकालदर्शी महावीर स्वेच्छानुसार उक्त दक्षिण ब्राह्मण कुण्डपुर की देवानन्दा ब्राह्मणी के गर्भ से अपसरण कर, उत्तर-क्षत्रिय कुण्डपुर-संनिवेशवासी सिद्धार्थ नाम के क्षत्रिय की त्रिशला नाम की क्षत्राणी के गर्भ में जाकर, अवतीर्ण हुए।

जब त्रिशला क्षत्राणी के गर्भ के आठ मास व्यतीत हो गये, तब नवें महीने के साढ़े आठवें दिन के दिवारात्रि के बाद, ग्रीष्म ऋतु के प्रथम मास अर्थात् दूसरे पक्ष की शुद्ध त्रयोदशी तिथि को, हस्तोत्तरानक्षत्र के योग में, सौभाग्यवती त्रिशला ने श्रमण भगवान् महावीर को शुभजन्म दिया।

जिस रात्रि को भगवान् महावीर का शुभ जन्म हुआ उस रात्रि को विमानारूढ़ देवताओं और देवियों ने स्वर्ग से सोना, चाँदी, कपड़े, सुगन्धित-द्रव्य और अमृत की वर्षा की। साथ ही, उन देवताओं ने कौतुक भूमि-कर्म और तीर्थंकराभिषेक-विधान को भी संपादित किया।

जिस दिन भगवान् महावीर त्रिशला के गर्भ से अवतीर्ण हुए थे उसी दिन से विपुल सोने, चाँदी और हीरे-जवाहर से सिद्धार्थ का कुल परिवर्द्धित होने लगा था। श्रमण भगवान महावीर के समावर्त्तन-संस्कार के अवसर पर उनके माता-पिता ने अपने मित्र, ज्ञाति, स्वजन और परिजनों के साथ-साथ अनेकानेक श्रमण ब्राह्मण, अतिथि आदि का विविध भोज्यों और बहुमुल्य दानों से सराहनीय स्वागत किया।

भगवान् के नामकरण संस्कार के दिन उनके माता-पिता ने सोच-विचार कर महावीर का नाम 'वर्द्धमान कुमार' रखा। इसलिए कि जिस दिन से महावीर ने त्रिशला

के गर्भ में पदार्पण किया था उसी दिन से उस घर में धन-धान्य की वृद्धि प्रारंभ हो गई थी।

वर्द्धमान कुमार के लालन-पालन के लिए पाँच धात्रियाँ नियुक्त की गईं। प्रथम क्षीर धात्री का काम था, दूध पिलाना, द्वितीय मज्जन धात्री का काम था, नहलाना, तृतीय मंडन धात्री का काम था, सजाना-सवाँरना, चौथी खेला धात्री का काम था, हँसाना-खेलाना और पाँचवी अंक धात्री का काम था, गोद में लेकर दुलारना-पुचकारना। मनोहर मणि की देहली और शीतल चम्पा की छाया में महावीर का मधुर शैशव बीता। बाद, यौवन में भी विविध मानवीय उदार कामोपभोगों का आस्वादन किया।

काश्यप गोत्रीय भगवान् महावीर के तीन नाम प्रसिद्ध हुए। माता-पिता ने पहला नाम 'वर्द्धमान कुमार' तो रखा ही था। संबंधी समुदाय ने उनका दूसरा नाम 'श्रमण' रखा। प्रचंड सहन-शक्ति को देखकर देवताओं ने उनका तीसरा नाम भगवान् 'महावीर' रख दिया।

श्रमण भगवान महावीर के काश्यप गोत्रीय क्षत्रिय-पिता सिद्धार्थ के भी नाम तीन थे---सिद्धार्थ, श्रयोंऽश और यशोंऽश। भगवान् की क्षत्रिय माता वाशिष्ठ-गोत्रा, त्रिशला के भी तीन नाम थे--त्रिशला, विदेहदत्ता और प्रियकारिणी।

भगवान् महावीर के काश्यपगोत्रीय चाचा का नाम सुपश्यक (सुपार्श्वक) था। बड़े भाई का नाम दिवर्द्धन और बड़ी बहन का नाम सुदर्शना था। भगवान् की भार्या कौण्डिन्य गोत्र की थी, नाम था यशोदा। उनकी दो कन्याएँ थीं--अनवद्या और प्रियदर्शना। भगवान् की नतनी (बेटी की बेटी) कौशिक गोत्र की थी, उसके दो नाम थे--शेषवती और यशोवती।

भगवान् महावीर के माता-पिता भी श्रमणोपासक थे। अनेक वर्षों तक उन दोनों ने श्रमणोपासक के पर्यायक का अनुपालन किया था। भगवान् महावीर की तीस वर्ष की उम्र में उनके माता-पिता ने देवलोक को प्राप्त किया।

उसके बाद भगवान् महावीर ने भी कामिनी और कंचन को ठुकरा कर हेमन्त के प्रथम मास में अर्थात् कार्त्तिक के प्रथम पक्ष की दशमी तिथि को, हस्तोत्तरा नक्षत्र के योग में, महाभिनिष्क्रमण किया। महाभिनिष्क्रमण के समय भगवान् ने कोटि-कोटि सुवर्णों का दान किया।

भगवान् वर्द्धमान महावीर के महाभिनिष्क्रमण-समाचार को सुनकर स्वर्ग से समस्त देव-मंडली उत्तरक्षत्रियकुंडपुर सन्निवेश में उतर आई। देवराज इन्द्र की ओर से भगवान् का शानदार श्रृंगार-सत्कार किया गया। तदनन्तर उन्होंने 'चन्द्र प्रभा' नाम की सहस्र-वाहिनी शिविका पर आरोहण कर उत्तर क्षत्रियकुंड पुर के बीच से प्रस्थान किया।

बारह वर्षों की उग्रतर साधना के बाद भगवान महावीर को ज्ञान प्राप्त हुआ। प्रथच तेरहवें वर्ष में, ग्रीष्म ऋतु के द्वितीय मास के चौथे पक्ष म, अर्थात्

ज्येष्ठ शुक्ल पक्ष* की दशमी तिथि को, 'जृंभिक ग्राम' नाम के नगर के बाहर बहने वाली 'ऋजुक बालिका' नदी के उत्तर-तीर पर, श्यामाक नाम के एक बढ़ई गृहपति के चैत्य के उत्तर-पश्चिम की ओर एक शालवृक्ष के निकट, कठोर शुक्ल-ध्यान में निरत महावीर को सर्वान्तिर्भावदर्शी ज्ञान समुपलब्ध हुआ।

तदनन्तर श्रमण भगवान् महावीर ने यथानुपालित महद्व्रत की पच्चीस भावनाओं का लोकोपकाराय प्रवेदन किया, और आगे कहा--"इन परिज्ञाओं का यथा समय सम्यक् पालन करने वाला व्यक्ति सांसारिक दुःख से उन्मुक्त हो जाता है--,

"से हु परिराणा समयंमि वट्ठई
णिराससे उवरय मेहुणे चरे ।
भुजंगमे जुसा तयं जहा जिहे
विमुच्चती से दूहसेज्ज माहणे ॥"
(स हि परिज्ञां समये वर्त्तते,
निराशंस उपरतो मैथुनाच्चरः ।
भुजंगमो जीर्णकंचुकं यथा
जहाति, विमुंचति दुःखशय्यातो माहनः ॥)"
(द्वितीय श्रुत०, अध्ययन १६)

मातृभक्त अमीर खुसरो

अमीर को अपनी माता से बड़ा प्रेम था, और वे कभी उनका दिल न दुखाते थे। उसी समय बादशाह जलालुद्दीन राजगद्दी पर बैठा। उसने अमीर को कुरान उठाने और वापस रखने पर नौकर रख लिया। बादशाह की यह नौकरी बड़ी इज्जत की समझी जाती थी। जलालुद्दीन के बाद अलाउद्दीन बादशाह हुआ और अमीर उसके दरबार में एक हजार तनका (उस काल का सोने का सिक्का) सालाना पर नौकर रख लिया। अमीर अपनी माता को इस प्रकार विलख-विलख कर याद करते थे जैसे छोटा बालक विलखता है। वे लिखते हैं--"माता की छाती स्वर्ग है, जिसमें दूध की दो नहरें बहती हैं। माता से बढ़कर कोई चीज नहीं है।"

बादशाह कुतुबुद्दीन ने तो अमीर खुसरो का मान इतना बढ़ा दिया कि एक बार हाथी के बराबर रुपया तोल कर दिया।

--मक्तबा जामिया (दिल्ली) की पुस्तक से

---

* सुश्रुत-संहिता (आयुर्वेद-ग्रन्थ) के सूत्र स्थान के ऋतुचर्याध्याय में ऋतु-विभाजन की दो प्रणालियाँ हैं। एक का आधार है प्रावृट् और दूसरे का हेमन्त। इसलिए मतान्तर से हेमन्त का प्रथम मास अगहन, और ग्रीष्म ऋतु का द्वितीय मास आषाढ़ भी संभव है।—ले०

मनोविश्लेषण की प्रक्रिया

श्री द्वारका प्रसाद, एम० ए०

मनोविश्लेषण भी एक प्रकार की चिकित्सा है। कुछ खास मानसिक बीमारियों के लिए एकमात्र सफल चिकित्सा साइको-एनालिसिस के द्वारा ही हो सकती है। आप यह समझ लें कि हर प्रकार की मानसिक व्याधियाँ मनोविश्लेषण द्वारा चिकित्स्य हैं। कुछ विशेष प्रकार की बीमारियों का, जिन्हें साइको-न्यूरोसिस के ग्रूप में रखा जाता है, इलाज मनोविश्लेषण द्वारा ही हो सकता है। लेकिन मनोविश्लेषक सभी नहीं हो सकते, डाक्टर भी नहीं। साइको-एनालिस्ट होने के लिए सबसे जरूरी है कि आपने खुद अपने को पूरी तरह साइको-एनालाइज़ करा लिया हो। जब तक यह नहीं होता, आप एनालिस्ट नहीं माने जा सकते।

अन्तर्राष्ट्रीय मनोविश्लेषण समिति की शाखाएँ प्रायः संसार के हर देश में हैं। भारतवर्ष की शाखा का प्रधान कार्यालय कलकत्ते में है, और प्रोफेसर गिरीन्द्रशेखर बोस उसके स्थायी सभापति हैं। जिसे साइकोएनालिस्ट होने की इच्छा होती है, उसे सर्वप्रथम मनोविज्ञान में एम०ए० (अथवा एम०एस०सी०) की उपाधि प्राप्त करनी पड़ती है और समिति का संबद्ध सदस्य (एसोसिएट मेम्बर) होकर रहना पड़ता है। उपाधि प्राप्त करने क बाद भी उसे किसी मानसिक अस्पताल (क्लिनिक) के साथ संयुक्त रहना पड़ता है और समिति के पास अपने शिक्षा-विश्लेषण (ट्रेनिंग एनालिसिस) के लिए दर्खास्त देनी पड़ती है और समिति की सभी बैठकों में यथासंभव उपस्थित रहना पड़ता है। दर्खास्त मंजूर हो जाने पर समिति उसे किसी विश्लेषक (एनालिस्ट) के जिम्मे शिक्षा-विश्लेषण के लिए दे देता है। इस विश्लेषण का शुल्क एक हजार रुपये हैं। रोजाना आधे घंटे से एक घंटे तक विश्लेषण चलता है और साथ-ही-साथ विश्लेषक उसे मनोविश्लेषण की शिक्षा भी देता रहता है। इस प्रकार के विश्लेषण में दो साल तक का भी समय लग सकता है। शिक्षा-विश्लेषण समाप्त होने के बाद दो-एक वर्ष—जो समय विशेष हालतों में कम-बेश भी किया जा सकता है—बाहर भी मनोविश्लेषण की अभ्यस्ति (प्रैक्टिस) करनी पड़ती है। जब समिति पाती है कि अब उसकी व्यावहारिक शिक्षा काफी हो चुकी तो उसे अपनी ओर से एक 'केस' (रोगी) मनोविश्लेषण के लिए देती है। इसे नियंत्रण विश्लेषण (कन्ट्रोल एनालिसिस) कहा जाता है। नियंत्रण विश्लेषण की पूरी रिपोर्ट समिति के सामने देते जाना पड़ता है और समिति की साप्ताहिक बैठकों में इन पर विवाद होता है। जब 'कन्ट्रोल केस' का विश्लेषण वह सन्तोषजनक रूप में कर लेता है तो समिति उसे विश्लेषक की स्वीकृति देने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय समिति को लिखती है। अन्तर्राष्ट्रीय समिति की स्वीकृति मिलने पर ही कोई व्यक्ति प्रामाणिक मनोविश्लेषक (रिकोग्नाइज्ड साइको-एनालिस्ट) माना जाता है और उसे इसका प्रमाण-पत्र मिलता है

तथा समिति की ओर से मनोविश्लेषक की हैसियत से काम करने की अनुमति मिलती है। इसी से समझा जा सकता है कि मनोविश्लेषक होना कितना कठिन है। क्या आप सोचते हैं कि समिति इतना नहीं जानती कि आपने जब मनोविज्ञान में एम.एस. सी. की उपाधि प्राप्त की है तो अवश्य पूरा पाठ्य-क्रम पढ़ा होगा, इसका व्यावहारिक ज्ञान भी प्राप्त अवश्य किया होगा और आपने चिकित्सालय (क्लिनिक) में भी नियमित रूप से काम किया होगा? फिर इतना हंगामा क्या वह सिर्फ तंग करने के ख्याल से करती है? वह इस बात पर क्यों जोर देती है कि विश्लेषक होने के लिए आपको अपने को विश्लेषित कराना ही पड़ेगा? यह बात अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। अगर एक नियमित रूप से शिक्षा तथा उपाधि प्राप्त आदमी का यह हाल है, तो जिसने सिर्फ किताबें पढ़ी हैं, जिसने व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त करने की तो बात ही छोड़ दीजिए, प्रयोगशाला का नाम ही भर सुन रखा है, उसके ज्ञान का क्या महत्व हो सकता है? आश्चर्य की बात तो यह है कि केवल स्वाध्याय के बल पर हमारे हिन्दी के तथाकथित विद्वान् मनोविश्लेषण जैसे विषय पर मौलिक ग्रन्थ लिखने का दुस्साहस कर बैठते हैं।

बहरहाल, प्राकृतिक विज्ञानों ने जिस तरह कार्य-कारण का सिद्धान्त माना है वह मनोविज्ञान में भी ज्यों का त्यों लागू होता है। मानसिक क्षेत्र में भी हर कुछ का कारण होना ही चाहिए, और हमेशा कार्य कारण के बराबर ही होगा। जब आपने यह बात मान ली तो फिर संयोग जैसी कोई चीज रह ही नहीं जाती। फिर तो मन की हर गति, हर क्रिया-प्रक्रिया का उचित कारण होना ही चाहिए। अगर हमारी जबान फिसल गई, कुछ कहने जाकर कुछ और कह गए तो यह संयोग नहीं हो सकता। अगर किसी व्यक्ति को समय देकर आप जाना भूल गए तो यहाँ भी संयोग का कोई सवाल नहीं। हम नशे में अंटसंट बकते हैं, सपने देखते हैं, दिवास्वप्न में अपने को भूल जाते हैं, कविताएँ लिखते हैं, चित्रकार होते हैं, पागल होते हैं, हर कुछ का निश्चित कारण होना चाहिए। हमारे व्यक्तित्व में जो कुछ भी विचित्रता है उसका मनोवैज्ञानिक कारण है। प्रकृति में संयोग नाम की कोई चीज नहीं।

मनोविश्लेषण ने देखा कि मन उतना ही नहीं जितने का ज्ञान हमें सीधे होता है। अगर यह बात होती तो हम बता सकते, भूलें क्यों होती हैं, सपने क्यों होते हैं, ऐसे विचार क्यों आते हैं जिन पर अपना कोई अधिकार नहीं मालूम होता। अतः यह सिद्धान्त बनाना पड़ा कि मन का जो भाग हमें चेतन लगता है, जिसका सीधा ज्ञान हमें होता है, उसके अलावा भी कुछ और अंश है। चेतन की तुलना में वे अंश अचेतन हैं, और यही नाम उन्हें दिया भी गया। विश्लेषण तथा खोजों से पता चला कि अचेतन अंश चेतन से बहुत अधिक है। अगर पूरे मन को एक गेंद समझें तो इसका एक चौथाई हिस्सा ही चेतन है, बाकी अचेतन।

खोज के सिलसिले में अचेतन मन की बहुत-सी खूबियाँ दिखाई पड़ीं। चेतन को छोड़ देने के बाद बाकी हिस्से के गुणों के अनुसार उन्हें अचेतन तथा पूर्व-चेतन (प्रीकान्शस) का नाम देना पड़ा।

आदमी के चरित्र-निर्माण में, उसके व्यक्तित्व के विकास में, उसके मन की दुनिया में उपयुक्त अचेतन का अत्यधिक प्रभाव पाया गया। अचेतन न सिर्फ मन का एक सुप्त अंश है, बल्कि वह स्वयं एक गतिशील शक्ति है।

मन को फिर इड, ईगो, सुपरईगो नाम के तीन विभागों में बाँटा गया।

अब आप यों समझिए कि मन का गुण इच्छा करना है। बच्चा जिस दिन जमीन पर आता है उसी दिन से उसकी सहज प्रवृत्तियों के अनुकूल इच्छाओं का उदय होना आरंभ हो जाता है। विश्लेषण से पता चला है कि आदमी के अंदर दो मूल प्रवृत्तियाँ हैं--एक आत्मरक्षिका प्रवृत्ति, दूसरी जातिरक्षिका प्रवृत्ति। आत्मरक्षिका प्रवृत्ति में न सिर्फ क्षुधा आती है, बल्कि बाहरी अथवा भीतरी शक्तियों से जीव की रक्षा भी। जातिरक्षिका प्रवृत्ति में सेक्स आता है--यौनवृत्ति।

यह मानी हुई बात है कि चूँकि बच्चा भी एक प्राकृतिक प्राणी है अतः उसके जीवन का प्रवाह भी क्षुधा और सेक्स को लेकर ही चलता है। लेकिन बच्चे की हर इच्छा पूरी नहीं हो जाती। एकदम आरंभ में शायद बच्चा पूरी तरह से जान भी नहीं पाता कि कब इच्छा हुई और कब वह पूरी की गई, कारण मा उसकी अवश्यकताओं को पूरा करने में इतनी सजग रहती है कि इसका अवसर ही नहीं आता। प्रारंभिक इच्छा क्षुधा-सम्बन्धी ही होती है। अगर कभी मा को देर हो जाती है तो बच्चा रोकर अपनी इच्छा प्रकट कर देता है और मा आकर उसे दूध पिला देती है।

लेकिन ऐसा भी तो हो सकता है कि मा कहीं बाहर गई हुई हो और बच्चे को दूध पीने की इच्छा हुई हो। बच्चा रोएगा। रोते-रोते काफी समय बीत जाने पर भी जब मा नहीं आ सकी तो उसे स्वयं चुप हो जाना पड़ेगा। यहाँ इच्छा अपूर्ण रह गई।

कालान्तर में बच्चा पाता है कि आम तौर पर इच्छाएँ पूरी तो हो जाती हैं, लेकिन ऐसे मौकों की भी कमी नहीं जब इच्छाएँ अपूर्ण ही रह जाती हैं।

धीरे-धीरे उसे यह भी जानने को मजबर होना पड़ता है कि कुछ इच्छाएँ तो ऐसी हैं जिन्हें पूर्ण होने में कोई वैसी बाधा नहीं पड़ती, लेकिन कुछ इच्छाएँ ऐसी भी हैं जो पूर्ण नहीं हो पातीं, उनमें अत्यधिक बाधाएँ हैं।

विश्लेषण ने बताया है कि जहाँ बच्चे के अन्दर सर्वप्रथम क्षुधा-वृत्ति ही बलवती होती है, वहीं जल्दी ही कामवृत्ति (सेक्स) भी उसके अंदर सर उठाने लगती है।

मा उसकी प्राकृतिक आवश्यकताओं--विशेषतः क्षुधा-निवृत्ति तथा शरीर में वाजिब गर्मी देने के लिए--आत्यावश्यक है। लेकिन शीघ्र ही मा की आवश्यकता बच्चे के लिए इससे एक कदम आगे बढ़ जाती है। वह माँ से आनन्द पाना चाहता है।

वह केवल भूख लगने पर ही स्तनपान करना नहीं चाहता, बल्कि पेट भरे होने पर भी वह स्तन छोड़ना नहीं चाहता। अतः अगर कोई यह समझे कि बच्चा जब कभी रोता

है और मुँह में मा का स्तन पाने से चुप हो जाता है तो सिर्फ इस कारण कि उसे भूख लगी हुई होती है और पेट में दूध पहुँचने से क्षुधा शान्त हो जाती है, तो यह उसकी भूल होगी। इस तथ्य को वे स्त्रियाँ अच्छी तरह जानती हैं जो बच्चे की मा हो चुकी होती हैं। बच्चा स्तन चूसने के लिए ही स्तन चूसना चाहता है, दूध पीना ही उसका ध्येय नहीं होता, स्तन चूसने का आनन्द भी उद्देश्य हो सकता है। यह यौन-आनन्द है। विश्लेषण से बार-बार इसी परिणाम पर पहुँचना पड़ा है।

हम कह रहे थे कि बच्चे की बहुत-सी इच्छाएँ अपूर्ण भी रह जाती हैं। ऐसी इच्छाओं का क्या होता है? उनके दो ही परिणाम हो सकते हैं--चाहे तो वे नष्ट हो जायँ या फिर कहीं पड़ी रह जायँ। पाया यह गया है कि वे नष्ट नहीं होतीं, पड़ी ही रह जाती हैं। तो ऐसी जो इच्छाएँ चेतन मन में नहीं रह गईं वे अवश्य अचेतन में ही पड़ी रह गईं।

बच्चे की जो इच्छाएँ स्वयं ही पूरी हो सकती हैं उन्हें वह पूरी कर लेता है, जैसे अंगूठा चूसकर आनन्द पाना। लेकिन जिन इच्छाओं के लिए किसी बाहरी व्यक्ति अथवा व्यक्तियों अथवा परिस्थितियों की आवश्यकता होती है, उनका पूर्ण होना उन्हीं पर निर्भर करता है।

इसी प्रकार खास तरह की इच्छाओं के अपूर्ण रह जाने के कारण खास बातें हो सकती हैं। ऊपर जिन दो मूल प्रवृत्तियों की बात कही गई है उनमें क्षुधा के रास्ते में बाधाएँ उतनी अधिक और उतनी जोरदार नहीं जितनी सामाजिक नियमों के कारण कामवृत्ति के रास्ते में हैं। इससे साफ जाहिर है कि इस वृत्ति को ही सबसे अधिक दबना पड़ता है, अर्थात्, काम-सम्बन्धी इच्छाएँ ही अधिक अपूर्ण रह जाती हैं। अपूर्ण इच्छाएँ चूँकि नष्ट नहीं होतीं इसलिए उन्हें दब जाना पड़ता है। इस क्रिया को अवदमन (रिप्रेशन) कहते हैं।

अवदमित इच्छाएँ अचेतन में चली जाती हैं। यहाँ पर ध्यान देने की बात यह है कि अचेतन में जाते ही किसी इच्छा की शक्ति बिल्कुल समाप्त नहीं हो जाती। वह वहाँ भी गतिशील ही रहती है और बराबर ऊपर आकर अपनी पूर्त्ति की चेष्टा करती रहती है।

किसी भी बुरी इच्छा का प्रथम अवदमन अहं (ईगो) करता है। जहाँ ईगो भी अपने काम में ढिलाई करता है वहाँ अधिशास्ता (सुपर-ईगो) उसे धर दबोचता है। आम तौर पर जिसे हम अन्तरात्मा (कन्शेन्स) कहते हैं वह सुपर-ईगो का ही काम है। अगर सच पूछिये तो ईगो और सुपर ईगो अदस् (ईड) के ही अंग हैं, जो सामाजिक अथवा बाहरी विधि-निषेधों के धक्के खा-खाकर बन गए हैं। अवदमित इच्छाएँ--वे इच्छाएँ जिन्हें चेतन से हटाकर अचेतन में भेज दिया गया है--हमेशा अपनी तृप्ति के लिए प्रयत्नशील रहती हैं। लेकिन उनके चेतन होकर तृप्त होने के रास्ते में अहं तथा अधिशास्ता बाधा देते हैं। इस प्रकार उनके ऊपर हमेशा प्रहरी (सेन्सर) मौजूद होता है। गहरी अनुभूतियों से युक्त अवदमित इच्छाएँ ही गूढ़ैषा (कम्प्लेक्स) बन जाती हैं। आपने ईडिपस कम्प्लेक्स

का नाम सुना होगा। साधारणतः इससे समझा जाता है कि मनुष्य का उसकी अपनी माँ के प्रति यौन-प्रेम है तथा अपने पिता के प्रति द्वेष। ईडिपस की इच्छा, अर्थात्, अपनी मा के यौन-रूप से पाने की इच्छा तथा अपने पिता के प्रति कामज प्रतिद्वन्द्विता हर बच्चे, हर स्त्री-पुरुष में होती है। इन्हीं इच्छाओं का सबसे अधिक अवदमन होता है और इसलिए अधिकतर मानसिक व्याधियों में ईडिपस कम्प्लेक्स वर्त्तमान तथा सक्रिय पाया जाता है।

प्रहरी के कारण अपने मौलिक रूप में उपर्युक्त इच्छाएँ ऊपर आ नहीं सकतीं। वैसी हालत में वे क्या करें?

एक बार एक राजनैतिक वक्ता भाषण दे रहे थे। उस समय भारतवर्ष का स्वातंत्र्य-संग्राम आरंभ ही हुआ था और अंगरेजी सरकार की ओर से कड़े कानून बने हुए थे। वक्ता महोदय को अंगरेजों को नष्ट कर डालने की बात भी कहनी थी और कानून से बचाना भी था। उन्होंने कहा--"भाइयो, हमें सफेद बकरे का बलिदान करना ही पड़ेगा, अगर महाकाली को प्रसन्न रखना है।"

ठीक यही नियम अचेतन इच्छाएँ भी मानती हैं। किसी काग को पानी में हाथ से दबा कर नीचे रखने की कोशिश कीजिए तो वह आपके हाथ की जगह से कतरा कर अलग निकलने की कोशिश करेगा। अगर फिर भी आप दबा दें तो मामूली काग तो बराबर वहाँ से हटकर निकलने की चेष्टा ही करता रहेगा, हाँ, अगर उसे वक्ता महोदय की तरह बुद्धि होगी तो वह अपना वेष ही बदल देगा और तब न पहचान सकने के कारण शायद आप उसे ऊपर आ जाने दें। औरंगजेब की कैद से शिवाजी, शिवाजी के रूप में नहीं निकल सकते थे, लेकिन तरकारियों के रूप में निकल ही गए। सुभाष बोस को भी गूँगा काबुली बनना पड़ा, नहीं तो निकलने की कोशिश करते ही फिर जेल में बन्द कर दिए जाते!

अचेतन इच्छाएँ न शिवाजी से कम हैं, न सुभाष बोस से। उनके पास अपने रूप को बदलने के उससे भी अधिक साधन हैं जितने हॉलीवुड की 'मैक्स फैक्टर' कम्पनी के पास हैं।

छद्म वेष बनाने के लिए वे कई उपायों से काम लेती हैं, जिनमें एक है प्रतीक-परिणति --अर्थात् प्रतीक का सहारा लेना।

वक्ता महोदय के अंगरेजों का प्रतीक हुआ सफेद बकरा; भारतीय जनता का प्रतीक हुआ महाकाली। इसी तरह नानाविध प्रतीकों की सहायता से इच्छाएँ अपनी तृप्ति पाने की चेष्टा करती हैं।

आप बोलने में भूलें करते हैं, लिखने में भूलें करते हैं--आदमी का चेहरा भूल जाते हैं, नाम भूल जाते हैं, वादा करके भी कहीं जाना भूल जाते हैं--क्यों?

मैकडूगल कहेगा, आपकी नाड़ियों में थकावट आ गई है, उनके प्रान्तसन्निकर्ष (साइनैप्स) ढीले हो गए हैं, इसलिए आप भूल जाते हैं। लेकिन प्रश्न तो यह है कि

जिस समय आप 'क' का नाम भूल जाते हैं उसी समय 'ख' का नाम याद कैसे करते हैं! एक ही समय नाड़ियों की क्लान्ति और अक्लान्ति कैसे हो सकती है? और किसी विशेष शब्द, नाम, अवसर आदि के सम्बन्ध में ही थकावट क्यों?

मनोविश्लेषण मन के सुखवाद का सिद्धान्त मानता है। जो अनुभव सुखकर होते हैं उन्हें तो मन याद रखता है और दुःखकर अनुभवों को--चाहे वे किसी के नाम हों या घटनाएँ--वह विस्मृति के गर्त्त में धकेल देता है।

दो नामों के बीच एक सुखकर, दूसरा दुःखकर क्यों होता है? जो हमारी सहज इच्छाओं के अनुकूल होते हैं वे सुखकर हैं, जो प्रतिकूल वे दुःखकर।

सपने हम नींद आने पर देखते हैं। क्यों? पुराने मनोविद् कहते हैं, तरह-तरह के शारीरिक उद्दीपनों (स्टीमुलस) के कारण स्वप्न दिखाई पड़ते हैं। लेकिन एक प्रकार के ही उद्दीपन से भिन्न-भिन्न प्रकार के स्वप्न क्यों दीखते हैं? ऐसे मनोविदों के पास इसका कोई उत्तर नहीं।

इसका उत्तर सर्वप्रथम दिया फ्रायड ने। उसने अपने अन्वेषण के सिलसिले में पाया--सपने मन की इच्छा-पूर्ति हैं। इनके जरिए मन की वे इच्छाएँ अपने को तृप्त करने का प्रयास करती हैं जिन्हें दमित होना पड़ा है। सपनों की गतिविधि, उनके रूप, उनकी भावात्मक अनुभूतियों आदि का निर्णय तथा संचालन अचेतन की ओर से ही होता है। भूलों, दिवा-स्वप्नों, कविताओं, कला-कृतियों, मानसिक व्याधियों आदि का भी संचालन तथा रूपनिर्धारण अचेतन ही करता है। हर प्रकार की मानसिक अथवा तज्जनित शारीरिक चेष्टा अपूर्ण इच्छाओं की तृप्ति ही है।

जब इतना हमने समझ लिया तो यह समझना आसान है कि आदमी का चरित्र-निर्माण, समाज के अंदर तथा बाहर व्यक्ति की चेष्टाएँ तथा उसका दृष्टिकोण, समूह की क्रिया-प्रतिक्रियाएँ, उसके सामाजिक तथा धार्मिक विचार एवं विश्वास आदि सभी के मूल स्रोत उसकी सहज प्रवृत्तियाँ हैं, जिनमें प्रधान है यौन-वृत्ति। जितनी दूर तक किसी भी तरह के वैयक्तिक या सामूहिक विचार, क्रिया-कलाप, चरित्र आदि चेतन के परिणाम हैं उन्हें छोड़कर बाकी जो रह जाता है उसका पूर्ण अधिकारी एवं स्रोत अचेतन या अवदमित इच्छाएँ ही हैं। किसी प्रकार की मानसिक व्याधि या पागलपन का भी कारण यही हैं। जीवन के प्रति विशेष प्रकार के प्रतिन्यास (ऐटीट्यूड) का भी यही कारण है।

हमने समझा कि काम-वृत्ति (लिबिडो) मुख्य वृत्ति है, बाहरी (सामाजिक) विधि-निषेधों के कारण इच्छाएँ अवदमित होकर अचेतन में चली जाती हैं, ईगो और सुपर-ईगो का पहरा (सेंसर) हमेशा काम करता रहता है, फिर भी इच्छाएँ छद्मवेश में प्रतीकादि के रूप में अपने को तृप्त करने की चेष्टा करती रहती हैं, जो स्वप्न, कलाकृति आदि के रूप में प्रकट होती हैं। बच्चे के मन में कामशक्ति का जागरण जन्म से ही हो जाता है, जिसकी आंगिक परितृप्ति प्रथम तीन वर्षों तक होती है और तदनंतर वे शुद्ध कामज हो जाती हैं। विश्लेषण से, बराबर पाया गया है कि तीन साल से आठ साल तक के बच्चों की निर्दोष लगने

वाली बहुत सारी इच्छाएँ भी वास्तव में कामज इच्छाएँ ही होती हैं। इसमें बहस की कोई गुंजायश नहीं, तथ्य तथ्य ही है। जब तक अवदमन (रिप्रेशन) सफलतापूर्वक काम करता होता है, आदमी निरोग रहता है, जहाँ अवदमन असफल हो जाता है मन बीमार हो जाता है। छोटे या बड़े पागलपन का यही कारण है।

जब आप किसी भी आदमी का--चाहे वह निरोग हो या व्याधिग्रस्त--मनोविश्लेषण करने चलते हैं तो आपको उन कम्प्लेक्सों का समाधान कर देना पड़ता है जो अंदर से काम कर रहे होते हैं। लेकिन इच्छाएँ तो सीधे रूप में उस आदमी को दीखती नहीं, उनके रूप तो बदले रहते हैं! वह उनकी असलियत पहचान नहीं सकता, इसी कारण उसे तकलीफ होती है। अगर आप पूछें कि वह उनकी वास्तविकता क्यों नहीं पहचान पाता तो मैं कहूँगा कि इसका उत्तर आपको ऊपर मिल चुका है--अर्थात् बाधा (रेजिस्टेन्स) काम करती रहती है। जब तक यह बाधा, जो ईगो की तरफ से आती है वहाँ है, आप किसी भी इच्छा का असली रूप देख ही नहीं सकते। मनोविश्लेषक का काम होता है, इस बाधा को हटाने में सहायता देना, ताकि इच्छाओं के रूप जाने जा सकें, और तभी गूढ़ैषाओं का समाधान हो जाता है।

मानसिक व्याधियाँ भी सपनों आदि की तरह ही लक्षण हैं। अवदमित इच्छाएँ अपने को सपनों के जरिए तृप्त करती हैं, लेकिन इससे आगे नहीं बढ़ पातीं, क्योंकि अवदमन काम करता होता है। वह सपने तक की आज्ञा देता है, इससे अधिक नहीं। लेकिन जमा होती हुई शक्तियों के कारण अगर ऐसे प्रतीकात्मक जरियों से भी अपूर्ण इच्छाओं की तृप्ति नहीं हो सकी तो वह और भी उग्र होकर दूसरे उपाय खोजने लगती हैं। ऐसे उपायों में तरह-तरह के मानसिक रोग भी हैं। इन रोगों के जरिए अचेतन अपनी इच्छाएँ पूरी कराता रहता है। ऐसे रोगों में पाये जाने वाले लक्षण भिन्न-भिन्न इच्छाओं के प्रतीक ही होते हैं।

उदाहरण के लिए एक स्त्री की बात लीजिए। उसके व्याह के बाद ससुराल आए हुए दस-ग्यारह वर्ष हो गए थे। मा-बाप बुलाते थे पर वह जा नहीं पाती थी क्योंकि उसका पति आज्ञा नहीं देता था। एक दिन उसने तय किया कि चाहे पति जो भी करे वह मायके जायगी ही। और वह चली। लेकिन दो कदम भी नहीं चल सकी थी कि उसके पैर बेकार हो गए, उसके दोनों पैरों में लकवा मार गया।

इसका विश्लेषण किया गया तो पाया गया कि मा-बाप की इच्छा तथा पति की इच्छा दोनों ही का पालन करना वह जरूरी समझती थी। एक के करने से दूसरी का उल्लंघन होता था। उसके अचेतन को जो एक मात्र समाधान मिल सका वह यही था कि वह चली लेकिन उसका शरीर अशक्त हो गया, इसलिए नहीं जा सकी। दो विपरीत इच्छाओं की एक साथ पूर्ति इस प्रकार हो गई।

ऐसे ही प्रतीकों के जरिए अपूर्ण इच्छाओं की पूर्ति होती है। ऊपर वाली बीमारी को कन्वर्सन हिस्टीरिया कहते हैं।

अब इसका भी स्पष्टीकरण होना चाहिए कि विश्लेषण से मन निरोग कैसे होता है। इसे एक उदाहरण देकर समझाऊँ।

आप अकेले कमरे में सोए हुए हैं। अँधेरी रात है, कमरे में कोई रोशनी नहीं। अचानक जोर का धमाका होता है और आपकी नींद झोंके से खुल जाती है। डर के मारे आपके प्राण सूख गए हैं, पसीना आ गया है, सर के बाल खड़े हो गए हैं, मुँह से आवाज तक नहीं निकलती। जब जरा होश आता है तो आप तकिए के नीचे से टार्च बत्ती निकालते हैं। उसे जलाकर उसकी रोशनी इधर-उधर फेंकते हैं। अचानक प्रकाश में एक चूहा भागता हुआ दीखता है और पास ही दूध का कटोरा गिरा हुआ है। "धत् तेरे चूहे की, यही था!" कह उठते हैं आप। पलक मारते आपका सारा भय दूर हो जाता है।

मानसिक बीमारियाँ भी कुछ इसी तरह की हैं। कार्य और कारण बराबर होते हैं। एक चम्मच घी देने से एकाध लकड़ी में आग बढ़ सकती है, तुरत जंगल का जंगल नहीं जल उठ सकता। प्रायः मानसिक बीमारियों के कारण उतने बड़े नहीं होते। बचपन में उठी हुई कुछ असामाजिक इच्छाओं का दमन हुआ रहता है, अथवा किसी जरा-सी बात का गहरा अघात लग जाता है। बचपन के ऐसे अनुभव अचेतन मे पड़े होते हैं और अपनी शक्ति खोते नहीं। ऊपर बताए कारणों से कुछ लक्षण ऐसे आ जाते हैं जिन्हें देखकर कहना पड़ता है कि आदमी विकार-ग्रस्त हो उठा है। आदमी का चेतन उन कारणों को नहीं जानता जिनके कारण बीमारी उत्पन्न होती है। मनोविश्लेषण के द्वारा ये कारण, अवदमित इच्छाओं तथा गूढ़ैषाओं के संघर्ष आदि, ऊपरी सतह पर आ जाते हैं। प्रायः पाया जाता है कि बड़े-से-बड़े पागलपन के कारण बहुत छोटे होते हैं। जैसे, ऊपर वाले उदाहरण की बात ले लीजिए। अगर विश्लेषण के जरिए आदमी को उन कारणों का अनुभव हो जाय तो फिर उन्हीं के अनुपात से कार्य--बीमारी--भी रह जायगी। चूहे के डर से सर के बाल खड़े नहीं होते, लेकिन अँधेरे में चूहे ने कटोरा गिरा दिया, कल्पना ने उसे जाने क्या से क्या बना दिया—भूत, प्रेत, चोर, डकत--जाने क्या-था? नतीजा हुआ आपका अत्यधिक भयभीत हो जाना। टार्च की रोशनी में आपने भय उत्पन्न करने के वास्तविक कारण—चूहे--को देखा और उसी अनुपात से आपका भय भी कम हो गया। ससुराल से मायके जाऊँ, मायके नहीं जाऊँ, इन दो इच्छाओं के संघर्ष से दोनों पाँवों को लकवा मार गया। वास्तविकता का पता लगने पर पाया गया कि बात तो बस इतनी-सी थी, फिर इसका इतना बड़ा असर क्यों होना चाहिए। यही कारण है कि मनोविश्लेषण-द्वारा बीमारी का वास्तविक कारण पता लगते ही बीमारी दूर हो जाती है।

मनोविश्लेषण में साधारणतः वर्ष भर से ऊपर समय लगता है, उस पर भी रोजाना घंटे भर विश्लेषण करने में। अगर कारण बता देने ही से रोगी अच्छा हो जाता है तो तुरत कारण बता क्यों नहीं दिया जाता ताकि वह अच्छा हो जाय? क्या एनालिस्ट कारण समझ नहीं पाता?

बुद्धि से कोई बात जान लेना एक बात है और मन-प्राण से उसे ग्रहण करना, अनुभव करना और बात है। मनोविश्लेषक तो प्रायः पहली ही दो-एक बैठकों में रोगी के अंदर काम करते हुए कारणों, कम्प्लेक्सों, और उनके संघर्षों का अन्दाज कर लेता है। लेकिन

अगर वह रोगी से कहे—"देखो, तुम्हारे अंदर ईडिपस कम्प्लेक्स है, तथा कैस्ट्रेशन कम्प्लेक्स भी काफी मात्रा में है, इसलिए ही तुम बीमार हो, तुम अपने बाप को ईडिपस की तरह ही मार डालना चाहते हो, और तुम्हारे सपनों को देखने से तथा तुम जो बातें कहते हो उनसे मालूम होता है कि तुम अपनी मा के ऊपर यौन-अधिकार करना चाहते हो। यह भी पता चलता है कि तुम्हें उपस्थच्छेद--कैस्ट्रेशन--का भय भी हुआ था, तुम अपनी मा की इच्छा करते थे जिससे तुम्हें यह डर लगा था कि तुम्हारे उपस्थ को कुचलकर तुम्हें पुंस्त्वहीन कर दिया जायगा। इन्हीं कारणों से तुम्हें हिस्टीरिया के दौरे आते हैं। अब तो मैंने तुम्हें बता दिया कि तुम्हारे रोग के क्या कारण हैं, इसलिए अब तुम अच्छे हो जाओ।" तो इतनी सारी बातें सुनकर न तो वह विश्वास करेगा और (अगर विश्वास करे भी तो सोचेगा, डाक्टर विद्वान है, जब कहता है तो झूठ थोड़े ही कहता होगा) न अच्छा ही होगा। विश्लेषक तो सिर्फ रास्ता सुझाता जाता है, कारण का पता रोगी स्वयं लगाता है। जैसे-जैसे उसका फ्री-ऐसोसिएशन चलता रहता है, उसके सपनों की समीक्षा चलती रहती है, उसके मन की बाधाएँ आप-से-आप कम होती जाती हैं। बाधाओं–रेजिस्टेन्स–के हटने से वह आप-से-आप हर कुछ देखने तथा अनुभव करने लगता है। जब तक उसका मन स्वयं अपने अंदर की चीजों का अनुभव नहीं करता, बाधाएँ नहीं हटतीं, विश्लेषण अधूरा ही रह जाता है। यदि आपके बताने के बावजूद भी वह ऐसी इच्छाओं के भीतरी अस्तित्व को नहीं मानता तो इसी रेजिस्टेन्स के चलते। विश्लेषक इसी रेजिस्टेन्स को दूर करने में सहायक होता है।

इसके साथ ही एक और बात समझ लेने की है। हर इच्छा का एक आनुभूतिक पहलू भी होता है। किसी प्रकार की इच्छा की उत्पत्ति के साथ कोई न कोई उद्वेग (इमोशन) रहता है, और उसकी पूर्ति अथवा अपूर्ति के साथ भी भिन्न-भिन्न तरह के उद्वेग संयुक्त रहते हैं। अवदमित इच्छाओं के उद्वेग भी उन्हीं के साथ दबे पड़े होते हैं। विश्लेषण न सिर्फ दबी इच्छाओं को अचेतन से निकालकर चेतन के हवाले कर देता है, बल्कि उनके साथ संयुक्त उद्वेगों को भी सन्तुष्टि देकर उनकी शक्ति को नष्ट करता चलता है। कोयला का जलना उसके अंदर के कार्बन के जलते ही खुद-ब-खुद बंद हो जाता है।

ऐसे उद्वेगों की तीव्रता की शान्ति रोगी विश्लेषक के ऊपर ही कर लेता है। उसके हर तरह के उद्वेग, उसके प्रेम, उसकी घृणा--और यही दो सबसे प्रधान उद्वेग हैं—का लक्ष्य (टार्गेट) विश्लेषक ही होता है। उसी पर रोगी का अचेतन मन अपने उद्वेगों के कारतूस खाली करता है।

इस तरह जहाँ एक ओर रोग के कारण का वास्तविक रूप, जो सामने आ जाने पर बिल्कुल ही साधारण चीज लगती है, अपनी भयंकरता खोता है, वहीं दूसरी ओर, तत्संयोजित शक्तिपूर्ण उद्वेगों की भी सन्तुष्टि होकर उनकी ताकत खत्म हो जाती है।

रेजिस्टेन्स (बाधा) का महत्त्व अब स्पष्ट हो गया होगा। इसी बाधा के कारण इच्छाएँ प्रतीकों का सहारा लेती हैं। मनोविश्लेषण का वास्तविक काम है इस प्रकार की बाधा को

हटा देना। जबतक बाधा नहीं हटती, कोई भी तथ्य पकड़ाई नहीं देता। जो बात रोगी के लिए सत्य है वही मनोविश्लेषक के लिए भी। अगर विश्लेषक के मन की बाधाओं का अन्त नहीं हुआ तो किसी भी हालत में वह रोगी के मन की भी बाधा नहीं हटा सकता। मन की बाधा को हटाकर, अपने अंदर के असली कम्प्लेक्सों को पहचान रखना विश्लेषक के लिए सर्व-प्रथम आवश्यक है, और इसके लिए पहले विश्लेषक का ही विश्लेषण होना जरूरी है। अगर उसका विश्लेषण नहीं हो चुका है तो न तो वह कारण ही पकड़ सकेगा, न बाधा ही हटा सकेगा, क्योंकि जिस चीज को उसने स्वयं अनुभव नहीं किया उसे दूसरे को, कितनी भी बुद्धि और किताबी ज्ञान खर्च करे, वह अनुभव नहीं करा सकता।

इसके साथ ही एक बात और है। रोगी का अचेतन अत्यन्त तीक्ष्ण होता है। विश्लेषक की प्रतिक्रियाओं को वह तेजी से पकड़ता जाता है और उसी के अनुसार वह स्वयं प्रभावित होता है। आपने कभी किसी आदमी को सम्मोहित होते देखा है? सम्मोहन कुछ नहीं, कृत्रिम तरीके से किसी को सुला देने को ही सम्मोहन (हिप्नोटिज्म) कहते हैं। पाया गया है कि इस प्रकार की नींद की अवस्था में सम्मोहित आदमी हिप्नोटिस्ट की सभी बातें सुनता और मानता है। होना तो यह चाहिए था कि जब वह एक बार नींद में आ ही गया तो चाहे जो भी उसे आज्ञा दे, उसकी बात वह सुनता लेकिन ऐसा नहीं होता। कारण यह है कि सम्मोहन के कार्य में ही कुछ ऐसी बात है कि सम्मोहित करने और होनेवाले के बीच एक प्रकार का सामंजस्य (रैपो) स्थापित हो जाता है, और इसी वजह वह उसी की बात सुनता है। जिसने जितना ही अधिक सम्मोहन किया होगा उसका प्रभाव उतना ही अधिक होगा। निद्रावस्था में भी सम्मोहित व्यक्ति का अचेतन सम्मोहक के चेहरे के भाव, उसके कहने के ढंग, आवाज के जोर आदि से उसके आत्म-विश्वास को पूरी तरह अनुभव करता जाता है। वैसे ही विश्लेषित होने वाले व्यक्ति का अचेतन भी विश्लेषक के साथ 'रैपो' में हो जाता है और उसकी भावभंगिमा आदि से ही उसके आत्म-विश्वास को, उसके अंदर की बाधाहीनता आदि को, जानता रहता है और उसी के अनुपात से स्वयं भी प्रभावित होता है। जहाँ उसने विश्लेषक की कमजोरी पाई कि रेजिस्टेन्स और भी पक्का हो उठता है।

यही कारण है कि मनोविश्लेषण समिति इस बात पर अत्यधिक जोर देती है कि भावी विश्लेषक को अपना विश्लेषण कराना आवश्यक है। तभी मनोविश्लेषण की सत्यताओं को वह अनुभव कर सकेगा, वर्ना सिर्फ किताबें पढ़कर वह बुद्धि से ज्ञान पा सकता है, ज्ञान की सचाई नहीं। वह तो फ्रॉयड की किताबें पढ़ेगा और हमारे हिन्दी (बहुत से अंग्रेजी भी) लेखकों तथा पाठकों की तरह सोचेगा, फ्रॉयड की कल्पना-शक्ति अत्यन्त तीव्र थी, उसने अच्छे सिद्धांत बनाए हैं, वे पढ़ने में भी अच्छे लगते हैं, और तर्क-सिद्ध भी मालूम होते हैं। वे कभी समझ ही नहीं सकते कि फ्रॉयड ने कल्पना के द्वारा अपने सिद्धान्त न निर्मित किए और न सोच-सोच कर उन्हें तर्क-सिद्ध बना कर रख दिया। उसने तो शोध किए हैं, जो भी परिणाम मिले उन्हें उसने सिद्धांत के रूप में रख दिए। जब कोई नयी बात सामने

आई, जो बने सिद्धांतों से विपरीत जाती थीं, तो उन्हें भी कहने में वह नहीं हिचका और नये सिद्धांत भी दिए।

यही कारण है कि स्वाध्यायार्जित और तथाकथित मनोविश्लेषण के हिंदी भाषी विद्वान् कहते हैं--"फ्रॉयड के सिद्धांत तो अच्छे हैं, लेकिन उसने जो हर बात में सेक्स घुसेड़ दिया है यह जरा ठीक नहीं लगता। मा पर कामासक्ति, बाप से कामज द्वेष, निर्दोष मासूम सात साल से नीचे की उम्र के बच्चे के अंदर कामशक्ति (लिबिडो)--यह तो फ्रॉयड की ज्यादती है। अगर उसने यह सब नहीं कहा होता तो फिर क्या बात थी!

और यहीं पर वे अपनी विलक्षणता का परिचय देते हैं। युंग भी तो है। वह तो सेक्स पर इतना जोर नहीं देता। आडलर तो सेक्स को एक तरह से मानता ही नहीं। बस ठीक तो है। फ्रायड की अच्छी बातों के साथ युंग और आडलर की अच्छी बातों की दिलपसन्द खिचड़ी पका डालो, फर्स्ट क्लास का मनोविश्लेषण और नवीन मनोविज्ञान तैयार हो गया। वे नहीं जानते कि वही रेजिस्टेन्स, जो रोगी को निरोग होने से रोकता है, ऐसे लोगों के अंदर ही सभी काम करता होता है, जो उन्हें सही रास्ते से भटका देता है। युंग के फ्रायड से अलग होने की जड़ में भी यही बात थी और आडलर के भी।

एक बात और। क्या युंग और आडलर की चिकित्सा से रोगी अच्छे नहीं होते?

अगर युंग के इलाज से रोगी अच्छे होते हैं, अथवा आडलर के इलाज से ही वे अच्छे होते हैं तो इससे यह सिद्ध नहीं होता कि उनके सिद्धांत अच्छे हैं। रोग के अच्छे होने के बहुत-से कारण हो सकते हैं। ऊपर अभी-अभी हमने बताया है कि विश्लेषण के सिलसिले में रोगी और विश्लेषक के बीच एक प्रकार का संबंध स्थापित हो जाता है और रोगी के अचेतन में दबे उद्वेगों की शान्ति विश्लेषक के ऊपर होती रहती है। युंग भी अपने रोगियों को ठीक उसी तरह से विश्लेषित करता है जैसै फ्रॉयड। वही अर्धप्रकाशित कमरा, वही रोगी का आराम से लेट जाना और हर प्रकार की तर्कबुद्धि को एक किनारे रखकर फ्री ऐसोसियेशन देना--अपने मन में आने वाली हर बात को कहते जाना आदि। यहाँ पर एकाध शब्द का व्यवहार करने से ठीक होगा। विश्लेषण के सिलसिले में रोगी विश्लेषक को भी किसी का प्रतीक मान लेता है और समय समय पर अचेतन के उठने वाले उद्वेगों के अनुरूप उद्वेग का उसी पर आरोपण करता जाता है--इसे कहते हैं संक्रमण (ट्रान्सफरेन्स)। संक्रमण दो तरह के होते हैं--सदर्थक (पोजेटिव) और नार्थक (निगेटिव)। पोजिटिव ट्रान्सफरेन्स की अवस्था आने पर रोगी विश्लेषक से प्रेम करने लगता है, और निगेटिव ट्रान्सफरेन्स की अवस्था में उससे घृणा करता है। एक सम्पूर्ण विश्लेषण में इन दोनों अवस्थाओं का आना आवश्यक है। इन्हीं के जरिए उद्वेगों की शान्ति होती है। अन्तिम अवस्था में मन को संतुलन प्राप्त होता है, जब न वह विश्लेषक से प्रेम ही करता है न घृणा ही। ये अवस्थायें युंग और आडलर के भी विश्लेषणों में आती हैं, और इनके फलस्वरूप दबे पड़े उद्वेगों की शान्ति हो जाती है। उनके रोगियों के अच्छे होने का यह एक मुख्य कारण है।

मैं यह नहीं कहना चाहता कि फ्रायड की चिकित्सा से लोग अच्छे होते हैं इसलिए ही उसके सिद्धान्त ठीक हैं। अभी ऊपर जो बातें युंग और आडलर या मैकडूगल (जो भी अपने रोगियों की चिकित्सा मन की समीक्षा के द्वारा करता है और भय आदि जाने कितने ही कम्प्लेक्स मानता है और तरह-तरह की प्रवृत्तियों और तदनुसार उतनी ही तरह के भावोद्वेग का होना मानता है) के बारे में कही गई हैं वे ही फ्रायड के बारे में भी कही जा सकती हैं। फ्रॉयड के सिद्धान्तों की कसौटी तो विश्लेषित होनेवाले लोगों द्वारा दिए गए तथ्य ही हैं, अथवा मानव के, विशेषतः आदिम जातियों के, अजीबो-गरीब रीतिरिवाज, मानव की युग-युग की कलाकृतियों आदि में पाए गए एक ही प्रकार की इच्छाओं को प्रकट करने के लिए एक ही प्रकार के प्रतीकों का भिन्न-भिन्न स्थानों में होते हुए भी व्यवहृत होना आदि हैं। अब जैसे सेक्स की ही बात लीजिए। अगर आदमी अपने विश्लेषण के समय अपनी तीन साल की अवस्था के अनुभव को कामज ही बताए, और अगर हर आदमी——क्या स्त्री, क्या पुरुष—हमेशा इसे सेक्स ही कहे, उन अनुभवों को सेक्सुअल छोड़ और कुछ समझने का चारा ही नहीं हो, तो सामाजिक मान्यताओं की लाज रखने को फ्रॉयड, युंग अथवा आडलर की तरह उन्हें सेक्स कहना कैसे छोड़ दे? वह तो एक ईमानदार वैज्ञानिक है।

अगर विश्लेषक पुरुष हो और विश्लेषित स्त्री, तो पोजिटिव ट्रान्सफरेन्स होना, उसका विश्लेषक के प्रेम में पड़ना समझा जा सकता है, लेकिन क्या विश्लेषित होने वाला पुरुष हो तो भी ऐसा संभव है? और क्या इस तरह का प्रेम और घृणा होना आवश्यक है? हाँ, आवश्यक है। और विश्लेषित होने वाला स्त्री हो या पुरुष, बच्चा हो या बूढ़ा, प्रथम वह प्रेम में पड़ेगा ही, फिर घृणा करेगा ही, ये दोनों अवस्थाएँ विश्लेषक और उसके बीच होंगी ही। उद्वेगों के शान्त होने के लिए इस प्रतीक की आवश्यकता है। डाक्टर बाप का प्रतिरूप (ईमागो) होता है, और प्रेम एवं घृणा बारी-बारी से उसी से होती हैं।

यहीं आप किसी विश्लेषक के स्वयं विश्लेषित होने के महत्व को समझ पायँगे। अगर विश्लेषक ने इस बात को अनुभव करके नहीं समझ लिया है और ट्रान्सफरेन्स की अवस्था आ गई है तो वह घबरा जा सकता है, और बड़ी से बड़ी गलती कर बैठ सकता है।

करीब छः साल पहले की बात है——विलायत में एक नवयुवक साइको-ऐनालिस्ट एक नवयुवती का मनोविश्लेषण कर रहा था। होते-होते पोजिटिव ट्रान्सफरेन्स का समय आया और वह लड़की बुरी तरह उसके प्रेम में पड़ गई। उसने हर तरह से डाक्टर को तंग करना शुरू किया। प्रेम-पत्र लिखना, आरजू-मिन्नत करना, रोना-धोना सब चला। मौके की कमी नहीं थी। ऐनालिस्ट का एकान्त कमरा, नियम के अनुसार उस कमरे में सिर्फ दो को छोड़ तीसरा नहीं रह सकता, आधा अँधेरा, और क्या चाहिए! लड़की रोज आती है, कमरे में पहुँचते ही अपना प्रेम निवेदन शुरू करती है, डाक्टर से लिपट जाती है और चुम्बनों की भरमार कर देती है। अन्त में डाक्टर अपने ऊपर और अधिक संयम नहीं रख सका। हुआ वही, जो हो सकता था।

इस तरह संबंध दोनों में चलता रहा। इसके कारण विश्लेषण की गति भी रुक गई। यह स्वयं एक बड़ी बाधा बन कर रह गई और विश्लेषण आगे बढ़ ही नहीं पाया। बड़ी-

बड़ी मुश्किलों से आखिर काम कुछ आगे बढ़ा। और तब आयी निगेटिव ट्रान्सफरेन्स की अवस्था। प्रेम घृणा में बदल गया। लड़की ने डाक्टर पर अपने सतीत्व-हरण का मुकदमा कर दिया। डाक्टर ने अदालत को सारी बातें बताईं। एक बड़े साइको-ऐनालिस्ट से अदालत ने पूछा कि क्या यह सच है? उसने कहा––"हाँ। लेकिन डाक्टर की भी थोड़ी-सी भूल है। वह यह कि चाहे लड़की की ओर से जैसा उदात्त प्रेम भी प्रकट किया जाता, इसे झुकना नहीं चाहिए था।" उसकी इसी बात पर बहुत मामूली-सी सजा देकर चेतावनी के साथ उसे छोड़ दिया गया।

पूर्ण रूप से विश्लेषित, अपने अचेतन मन का पूर्ण ज्ञान प्राप्त विश्लेषक ऐसी गलती नहीं कर सकता। उसके लिए प्रलोभन हो ही नहीं सकता, वर्ना नतीजा बुरा होता है। रोग तो नहीं ही जाता, डाक्टर खुद भी मरीज हो जाता है।

एक दूसरी बात पर प्रकाश डालना भी आवश्यक है। कामवृत्ति क्या सच ही हमारे जीवन की सबसे बड़ी शक्ति है? क्या सच ही हम जो कुछ भी करते हैं––हमारा कार्य-कलाप, हमारी कला, हमारा साहित्य या जो कुछ भी अच्छा-बुरा है––सब का आदि स्रोत सेक्स ही है? इस सेक्स को क्या किसी अच्छी दिशा में लगा दिया जा सकता?

किसी भी अक्षर का गुण है किसी प्रकार की ध्वनि का बोध कराना। कुछ भिन्न-भिन्न ध्वनियों का संयोग स्वयं बुरा नहीं हो सकता। या यौनेन्द्रियों के नाम के लिए जो अक्षर व्यवहार में आते हैं, वे खुद बुरे हैं? या उनका वह संयोग बुरा है?

अगर अक्षर बुरे नहीं, तो शायद उनका अर्थ बुरा होगा। लेकिन वे तो एक अंग-विशेष का बोध कराते हैं। अर्थ बुरा होने का माने हुआ वह अंग ही बुरा होगा। तो क्या जननेन्द्रियाँ स्वयं बुरी हैं?

अगर आप कहें––"हाँ,"? तो मैं पूछूँ, "क्यों" आप शायद कहें, कुछ गन्दी चीजें उनसे निकलती हैं, जैसे पाखाना या पेशाब, तो थूक कोई वैसी पवित्र चीज नहीं समझी जाती, और न बलगम ही अच्छा समझा जाता है। तो मुँह या नाक से निकलने के कारण मुँह और नाक भी बुरी हो गई!

शायद आप कहें, यौन-कर्म ही असुन्दर है, इसलिए कर्म को भी खराब समझा जाता है, उसकी इन्द्रियों को भी।

पहले प्रश्न का उत्तर है, हाँ। हम इसे नहीं मानते तो अवदमन के कारण। एक ओर तो यौन-तत्व से चरम सुख की भी प्राप्ति होती है, और हम उसकी ओर से नाक-भौं सिकोड़ कर छिः छिः भी करते हैं। दो विपरीत इच्छाओं का एक साथ समागम होता है। इसे कहते हैं, उभय-बलता (ऐम्बिवैलेन्स)।

दूसरी बात रही, इस काम-शक्ति (लिबिडो) को किसी महान् दिशा में लगाने की। तो वह तो होता ही रहता है। इसके लिए एक शब्द है उद्गति अथवा महतीकरण (सब्लिमेशन)। इसका अर्थ यह होता है कि सेक्स नाम की असामाजिक शक्ति अथवा प्रवृत्ति किसी समाजोपयोगी काम में लग जाती है।

फ्रॉयड के इस सिद्धान्त को हमारे सदाचारवादी लेखकों ने कस कर पकड़ा है। उन्हें इस नरक में एक आशा-दीप मिल गया है। उन्होंने कहा--'बस, इसी की तलाश थी। कहते थे न, फ्रॉयड के मनोविज्ञान में कहीं न कहीं कुछ अच्छा होगा ही!' उन्हें जितना बुरा सेक्स का नाम लेना लगता था, उतना ही यह जानकर सन्तोष होता है कि चलो, अगर सच ही हमारे जीवन का मूल स्रोत काम-वृत्ति ही हो तो भी क्या हर्ज है। वह तो उद्गति-प्राप्त हो ही चुकी है। और जो बाकी है उसे हम उद्गति प्राप्त करा देंगे।

फिर उनकी रचनाओं में देखिए, सब्लिमेशन की कितनी तारीफ है! इस सर्वशोधक अग्नि की मौजूदगी में उन्हें काम-शक्ति से कोई डर नहीं। वे यह कह उठते हैं, तुम अपनी काम-प्रवृत्ति का महत्तीकरण कर डालो। उन्होंने पढ़ा है कि कविताएँ, कला, साहित्य आदि कवियों, कलाकारों, साहित्यिकों की यौन-वृत्ति के ही महत्तीकरण के परिणाम हैं। तो अच्छा ही है, चलो, काम-शक्ति की उद्गति कर डालो, छुट्टी हुई। साँप भी मरा, लाठी भी नहीं टूटी!

अब इन्हें कौन बताए कि सब्लिमेशन वास्तव में होता तो है, लेकिन हम चैतन्य रूप से चाह कर अपनी किसी शक्ति का महत्तीकरण नहीं कर सकते। यह हमारी शक्ति के बाहर है। उद्गति भी अचेतन की ही क्रिया है, और वही यह कर सकता है। हम आप चाहे लाख सर मारते रहें, किसी भी प्रकार की उद्गति नहीं कर सकते। कोई शिक्षा, कोई प्रयास, इसमें काम नहीं देता।

अवदमन के दुष्परिणामों को दूर करने, यौन-वृत्ति का महत्तीकरण करने आदि का एक ही उपाय है, मनोविश्लेषण। मनोविश्लेषण के सिलसिले में ही जीवन और संसार के प्रति नये दृष्टिकोण का निर्माण विश्लेषक की सहायता से हो सकता है। अगर कह देने से ही उद्गति और युक्त्याभास (रैशनलाइजेशन) हो जाते तो रोगी को चिट्ठी लिखकर नहीं भेज दी जाती! वर्षों उसके साथ माथा-पच्ची करने की क्या ज़रूरत थी?

अन्त में मनोविश्लेषण और स्वप्न के सम्बन्ध में कुछ कह लेना जरूरी है। लोगों ने सुन रखा है कि मनोविश्लेषक स्वप्नों के अर्थ बताते हैं। बस, जहाँ किसी मनोविश्लेषक का नाम सुना कि झट अपना एकाध सपना सामने रख देंगे कि इसका माने बताइए तो! उन्हें कैसे समझाया जाय कि सपने का अर्थ बताना हँसी-खेल नहीं। सपने के पहले की घटनाओं को जानना होता है, उस व्यक्ति को पूरी तरह जानना होता है, फिर सपने के टुकड़े-टुकड़े करके उस पर सपना देखने वाले का फ्री-एसोसिएशन लेना पड़ता है। फ्री-एसोसिएशन से जो सामग्रियाँ मिलती हैं उन्हीं के आधार पर सपनों का माने लगाया जा सकता है।

अफसोस की बात तो यह है कि बहुत-से तथाकथित मनोविश्लेषण के ज्ञाता भी सच ही सपने सुनकर तुरत उसका अर्थ बता देते हैं। ऐसे धुरन्धरों ने फ्रॉयड तथा अन्य मनोविश्लेषकों के प्रतीकों की सूची याद कर ली है। घर प्रतीक है माँ का। कलम, तलवार, या कोई भी लम्बी चीज प्रतीक है लिंग का। दवात, बिल आदि प्रतीक हैं स्त्री-योनि के। राजा, दारोगा आदि प्रतीक हैं बाप के। सीढ़ियाँ चढ़ना-उतरना प्रतीक हैं

रति-कर्म के, आदि-आदि। बस, इन्हीं के आधार पर वे दनादन सपनों के अर्थ लगाते जाते हैं।

ऐसे ही विद्वानों में एक श्री नरोत्तम प्रसाद नागर भी हैं। उन्होंने लखनऊ से "उच्छृंखल" नाम का एक मासिक भी निकाला था। नाम से ही उनके मनोभाव का पता लगता है। खैर, वहाँ से दो-एक किताबें भी निकलीं, जैसे "एक मातावृत अथवा गाँधीवाद की शव-परीक्षा"। एक उपन्यास भी उनका देखा, नाम है "दिन के तारे"। फ्रॉयड के प्रतीकों के सिद्धांतों को ही सारे मनोविश्लेषण का मूल आधार मानकर ऊपर लिखी हुई रीति से प्रतीकों को सच ही "शव-अवस्था" में पहुँचा दिया गया है, साथ ही मनोविश्लेषण को भी। इससे उनके अपने अंदर की काम-वृत्ति को तो अवश्य प्रतीकात्मक तरीके पर आत्म-तुष्टि का अवसर मिल जाता है, साथ ही पाठकों का भी ऐसा ही सन्तोष होता है। इसलिए शायद ऐसी चीजों की तारीफ भी होती है और ऐसे लेखकों को वाहवाही भी मिलती है। अगर सच पूछिए तो नागर जी की रचनाएँ उन्हीं का अबाध-अनुषंग (फ्री ऐसोसिएशन) है, जिससे उनका मनोविश्लेषण किया जा सकता है। ऐसे दायित्वहीन लेखक अपने जानते तो बड़ा शिकार मारे होते हैं—लेकिन साथ ही एक विज्ञान का किस बेरहमी से गला घुट जाता है, यह कौन बताए!

एक बार फ्रॉयड ने अपने एक शिष्य से कहा—"देखो, लोग ऐसा समझते हैं कि मनोविश्लेषण संसार का आखिरी ज्ञान है, और दुनिया के हर कछ की कैफियत इससे मिल सकती है। यह लोगों की गलत धारणा है, इसमें तो कोई सन्देह नहीं। एक बात से मैं तुम लोगों को आगाह कर देना चाहता हूँ, वह यह कि किसी क्लब में, टहलते हुए या और किसी मौके पर अगर कोई अपना सपना, या अपनी किसी भूल का विश्लेषण करना चाहे, या मनोविश्लेषण पर विवाद करना चाहे, तो उससे यही पूछना, 'आप फीजिक्स या केमिस्ट्री पर विवाद कीजिए, मनोविश्लेषण के पीछे ही क्यों लट्ठ लिये फिरते हैं।' उन्हें यह बता देने की जरूरत है कि यह एक साइन्स है, एक टेकनिक है और इसके बाजाब्ता अध्ययन, मनन और शोध की जरूरत है, तभी इसे समझा जा सकता है। बेहतर है कि इस पर भी शान्त नहीं हो तो तुम चुप लगा जाओ। आम लोगों को न पदार्थ–विद्या समझ में आयगी, और न मनो-विश्लेषण।

ऊपर जैसे लेखकों का जिक्र मैंने किया है, उनके लिए ही फ्रॉयड ने ये बातें कही थीं, मालूम होता है।

अन्त में कह दूँ कि हिन्दी में आप अधिकारी ग्रन्थों के अनुवाद ही कराइए, सो भी अच्छे विद्वानों से। फ्रायड की एक किताब—"इन्ट्रोडक्ट्री लेक्चर्स ऑन साइको-ऐनालिसिस" के जोआँ रिभिरी द्वारा किए गए अंग्रेजी अनुवाद की भूमिका में अन्तर्राष्ट्रीय मनोविश्लेषण संघ के सभापति अर्नेस्ट जोन्स ने लिखा है—"... पुस्तक का एक अमेरिकन अनुवाद निकल चुका है। शैली के दोष के अलावा इसमें अनुवाद की ऐसी अशुद्धियाँ हैं—जैसे, एक अंश, जिसका अर्थ था कि भ्रांति (डेल्यूजन) को किसी तरह प्रभावित नहीं किया जा सकता, इस

तरह लिखा गया है जिससे अर्थ निकलता है कि फ्रॉयड ने कहा है कि आवेश (आब्सेशन) लाइलाज है--कि फिर से नया अनुवाद निकालने की आवश्यकता पड़ी।"

जोन्स ने जिस अनुवाद की बात कही ह वह एक पेशेवर मनोविद् का किया हुआ है। इसी से समझा जा सकता है कि अनधिकारी व्यक्ति भी अनुवाद की भूलों से कैसा गजब ढा सकते हैं। और कहीं वे मनोविश्लेषण पर मौलिक पुस्तक लिखने चले तो बस फ्रायड के साथ ही मनोविश्लेषण का भी बेड़ा पार है !

संगीताचार्य अमीर खुसरो

खुसरो ने गद्य और पद्य में तरह-तरह की चीजें, बच्चों और बड़ों के लिए लिखी हैं; और फिर यही नहीं कि फारसी-भाषा ही में लिखी हो, उर्दू, ब्रजभाषा और अरबी में भी खूब लिखा है। यह बड़े विद्वान् थे और गाने में भी खूब थे। नाटक गोपाल भी, जो उन दिनों का बड़ा प्रसिद्ध गवैया था, उन्हें मान गया। उसको अपने गाने पर इतना घमंड था कि वह हमेशा सिंहासन पर बैठकर ही निकलता था और बारह सौ चेले बारी-बारी से उस सिंहासन को उठाते थे। उन दिनों दिल्ली का बादशाह अलाउद्दीन खिलजी था और अमीर खुसरो उसके दरबारियों में थे। बादशाह ने गोपाल का नाम सुनकर उसको बुलाया तो अमीर खुसरो बादशाह से अपनी बाबत जिक्र न करने को कहकर बादशाह के सिंहासन के नीचे छुप गये। छः दिन तक नाटक गोपाल दरबार में आता और गाता रहा। खुसरो हर रोज सिंहासन के नीचे छुप-छुप कर उसकी योग्यता को जाँचते रहे। सातवें दिन अमीर भी अपने चेलों को लेकर बड़े ठाठ से दरबार पहुँचे। सारंगी, सितार और मशक की भाँति फूली रहनेवाली बीन, जिसे बहुधा पठान बजाते हैं, उनके साथ थी। जब गोपाल ने जाना कि अमीर खुसरो यही हैं तो वह खड़ा हो गया। कुछ देर तक इधर-उधर की बातें करके उसने अमीर से गाने के लिए कहा। अमीर ने टालते हुए कहा--"मैं हिन्दुस्तानी संगीत कुछ साधारण-सा जानता हूँ, आपही सुनाइए।" गोपाल गाने लगा तो खुसरो ने नाक-भौं चढ़ाकर कहा--"यह गाना तो मैंने बहुत पहले बनाया था।" यह कह कर पूरा-पूरा राग सुना दिया। गोपाल ने दूसरा राग गाया, पर अमीर ने वह भी उसी तरह सुना दिया। फिर तो गोपाल बहुत चकराया, बोला--"अच्छा, अब आप सुनाइए।" अमीर ने कहा--"मैं साधारण और चलते गाने नहीं गाता, मैं तो ऐसे राग गाता हूँ जिनकी बड़े-बड़ों को हवा भी नहीं लगी।" फिर जो गाने बैठे तो समां बाँध दिया और सारी सभा लोट-पोट हो गई और गोपाल की आँखें खुल गईं।

--मक्तबा जामिया (दिल्ली) की पुस्तक (अमीर खुसरो) से।

काव्यानुशासन

श्रीनरेश

अतीतवाद वर्त्तमान के परिबन्ध और पृष्ठभूमि की अनदेखी कर, मृत को, उसके प्रति अपने मोह के कारण, हमारे कन्धों पर लादना चाहता है। मोह आँखों को देखने से रोकता ही है। मोह में रूमानी उत्साह (Romantic fervour) होता है। और इस हद तक मोह कुछ आगे करने के लिए संभावना (Promise) दिखाता भी है। लेकिन मोह से आगे जब हुए तो मोह रहा कहाँ! अतीत के लिए मोह से आगे बढ़ा जा सके तो कुछ किया जा सकता है, लेकिन अतीतवाद को मोह उतना ही प्यार हो जाता है जितना कृपण को धन। धन हेतु है, लक्ष्य नहीं। मोह प्रेरणा है, सिद्धि नहीं। मोह से आगे बढ़ने की अवस्था रिनासाँ (Renaissance) है।

प्रयोगवाद आर्थिक संकल्पवाद के अर्ध सत्य को, और भावनावश जीवन में महान परिवर्तनों को भी, समझता है। वह गाँधी को उतना ही सच्चा मानता है जितना हेगेल और मार्क्स को। वह "हुआ सबेरा जागो भैया" के स्वल्प काव्य-तत्त्व को गौण महत्त्व का नहीं मानता। साथ ही तुलसी के प्रति अन्ध मोह भी नहीं रखता। बच्चों की इस कविता में कहीं बचपना नहीं, फिर भी यह बच्चों के लिये है, इस द्वन्द्व को मान कर वह चलता है। इसीलिय भाव-विशेष या विषय-वस्तु-विशेष का इसे कोई बन्धन नहीं। काव्य का एक ही तत्त्व, स्वर्ण-स्पर्श (Golden touch)––वह मिट्टी में हो या आकाश में––उसे ग्राह्य है।

भाव के गांभीर्य की कमी या अधिकता काव्य नहीं। अगर उसे ही काव्य होना होता तो छोटे-बड़े दर्जनों दार्शनिक ग्रन्थ, शुष्क दार्शनिक ग्रन्थ न होकर, उच्च कोटि के काव्य होते। भाव के साथ एक कठिनता है। भाव तो कुछ हुआ, लेकिन ऊँचा और नीचा, गंभीर या छिछला, अधिक या अल्प, वह अपने आप में नहीं होता। ये इसके सापेक्ष गुण हैं। यही हाल आवेशों का भी है, वल्कि इससे भी अधिक संकुचित। वह ऊँचा या नीचा तो होता ही नहीं, गहरा या छिछला और ज्यादा या कम हो तक सीमित रहता है। चूँकि अपने आपमें वह है और उसका एक चरित्र है, इतने में ही उसकी सार्थकता नहीं। उसका होना, न होना, महत्त्व-पूर्ण तब होता है जब वह भीतर से निकल कर बाहर से सापेक्ष होता है। भाव या आवेश, व्यक्ति विशेष का, कहिए किसी कवि का, कम है या ज्यादा, इसके लियं हमारे पास एक ही जाँच है। भावाधिक्य में शरीर सम तथा साधारण अवस्था से परे विषम तथा असाधारण अवस्था को प्राप्त होता है। पहले जी का भरना, फिर आँखों का भरना, और फिर आँख–नाक से तेज जुकाम का गिरना! जुकाम को भावाधिक्य कह कर, और इसीलिए महत्त्वपूर्ण

मान कर, ग्रहण नहीं किया जा सकता। क्रोध के आवेश के आधिक्य में हम पैंतरे बाँधने लगते हैं और उसकी पराकाष्ठा होती है–किसी दूसरे प्राणी की मृत्यु में। कोई उद्वेगजनक घटना घटती है। जिनने नहीं देखा और जिनने देखा, उन दोनों के इस घटना के जानने में अन्तर है। उसमें हो कर देखना और देख कर जानना, अखबारों के जरिये जानने से भिन्न हैं। पर्दे पर वाटरलू की लड़ाई और विश्व-युद्ध की बमबाजी के दृश्य देखने के लिये हम पैसे खर्च करते हैं। अखबारों के जरिए देखना और जानना ऐसा ही होता है। वह 'मिथ' के द्वारा जानना है। इसलिये वहाँ घृणित और बीभत्स दृश्य भी द्वंद्व के माध्यम से हमें संतुष्ट करता है। राह चलते अगर एक पागल हाथी हमारी ओर दौड़ता चला आये तो उसके मस्तानापन की प्रशंसा करने के लिये हम खड़े नहीं रह जाते, बचने के लिये बेतहाशा भाग खड़े होते हैं। लेकिन 'तानसेन' में गीत पर उसका नाचना, या हथसार से मदोन्मत्त होकर भागना, हमें अपनी कुर्सियों से उठाता नहीं। सर्कस भी इसका एक अच्छा उदाहरण है।

वर्डस्वर्थ का सिद्धांत — Poetry is emotion recollected in tranquillity—इसमें से निकलता है। कहने का अर्थ यह नहीं कि यही सिद्धांत सही है। लेकिन यह पूरा-का-पूरा गलत ही है, ऐसा भी नहीं। भावावेश अपनी सारी पृष्ठभूमि के साथ अभिव्यक्ति के सम्यक् विधान के सहारे जब रूपायित होता है तो वह काव्य कहे जाने का हकदार होगा। आदमी केवल विभिन्न अवयव नहीं। अवयव भी उतने ही आवश्यक हैं जितना उनका एक संश्लिष्ट रूप। संश्लिष्ट रूप की सम्पूर्णता की संज्ञा आदमी है। संश्लेष इसीलिये सबसे जरूरी है। संश्लेष के लिये, रसायन-शास्त्र से उपमा लेकर, एलियट की तरह, कहा जा सकता है, आवेजक (Catalyst) की आवश्यकता होती है। शरीर से निकली अरूप बुद्धि और भावना फिर शरीर से ही अपने व्यक्तित्व को बनाये रख कर संश्लिष्ट नहीं हो पातीं। विभिन्न असंश्लेषात्मक तत्त्वों का भी संश्लेष जिस प्रकार Catalyst के द्वारा होता रहता है उसी प्रकार जीवन के सम-विषम तत्त्वों का संश्लेष कवि की, Catalyst के अनुरूप, संवेदनशीलता के द्वारा होता है। संवेदनशीलता तो मन की उस अवस्था को कहिये जो दो कारणों—Heredity और Endochrine Pattern—में से बनती है। इसका साहित्यिक रूप एक दृष्टिकोण विशेष से वस्तु को देखने में मिलता है। समस्त जीवन-जगत् के प्रति heredity तथा अपनी शिक्षा-दीक्षा के कारण प्राप्त एक सजग दृष्टिकोण ही मन की वह अवस्था है जो संवेदनशील है। लेकिन वही Catalyst है ऐसा नहीं। Catalyst कवि के अन्दर है जो व्यक्ति से अलग है। Catalyst और व्यक्ति जितना एक दूसरे से पृथक् होंगे, काव्य में Catalyst की संश्लेषात्मक क्रिया उतनी ही स्पष्ट और उत्तम होगी। तटस्थता की इसीलिये माँग है। व्यक्ति का एक अंश कवि है और दूसरा व्यक्ति। व्यक्ति होकर वह समूह के साथ जीवन-जगत् के सुख-दुःख की अनुभूति अहंता के साथ, अस्मिता के प्रति सजग रहकर, करता है। लेकिन उसका Catalyst उससे बिल्कुल अलग, अनुभूतियों तथा वास्तविकताओं को दृष्टिकोण की संवेदनशीलता के सहारे ग्रहण कर, अपने को बीच में डालकर, एक संश्लेष तैयार कर देता है जो काव्य की संज्ञा प्राप्त

र लेता है। इस तरह देखने पर कविता की परिभाषा तो असंभव हो जाती ही है, अनर्गल भी हो जाती है। और इस प्रकार देखने पर काव्य-शास्त्र विज्ञान की तरह निश्चित (Precise) होने की भी क्षमता रख सकता है। तब रहस्य और उसके 'वाद' का भार-वाहक बनते हुए भी उसका गठन बड़ा साफ और अरहस्यात्मक होगा। इसी द्वंद्व से साहित्य का सत्य निकलता भी है, फैलता भी। 'मिथ' का सत्य से अधिक सत्य होना साहित्य है। इसीलिये इसमें अतिरंजन की भी गुंजाइश है। लेकिन जैसा पहले ही ऊपर कह आया हूँ, अंग-अंग मिलाकर ही आप आदमी हैं, उसी प्रकार अतिरंजन भी एक अंग है; और प्रत्येक अंग की, अवस्था विशेष में, अपनी क्रिया आवश्यक और महत्त्वपूर्ण है; इसीलिए आप आदमी हैं; उसी प्रकार एक अंग का दूसरे से लयात्मक (rhythmic) और वैषम्यहीन सम्बन्ध (harmonious relationship) होने से ही काव्य है।

असली कविता का कवि भावों की रिपोर्टिंग नहीं करता, वह अपनी निजी भावनाओं और आवेशों की विक्षिप्तता को इतना महत्वपूर्ण नहीं मानता कि वह उन्हें दूसरों पर लादे। उसकी पीर कभी उसे निराली नहीं लगती। मुहब्बत में हारने पर वह समस्त समाज में आग लगा देना नहीं चाहता। वह रोना-बिलखना नहीं जानता, न-ही लतखोरों की तरह ताल ठोंक-ठोंककर हुँकरना जानता है। सच्ची बात तो यह है कि असली कविता, असली आलोचना की भाँति, उसी व्यक्ति द्वारा संभव है जिसकी बुद्धि नितांत स्वतंत्र हो—स्वतंत्र-प्रतिभा (Free intelligence) वाले व्यक्ति से संभव है वह।

काव्य का आनन्द लेना एक ऐसी बात है जिससे किसी को कोई बहस नहीं—जहाँ तक व्यक्तिगत आनन्द का प्रश्न है। आप अत्यधिक सस्ती भावुकतापूर्ण कविता की रसोपलब्धि कर सकते हैं; उसकी आलोचना नहीं हो सकती; न मैं अभी उसकी बात ही कर रहा हूँ। यह सारा सवाल तो तब उठ खड़ा होता है जब आप अपनी व्यक्तिगत रसोपलब्धि को मूल्य बना कर काव्य को ही आँकना शुरू करते हैं। वैसी हालत में जो दिक्कत सामने आती है वह यह कि आप तब काव्य को मात्र काव्य की तरह नहीं देखते; आप उसे अपनी तरह देखना चाहते हैं। ऐसा करने में आप काव्य के पठन (Reading) में अपनी पसन्द-नापसन्द का प्रक्षेपण करते हैं, यानी तब आप काव्य में अपने को देखते होते हैं—जिस तरह आईने में। लेकिन काव्य आईना नहीं है। इसलिए जब कभी आप उसमें अपने को विकलांग पाते हैं तो आप को उससे एतराज होता है। काव्य को मात्र काव्य की तरह देखिए और इसे इसकी पूर्णता में देखिए। इसके लिए भी स्वतंत्र-प्रतिभा की उतनी ही आवश्यकता है जितनी काव्य-रचना में।

आम तौर पर कोशिश यह होती है कि काव्य में काव्य तत्त्व को न ढूँढ़ कर काव्य-विषयक पूर्व-निर्धारित कुछ नियम ढूँढ़े जाएँ। यह पड़ताल (Inquiry) की कोशिश न हो कर नियमन (Legislate) करने की कोशिश है। और स्वतंत्र-प्रतिभा वह है, जो मात्र पड़ताल में संलग्न हो। इस प्रकार काव्य स्वयं अपनी आलोचना है। आलोचना जितना देखना है, काव्य भी उतना ही देखना है। न केवल समस्त ज्ञान, बल्कि समस्त भावना

(Feeling), देखने में से निकलती है—देखना उस तरह जिस तरह स्वतंत्र-प्रतिभा देखती है। सचमुच संवेदनशील मस्तिष्क में दिखे हुए पदार्थ एक गठरी की तरह इकट्ठा नहीं होते बल्कि एक रूप में बन-सँवर जाते हैं, और आलोचना भाषा में इसी रूप-विधान की अभिव्यक्ति है। वह संवेदनशीलता का विस्तार है। परिभाषाओं में कविता को बाँधने से वह आपकी होगी, कविता की नहीं। आपके लिए–रसात्मकं वाक्यं काव्यम्–सही है; दूसरे के लिए काव्य जीवन की आलोचना है; तीसरे के लिए काव्य जीवन का दर्पण है, इत्यादि। विशुद्ध आलोचना दृष्टि-कोण से नहीं झगड़ती; स्थापत्य (Structure) से झगड़ती है, क्योंकि काव्य देखे हुए का स्थापत्य है। यह स्थापत्य चूँकि भाषा में होता है इसलिये काव्य भाषा की संभावनाओं का अनुसंधान है। और अनुसंधान करते रहने का अर्थ ही है प्रयोग करते रहना, क्योंकि काव्य-जीवन सतत गति (Constant flux) का जीवन है। इसीलिये सतत प्रयोग की आवश्यकता प्रयोगवाद की अवस्था होगी। इस रूप में काव्य किसी के लिये चाहे जो कुछ हो, हमारे लिये सब कुछ है वह; जीवन का दर्पण भी, रसात्मकं वाक्यं भी, जीवन की आलोचना भी, शान्ति की अवस्था में स्मृत (recollected) आवेश भी।

एक बड़ा अंतर असली और नकली काव्य में होता है। नकली में जब कि अपनी व्यक्तिगत भावना को ही महत्त्वपूर्ण और अलम् मानकर कवि उसकी रिपोर्टिंग करता है, असली में कवि सारे स्थापत्य को इस प्रकार निर्मित करता है कि वह ऐतिहासिक परिदृश्य (perspective) में रखा जा सके। या यों कहिये कि असली वह तब होता है जब कि वह ऐतिहासिक परिदृश्य में होता है। ऐतिहासिक परिदृश्य के लिये इतिहास का पंडित होना आवश्यक नहीं। कवि इतिहासज्ञ अथवा दार्शनिक से यहीं भिन्न होता है। उसकी तीव्र संवेदनशीलता (जिसे सही और परिपक्व होना आवश्यक है) ऐतिहासिकता का परिदृश्य, बिना इतिहास के प्रचुर ज्ञान के भी, पा लेती है। शेक्सपियर ने सारा इतिहास प्लुटार्क की कथाओं से ही सीख लिया था। इसे इस प्रकार भी कहूँ कि उसकी संवेदनशीलता काव्य-स्थापत्य के निर्माण की क्रिया में ऐतिहासिक सातत्य (continuity) का पुनर्निर्माण करती है, और जब ऐसा होता है तभी काव्य महत्त्वपूर्ण हो उठता है, और असली भी।

ऐतिहासिकता और ऐतिहासिक परिदृश्य की पकड़, किसी भी ज्ञान विशेष में, चाहे वह काव्य-ज्ञान हो अथवा इतिहास ज्ञान, या और कुछ, शब्दों द्वारा ही संभव है, ऐसा कहना तथ्य-कथन (truism) मात्र होगा। लेकिन इसके साथ एक महत्त्वपूर्ण सम्बन्ध काव्य का है। शब्द ही चूँकि सारा खेल करते हैं, इसलिये, ऐतिहासिकता के लिये शब्दों की ऐतिहासिकता ही सहायक होगी। शब्दों को जड़, अडिग और अचल देखना इतिहास की अनदेखी करना होगा। शब्द उतने ही प्राणवान् हैं जितना कवि! वे भी जन्म लेते हैं, अवस्था प्राप्त करते हैं और मृत होते हैं। उनकी यह सारी क्रिया बुद्धि के प्रसार और विकास के इतिहास-क्रम के साथ सम्बद्ध होती है। चूँकि बुद्धि तथा भावनाओं का इतिहास समाज और जीवन का इतिहास होता है, क्योंकि पृष्ठ-भूमि वस्तु-जगत् का इतिहास बनती है, इसलिए शब्दों का इतिहास हमारे जीवन का इतिहास बतलाता है।

शब्दों की शक्ति और उसका ऐतिहासिक महत्त्व एक दूसरे निबंध का विषय होगा। रह गई प्रयोगवादी कविता को, यानी असली कविता को, अर्थ के द्वारा समझने की माँग की बात। तो इस विषय में एक बात ध्यान देने योग्य होगी, जबकि कविता स्थापत्य है तो शब्दों के अर्थ से उसे समझना वैसा ही होगा जैसे ताज को तोड़कर यह पता लगाना कि उसके संगमरमर और संगमूसे किस वजन के हैं, कहाँ के हैं, कितने पुराने अथवा कितने नये हैं, आदि-आदि। उससे ताज का सौंदर्य अथवा उसका काव्य नहीं जाना जा सकता, न—ही उसका रस लिया जा सकता है। ऐसा करने के लिये सारे स्थापत्य को ही तोड़ना पड़ेगा। ऐसा एक प्रयोग आसानी से किया जा सकता है। आप परंपरा के द्वारा मान्य किसी कविता को लीजिये और उसके प्रत्येक शब्द के अर्थवाची शब्द को कविता में के शब्दों की जगह बैठाते जाइये, और देखिये। इस नयी रचना से आपको वही रस, वही सौंदर्य, वही आनन्द नहीं मिलेगा जो पहली से मिलता है। इसी तरह किसी अन्य भाषा की कविता के शब्दों के अर्थवाची अपनी भाषा के शब्दों को रखकर देख लीजिये। आप इसीलिये यह भी कहते हैं कि अनुवाद में मूल का आनन्द नहीं आता। अर्थ के द्वारा काव्य का रस लेना एक ही भाषा में काव्य का अनुवाद करना है। बहस के लिये आप कह सकते हैं कि इस प्रकार के अनुवाद में भी आपको मूल-सा ही रस मिला। लेकिन वैसा कहने पर मैं आपको अपरिपक्व रुचि का मानूँगा; और यह पूछे जाने पर कि परिपक्वता क्या है, इतना ही कह सकूँगा कि वह ऐसा गुण है जिसकी व्याख्या नहीं हो सकती। यदि आप परिपक्व होंगे तो दूसरी जगह परिपक्वता पकड़ सकेंगे। कालिदास अथवा शेक्सपियर के काव्य का आनंद परिपक्व होने पर ही लिया जा सकता है, और उत्तरोत्तर परिपक्वता उनमें उत्तरोत्तर रस-वृद्धि पाती है। सच तो यह है कि आलोचक तथा कवि एक ही व्यक्ति हो सकता है, क्योंकि ये दोनों संवेदनशीलता के ही दो छोर हैं। औसत पाठक औसत चीजों का ही औसत मजा ले सकता है, काव्यानंद जनसाधारण की चीज हो नहीं सकती।

सिनेमा आदि की तरह ही काव्य का आनन्द लेनेवाला औसत पाठक कवि की मनोगत संवेदनशीलता का आनन्द नहीं लेता, वह अपनी कम-बेश स्वपीड़नसुखात्मक (Masochist) अथवा परपीड़नसुखात्मक (Sadist) मनोवृत्ति के सहारे Tumescence (भरने) और detumescence (झरने) का आनन्द लेता है। भूषण का वीर-काव्य वीर-रस प्रधान नहीं है; वह नकली है क्योंकि भूषण के काव्य में सामन्तवादी युग की वीरता और बहादुरी (chivalry) नहीं, परपीड़नसुख का प्रतिबिंब (reflection) है, जिसका आनन्द पाठक को भी अप्रत्यक्ष रूप से (by proxy) मिलता है। सच तो यह है कि भूषण का सारा काव्य शब्दों की बर्बादी है। वह स्थिति में आनन्द नहीं देता, वह तो गति का चित्र और गति दोनों देने का प्रयत्न करता है। भूषण के काव्य के श्रवण से औरंगजेब का हाथ मूछों पर चला गया होगा। इस घटना में भूषण की विजय भले निहित हो लेकिन भूषण के काव्य की तो सरासर और स्पष्ट रूप से हार ही है।

रूप बन्धन है। शून्य को बाँध कर रूप देते हैं और रूप देते ही जिस ध्येय से शून्य को बाँधा, उसे हम रूप द्वारा सीमाओं (limitations) में भी बाँध देते हैं। शब्दों की अपनी

सीमाएँ हैं, छंदों की भी। तात्पर्य यह कि काव्य के विभिन्न अवयव एक जगह जितना इकट्ठा होते जायँगे, बंधन और सीमाएँ बढ़ती जायँगी। यह अनिवार्य है। कवि को इस कठिन अनिवार्यता के सहारे ही रचना करनी पड़ती है। इसीलिये वह भाषा के बंधन से घिर कर, छंद, अलंकार आदि के बंधन में बँधकर भी, भाषा की संभावनाएँ ढूँढ़ता है—वैसी संभावनाएँ जो बंधनों के होते हुए भी उसे निर्बंध कर सकें। असली कवि इसीलिये अनिवार्यतः प्रतीक-विध्वंसक (iconoclast—इसके संपूर्ण अर्थ में) होता है। वैसे कवि जो वर्णनों की नकल में वर्णन करेंगे, नकली की नकल करेंगे, परंपरागत रूपक तथा पुश्तैनी उपमाओं का सहारा लेंगे, वैसे छंद बाँधेंगे जो उनके हाथों में मुलायम और मनचाहे ढंग से मुड़ने को तैयार हों, और यदि शब्दों का उच्चारण-संगीत अत्यधिक तीव्र हो, तो वे नकली ही हो सकते हैं। और हिन्दी, या, बारीकी के साथ कहा जाय तो, खड़ी बोली का आज तक का काव्य संस्कृत के नियमों की नकल भर ही रहा है। यही एक प्रधान कारण है कि हिंदी की अब तक की आलोचना नकली आलोचना रही है। उदाहरण देकर कलेवर को पीन बनाने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि इसके विपरीत एक भी उदाहरण आप को नहीं मिलेगा, सिवा अत्याधुनिक, कह लीजिए, आज की प्रयोगवादी, कविताओं को छोड़कर।

असली और नकली काव्य को लेकर जो कुछ अब तक यहाँ पर कहा गया है उसका यह अर्थ कदापि नहीं कि असली क्या है उसकी पूर्ण व्याख्या कर दी गई। सच तो यह है कि हम केवल इतना ही कर सके हैं कि कह पाये कि जो है वह नकली है, और इसलिए जो इससे, इन सबसे, भिन्न और परे होते हुए कुछ वैसे गुण, जिनकी ऊपर चर्चा हो चुकी है, अपने में दिखलाये वह असली होगा। साथ ही यह भी कह देना आवश्यक है कि वह नकली के विपरीत इसलिए असली होगा कि उसके अतिरिक्त दूसरा जो कुछ भी होगा वह झूठा, और अधिक झूठा, और नकली होगा।

छायावाद का यह समाधान (defence) कि वह परोक्ष की सत्ता के लिये विरहाकुल आत्मा की अनुभूति से उत्प्रेरित है, अतः उस 'वाद' के काव्यानंद के हेतु 'वाद' विशेष और उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि की अच्छी जानकारी अपेक्षित है, बड़ा भोंड़ा, शिथिल और कमजोर है। यदि इस समाधान को मान लिया जाय तो छायावाद का काव्य, जो गहराई में परोक्ष सत्ता और आत्मा के सम्बन्ध से आवेष्टित अपने को मानता है, इतने बड़े कैनवस का सहारा लेते हुए भी, ऊपरी सतह का काव्य दीखेगा। वस्तुतः, छायावाद में दर्शन (काव्य में जो दर्शन का स्थान है, उस दृष्टि से) का अभाव है और उसमें काव्य के स्थान पर नकल या वाह्य उपकरण (formal elements) ही भर हैं। यही कारण है कि वह ऊपरी सतह का है, और चूँकि वह ऊपरी सतह का है, इसलिये वह आनन्द न देकर हमसे यश ही लेता रहा है, हमारी मूक कृतज्ञता नहीं। ऊपरी सतह का काव्य बिना अध्ययन के समझा नहीं जा सकता; अतः छायावाद को छद्म (pseudo) आलोचकों की अपेक्षा रही है। यही कारण है कि सतह के काव्य के पारखियों (रामचन्द्र शुक्ल आदि) ने प्रारम्भ में इसे समझने की कोशिश की और पाया कि इसमें समझा कुछ नहीं जा सकता। यहाँ पर एक और महत्त्वपूर्ण बात कह दूँ। छायावाद का व्यक्तित्व हिन्दी की काव्य-परम्परा से इसी प्रकार संबद्ध

रहा। छायावाद-पूर्व काव्य ऊपरी सतह का रहा। वहाँ अलंकारों और छंदों, उक्ति-वैचित्र्य तथा अर्थ-चमत्कार, के बल पर काव्य बनता था। यही कारण था कि देव, बिहारी, भूषण तथा केशव आदि कवि थे जिनके काव्य को समझने के लिए अलंकारों का सूक्ष्म भेद, पिंगल का ज्ञान, भाषा का चमत्कार, आदि, जानना आवश्यक हो उठता था, और हो उठता है। अतः हमें छायावाद को भी अध्ययन द्वारा समझने की आवश्यकता पड़ी। और अध्ययन द्वारा समझी गई बातों के कहनेवाले के प्रति हम आदर (reverence) और आतंक (awe) की भावना भले ही रखें, हम उनकी प्रशंसा भले ही करें, हम उन्हें यश भले ही दें, अपनी विनम्र, अयाचित, कृतज्ञता नहीं दे पाते। पन्त, महादेवी और प्रसाद इसी कोटि में आते हैं। ऊपरी सतह का काव्य बड़ा निश्चित (deliberate) होता है, फलतः उस तक पहुँचने के लिये, समझने के लिये, हमें भी निश्चित प्रयत्न करना पड़ता है। यही कारण है कि छायावाद की अकाल मृत्यु हुई। सन् १९२२ से प्रारम्भ हुआ काव्य १९३५ तक में ही मर जाय, और वैसी हालत में जब कि उसके समझने वाले, उस भाव-धारा से अभ्यस्त (conditioned) हो चुके हुए, पाठकों की संख्या में यथेष्ट वृद्धि हो चुकी हो, अपनी आंतरिक कमजोरियों और ऊपरी सतहपन का स्वयं उदाहरण है। वस्तुतः, छायावाद का व्यक्तित्त्व एक आतंकवादी (bully) का व्यक्तित्त्व रहा था।

और चूँकि हिन्दी का पाठक ऐसे सतहपन में अभ्यस्त हो रहा था (विकृत और गलत मूल्यों को ही काव्य के मूल्य मान लेने के कारण) इसलिए इस सतहपन से अलग गहराई के वास्तविक काव्य का सर्जक 'निराला' अबूझ समझा जा रहा था; यद्यपि यह निस्सन्देह और निस्संकोच कहा जा सकता है कि हिन्दी साहित्य का वह एक कवि है जिसे पचाने में हिन्दी साहित्य के पाठकों को कम-से-कम एक शताब्दी और चाहिये, क्योंकि हिन्दी का अधिकांश पाठक स्वयं पाठक नहीं, वह सदा-सर्वदा दूसरों के द्वारा, दूसरे से होकर पढ़ता है। ऐसी मनोवृत्ति का ही फल है कि हिन्दी के साहित्य में भी नेतागिरी चलती है, चल सकती है; नेतागिरी यानी दूसरों को कठपुतली बनाना!

छायावाद के अन्य धुरंधर कवियों, जैसे महादेवी, प्रसाद, पंत और इनके कुछ अनुगामी और अन्य समवर्ती कवियों के काव्य नकली हैं। हाँ, अगर अनुपात की बात कही जाय कि इनमें कौन कितना असली काव्य की ओर बढ़ा हुआ है (और पहुँचा हुआ नहीं) तो बाध्य होकर कहना पड़ता है कि महादेवी इनमें सब से आगे निकली हुई हैं, और पंत अपने काव्य में जहाँ इसके लक्षण दिखलाते हैं कि उनमें असली की ओर पहुँचने की संभावनाएँ हो सकती थीं, वहाँ यह भी दिखलाते हैं कि उसके लिये अपेक्षित निर्वैयक्तीकरण (depersonalization), निःसंगता, उनमें नहीं आ पाती रही है। उनका काव्य इसीलिये उनके व्यक्तित्व का आरोपण (imposition) हो जाता है, या उलट कर रखिये कि काव्य के 'मिथ' को वे जीवन का 'मिथ' बनाना चाहते रहे हैं। बात जो भी हो, तथ्य इतना है कि किसी विन्दु पर काव्य और उसके पंत एक (identified) हैं। महादेवी भी अपने काव्य में निर्वैयक्तिक (depersonalized) नहीं होतीं, हाँ, वे अन्य-भाव (otherness) के 'मिथ' का निर्माण कर पाती हैं। साफ

करने को कहूँ कि वह व्यक्तित्त्व जिसकी सांसारिक संज्ञा महादेवी है, छायावाद की कवयित्री महादेवी से एकदम अलग, निःसंग, तटस्थ नहीं है। लेकिन वह व्यक्तित्व जो महादेवी है अपने सारे व्यक्तित्व की भावुकता तथा मनोवेग के आघात तब अनुभव करता है जब वह अपने को 'स्वयं' न समझ कर कोई और समझने लगता है। यहाँ सारे व्यक्तित्व के अंतरण (transference) की बात मैं कह रहा हूँ। और, महादेवी नामक व्यक्तित्व चूँकि विनयशील है इसलिये काव्यगत मनोवेगों को यथेष्ट प्रकाश तथा छाया देने में अपनी विनयशीलता से बाहर नहीं जा सकता। व्यक्तित्व के जो स्वाभाविक तथा प्राकृतिक बंधन हैं वे काव्य को घेर-घेर लेते हैं। लेकिन अन्य-भाव और व्यक्तित्व के अंतरण के कारण उनके काव्य के तत्त्व कभी-कभी आवेश और मनोवेग के स्तर पर संघटित (organized) या एकतान (fused) भी हो जाते हैं, यद्यपि वह एकतानता (fusion) 'रफू' की तरह हो जाता है, नया परिधान (texture) नहीं बन पाता।

अब कुछ उदाहरण ले लूँ तो बात साफ-साफ कह सकूँगा। लिजिये—

पंत— गूढ़ कल्पना-सी कवियों की, अज्ञाता के विस्मय-सी
ऋषियों के गंभीर हृदय-सी, बच्चों के तुतले भय-सी।—'छाया'

इसी के साथ Campion, की भी दो पंक्तियाँ लेता चलूँ—

Shall I come, if I swim? wide are the waves, you see
Shall I come, if I fly, my dear Love to thee?

इन दोनों उद्धरणों में एक बात स्पष्ट है—शब्दों की योजना (arrangement) और चुनाव, कहिये पसंद, ऐसी है कि उनका कुछ ध्वनि-मूल्य है, और शब्दों के द्वारा समझ में आने के लायक एक अर्थ भी है। लेकिन दोनों एक नहीं हैं, दो हैं। इसके अतिरिक्त 'सी' लगाकर दो-दो चित्रों को बाँधने का प्रयत्न है, जो आपस में 'सी' के द्वारा बँधे हुए तो हैं, लेकिन वैसे ही, जैसे तीन टाँगों वाली दौड़ में बँधे दो आदमी एक नहीं हो जाते, गल, घुल-मिलकर एक नहीं हो पाते। Campion का दोष यह है कि वहाँ ध्वनि-मूल्य और अर्थ, दोनों-दो हैं, एक नहीं। उपमाओं के आधार पर, और सामान्य रूप से कहा जाय तो अलंकार के आधार पर, सर्जित समस्त काव्य इसीलिये नकली होता है। वह श्रोता या पाठक के व्यक्तित्व में कुछ अंशों को प्रभावित तो करता है, सारे व्यक्तित्व को उसकी समस्तता में प्रभावित नहीं करता; पाठक के व्यक्तित्व को इस प्रकार उद्वेलित नहीं करता कि वह स्रोतस्वरूप मानव जीवन के संश्लेष में फिर से अपने को ठीक (adjust) करने की आवश्यकता अनुभव करे। उनके साथ काव्य का वह स्तर नहीं तैयार होता जहाँ काव्य, कवि, श्रोता और समस्त संसार एक साथ, एक संश्लेष में, दीखें, और श्रोता सारे संश्लेष को, विगत वर्तमान और भविष्य के जीवन के संश्लेष को, फिर से ठीक (readjust) करने की आवश्यकता अनुभव करे। आप कह सकते हैं गीति में इतनी बड़ी पीठिका नहीं तैयार की जा सकती। महाकाव्य में, नाटक अथवा उपन्यास में की जा सकती है। वस्तुतः इन काव्य-स्वरूपों की आवश्यकता भी इसीलिये हुई; यह ठीक है। लेकिन गीति श्रोता को उसके तीन

आयामों (dimensions) में फैले आंतरिक जीवन के संश्लेष में अपने को फिर से ठीक करने (readjustment) की प्रेरणा देता है। जो नहीं देता वही काव्य-तत्त्व से हीन और काव्य-लोक से च्युत है। यह 'प्रसाद' जी के संबंध में तो सबसे अधिक सत्य है।

महादेवी के गीतों में कुछ गीत तो मात्र पद्य-रचनाएँ हैं, काव्य नहीं; कुछ में वे असली काव्य तक पहुँचते-पहुँचते रह गई हैं। इसके लिये दो उदाहरण पर्याप्त होंगे। देखिये, महादेवी—

निशा की धो देता राकेश
चाँदनी में जब अलकें खोल
कली से कहता था मधुमास
बता दो मधु-मदिरा का मोल
झटक जाता था पागल वात
धूल में तुहिन कणों का हार
सिखाने जीवन का संगीत
तभी तुम आये थे इस पार

उनकी पहली कविता-पुस्तक 'नीहार' की पहली कविता के ये दो छंद हैं। यहाँ मनोदशा (mood) के लिये [क्योंकि छायावाद भावना (emotion) प्रधान नहीं, मनोदशा (mood) प्रधान रहा है] पृष्ठभूमि (background), जो कवि की आँखों में मनोदशा के अनुरूप हो, तैयार की गयी है। फिर जब वह तैयार हो लेती है तो एक आध्यात्मिक तत्त्व लाने की कोशिश की गई है। यहाँ पर कुछ और कहने के पहले जरा आचार्य रामचंद्र शुक्ल को भी उद्धृत करता चलूँ—"....काव्य में जगत् या जीवन की किसी वस्तु या तथ्य का होना, प्रस्तुत पक्ष का होना अनिवार्य है। आध्यात्मिक कविता भी वही सच्ची होगी जो अव्यक्त की ओर संकेत करनेवाले किसी तथ्य के आधार पर होगी।"

इन दो छंदों में भी वही कठिनाई है जो पहले कह आया हूँ। पृष्ठभूमि अलग है। उसका एक स्वतंत्र रूप और अस्तित्व है, सौंदर्य है। दूसरे छंद की पहली दो पंक्तियों का भी वही हाल ह, और अंतिम दो पंक्तियाँ तो अपनी सारी आध्यात्मिकता के बावजद भी बालकोचित और अकाल-परिणत लगती हैं। महादेवी के व्यक्तित्व का 'प्रहरी' (censor) उनके काव्य में भी अवरोध और कुंठा उपस्थित कर देता है। दोनों छंद ऊर्मिल सागर के वक्ष पर फेन के बुलबुलों से लगते हैं, अलग-अलग। और तब लीजिये दूसरी कविता—

राग भीनी तू सजनि निःश्वास भी तेरे रँगीले
लोचनों में क्या मदिर नव, देख जिसको नीड़ की सुधि
फूट निकली बन मधुर रव
झूलते चितवन गुलाबी में चले घर खग हठीले।

पहले से यह अधिक सुसंघटित है, इसमें अधिक चीजें, ठीक-ठीक न भी सही, लेकिन संश्लिष्ट हुई हैं। रफू पता चल जाता है, लेकिन कम-से-कम रफू है तो, जब कि पहली

कविता में वह भी नहीं था। कठिनाई यह है कि गीति की पंक्तियों को एक केन्द्र भावना (central emotion) की न्यष्टि (nucleus) के चारों ओर संघटित (organized) होना चाहिए। वही स्थापत्य की बात फिर आ जाती है; वही नहीं हो पाता इनमें। Lake Isle of Innisfree या Westminster Bridge नामक प्रसिद्ध कविताओं का विश्लेषण कर देखिये। आप पाएँगे कि वहाँ प्रथम पंक्ति ही अन्य पंक्तियों को अनिवार्य (necessitate) करती है, गति (impulsion) देती है। 'निशा को धो देता' बेल-बूटा (tapestry) है, कहीं टाँग दीजिये। 'राग भीनी' में पहले से अधिक संघटन के कारण गति है, काव्य का मर्मस्थल नहीं।

छायावाद के साथ तो एक विशेष कठिनाई रही है। दर्शन बड़ी कविताओं की चीज है, यानी बड़ी कविताओं में अधिक तत्त्व संघटित हो सकते हैं—उसके स्थापत्य के कारण (या यों कहिये कि अधिक तत्त्वों का संश्लेष तैयार करने के लिये बड़े स्थापत्य की आवश्यकता होगी)। छायावाद में गीति पर, जो व्यक्तिगत या वैयक्तिक (personal or individual) माध्यम है, यह दर्शन लाद दिया गया है:—

शाश्वत है जग का बन्धन (पंत)
या सिखाने जीवन का संगीत
तभी तुम आये थे इस पार (महा०)
या जग कातर रे अति दुख से
जग कातर रे अति सुख से
सुख-दुख की आँखमिचौनी
जीवन खोले अपना मुख (पंत)

उदाहरणों की कमी नहीं। इनका 'दर्शन' स्थापत्य के लिये अनिवार्य नहीं है। बिना दर्शन के बोझ के भी कविताएँ उतनी ही महत्त्वपूर्ण होतीं जितनी अभी हैं। मूलतः, छायावाद की 'दार्शनिक वेदना' वेदना नहीं, शोक का स्वर (elegiac note) है। शोक-गीति (elegy) का एक बड़ा गुण (quality) जो 'ग्रे' की प्रसिद्ध शोक-गीति में है, प्रचलित तथ्यों (platitudes) को सामान्य बना (generalize) कर विशेष-मनोदशा (mood) का निर्माण करना है (और वह भी एक ही बार सम्भव हो सका, ग्रे की शोक-गीति में)। इनमें वह भी नहीं। कारण स्पष्ट है। मनोदशा सारे तत्त्वों के समुचित संघटन पर निर्भर करेगी। यहाँ प्रचलित तथ्य अलग हैं, प्रतीक अलग हैं, शब्द अपने व्यक्तित्व रखते हैं, छंद स्वतन्त्र रूप से अपने में पूर्ण हैं। पूर्णता में, स्थापत्य के अभाव के कारण, सारे तत्त्व उलझे, बिखरे-से रह जाते हैं।

निराला की कविताएँ (प्रसाद का हाल वही है जो इन कवियों का है, बल्कि इससे भी बुरा। रीतिकालीन काव्य में सिक्त होने के कारण इन्होंने अर्थ-चमत्कार, शब्द-सौंदर्य और रूपक आदि काव्यांगों को ही काव्य मान लिया था) काव्य की संज्ञा की अधिकारिणी हैं। हिन्दी में अब तक कवि कहा जाने का हकदार, (शरीर के कारण नहीं, काव्य के कारण)

वहाँ एक व्यक्ति है। उनका काव्य कितना निःसंग (depersonalized) है, यह इसीसे स्पष्ट है कि उनके काव्य से अब तक भी इने-गिने व्यक्तियों ने ही आनन्द लिया है। जिस कवि को तुरत और अत्यधिक प्रशंसा मिले उसके विषय में आप अवश्य संदेहालु हो जाइये (और नौटंकी के आचार्य भिखारी दास को मत भूलिये)। कहने का तात्पर्य यह नहीं कि इसके विपरीत कम प्रशंसा पानेवाला कवि ही होगा। हिन्दी की एक प्रवृत्ति देखिये--महाकवि अमुक, कविवर अमुक, कवि अमुक—इस प्रकार हम वर्गीकरण करते हैं। सच्ची बात तो यह है कि या तो अमुक कवि हैं, या पद्यकार (poetaster)। निराला कवि हैं, शेष हिन्दी के पद्यकार हैं। पद्यकारों में अच्छे, और कम अच्छे हो सकते हैं; जैसे, पंत, महादेवी, अच्छे या बहुत अच्छे पद्यकार हैं; बच्चन आदि साधारण पद्यकार।

निराला के गीतों में एक विशेषता है--हर गीत की गहनता (intensity) महाकाव्य की है--कैलाश-दर्शन से कुकुरमुत्ता तक में। उनके काव्य का एक-एक शब्द जीवंत (living), प्राण-शक्ति से पूर्ण और सशक्त (vital, forceful) है। शब्दों का प्रयोग इस प्रकार किया गया हो कि उनकी शक्ति की संभावनाओं को अधिक से अधिक गृहीत (exploit) किया जा सके, केवल निराला में है।

अमीर खुसरो का दर्दीला गला

अमीर खुसरो ने गयासुद्दीन बलबन के दरबार में उसके बेटे खान 'शहीद' का 'मर्सिया' (किसी के मरने पर पढ़ी जानेवाली कविता) ऐसे दर्द से पढ़ा कि सारे दरबार में कोहराम मच गया और बादशाह अपने बेटे को याद करके इतना रोया कि बीमार पड़ गया और उसी बीमारी में वह चल बसा।

--मक्तबा जामिया की पुस्तक 'अमीर खुसरो' से।

खुसरो और चर्खा

अमीर खुसरो चरखा कातने को अच्छा समझते थे और अपनी लड़की को समझाते रहते थे कि हाथ कते कपड़ा पहनना जरूरी है--"पेशा समझकर चरखा न चलाओ, यह तो बड़े मान की बात है कि हाथ कते हुए सूत का कपड़ा पहनने को मिले।"

--मक्तबा जामिया की पुस्तक से।

हस्तलिखित प्राचीन पोथियों का संग्रह : विवरण-पत्र ❀

सम्पादक--डाक्टर धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री

[गतांक से आगे]

[१५] **राजनीति शास्त्रशतकम्**—ग्रंथकार--आचार्य चाणक्य । लिपिकार--भीष्मदास। अवस्था--प्राचीन, देशी-कागज । पृष्ठ—६ । प्रति पृष्ठ पंक्ति, लगभग-१२। आकार-प्रकार-१३"×५" । भाषा-संस्कृत । लिपि-नागरी । रचनाकाल-× । लेखनकाल-संवत् १९२६, वैशाख, कृष्ण पूर्णिमा, रविवार ।

प्रारम्भ की पंक्तियां--श्री गणेशायनमः ।। नीतिशास्त्रं प्रवक्ष्यामि चाणुक्येन तु भाषितं यन विज्ञानमात्रेण बुद्धिविकास्यते नृणम् १

प्रथमे नार्जिता विद्या द्वितीयेरेनार्ज्जित धनम् तृतीयेनार्ज्जितो धर्मश्चतुर्थे किं करिष्यति कृते च लिप्पते देशस्त्रेतायां ग्रम एव च द्वापरे लिप्पते भर्ता कलौ कर्तेव लिप्पते कृते त्वस्थि गताः प्राणं स्त्रेतायां मांस एव च द्वापरेत्वंङ्नपाः प्राणाः कलौ चान्नगता परम् ४

अन्त की पंक्तियां--संतोषस्त्रिषु कर्तव्य सुदारे भोजनेधने त्रिषु चैव न कर्तव्यो दाने तपसि चाव्यतपेत्

सर्वप्यारम्भते काये मे कचित्तेन भाषितं एकाक्षर प्रदारं यो गुरुं नाभिवंदते स्वानयोनि शतंगत्वा चांडालेष्वपिजायते ९८

गुणांते चलति मेरुः कल्पान्ते सप्तसागरः साधवः प्रतिपन्नार्था न चलंति कदाचनः अध्वाजरादेहस्वतामनध्यावाजिनां जरा असंभोगा जरा स्त्रीणां संभोगः करिजरा१००

इति श्री राजनीतिशास्त्रं शतकं समाप्तम् शुभं भूयात् ।। (वस्तुतः यहाँ "अध्वा जरा देहवतामनध्वावाजिनां जरा, असंभोगो जरास्त्रीणां, संभोगः करिणां जरा" होना चाहिये । यही शुद्ध श्लोक है ।)

विषय--साधारण व्यवहार के, प्रसिद्ध-नीतिश्लोक ।

टि०-- १-ग्रंथ पुरानी शैली से लिखा गया है। यत्र-तत्र अशुद्धियाँ भी हैं। लेखक ने श्लोकों को भी कई स्थानों में, प्रचलित पाठ से भिन्न लिखा है। कहीं-कहीं छन्दोभंग भी है।

❀ बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् (पटना) की ओर से, डा० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री के तत्त्वावधान में श्री रामनारायण शास्त्री बिहार-भर में ग्रन्थशोध करते हैं, जिसका विवरण गतांक में दिया गया था, शेषांश यहाँ दिया जाता है, फिर आगे भी बराबर दिया जायगा।

—सम्पादक

२–यह ग्रंथ कबीरमठ रोसड़ा के महंत श्री अवध दास साहब जी के सौजन्य से प्राप्त किया।

[१६] **क–सतनाम––१ (भगत महातम कथा)**––ग्रंथकर्ता–×। लिपिकर्ता––गोधनलाल। अवस्था––ठीक नहीं है। ग्रंथ फटा हुआ है। पृष्ठ––५३। प्र० पृ० पं०, लगभग ४०। आकार-प्रकार––८"×७"। भाषा––हिन्दी। लिपि––नागरी। रचनाकाल––×। लेखनकाल––सं० १२७८ वशाख, शुदी, पंचमी, रविवार।

प्रारंभ की पंक्तियाँ–– भग्ती करै यात्री क की नाइं।। आन नारी पर चीत न डोलाई।।
व्रस्सै सावोन भादव मासा।। स्वाती वुंद वीन्ह मरै पीआसा।।
तैसे राम भगति को आही।। दोसरी सेवा करवै नाही।।

अन्त की पंक्तियाँ––दोहा–– संतन्ही के प्रसंग ते।। पापी उती को पाऐ।।
जे सो चन्दन क साथ में।। औरो काठ वसाऐ।।
संत की संग्ती जो करै।। पावै अंत सुख वास।।
भग्ती प्रतीग्या देखी कै।। जम को भऐ जो त्रास।।

इति श्री भग्ती महात्म दुखहरन जमत्रास नेवारन सकल सासत्रसार जमराऐ दुत संम्वादे नारद मंन दीठा वो नो औ संसार भरमायो नो नाम द्वादसमो अध्याय।।१२।। संपूरन।

इति श्री भग्त महातम कथ सम्पूरन समापतह। जो देखा सो लीखा मम दोख नही अंत सकल संत सौ वीनती मोरी छूटल अछर मात्रा पठव सब जोरी पोथीक मालीक श्री श्री श्री स्वामी गोपाल दास जी मोकाम शा० तेघरा प्रग० मलकी पुश शुदी तीन तीश्रा रोज ऐतीवार को अढ़ाई पहर दीन उठते तैआर भेल दसखत·······

विषय–– भक्ति, सत्संगति और मोक्ष के आधार पर नारद के साथ राजा का संवाद दोहे और चौपाइयों में है। ग्रन्थ के, प्रारम्भ के, ५ पृष्ठ नहीं हैं। इस ग्रंथ के साथ ही दो ग्रन्थ और भी संबद्ध हैं। जिसका, विवरण नीचे है। यह ग्रंथ कबीर मठ रोसड़ा, महंत श्री अवध दास साहब जी के सौजन्य से पाया।

ख–२–भौपालबोध–(भपालबोध)––ग्रन्थकर्ता–×। ग्रन्थलेखक–गोन्दरलाल। अवस्था–प्राचीन, देशी कागज, अस्तव्यस्त। पृष्ठ–९, प्र० पृ० पं० लगभग–४०। आकार-प्रकार–८"×७"। भाषा–हिन्दी। लिपि–नागरी। रचनाकाल–×। लेखनकाल–सं० १२७८ साल, आषाढ़ सुदी चतुर्दशी, शनिवार।

प्रारम्भ की पंक्तियाँ––चौपाई।। धर्मदासौ वचनं।।
धर्म दास कहे वंदी छोरा। कैसे जीवन भार त थोरा।।

अन्त की––सोरठा––सोहं साईं महोऐ।। सवद सार तासो कहौ।।

ऐती श्री ग्रंथ भौपालबोध संमपूरंन समापतह् जो देषा सोलीषा मम दोष नेही ग्रंते सकल संत सौ वीनती मोरी छुटल ग्रछर मंत्रा पठव सब जोरी मीती ग्राषाढ़ सुदी चतुरसी रोज सनीचर कै डेढ पहर दीन उठते ग्रंथ तैग्रार भेल ग्रंथ के मालीक श्री गोसाईं गोपालदास साकीन तेघरा प्रगंने मलकी दः ग्रधीन संत गोन्दर लाल साकीन ब्रौनी प्रगंने मलकी ता० २६ ग्रसाढ रोज शनीचर सं० १२७८ साल ।।

विषय-- धर्मराज, ज्ञानी ग्रौर भूपाल के परस्पर वार्तालाप द्वारा जीवन, ज्ञान, मोक्ष ग्रौर जीव के संबंध में विवेचन । साखी, दोहा, सोरठा ग्रौर चौपाइयों में रचना की गयी है । ग्रंथ श्री महंत ग्रबधदास साहब जी--रोसड़ा, कबीरमठ के सौहार्द्र से पाया ।

टि०-- इस ग्रंथ के साथ दो पृष्ठों का "ग्रमरमूल"[१] "नेहादास"[२] का लिखा ग्रंथ भी है । 'क' ग्रौर 'ख' दोनों ग्रंथ एक जिल्द में एक साथ ही हैं ।

[१७] **पञ्चदशी**--ग्रंथकर्ता-×। लिपिकार-× । ग्रवस्था-प्राचीन, देशी कागज । पृष्ठ-२५८ । प्र० पृ० पं० लगभग-२५ । ग्राकार-प्रकार-१२×५३/४ । भाषा--संस्कृत । लिपि-नागरी । रजनाकाल-× । लेखनकाल-× ।

प्रारम्भ--ग्रों श्री गणेशायनमः ।। ग्रों नमो भगवते वासुदेवाय ।। ग्रों नत्वा श्री भारती तीर्थ विद्यारण्य मुनीश्वरौ प्रत्यक्ततत्व विवेकस्य क्रियते पद दीपिका ।।
प्रारीप्सितस्य ग्रंथस्याविघ्नेन परिसमाप्ति प्रचयगमनाभ्यां शिष्टाचार परिप्राप्तमिष्ट देवता गुरु नमकारलक्षणं मंगलाचरणं स्वेनानुष्टितं शिष्यशिक्षार्थं श्लोकेनोपनिवप्राति ग्रर्थाद्विषय प्रयोजने च सूचयति नम इति

(मोटे ग्रक्षरों में)--ग्रों नमः श्री शंकरानन्द गुरुपादाम्बुजन्मने सविलासमहामोह ग्राहग्रासैककर्मणे १ ।।
तत्पादाम्बु रुहृद्वंद्व सेवा निर्मलचेतसाम् सुखवोधाय तत्वस्य विवेकोयं विधीयते २

ग्रन्त-- तर्हि किमेतदित्याशंक्याह ब्रह्मविद्येति इयं ब्रह्मविद्या कथमुत्पनेशंक्याह ध्यानेनेति ग्रसंगतित्वे हेतुमाह विद्यायामिति भेदकोपाधिवर्जनादित्युक्तं तानि विभेदकोपाधिनाह शांतेति एतेषां परिहारः केनोपायेनेत्याशंक्याह योगाद्विवेकेति । फलितमाह निरुपायीति त्रिपुटीनाम भावाधूमानंद इत्युच्यत इत्यर्थः ग्रंथमुपसंहरति
(मोटे ग्रक्षरों में)--

शांताघोराः शिलायाश्चभेदकोपाधयोमताः योगाद्विवेकतोचैषामुपायीनामपाकृतिः । ६२
निरुपायि ब्रह्मतत्व भासमाने स्वयं प्रये ग्रद्वैते त्रिपुटिनास्ति भूमानंदोत उच्यते ६३
ब्रह्मानंदाभिये ग्रंथे पंचमोध्याय ईरितः विषयानंदपते न द्वारेणांतः प्रविश्यतो ६४
प्रियाद्वारिहरो ऽनेन ब्रह्मानंदेन सर्वदा पायाच्च प्राणिनः सर्वान् स्वाश्रितान् वुद्धमासिनः ६५
(पतले ग्रक्षरों में) ब्रह्मानंद इति ६४, ६५ इति श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य श्री भारती तीर्थ विद्यारण्यमुनि विरक्तिकरण श्री रामकृष्णख्य विरचिते उपदेशग्रंथविवरणे विषयानंदः पंचमोध्यायः ।।

विषयः— दर्शन (वेदान्त दर्शन)

टि०— १. वेदान्त के प्रसिद्ध ग्रंथ "पंचदशी" की टीका।

२. टीका अच्छी है। मोटे अक्षरों में मूल ग्रंथ है। पतले अक्षरों में उसकी टीका है।

लिपि तथा शैली प्राचीन है।

३. यह ग्रंथ, महंत श्री अवधदास साहब रोसड़ा, दरभंगा की कृपा से प्राप्त किया।

[१८] **असज्जनमुख चपेटिकाः**——ग्रंथकर्ता–श्री रामाश्रमाचार्य्य——ग्रंथ-लेखक—श्री भीष्मदास कवीरपंथीवैरागी। अवस्था——अच्छी है। ग्रंथ अपूर्ण है।

पृष्ठ–६। प्र० पृ० पं० लगभग २४। अकार-प्रकार——१४"×५"¾ भाषा–हिन्दी। लिपि–नागरी। रचनाकाल ×। लेखन काल–संवत् १६१०।

प्रारंभ की पंक्तियाँ——श्रीमतेरामानुज्जाय नमः श्रीमद्भागवतं नौमि यस्यै कस्स्य प्रसादतः

अज्ञातानपि जानाति सर्वः सर्वागमानपि १

रामाश्रमाचार्य्यकृता सज्जन मुख चपे टि का ता म हं तु मी मांस्ये मां

श्रीमद्भागवतद्वि षां २

तदर्थ भाषाया कुर्व्वे दुर्ज्जनानां हरिद्विषां मुख चपेटिकां सर्वे महान्तो हृदिधीयतां ३

कवीत–वेद औ पुराण सूत्र सकल सराहै जाहि ताहि को वतावै वोप दव कृत भडुआ

शंकर सराहै मधुसूदन सराहै जाहि श्रीधरो सराहै ताहि मानो नहि गडुआ

औरं एहें जांहि धवचक्रवर्ति गौड को प्रमाण सव नागोजी तिलक कियो द्युतिआकै कडुआ

भट्टोजी प्रमाण कियो विदित जहान माहि कैसे कै वुझावौं सारे वयल कह अडुआ १

अन्त की पंक्तियाँ——कहि कहि थकि गयो वेद औ पुराण मुनि जानत जहान सब लोग भकआए है

भूलि है पुराण राह गहि है गवार वाँहता ते कविता इकरि हमहु वताए है

नीक लागै सोइ करो चुल्हा भार सोइ परो तुम शो तौ हम नाहि क वो कछु पाए है।

दीन देषि सकल भरोसे दाम चामही के मै तो सधुआ इ वश कछू कलषाए है।।४२।।

हाथ जोरि माथ नाइ व्यासजी के लाड़िला के चरण कमल रज मेरो धन ऐही है

नाम शुकदेव जो वषाने एह भागवत भागवत आप कृस्नचंद्र के सने ही है

जासु रीति भाति सूत सकल सराहि गए ताहि को भाव कहवैया कौन देही है

तहा मेरो जीभि तो गवाही देत सकुचत हारि मानि रहत न जात कहि मेही है ।।४३।।

यदि गाल्पा भवेदीर्षा परलोक हितात्मनः। भवद्भिश्च तथा सद्भिर्दीयतां मयम् सर्वशः।।४४।

नोचे करुण या प्रोक्ता मंगीकारतया शुभां। गृहणीत सुधियो गालीं भवंतो हि सु साधव।।४५।

श्रुतिस्मृतिसमाचारविरोधावेशरोषतः। कृते य म सता मर्वाक वाण्या मुख चपेटिका।।४६।।

इति श्रीमज्जानकी प्रशादकृताऽसज्जनमुख चपेटि समाप्ता संवत् नुनैसेदस

लिष्यतं भीष्मदास वैरागी कवीर पंथी ।।

विषय——इस ग्रंथ में लोक में प्रचलित अवतारवाद और पुराण आदि सम्मत सिद्धान्तों की आलोचना की गयी है।

टि०—कबीरमत से सम्बन्धित विचार हैं। ईश्वर के सम्बन्ध में भी विवेचन है। वेद, पुराण, उपनिषद, भागवत आदि पर लेखक ने विचार प्रगट किये हैं। कबीर दास के जैसी तीखी भाषा का प्रयोग किया गया है।

यह ग्रंथ, महंत श्री अवध दास साहबजी, कबीरमठ, रोसड़ा, दरभंगा से प्राप्त किया है।

[१६] **सूत्रपाठ**:—ग्रंथकार—×। लिपिकार ×। अवस्था—प्राचीन, देशी कागज। पृष्ठ—४। प्र० पृ० पं० लगभग—२२। आकार-प्रकार--१४" × ५$\frac{१}{४}$"। भाषा—संस्कृत। लिपि—नागरी। रचनाकाल—×। लेखनकाल ×।

प्रारंभ की पंक्तियाँ—श्री गणेशाय नमः।। अ इ उ ऋ लृ समाना: १ ह्रस्व दीर्घप्लुत भेदास्सवर्णा: २ ए ऐ ओ औ संध्यक्षराणि ३ नुयेस्वरा; ४ अवर्णानामिन: ५ ह य व र ल ६ ञ ण म ङ म ७ उ ठ ध घ म ८ ज ड द ग व ६ ख फ छ ठ थ १० च ट त क प ११ श ष स १२ अद्यामाभ्याम् १३ असंस्वरादिष्टि: १४।।

अन्त की पंक्तियाँ—दो द ति ७७ स्वरान्तो वा ७८ स्थायी ७६ दस्तस्यनोदश्च ८० स्वाद्योदितश्च ८१ छार्थेषुतत्कर्त्तृके तुम् ८२ पूर्वकालेत्का ८३ समासे क्वप् ८४ पौन: पुण्येणास्पदं द्विश्च ८५ लोकाच्छेषस्य सिद्धि: ८६।
इति सूत्रपाठ सर्वसूत्र संख्या ५६४ पंचसंधि।। षटलिंग पूर्व पाठ, सूत्रपाठ अख्यात कृदन्त सूत्रपाठ:।।

विषय—संस्कृत-व्याकरण।

टि०—पाणिनीय व्याकरण से इतर किसी प्रसिद्ध व्याकरण क सूत्रों का संकलन प्रतीत होता है। यह ग्रन्थ अपूर्ण-सा ज्ञात होता है, यत: व्याकरण शास्त्र के, तद्धित, समास, स्त्रीप्रत्यय, तिङन्त और सुबन्त के लिये सूत्रों का समावेश इसमें नहीं है।
यह ग्रंथ, कबीर मठ, रोसड़ा, दरभंगा के महंत श्री अवधदास, साहब जी से प्राप्त किया है।

[२०] **सारस्वत प्रक्रिया व्याकरण**—ग्रंथकार–×। लिपिकार–भीष्मदास, वैरागी। अवस्था–ठीक है, ग्रंथ अपूर्ण है। पृष्ठ–१६। प्र० पृ० पं०–लगभग २७। भाषा–संस्कृत। लिपि–नागरी। रचनाकाल–×। लेखनकाल–संवत् १६२७, आश्विन कृष्ण, अमावस्या, रविवार। आकार-प्रकार–१४$\frac{१}{३}$" × ५$\frac{१}{२}$"।

प्रारम्भ की पंक्तियाँ—श्री गणेशायनमः।। अथाख्यात प्रत्ययानिरूप्यंते धातो: वक्ष्यमाणा: प्रत्यया: धोतोर्ज्ञाया: भ्वादि: भूसत्तायामित्यादि शब्दोधातु संज्ञो भवति धातुत्वात्तिप्रादय: स च त्रिविध: आत्मनेपदी १ परस्मैपद्युभयपदी चेति आदनुदात्तङित: अनुतेत्तोङितश्च धातोरादित्यात्मने पदं भवति ञित्स्वरितेतवुभे ञित: स्वरितेतश्च धातोरात्मनेपदपरस्मैपदे भवत: आत्मगामि चेत्फलमात्मनेपदपरगामिचेत्फलं

परस्मैपदं प्रयोक्तव्यमन्वर्थात् परतोऽन्यत् पूर्वोक्त निमित्तविधुरादन्यस्माद्धातोः परस्मैपदं भवति न चेदपाम् तिबादीनामष्टादश संख्याकानामद्यानि न वचनानि परस्मैपद संज्ञानि भवन्ति पररायात्मने पदानि

अन्त की पंक्तियां––कथंकारम् इत्थंकारम् भुवोभावे क्यप् ब्रह्मभूयं गंतः लक्षेरीमड्व लक्ष-दर्शनांकनयोः लक्ष्मीः स्त्यायतेः स्त्रीत्वाद्टिलोपः संयोगात्तस्यलोपः दित्वादीप्-थैस्यै शब्द संघातयोः स्त्री वर्णात्कारः रादिको वा रेफः रकारादीनि नामानि श्रृवण्तो मम पार्थनिमतः प्रसभतामेति रामनामाभिसंकया१ लोकाछेषस्यसिद्धिः यथा-मातारादेः इति कृत्य प्रक्रिया स्वरूपान्तोऽनुभूत्यादिः शब्दो भूद्यत्रसार्थकः समस्करी शुभांचक्रे प्रक्रियां चतुरो चिताम् १ अवत्ताद्धोयग्रीवः कमलाकर ईश्वरः मुरासुरनराकार मद्ययापीतपंकजः ।।२।। इति श्री सारस्वती प्रक्रिया यादृशं पुस्तके दृष्टं तादृशं लिषतं मया यदि शुद्धमशुद्धं वा मम दोषो न दीयते ।।१।। इदं पोस्तक लिषीतं भीष्मदासेन ।।............. ।

श्री सरस्वत्यै नमः । श्री गणेशाय नमः ।

विषय––संस्कृत व्याकरण की एक शाखा। सारस्वत प्रक्रिया सम्पूर्ण नहीं है। केवल तिङन्त प्रकरण है।

टि०––ग्रंथ में अधिक अशुद्धियाँ हैं। पाठ-भेद भी प्रतीत होता है। ग्रंथ में, पूर्ण विराम या, अर्धविराम के प्रयोग का अभाव है। यह ग्रंथ श्री अवध दास साहब जी महंत, कबीर मठ, रोसड़ा दरभंगा के सौजन्य से प्राप्त किया।

[२१] **श्रीमद्भागवद्गीता**––ग्रंथकार––श्री वेदव्यास जी। लिपिकार–रामभक्त। **अवस्था**–ठीक है, देशी कागज। पृष्ठ–४२। प्र० पृ० पं० लगभग–२०। आकार-प्रकार –१०१/६″ × ५१/८″। भाषा–संस्कृत। लिपि–नागरी। रचनाकाल–×। लेखन-काल–संवत् १९२२, मंगलवार, द्वितीया।

प्रारम्भ की पंक्तियाँ–श्री गणेशायनमः।। अस्य श्री भगवद्गीतामालामंत्रस्य श्री भगवान्वेदव्यास-ऋषिरनुष्टुप् छन्दः।। श्री कृष्णः परमात्मा देवता अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसेतिबीजम्।। सर्वं धर्म्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रजेति शक्तिः।। अहं त्वां सर्व पापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचेति कीलकम्।। नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावक इत्यंङगुष्ठाभ्यां नमः।। न चैनं क्लेदयंत्यापो न शोषयति मारुत इति तर्जनीभ्यां नमः। अच्छेद्योयमदाह्योयमक्लेद्योशोष्य एव चेति मध्यमाभ्यां नमः।। नित्यः सर्वगतः स्थाणुश्च लोयं सनातन इत्यनामिकाभ्यां नमः।। पश्य मे पार्थ रूपाणि इति कनिष्टकाभ्यां नमः।।

अंत की पंक्तियाँ–

राजन् संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः विस्मयो मे महान् राजन् हृष्यामि च पुनः पुनः ७६ यत्र योगेश्वरः कृष्णे यत्र पार्थो धनुर्धरः तत्र श्री विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ७७

इति श्री मद्भगवद्गीता सूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्री कृष्णार्जुन संवादे मोक्ष संन्यास योगो नामाष्टादशोऽध्यायः १८ ।। इति श्रीकृष्णार्जुन गीता संपूर्ण ।।

विषय--गीता, कृष्णार्जुन संवाद ।।

टि०-- पोथी की लिखावट में प्राचीन शैली अपनायी गयी है । लिखावट अच्छी है । यत्र-तत्र अशुद्धियाँ रह गयी हैं । पाठ-भेद भी है ।

यह ग्रंथ श्री अवधदास साहब जी, महंत, कबीरमठ, रोसड़ा, दरभंगा से प्राप्त किया ।

[२२] **धातु पाठः**--ग्रंथकार--×। लिपिकार× । अवस्था--अच्छी है, प्राचीन हाथ का बना देशी कागज । पृष्ठ--८ । प्र० पृ० पं० लगभग--१८ । आकार-प्रकार--१३"×"५१/३ भाषा--संस्कृत । लिपि--नागरी । रचनाकाल--× । लिपिकाल--× ।

प्रारंभ की पंक्तियाँ--श्री गुरवेनमः ।। भू सत्तायाम् ।। चिती सज्ञाने च्युतिर् आसेचने श्च्युतिर् रक्षणे मंथ विलोडने कुथि पथि लथि मथि हिंसा संक्लेशनयोः षिधु गत्याम् षिधु शास्त्रे माङ्गल्ये च खद स्थैर्य्ये हिंसायां च गद व्यक्तायां वाचि ।

अन्त की पंक्तियाँ--कपि चलने लवि आस्रंसने षुण भ्रमणे मृण हिंसायाम् कुल संख्याने चिड़ भेदने विड भातौ खड आकांक्षायाम् नुक्ष सेचने पुष वृद्धौ भूखज मंथने इति धातुगणपाठः ।।०।।श्री।।०।।

विषयः--संस्कृत व्याकरण का धातु (क्रिया) गणों की सूची तथा उनके अर्थ ।

टि०- १--इस पोथी की लिखावट बहुत ही अच्छी और साफ है । सभी अक्षर पृथक्-पृथक् हैं । इस ग्रंथ में भी वर्तमान मुद्रित ग्रंथों से पाठ-भेद सा प्रतीत होता है । संभवतः कुछ धातु नहीं भी दिये गये हैं ।

२--यह ग्रंथ श्री अवधदास 'साहब जी' महंत कबीरमठ, रोसड़ा, दरभंगा के सौहार्द्र से पाया ।।

[२३] **धातुपाठः**--ग्रंथकार × । लिपिकार × । अवस्था--अच्छी है, हाथ का बना देशी कागज । पृष्ठ--५ । प्र० पृ० पं० लगभग--२४ । आकार-प्रकार--१४"×५१/३" । भाषा--संस्कृत । लिपि--नागरी । रचना काल--× । लेखन काल--× ।

प्रारंभ की पंक्तियाँ--श्री गणेशायनमः ।। भू सत्तायाम् चिती सज्ञाने च्युतिर् आसेचने श्च्यतिर् क्षरणे मंथ विलोडने कुथि पुथि लुथि हिंसा संक्लेशनयोः षिधु गत्याम् षिधू शास्त्रे माङ्गल्ये च खद स्थैर्ये हिंसायां च गद व्यक्तायां वाचि रदविलेखने साद अव्यक्ते शब्दे अर्द्धगतौ याचने च अत सातत्य गमने खादृ भक्षणे अद अदिबंधने दुरादि समृद्धौ चदि आह्लादने ।

अन्त की पंक्तियाँ--कपि चलने लवि आस्रंसने षुण भ्रमणे मृण हिंसायाम् कुल संख्याने चिड़ भेदने खिड भेदने विडभातौ ख ड आकांक्षायाम् भुक्ष सेचने यूष वृद्धौ भखज मंथने इति धातुगणपाठः ।।०।। श्री ।।

विषय--संस्कृत व्याकरण के धातुओं (क्रिया) की सूची।

टि०-- ग्रंथ प्राचीन है। लिखावट की शैली भी पुरानी है।
यह ग्रंथ श्री अवधदासजी, महंत, कबीरमठ, रोसड़ा से पाया है।

[२४] **वैराग्य शतक**--ग्रंथकार-श्री भर्तृहरि।। लिपिकार भीष्मदास, वैरागी, कबीरपंथी। अवस्था-अच्छी है। पृष्ठ--११। प्र० पृ० पं० लगभग--२०। आकार-प्रकार--१३"×"५½। भाषा-संस्कृत। लिपि-नागरी। रचनाकाल ×। लिपिकाल संवत् १९१०, आषाढ कृष्ण त्रयोदशी-१३।

प्रारम्भ की पंक्तियाँ--श्री गणेशाय नमः ओं तत्सद्ब्रणे नमः अपार संसार समुद्र मध्ये संमज्जतो मे सरणं किमस्ति गुरो कृपालो कृपया वदैत......। (प्रश्नोत्तरी के कुछ भाग समाप्त करने के बाद)-श्रीराम कृष्णायनमः अथ वैराग्य शतक मारभ्यते चूडोत्तं सितचन्द्रचारु कलिका चंचच्छिखा भासुरो लीलादग्धविलोलकामशलभः श्रेयो-दशाग्र स्फुरन् अंतस्फूर्जदपारमोहतिमिरप्राप्तरमुच्छेद यच्चेत सः समानयोगिनां विजयत ज्ञानप्रदीपो हरः १

अन्त की पंक्तियाँ--पाणीपात्रं पवित्रं भ्रमण परिगतं भैक्षमक्षय्यमन्नं विस्तीर्ण वस्त्र माशा सुदश-कमलमल्पमस्त्वल्पमुर्वी येषां निःसंगतानां करणपरिणति स्वांतः।।
संतोषिणस्ते धन्या संन्यस्त दैन्यव्यतिकरनिकराः कर्म निर्मूलयंतिः।।१००।।
इति श्री भर्तृहरियोगींद्र कृतौ वैराग्यशतके अवधूतचर्य्या निरूपणे नाम दसम दसके।। इति श्री भर्तृहरिकृत वैराग्य शतकं संपूर्णम्।

विषयः-- वैराग्यपरक, दार्शनिक, मननशील विचार। यह ग्रंथ प्रसिद्ध है।

टि०-- ग्रंथ में दो प्रकार के कागजों और लिपियों का समावेश है। इससे प्रतीत होता है कि दो व्यक्तियों ने मिलकर ग्रंथ पूरा किया है। प्रथम प्रश्नोत्तरी और वैराग्य शतक के दो पृष्ठ के अक्षर तो एक व्यक्ति के हैं और कागज भी एक समान है किन्तु बाद के अन्य पृष्ठों के कागज और लिपि में भी अन्तर है। प्रथम के अक्षर स्पष्ट तथा सुपाठ्य हैं किन्तु शेष अक्षर अस्पष्ट और 'विचपिच' हैं।
यह ग्रंथ श्री अवधदास साहब जी महंत, कबीरमठ, रोसड़ा, दरभंगा की कृपा से प्राप्त किया।

[२५] **श्रीमद्भगवद्गीता**--ग्रंथकार श्री वेद व्यास जी। लिपिकार-वैष्णव श्री प्रेमदासजी। अवस्था--अवस्था अच्छी है। ग्रंथ के बीच के अक्षर, पानी गिरने से अस्पष्ट हो गये हैं। देशी कागज है। पृष्ठ २४। प्र० पृ० पं० लगभग--३०। आकार-प्रकार--१२"×"६¼ भाषा-संस्कृत। लिपि-नागरी। रचनाकाल-×। लिपि-काल-संवत् १९७१ फाल्गुन, कृष्ण, एकादशी, सोमवार।।

प्रारंभ की पंक्तियाँ-ओं श्रीमते भगवनिम्बादित्याय नमो नमः। ओं अस्य श्री भगवद्गीता माला-मंत्रस्य भगवान्वेदव्यास्य ऋषिः अनुष्टुप्छंदः श्रीकृष्णः परमात्मा देवता अशोच्या-

नन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्चभाषसेतिबीजं ।। सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रजेति शक्तिः ।। अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच इति कीलकं ।। नैनं छिंदंति शस्त्राणि नैनं दहति पावक इत्यंगुष्ठाभ्यां नमः ।। न चैनं क्लेदयंत्यापो न शोषयति मारुत इति तर्ज्जनीभ्यां नमः ।

अन्त की पंक्तियाँ--राजन्संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतं ।। केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः ।।७६।।

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः ।। विस्मयो मे महान् राजन् हृष्यामि च पुनः पुनः ।।७७।।

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्द्धरः ।। तत्र श्री विजयो भूतिर्ध्रुवा निति मतिर्मम ।।७६।।

इति श्री भगवद्गीतासूपनिषत्सू ब्रह्म विद्यायां योग शास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन संवादे मोक्ष संन्यास योगो नाम अष्टादशोऽध्यायः ।।

लिखितं वंगदेशे हुलासीमध्ये नृसिंह ठाकुर समीपे ।। लिखितं वैष्णव श्री प्रेमदास जी पठनार्थी से लिखितं ।। शुभमस्तु मंगलं भवेतु ।।

विषय:--गीता, दार्शनिक ।

टि०-- इसमें बहुत सी अशुद्धियाँ हैं । लेखनशैली प्राचीन है ।

यह ग्रंथ श्री अबध दास साहब जी, महंत, कबीर मठ, रोसड़ा, दरभंगा से प्राप्त किया ।

[२६] **अपरोक्षानुभूतिः**--ग्रंथकार--श्रीमच्छंकराचार्य । लिपिकार--× । अवस्था--प्राचीन, देशी कागज । पृष्ठ--२० । प्र० पृ० पं० लगभग--३२ । आकार-प्रकार-१४"×७½" । भाषा--संस्कृत । लिपि--नागरी । रचना काल--× । लखनकाल--× ।

प्रारंभ--(पतले अक्षरों में) श्री गणेशायनमः श्रीदक्षिणामूर्त्तये नमः।। स्वप्रकाशश्च हेतुर्यः परमात्मा चिदात्मकः चित्स्वरूपः अपरोक्ष्यानुभूत्याख्यः सोहमस्मि परं सुखं ।।१।। ईशगुर्वात्मभेदद्यः सकल व्यवहारभूः औपाधिकः स्वचिन्मात्रः सोऽपरोक्षानुभूतिकः ।।२।। तदेवममुसंधाय निर्विघ्नां स्वेष्टदैवतां अपरोक्ष्यानुभूत्याख्यामाचार्योक्तिं प्रकाशये ।।३।।

(मोटे अक्षरों में) श्री हरि परमानंदमुपटेष्टारमीश्वरं व्यापकं सर्वलोकानां कारणं तं नमाम्यहं ।।१।। अपरोक्षानुभूतिर्वै प्रोच्यते ।।

अन्त-- (पतले अक्षरों में) इदानीमुक्तं स्वाभिमतं योगमुपसंहरति राभिरिति किंचित्स्वल्पं पक्वादग्धाः मलाः रागादयो येषां तेषां हठयोगेन योगेन पातंजलोक्तेन प्रसिद्धे नाष्टांगयोगेन संयुतोयं वेदांतोक्तो योग इति शेषं स्पष्टं ।।४३।। अयमेव केषां योग्य इत्याकांक्षायां सर्वग्रंथार्थमुपसंहरन्नाह परिपक्वमिति येषां मनः परिपक्वं मलरागादि रहितमिति यावत् तेषामित्यध्याहारः--

(मोटे अक्षरों में) राभिरंगैः समायुक्तो राजयोग उदाहृतः ।। किंचित्पक्वकषायाणां हठयोगेन संयुतः ।।४३।।
परिपक्वं मनो येषां केवलो पंचसिद्धिदः।। गुरु दैवत भक्तानां सर्वेषां सुलभो भवेत्।।४४।। इति श्रीमच्छंकराचार्य विरचित अपरोक्षानुभूतिः सम्पूर्णो ।।राम राम।।

(पतले अक्षरों में) तेषां जितारिषड्वर्गाणां पुरुष धुरंधराणां केवलं पातंजलाभिमत योगनिरपेक्षः अयं वेदांताभिमत योगसिद्धिः दः प्रत्यगभिन्नब्रह्मापरोक्षज्ञान द्वारा स्व स्वरूपावस्थान लक्षणमुक्तिप्रदः चकारोऽवधारणे नान्येषापरिपक्वमनसामित्यर्थः ।। ननु परिपक्व मनस्त्वमति दुर्लभमित्याकांक्षायामस्यापिसाधकत्वादतोप्यतरंग साधनमाह गुरुदैवत भक्तानामिति जवादितिशीघ्रमित्यर्थः सर्वेषामिति यत्नेन वर्णाश्रमादि निरपेक्षं मानुष्य मात्रं गृहीतव्यं ।। अतएव गुरुदैवत भक्ते रंतरंगत्वं तथा श्रुतिः यस्य देवे परा भक्ति र्यथा देवे तथा गुरौ ।। तस्यै ते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशं ते महात्मन इति ।। ।। ।।

विषय--वेदान्त दर्शन। "अपरोक्षानुभूति" की "ग्रंथराज प्रदीपिका" टीका सहित।

टि०--श्री शंकराचार्य विरचित वेदान्त दर्शन पर यह मूल ग्रंथ टीका सहित है। ग्रंथ की टीक अच्छी है। मोटे अक्षरों में मूल ग्रंथ है। मूल ग्रंथ बीच में, श्लोकबद्ध है। पतले अक्षरों में ग्रंथ की टीका है।

इस ग्रंथ के टीकाकार श्री विद्यारण्य जी हैं। ग्रंथ और ग्रंथकार के सम्बन्ध में टीकाकार के निम्न विचार हैं--"पूर्णो य म परोक्षेण नित्यात्म ज्ञानं का सि का अपरोक्षानुभूत्याख्यान ग्रंथराज प्रदीपिका ।।१।। नमस्तस्मै भगवते शंकराचार्य रूपिणे ।। येन वेदांत विद्येयमुद्धता वेद सागरात् ।।२।। यद्ययं शंकरः साक्षाद्वेदांतानां भोजभास्करः नो निस्पत्तिर्हि का कर्म व्यासादि सूत्रितं ।।३।। अत्र यत्संमतं किंचित्तद्गुरोरेव मे न हि।। असंमतं तु यत्किंचितन्ममैव गुरोर्नहि ।।४।।" पोथी के अन्त में "ज्ञानी महिमा संग्रहश्लोक" नामक एक पृष्ठ का ६ पद्यों का ग्रंथ है। टीकाकार ने इसकी भी टीका की है। इसमें तीर्थयात्रा आदि के विषय में लिखा गया है।

यह ग्रंथ श्री अवध दास साहब जी महंत, कबीरमठ, रोसड़ा, दरभंगा की कृपा से पाया।

[२७] **आथर्वणी पुरुष सुबोधिनी**--ग्रंथकर्ता--× । लिपिकर्ता--वैष्णव श्री गोमती दास जी। अवस्था--प्राचीन, देशी कागज पर, सभी पृष्ठ अलग-अलग हैं। पृष्ठ--१५। प्र० पृ० पं० लगभग--३०। आकार-प्रकार--१३"×६$\frac{1}{3}$"। भाषा--संस्कृत। लिपि--नागरी। रचनाकाल--×। लिपिकाल--संवत् १८७९, कार्तिक, कृष्ण-प्रतिपदा, गुरुवार।।

प्रारंभ--ओं श्री राधाकृष्णाभ्यां नमः ओं अस्य श्री विष्णु पंजरस्तोत्रमंत्रस्य श्री नारद ऋषिरनुष्टुप् छंदः श्री विष्णु परमात्मा देवता अहं विजं सोहं शक्ति ओं ह्रीं

कलकं मम सर्व देह रक्षणार्थे जपे विनियोग: नारद ऋषिये नम शिरसि अनुष्टुप् छंद: से नमः मुखे श्री विष्णु: परमात्मा देवताय नम: हृदये अहं बीजं गृह्णे सोहं शक्ति: पादयो ओ ह्रीं कीलकं पादाग्रे ओं ह्रां ह्रीं ह्रू, हैं ह्रौं ह्र:

अन्त--प्रवर्णो मंडल पवं रूपं शेषो न जानाति विम्नु न जानाति मरुतो न जानाति ब्रह्मा न जानाति रुद्रो न जानाति चन्द्रसूर्य्यो न जानाति इंद्रो न जानाति वरुणो न जानाति दशदिग्पालो गण गंधर्व मुनि किंकरोचेति ।। इत्याथर्वणी पुरुष सुबोधिन्यां तत्वबोधन्यां पंचदशो प्रपाठक: ।।१५।।

लिखितं गौडदेशे हूलासी मध्ये श्री श्री ठाकुर नृसिंह जी समीपे श्री श्री महंत राधिका दास जी के स्थानमध्ये गङ्गा श्री वेतनातटे कार्तिक मासे कृस्नपक्षे तीथी प्रतिपदायां गुरुवासरे सन् सत् १८ स उन्यासी ७९ लिखितं वैस्नव श्री गोमती दास जी पठनार्थ वैस्नव श्री प्रेम दास जी

वि०-- इस ग्रंथ में श्री कृष्ण के जीवन की चर्चा प्रतीत होती है। कृष्ण के जीवन की अनेक घटनाओं का वर्णन है। कृष्ण को लक्ष्य में रखकर स्तुति भी की गयी है। इसमें कुछ तंत्र से भी सम्बन्धित विषय प्रतीत होता है।

टि०-- यह ग्रंथ में ऐसे अक्षर लिखे गये हैं, जिन्हें पढ़ने में कठिनाई मालुम होती है। ग्रंथ का विषय और नाम दोनों का तुलनात्मक अध्ययन अपेक्षित है। यह ग्रंथ, कबीरमठ, रोसड़ा, दरभंगा के महंत जी, से प्राप्त किया।

[२८] **गीत गोविन्द:**--ग्रंथकार--श्री जयदेव। लिपिकार-वैष्णव श्री प्रेमदास जी। अवस्था-प्राचीन, देशी कागज। पृष्ठ--१५। प्र० पृ० पं० लगभग--२८। आकार-प्रकार--१२" + ६। रचनाकाल--×। लिपिकाल--सं० १८७१, भाद्र, कृष्ण द्वादशी, सोमवार।

प्रारंभ-- ओं श्रीमते भावत्रिम्वादित्याय नमः ।। मघै र्मेदुरमंबरं वनभुव: श्यामास्तमालद्रुमैनक्तं भीरुरयंत्वमेव तदिमं राधे गृहं प्रापय। इत्यं नंदनिदेशतश्चलितयो: प्रत्यध्वकुंज द्रुमं राधा माधवयोर्जयंति यमुना कूलेरह: केलय: ।।१।। वाग्देवता चरित्र चित्रीत चित्र सदत्रा पद्मावती चरण चरणचक्रवर्ती ।। श्री वासुदेव रति केलि कथा समेतमेतं करोति जयदेव कवि: प्रबंधं ।।२।।

यदि हरिस्मरणे सरसं मनो यदि विलास कला सुकतूहलं ।।
मधुर कोमल कांत पदावली शृणु तदा जयदेव सरस्वतीं ।।३।।

अन्त-- श्री भोजदेव प्रभवस्य रामादेविसुतस्यास्य सदा कवित्वं ।।
पराशरादि प्रीयवर्ज कंठे सुप्रीत पीतांवरमेतदसु ।।

विषय-- साहित्य, कृष्ण विषयक काव्य

टि०-- यह ग्रंथ १२ सर्गों और २४ प्रबंधों में समाप्त हुआ है।
ग्रंथ के अन्त में कवि ने अपना भी परिचय दिया है।
यह ग्रंथ श्री अवधदास साहब जी महंत, कबीरमठ, रोसड़ा, दरभंगा से प्राप्त किया है।

[१९] **भक्त माल**--ग्रंथकार--नाभास्वामी। लिपिकार--भीष्मदास जी। अवस्था--प्राचीन देशी हाथ का बना कागज। पृष्ठ--३५४। प्र० पृ० पं० लगभग--३३। आकार-प्रकार--१४"+"६½। भाषा--हिन्दी। लिपि--नागरी। रचनाकाल--×। लिपिकाल--संवत् १९०७, फाल्गुन, शुक्ल--११, एकादशी, रविवार ॥

प्रारंभ-- श्री कवीरसाहिवाय नमः ॥ श्री हरिगुरुवैस्नवभ्यो नमः ॥ अथ श्री भक्तमाल टीकासहित लिख्यतें ॥ तहा अर्थ भक्तमाल मै लिख्यो है ॥

भक्त भक्ति भगवतंरु सो व्यारिस रूप लिख्ये है ॥ तहां हरिको सरूपन लिख्यो जाय। क्योंकि कठिन है कवित्त ॥

रूप की अवधि ग्रैसी ग्रौरन बनाई विधि जाके लषिवे को लाल देवता मनाइवो ताकी सोभालषिवेको बैठत

गरब करि अनंत हि मन होत घूमि धन नाइबो। ग्रैसी भाँति आप आप कूर कहिवाय गये चतुर

चितेरे तिन्हें कहां लों गिनवाइवो ॥ कृस्न प्रान प्यारे वह चित्रनि विचित्र गति कान्ह पैन बनै वाके चित्र को वनाइवो ॥१॥

लिखन बैठी जाकी छबि गहि गहि गरव गरूर। भये न के ते जगत के चतुर चितेरे कूर
चतुर चितेरे जो लिखे रचि पचि मूरति वाल। वह चितवनि वह मुरिचलनि कैसे लिखै जमा ॥
कठिन लिखन अतिसय महा कैसे कै लिखि जाय यशुदा सुत के वरन वपु कहो मोहि समुझाय

नृत्तर मन गति अति सै रोकि कै हितचित मति करि एक ॥
लिखै मधुर मूरति विसद जीवन गुरुपद टेक ॥३॥

अन्त-कवित्त—समर मे लह्यौ जाय गिरिहू गिरयौ जाय गगन में फिरयौ जाय पावक मे दहियो
कानन मे रह्यौ जाय विरह हू सह्यौ जाय पाल कर गह्यौ जाय और कहा कहिवो।
हलाहल पियो जाय करतब कियो जाय सर्व सुनियो जाय साखि को कहिवो
और दुख पाहू से दुसह कठिन अतो जैसो कान्ह कर संग एक क्षिण रहिवो ॥

वि०-- श्रीकृष्ण-जीवन सम्बन्धी प्रसिद्ध पोथी है।

टि०-- इस ग्रंथ में एक साथ ही कई टीकाकारों की टीका प्रतीत होती है। लेखनशैली प्राचीन है। टीकाकार श्री प्रियदास जी हैं। दूसरे टीकाकार श्री नारायणदास जी हैं। ज्ञात होता है; श्री नारायणदास जी ने मूल की टीका की है और श्री प्रियदास जी ने उस टीका की टीका की है। ग्रंथ के अन्त में लिखा है:--

"अस्तुति श्री मूल कार नारायणदास जू की ॥ छप्पै ॥

नमो नमो महाराज नमो श्री नाभा स्वामी गुण निधान सब जान काल नृप अंतर जामी
भक्त माल सुख जाल भक्तिरस अमृत मीनी भगतुसिंधु को तरन धर्मनौका यह कीन्ही
भागोत धर्म सव सु कथन को चतुर्वेद प्रगट्यौ मही जन लालदास कै आस यह चरण सरण राखो सही ॥१॥

दोहा–वार वार वंदन करो नाभा ग्राभा ग्रैन काठनौगा भा वेद को श्री भक्तमाल सुख देन ।।

अथ लिखके प्रार्थना (संभवतः इसका ग्रभिप्राय है––लेखक की पाठकों के प्रति ग्रभ्यर्थना)––

नाभा स्वामी मूल कृत तिलक प्रियाभृतु कीन्ह वैस्नव पुनि पर्याय करि लाल ग्रनुग लिखी लीन्ह १
जो टिप्पन पूरव किये वैस्नव दास प्रमाण ता सम मथन मीन कृत क्षेम दास गुरु जाण २
पुनि छै टिप्पन समुझि हित ठौर ठौर जीन कीन्ह दास दास के दास कृत लाल दास मतहीन ३"

इससे ज्ञात होता है कि प्रारम्भ में 'तिलकप्रिया' टीका किसी ने की थी। बाद में "वैस्नवदास", "क्षेमदास" ग्रौर "नारायणदास" तथा "प्रियादास" ने व्याख्या की है।

टीककार ने गीता के अतिरिक्त बिहारी ग्रौर सूर के भी उद्धरण दिए हैं। ग्रंथ के ग्रन्त में लिपिकार ने ग्रपने विषय में लिखा है:––

श्रोता वकता जुगल सो वीनै करि कर जोरि लघु वीशाल ग्रक्षर परयौ सो सव वांचिय जोरि
नाभा कृत जो मूल है टीका कृत प्रियादास पुनि वैस्नव टिप्पन कीयो भक्तमाल सुख रास ।।
फागुन माह के पक्ष में शुकल पक्ष के वीच तिथी एकादशी जानिये मध्याह्न के बीच
सस्मत सतनुनैस के माह एगारह जान भीष्मदास पुस्तक लिषी, रावीवार परमान ।।६।।
कहल गाव के दक्षिन पकरवला स्थान तहा बैठि पूरण कीये गुरु पद करिहीये ध्यान ७

इस ग्रंथ के ग्रनुसंधान से संभावना है कुछ महत्व को सामग्री प्राप्त हो।

यह ग्रंथ श्री ग्रवधदास साहब जो महंत, कबीरमठ, रोसड़ा, दरभंगा के सौजन्य से प्राप्त किया।

आदिकवि की महत्ता

भारतीय काव्य–साहित्य के ग्रारम्भ में ही कवि वाल्मीकि ने साहित्यकार की तटस्थता को निर्मूल कर दिया––भाव-सौंदर्य ग्रौर शब्द-संगीत को उन्होंने ग्रभिन्न रूप से मानव-हृदय की श्रेष्ठ भावनाग्रों के साथ जोड़ दिया; ग्रौर तब कवि ने सात कांड, पाँच सौ सर्ग ग्रौर चौबीस हजार छन्दों का महाकाव्य रामायण रचा। इसमें उन्होंने कौशल्या ग्रौर सीता के करुण जीवन का मार्मिक चित्रण किया; भरत के त्याग, रावण की क्रूरता ग्रौर राम की शूरता तथा धीरता का वर्णन किया। हर काण्ड ग्रौर हर सर्ग में यह वनवासी कवि न्याय का समर्थन ग्रौर ग्रन्याय का विरोध करता रहा है। उसकी सहानुभूति पीड़ितों के साथ है, पीड़ा देनेवालों के लिए उसके हृदय में जलता हुग्रा क्रोध है। यह कवि मानवता का समर्थक है ग्रौर ग्रपने चरितनायक राम से भाग्य को चुनौती दिलाता है––"दैव सम्पादितो दोषो मानुषेण मयार्जितः।" भाग्य ने सीताहरण कराया, राम ने मनुष्य की गौरव-पताका फहराते हुए रावण का वध ग्रौर भाग्य-दोष का निवारण किया।

––डा० रामविलास शर्मा (राष्ट्रभारती, वर्धा; फरवरी, १९५१ ई०)

संकलन

एशिया में हिन्दी

हिन्दी को पहले तो अपने देश को एक दृढ़ सूत्र में बाँधना है--उसके साहित्य को भारतीय जन की आत्मा का वाहक बनना है; हिन्दी-साहित्य में ऐसा निर्माण होना आवश्यक है, जिसे बिना संकोच उत्तर से दक्षिण-और पूर्व से पश्चिम तक का जन अपना कह सके। इसके साहित्यिक को देश के प्रत्येक भू-भाग की उन विशेषताओं को उभार कर ऊपर लाना आवश्यक है, जो सामान्यतः भारतीय हैं और समस्त क्षेत्रों में साधारण हेर-फेर से व्याप्त और प्रचलित मिलती हैं। हिन्दी-साहित्य के व्रती देश के प्रत्येक खण्ड में जाकर अपने प्रत्यक्ष अनुभव से उस भारतीय राष्ट्रीय-स्वरूप के दर्शन करें--उसे उभार कर प्रस्तुत करें। देश के कार्य के साथ उसे देश से बाहर के लिए भी उपयोगी बनने की शक्ति और इच्छा प्राप्त करनी है–बहुत ठीक समय पर राहुल सांकृत्यायन जी ने एशिया के लिए हिन्दी की उपयोगिता का प्रश्न छेड़ा है–उन्होंने बताया है कि–"संस्कृत एशिया के बहुत बड़े भाग में हमारे सांस्कृतिक सम्बन्ध का माध्यम रही। उस समय संस्कृत भारतवर्ष में भी सांस्कृतिक तथा राजनीतिक माध्यम का स्थान रखती थी; लेकिन आज उसे व्यवहार्य न समझकर हम हिन्दी को देश के भीतर सबके लिए साधारण माध्यम स्वीकार कर रहे हैं। हिन्दी वह काम आसानी से कर सकती है (जहाँ तक एशिया का सम्बन्ध है) जो किसी समय संस्कृत किया करती थी।" इस चर्चा में तो राहुल जी ने हमारा ध्यान मुख्यतः पारिभाषिक शब्दों के निर्माण की ओर आकर्षित किया है। पर हमारा कहना तो यह है कि हमें हिन्दी के साहित्यकार के नाते एशिया में पहले तो "संस्कृत" का पुनरुद्धार करना है---संस्कृत का ही नहीं; एशिया के समस्त देशों और भाषाओं में 'भारत' को ढूँढ़ना है। एशियाई देशों में भारत के राजदूतों का ध्यान इस ओर अवश्य जाना चाहिए और उस देश में ऐसी कोई भी चीज जिसका भारत की किसी भी वस्तु से साम्य हो तो उसका संग्रह अवश्य करें---नहीं, उनका, सरकार का, भारतीय संस्थाओं का, हिन्दी-साहित्यकारों का, सब का यह कर्त्तव्य है कि वे एशिया के कोने-कोने में जाकर 'भारत' को ढूँढें--भारत एशिया में व्याप्त रहा है; आठवी-नवीं शताब्दी से, आज एक हजार वर्ष से, उसे अपने देश से बाहर अपने स्वरूप को नहीं देखने दिया गया है---अब स्वतन्त्र होकर तो उसके द्वारा अपना खोया हुआ रूप फिर प्राप्त किया जा सकता है। हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन और विश्वविद्यालयों को चाहिए कि वह एम० ए० में हिन्दी लेनेवाले विद्यार्थी के लिए एक भारतेतर एशियाई भाषा का अध्ययन अनिवार्य कर दे! हमारी सरकार को भी उचित है कि एशियाई भाषाओं को विश्वविद्यालयों में स्थान दिलावे।

--'साहित्यसंदेश' (आगरा), फरवरी १९५१ ई० (सम्पादकीय)

'प्रसाद' की महत्ता

प्रसाद-जयन्ती पर जो श्रद्धाञ्जलियाँ अर्पण की गईं उनमें हमारा ध्यान खिंचकर उन शब्दों की ओर जाता है जो 'प्रसाद जी' के समान ही महान कवि डा० श्री मैथिली शरण गुप्त ने साहित्यकार-संसद्-भवन में प्रसाद जी का तैल-चित्र-उद्घाटन करत समय कहे--"प्रसाद जी भविष्यद्रष्टा थे। उन्होंने हिन्दी को और मानवता को अपने साहित्यिक कृतित्व द्वारा जो देन दी वह आज भी जीवित है और भविष्य में भी जीवित रहेगी।" यह महाकवि अपनी रचनाओं के सम्बन्ध में भी एक अभिमत तुलनात्मक दृष्टि से प्रकट कर गया। उन्होंने कहा--"मेरा कार्य तो वर्तमान का था और शायद वह मेरे जीवन के साथ ही समाप्त भी हो जाय; किन्तु प्रसाद जी का साहित्य अतीत की निधि के रूप में भावी पीढ़ियाँ बराबर सँजोती रहेंगी।" इस महाकवि के स्वाभाविक शील के अनुकूल ही ये शब्द हैं; किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि 'प्रसाद' के साहित्य की भावभूमि का स्तर बहुत ऊँचा है, और वे वस्तुतः अमृत-पुत्र हैं। 'प्रसाद'--जैसे महाकवि के लिए आज मैथ्यू-आर्नल्ड--जैसे आलोचक की आवश्यकता है, जो विश्व-काव्य में तुलना-पूर्वक 'प्रसाद' के साहित्य का यथार्थ मूल्यांकन कर सके। आधुनिक काल के कवियों में प्रसाद भी हरिश्चन्द्र की भाँति युगप्रवर्त्तक थे। उनसे हिन्दी के आधुनिकतम काल का श्रीगणेश होता है। उनके साहित्य में वर्तमान समय की सभी प्रवृत्तियों के दर्शन होते हैं। जैसे, छायावाद, रहस्यवाद, दुःखवाद तथा सांस्कृतिक गौरवमय देश-प्रेम आदि के दर्शन होते हैं। वे मुक्तककार तो थे ही, किन्तु 'कामायनी' के रूप में उन्होंने एक अमर प्रबन्ध-काव्य भी दिया। वे प्राचीनता के उपासक थे और 'कामायनी' में अतीत की सुदूर पृष्ठभूमि में पहुँच गये थे, जहाँ कल्पना के भी पैर लड़खड़ाने लगते हैं। 'कामायनी' में उन्होंने भारतीय ज्ञान, इच्छा और क्रिया के समन्वय और श्रद्धा के प्राधान्य का उद्घाटन किया। उन्होंने अपने काव्य द्वारा 'श्रद्धावान् लभते ज्ञानं'—गीता की इस उक्ति को सार्थक कर दिया। उन्होंने नाटकों के क्षेत्र में भी युग-परिवर्तन किया। उनमें हमको द्विजेन्द्र की ऐतिहासिकता और रवीन्द्र की भावुकता --दोनों के ही पूर्णरूपेण दर्शन होते हैं। उनके पात्रों की त्यागमयी कर्मनिष्ठा और सांस्कृतिकता के कारण गर्व से हमारा मस्तक ऊँचा हो जाता है। प्रसाद जी पूर्णरूपेण भारतीय थे और भारत को उन पर गर्व है। प्रसाद-साहित्य के अध्ययन के लिए उनकी पुस्तकों पर और भी टीकाएँ और समालोचनाएँ निकलने की आवश्यकता है जिससे हमारी जनता उनकी कविता का मर्म भली प्रकार समझ सके।

--साहित्यसन्देश, आगरा; मार्च १९५१ ई० (सम्पादकीय)

साहित्य-निर्माण

साहित्यकार के साथ उसके समसामयिक कितनी ही बार अन्याय कर बैठते हैं वे उसके मूल्य को नहीं समझते। उनमें से कितने ही साहित्यकार के चल बसने पर पाश्चात्ताप करते हैं और कितने ही अपने जीवन भर अपनी बात पर अड़े रहते हैं। यह भी एक कारण है कि हम अपने समसामयिक साहित्यकार की कितनी ही कृतियों का ठीक से मूल्यांकन नहीं

कर पाते। पिछले दस वर्षों के गद्य-पद्य पर जब हम एक दृष्टि डालते हैं, तो मात्रा में ही नहीं, गुण में भी उसमें कोई ऐसी बात नहीं देखते, जिससे हम यह कह सकें कि हिन्दी-साहित्य में गति-अवरोध हो गया है। हरएक कवि की हरएक कविता बड़े ऊँचे दर्जे की होगी, इसकी तो कभी भी आशा नहीं की जा सकती। किन्तु हिन्दी के एक दर्जन ऐसे कवि अवश्य हैं, जिनको 'कवि' कहा जा सकता है जिनकी कृतियों में पाठकों को रस और चमत्कार दिखाई पड़ता है। कथाकारों और निबन्धकारों में भी हम कल्पना और सूझ की दरिद्रता नहीं दिखाई पड़ती। हाँ, यह त्रुटि अवश्य खटकती है कि हमारे प्रतिभाशाली साहित्यकार आदि शूर अधिक देखने में आते हैं, लेकिन वे थोड़ी सफलता मिलते ही अपनी पुरानी कमाई पर जीवित रहना चाहते हैं। हिन्दी के साहित्यकारों के प्रति और अधिक उदारतापूर्वक धारणा बनाने की आवश्यकता है। हमारे सभी कवि या कथाकार या निबन्ध-लेखक सड़ियल, तीसरे दर्जे के लिक्खाड़ हैं, यह धारणा गलत है। साहित्यसृजन की गति को हम ज्यादा बढ़ा सकते हैं। मात्रा और गुण में भी ऊँचा उठा सकते हैं।' यदि हम हिन्दी के कलाकारों पर निष्पक्ष होकर विचार करें। मैं ऐसे कितने ही साहित्यकार तरुणों के नाम दे सकता हूँ, जिनकी कृतियाँ मेरे जैसे शुष्क हृदय वाले व्यक्ति को भी प्रभावित करती हैं, लेकिन उनका नाम मैं नहीं देना चाहता, क्योंकि इससे किसी और के साथ अन्याय हो सकता है। प्रेमचन्द के जीवन में उनको परखनेवाले भी थे; किन्तु ऐसे भी साहित्यिकों की कमी नहीं थी, जो उनके महत्व को नहीं समझते थे। यह बात आज के भी हमारे कितने ही साहित्यकारों के सम्बन्ध में घटित होनी बिल्कुल संभव है। हिन्दी को इस योग्य बनाना आवश्यक है कि विश्व के सभी साहित्यों की अनमोल निधियाँ हिन्दी के माध्यम द्वारा प्राप्त हो सकें। लेखक और साहित्यकार का अध्ययन जितना ही विशाल हो उतना ही अच्छा है। और, अब तो जब हिन्दी भारत की राजभाषा हो गई है, उसका स्थान विश्व के स्वतंत्र देशों की समुन्नत भाषाओं में होने जा रहा है। उस समय तो यह और भी आवश्यक है कि हिन्दी द्वारा विश्व की सभी भाषाओं, सभी ज्ञान-विज्ञानों की सामग्री प्रस्तुत की जाय। यह कोई कठिन काम नहीं है। हमारे हिन्दीभाषी भाई दुनिया के सभी हिस्सों में पहुँचे हुए हैं। बहुत-सी भाषाओं के ज्ञाता भी उनमें मिलेंगे। हिन्दी-पाठकों का क्षेत्र इतना विस्तृत है कि प्रामाणिक तथा अच्छे ढंग से लिखी किसी पुस्तक के दो-तीन हजार के संस्करण का साल भर में खतम हो जाना मुश्किल नहीं है।

—महापंडित राहुल सांकृत्यायन (राष्ट्रभारती, वर्धा; फरवरी १९५१ ई०)

अमीर खुसरो की गुरुभक्ति

ख्वाजा निजामुद्दीन औलिया खुसरो के धर्मगुरु थे। खुसरो उन्हें बहुत मानते और उनसे प्रेम करते थे। उनके मरने की खबर सुन कर खुसरो धीरज खो बैठे। गिरते-पड़ते दिल्ली पहुँचे और कब्र पर आकर खूब रोये; अपनी सारी कमाई लुटाकर कब्र पर झाड़ू देने लगे। अन्त में छः महीने बाद इसी दुख में घुल-घुल कर संसार से विदा हुए। निजामुद्दीन

औलिया ने वसीयत की थी कि खुसरो को मेरे बराबर दफ़न करना; पर इस डर से कि गुरु और चेले की कब्र को पहचानना कठिन हो जायगा, वे ख्वाजा की पाँयती दफ़न किये गये। निजामुद्दीन औलिया कहा करते—"जब ईश्वर मुझसे पूछेगा, निजामुद्दीन! मेरे लिए क्या लाए? तो मैं खुसरो को पेश कर दूँगा।" खुसरो को वह 'तुर्क' कह कर पुकारते थे, कभी 'मेरा तुर्क' कहते थे। फ़ारसी में तुर्क 'प्यारे' को कहते हैं। वरदान माँगते समय वे कहा करते थे—'हे अल्लाह! इस तुर्क के अच्छे कर्मों के बल पर मेरे अपराधों को क्षमा कर देना।' वे आम तौर पर कहा करते थे—"अगर कोई मेरे सिर पर आरा रखकर यह कहे कि अपने तुर्क को त्याग दो, तो मुझे सिर पर आरे का चल जाना मंजूर होगा, पर तुर्क का त्याग करना नहीं।" रात की नमाज के बाद जब ख्वाजा आराम फरमाते तो फिर किसी की हिम्मत न थी कि उनके पास चला जाय, पर खुसरो अन्दर चले जाते थे। ख्वाजा पूछते—"कहो तुर्क, क्या समाचार है?" अमीर बातें करते, दिन-भर की खबरें सुनाते; कभी कोई कहानी सुनाते, फिर उनके तलवे सहलाते, और जब उन्हें नींद आ जाती तो तलवों पर आँखें रख सो जाते। ख्वाजा कहा करते थे—"ऐ तुर्क, मैं सबसे उकता जाता हूँ, पर तुझसे नहीं उकताता।" बादशाह जलालुद्दीन खिलजी ख्वाजा निजामुद्दीन के पास जाना चाहता था, पर वे आज्ञा नहीं देते थे। बादशाह खुसरो से बोला—"मैं बिना आज्ञा के ही जाऊँगा; पर यह बात ख्वाजा को न मालूम हो।" खुसरो घबराए कि नहीं कहता तो ख्वाजा नाराज होंगे और कह देता हूँ तो बादशाह बिगड़ेगा। अन्त में उन्होंने यह बात ख्वाजा से कह दी। यह सुनकर ख्वाजा कहीं चले गये। बादशाह को जब यह खबर लगी तो बादशाह समझ गया कि हो न हो, यह काम खुसरो ही का है; बुलाकर पूछा तो अमीर ने जवाब दिया—"सरकार, आप नाराज होंगे तो नौकरी जायगी, ज्यादा-से-ज्यादा यह होगा कि जान जायगी पर गुरुदेव नाराज हो जाते तो धर्म जाता।" यह जवाब सुनकर सुलतान चुप हो गया।

—मक्तबा जामिया की 'अमीर खुसरो' जीवनी से

पं० जवाहरलाल नेहरू का जीवनदर्शन

अभिमान की तह आदमी पर चर्बी की तरह धीरे-धीरे अनजाने चढ़ती रहती है। यह जिस आदमी पर चढ़ जाती उसे पता नहीं चलता कि रोजाना वह कितनी चढ़ती जाती है। मगर खुशकिस्मती से इस पागल दुनिया की सख्त चोटों से वह कम भी हो जाती है या बिलकुल उतर भी जाती है। हिन्दुस्तान में तो पिछले वर्षों में हम पर इन सख्त चोटों की कोई कमी नहीं रही है। जिन्दगी का स्कूल हमारे लिए बहुत सख्त रहा है, और कष्ट-सहन दरअसल बड़ा सख्त काम लेनेवाला मास्टर है। प्रगति में, शुभ कार्यों में, आदर्शों में, मानवी सज्जनता में और मानव-भविष्य की उज्ज्वलता में विश्वास! क्या ये सब परमात्मा की श्रद्धा के साथ मिलते-जुलते नहीं हैं? यदि हम इनको बुद्धि और तर्क से साबित करना चाहें तो तुरन्त कठिनाई में पड़ जायँगे, पर हमारे अन्तस्तल में कोई ऐसी वस्तु है, जो इस आशा—इस विश्वास से चिपटी हुई है, अन्यथा इसके बिना जीवन एक जलाशयहीन मरुस्थल के समान

हो जाय। सुदूर पर्वत सुगम्य और उस पर चढ़ना सरल मालूम होता है; उसका शिखर आवाहन करता दिखाई देता है; लेकिन ज्यों-ज्यों हम उसके नजदीक पहुँचते हैं, कठिनाइयाँ दिखाई देने लगती हैं। जैसे-जैसे ऊँचे चढते जाते हैं, चढ़ाई अधिकाधिक मालूम होने लगती है और शिखर बादलों में छिपता दिखाई पड़ने लगता है। फिर भी चढ़ाई के प्रयत्न का एक अनोखा मूल्य रहता है और उसमें एक विचित्र आनन्द और एक विचित्र सन्तोष मिलता है। शायद जीवन का मूल्य पुरुषार्थ में है, फल में नहीं। अक्सर यह जानना मुश्किल हो जाता है कि सही रास्ता कौन-सा है। कभी-कभी यह जानना आसान होता है कि कौन-सा रास्ता सही है और उससे बचे रहना भी श्रेयस्कर होता है। अत्यन्त नम्रता के साथ मैं महान् सुकरात के अन्तिम शब्दों का उल्लेख करना पसन्द करूँगा। उसने कहा था--"मैं नहीं जानता कि मृत्यु क्या चीज है--वह कोई अच्छी चीज हो सकती है, और मुझे उसका कोई भय नहीं है। लेकिन मैं यह जानता हूँ कि वह खराब है, उसकी अपेक्षा जो अच्छा हो सकता है वह काम करना मैं पसन्द करता हूँ।

--जवाहरलाल नेहरू (प्रवाह, अकोला; अप्रैल, १९५१ ई०)

कला और सदाचार

कला अपने उत्कृष्ट रूप में अनुराग को बढ़ाती है, जीवन को उत्साह प्रदान करती है। अनुराग को बढ़ाने के साथ-साथ यह उसे स्वच्छ और बढ़िया बनाती जाती है। यह मानव के क्षितिज को बढ़ाती है। जीवन को केवल भौतिक आशाएँ जीवन को कालकोठरी बनाती हैं, एक कारागार बनाती हैं। कला के प्रभाव में दीवारें बढ़ती हैं, छत ऊपर उठती है और जीवन एक मन्दिर बन जाता है।--कला कोई 'प्रवचन' नहीं है और कलाकार कोई 'उपदेशक' नहीं है। कला किसी को बिना कोई आदेश दिये अपना काम करती है। जो सुन्दर है, वह स्वच्छ बनाता है। कला की सम्पूर्णता चरित्र की सम्पूर्णता की ओर निर्देश करती है।··कला का काम है इस तरह का वायुमण्डल पैदा कर देना जिसमें गुण अपने आप फलें-फूलें। वर्षा बीजों को कभी व्याख्यान नहीं देती। प्रकाश लताओं और फूलों के लिए कभी नियम नहीं बनाता।··हर मस्तिष्क एक कला भवन है और हर व्यक्ति कम या अधिक मात्रा में एक कलाकार है। संसार की दीवारों और ताकों को सुशोभित करनेवाले चित्र और मूर्तियाँ, संसार के वाङ्मय के पृष्ठों को सुशोभित करनेवाले शब्द—सबके सब आरम्भ में मस्तिष्क के निजी कला-भवन को ही सुशोभित करते रहे हैं। कलाकार अपने मस्तिष्क के चित्रों की, दूसरों के मस्तिष्क के चित्रों से, जिन्होंने अब दृश्यरूप धारण कर लिया है, तुलना करता है। यह चित्रों के उन अंशों को, जो सम्पूर्णता के समीपतम हैं, चुनता है, उन्हें इकट्ठा करता है और उनसे फिर नये चित्र, नई मूर्तियाँ बनाता है, और इस प्रकार वह 'आदर्श' की रचना करता है।·· रूप और रंग के सहारे इच्छाओं, कामनाओं और आकांक्षाओं को व्यक्त करना; संगमरमर के माध्यम से प्रेम, आशा और वीरता को चित्रित करना; शब्दों का आधार लेकर स्वप्नों और संस्मरणों के चित्र बनाना; गान के सहारे ऊषा की पवित्रता, मध्याह्न की तेजस्विता, सन्ध्या की कोमलता और रात्रि की नीरवता को

व्यक्त करना, अदृश्य को दृश्य और स्पर्श करने योग्य बना देना और संसार की सर्वमान्य चीजों को मस्तिष्क के हीरे-मोतियों से सजा देना—यही कला है।

—कर्नल इगरसोल—अनु० भदंत कौसल्यायन (**रा० भा०, वर्धा, अप्रैल ५१ ई०**)

कलाकार आंद्रेगाइद

विगत फरवरी मास (१९५१ ई०) में फ्रांस के सुप्रसिद्ध उपन्यासकार, कवि, नाट्यकार एवं नोबेल-पुरस्कार विजेता आन्द्रेगाइद के असामयिक निधन से विश्व-साहित्य को भारी क्षति पहुँची है। उसका जन्म सन् १८६९ में फ्रांस में हुआ था। प्रारम्भ से ही वह उद्धत स्वभाव और विद्रोही प्रकृति का था। एक बार बाल्यावस्था में उसकी माँ ने उसे एक तंग कमीज पहनने के लिए बाध्य किया। किन्तु वह इतना हठी था कि उसे कभी कोई बन्धन सह्य न हुआ। उसने इसका भयंकर विरोध किया। उसके सम्पूर्ण कृतित्व में एक तीखी कचोट और सामाजिक रूढ़ीवादी परम्पराओं के प्रति विध्वंसक दुर्दमनीयता है। उसके व्यक्तिगत जीवन में निर्बाध स्वतन्त्रता की इच्छा, कठोर नियंत्रण का दबाव एवं उसके अन्तर्मानस में वह द्वन्द्व और दुर्दम्य इच्छाओं का आलोडन-विलोडन था, जिसमें मानव-मात्र की वेदना पुंजीभूत हुई थी। उसने कथा-साहित्य में नये प्रयोग किये। कथानक के पुराने साँचों को तोड़कर उसने उनका रुख बदला, चरित्र-चित्रण को नवीन विश्लेषणात्मक पद्धति से प्रस्तुत किया और पदार्थ को सामाजिक व्यक्तित्व दिया। सन् १९४७ में उसको साहित्यिक ग्रंथ पर नोबेल-पुरस्कार मिला था। वह साम्यवाद का जबरदस्त समर्थक था और रूढ़िग्रस्त सामाजिक और धार्मिक अव्यवस्थाओं, सामाजिक निषेधों एवं अन्धविश्वासों के विरुद्ध सामूहिक स्वातन्त्र्य का पक्षपाती। विगत महायुद्ध में फ्रांस की पराजय से उसके दिल पर गहरी चोट लगी थी और वह कुछ वर्षों के लिए उत्तरी अफरीका चला गया था, जहाँ वह अपनी डायरी लिखा करता था। कहते हैं कि उसने एक 'साहित्यिक वसीयतनामा' भी लिखा है, जो उसकी मृत्यु के पश्चात् प्रकाशित होगा।

—सम्पादकीय (**प्रवाह, अकोला, अप्रैल, १९५१ ई०**)

हमारे नेता और वक्तृत्व-कला

यह बात बिलकुल सही है कि जैसे लेखन-कला के प्रचार से ज्ञानप्राप्ति का मार्ग सुलभ हुआ है, वैसे ही छापने की कला के प्रचार से यह मार्ग सैकड़ोंगुना अधिक सुलभ और विस्तृत हो गया है; किन्तु अब यह महसूस किया जाने लगा है कि अपने विचार जनता तक पहुँचाने के लिए लेखन से भी अधिक प्रभावशाली 'वक्तृत्व' हो गया है। वक्तृत्व भी कला का एक अंग बन गया है। उसका जनता पर बहुत असर होता है और वह असर क्षणिक न होकर स्थायी होता है। यदि किसी को अपने विचार प्रगट करना होता है तो वह लेखन से तथा भाषण से प्रगट करता है। लेखन द्वारा प्रगट किये गये विचारों का लाभ वही उठा सकते हैं

जो पढ़े-लिखे हों अथवा जो उक्त लेखन को खरीद कर पढ़ सकें। कभी-कभी तो ऐसा भी होता है कि पढ़े-लिखे व्यक्ति भी खरीदने की शक्ति नहीं रखते, इसलिए वे विचारों से वंचित रह जाते हैं। यही कारण है कि बहुत-से नेता तथा प्रचारक लेखन के साथ-ही-साथ जनता के बीच आकर भाषण भी करते हैं। उससे दो लाभ होते हैं--(१) जनता के बीच जाने का अवसर मिलता है और जनता के दर्शन होते हैं; (२) जनता को अपनी बात अच्छी तरह समझाई जा सकती है। यही कारण है कि गाँधी जी ने सारे भारत का दौरा कर अपने भाषणों से जनता में क्रांति पैदा की। जनता ने उन्हें अच्छी तरह समझने का यत्न किया। उन्हें सफलता भी मिली। जनता के बीच जाने में वक्ता को तो आनन्द होता ही है; किन्तु जनता भी वक्ता को अपने बीच पाकर प्रसन्न हो उठती है। जो बात हम दस लेख लिख कर नहीं कर सकते, वह बात एक भाषण से हो सकती है। इसलिए वक्तृत्व-कला का अपना महत्त्व है। भगवान बुद्ध, स्वामी महावीर, शंकराचार्य आदि हमारे पूर्व विद्वानों ने व्याख्यानों द्वारा जनता के हृदय को जीता था। जितने बड़े-बड़े आंदोलन इस देश में हुए उन्हें सफल करने में व्याख्याताओं का हाथ था। वक्तृत्व-कला का विकास समय के अनुसार हो रहा है। और धीरे-धीरे उसका महत्त्व भी लोगों को ज्ञात हो रहा है। उसके ही बल पर बड़े-बड़े चुनाव जीत लिये जाते हैं, बड़े-बड़े राज्य ले लिये जाते हैं और असम्भव भी सम्भव हो जाता है। आज जनता उस व्यक्ति के वक्तृत्व की इज्जत करेगी जो आकाश पर पैर न रख धरती पर पैर रखकर चलेगा--जो दीन, हीन, असहाय और कुचली हुई जनता के हित की चिन्ता कर उसके दुख-सुख का भागी बनेगा। अब कुर्सियों पर बैठकर आदेश देने की राजनीति का खात्मा हो गया है। किन्तु अब धरती पर चलकर और लोगों के कंधे से कंधा भिड़ा कर चलने के दिन आ गये हैं। अब वही इस संसार में सफलता प्राप्त करेंगे। वक्तृत्व के पीछे साधना, तपस्या और कर्तव्य-परायणता का होना मणिकांचन का संयोग है।

--विद्याविलास शुक्ल (प्रवाह, अकोला; फरवरी, १९५१ ई०)

संत कवियों का समाज पर प्रभाव

संत-साहित्य को पढ़ने का अर्थ है सारे भारतवर्ष को खुले रूप में पढ़ना। इसका बहुत-सा साहित्य मिलता भी नहीं है। इस सम्बन्ध में मुझे एक बालक का स्मरण हो आया। जब मैं रेल में आ रहा था तो मैंने देखा कि एक लड़का बड़ी तेजी से खाली मैदान में दौड़ रहा था। वह पंजाब-मेल को पकड़ने की कोशिश कर रहा था। कितना अजीब मालूम होता है। विपुल जड़ता के बीच एक बच्चा दौड़ रहा था। मुझे ऐसा लगा कि समय चला जा रहा है, उसे मानवता पकड़ने की कोशिश कर रही है। विपुल अचैतन्य और जड़ता के भीतर से मनुष्य दौड़ा चला आ रहा है। इस दौड़ को मनुष्य-समाज ने धर्मों की साधना, दर्शनों की व्याख्या आदि के रूप में व्यक्त किया है। समूची मानवता इसी प्रकार आगे बढ़ती जा रही है। मानवता की इस दौड़ का रूप तांत्रिकों की शवसाधना में भी देखने को मिलता है तांत्रिक जिस समय किसी मुर्दे को सिद्ध करने के लिए लेते हैं तो उसकी पीठपर बैठते हैं।

कहा जाता है कि मन्त्र पढ़ते-पढते वह मुर्दा जी उठता है और सामने देखने लगता है। उसके बाद वह सिद्ध हो जाता है और उससे जो वरदान चाहें वह प्राप्त किया जा सकता है। जाति-उपजातियों में विभक्त यह जो देश है, यही हमारे लिए बड़ा ग्रन्थ है। इसी का अध्ययन करने के लिए विश्वविद्यालय साधन जुटाते हैं। खँड़हरों, भग्नावशेषों, छिन्न पत्रों--इन्हीं को लेकर हम जीवन के मूल स्रोत को ढूँढ़ते हैं। एक ईंट का हमारे लिए बहुत मूल्य है। जड़ प्रकृति का सर्वोत्तम विकास मनुष्य का शरीर है। इच्छा-द्वंद्वों से विनिर्मुक्त होने के कारण मनहीन होकर मृत शरीर वस्तुतः शिवरूप होता। इसीलिए तान्त्रिक जब सिद्ध कर लेता है (पता नहीं, दर-असल ऐसा होता है या नहीं, किन्तु कहा यही जाता है) तब शव का मुँह ऊपर की ओर उठता है। यदि इन विश्वविद्यालयों के जरिये हम अतीत की ओर से भविष्य की ओर बढते हैं--अर्थात् सब चीजों को भविष्य में निर्माण की ओर लगाते हैं, तभी हम शव को चेतन करने में समर्थ हुए, तभी हमारी शवसाधना सफल हुई--समझना चाहिए। मनुष्य यह साधना सनातन काल से करता चला आया है और इसी साधना का पहलू संत-साहित्य है। संत-कवियों में बहुतों ने नाम देखने से पता चलता है कि वे समाज के निम्न वर्ग के थे, जिन्हें लोग नीच जाति के कहते हैं। किन्तु सामाजिक दृष्टि से इनकी बड़ी भारी देन यह है कि उन्होंने वैराग्य नहीं ग्रहण किया। रीतियों और रूढ़ियों के विरुद्ध आक्रमण किया। कबीर और रैदास ने ऊँची-से-ऊँची बात कहकर भी अपना काम नहीं छोड़ा, वे कपड़ा बुनते रहे रैदास चमड़े का काम करते रहे। इसका उदाहरण हमें वैदिक काल मे मिलता है जब ऋषि लोग गृहस्थ होते थे, उनकी पत्नियाँ होती थीं, पुत्र होते थे। गृहस्थी छोड़ने की प्रवृत्ति सम्भवतः आर्येतर प्रभाव है। गृहस्थ-धर्म का इशारा करके ही कबीर ने एक बार जब उनसे लोगों ने 'रास्ता' पूछा, तो कहा--"मुझ से क्या पूछते हो, रैदास से पूछो, मैं तो माँ की गोद में चला आया। बच्चा छोटा रहता है तो माँ उसे गोद में लेती है, उसे बड़े की उँगली पकड़ाती हैं, और उससे बड़ा होता है तो उसके सर पर गठरी रख देती है। इस गठरी वाले को ही रास्ते का स्वयं ज्ञान होता है।" सांसारिक कर्त्तव्य-कर्म नियमपूर्वक करते रहने के कारण रैदास को प्रभु के रास्ते का अधिक ज्ञान है, कबीर का यह अभिप्राय था।

--आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी (प्रवाह, अकोला; फरवरी' ५१ ई०)

मौलाना अबुल कलाम आजाद और हिन्दी

भारत के शिक्षा-मंत्री माननीय मौलाना अबुल कलाम आजाद ने लाल किले में साहित्य-परिषद् का उद्घाटन करते हुए यह संदेश दिया है कि भारत में सभी को हिन्दी की समृद्धि का प्रयत्न करना चाहिए। वास्तविक बात तो यह है कि यदि हमारा केन्द्रीय शिक्षा-विभाग ही शिक्षा-मंत्री के इस सन्देश को ग्रहण कर सके, तो राष्ट्रभाषा और राजभाषा की समस्या हल होने में अड़चनों का बहुत अभाव हो जाय।

--साहित्यसन्देश, आगरा, अप्रैल, १९५१ ई० (सम्पादकीय)

नवीन....और....उल्लेख्य

['साहित्य' में आलोच्य पुस्तकों की दो प्रतियाँ संपादकों में से किसी एक के नाम आनी चाहिए।]

साहित्यायन *

कई साल पहले हिन्दी में निबन्धों का जैसा अभाव था, वैसा अब नहीं रहा। हिन्दी में इधर कई अच्छे निबन्धकार निकले हैं, जिनके साहित्यिक विचारों में चिन्तन-मनन का तत्त्व काफी मिलता है। कहीं-कहीं विचारों में साम्य होना स्वाभाविक है; पर अभिव्यंजना-शैली की वक्रता और ध्वन्यात्मकता से निबंधकार की प्रतिभा-शक्ति का आभास मिल जाता है। हाँ, कुछ निबंधकार ऐसे भी मिल जाते हैं जिनकी विचारधारा में निर्मलता और सहज सरलता का अभाव खटकता है तथा अभिव्यंजना-प्रणाली में भी अस्पष्टता एवं दुरूहता लक्षित होती है। सन्तोष की बात है कि प्रस्तुत पुस्तक में जो विचार व्यक्त किये गये हैं, वे स्वाभाविक ढंग से अपने में मन को रमा लेते हैं और उनकी अभिव्यक्तियों में भी हार्दिकता पाई जाती है।

हिन्दीसंसार में बिहार के जिन निबन्धकारों ने प्रतिष्ठा पाई है उनमें एक इस निबंध-संग्रह के लेखक भी हैं। इनका एक और निबंध-संग्रह 'साहित्यिका' नाम स निकल चुका है। ये बिहार की वर्त्तमान पीढ़ी के कुशल कलाकारों में आदरास्पद स्थान पा चुके हैं। कथाकार, पत्रकार, कवि और समीक्षक के रूप में भी इन्होंने जो ख्याति पाई है उससे सभी साहित्यप्रेमी परिचित हैं। इस पुस्तक के बारह निबन्धों में यत्र-तत्र इनक सभी रूपों के दर्शन होते हैं।

पहला निबन्ध है 'युग का और युग-युग का'। उसमें लेखक ने एक जगह सच्चे साहित्य और साहित्यकार की परिभाषा इस प्रकार बतलाई है—"चिरन्तनता सच्चे साहित्य का गुण है, शाश्वतता श्रेष्ठ साहित्य का धर्म है। × × जो साहित्य युग-युग का होता है, हकीकत में वही साहित्यपदवाच्य है।"—"सच्चा साहित्यकार तो केवल युगद्रष्टा ही नहीं होता, युगस्रष्टा भी होता ह। वह युग से केवल ऋण लेनेवाला कर्जदार नहीं, युग को दान देनेवाला महाजन भी है। वह युग को ग्रहण करता है और उसे युग-युग का बना देता है।" इस कथन के प्रमाण-स्वरूप लिखा है—"शताब्दी पर शताब्दी समय के पंख पर अतीत हो गई, किन्तु रामायण-महाभारत का रस-स्रोत जैसा तब था वैसा आज भी है। उससे आनन्द की जो रागिनी तब झंकृत हुई थी वही आज भी हो रही है।" निबन्धों की सौन्दर्यवृद्धि में सूक्तियों का बड़ा महत्त्व होता है। ठौर-ठौर सूक्तियाँ भी इसमें अनायास आ गई हैं। यथा—

* लेखक—श्रीहंसकुमार तिवारी। प्रकाशक—मानसरोवर प्रकाशन, गया। पृष्ठ-संख्या—१६०, छपाई और जिल्द सुन्दर, मूल्य १॥)

"साहित्य और जीवन का धर्म ही लगभग एक नहीं, कालप्रवाह में दोनों एक नौका के यात्री हैं।" --"कपाल पर पसीना और कागज पर स्याही अनेक कलम के धनियों ने सुखाई, पर सब अमर नहीं हो सके।"

'साहित्यशक्ति का अपव्यय' नामक निबन्ध में लेखक ने हिन्दी-साहित्य की महत्ता पर अपनी पूरी आस्था प्रकट की है और साहित्यशक्ति के न बढ़ने तथा साहित्य का व्यापक प्रसार न हो सकने का कारण चेतनाशील पाठकों का अभाव बतलाया है। लिखा है-- 'जैसी कृतियाँ विश्व-साहित्य की सभा में आदर का स्थान पाती रही हैं, अपने साहित्य में उसके समकक्ष कृतियों का अकाल नहीं पड़ा है। × × साहित्य में भावों की जिस आग, आँधी और पानी से रूसो, ह्यूगो और गोर्की ने जन-जीवन की धारा बदल दी, युग-निर्माण किया, वह अपने साहित्य में भी है।" किन्तु लेखक की राय है और वह बहुत दूर तक ठीक भी है कि "हमारे यहाँ लेखक ही पाठक से ज्यादा हैं। × × अपने यहाँ ... साक्षरों में हजार में से संभवतः दो-चार व्यक्ति साहित्यानुरागी हैं और साहित्यिक-संस्कार-सम्पन्न तो उनमें से भी कुछ ही हैं। × × जहाँ देखिए, कवि से आँसू के बदले आग की माँग है, क्रान्ति की तान की प्रयोजना पर जोर दिया जाता है; किन्तु जिसके माध्यम से साहित्य द्वारा क्रांति रूप ले सकती है, उस पाठक-समाज का पता ही नहीं ! हम तो कहेंगे, समर्थ और स्वस्थ साहित्य तो आज भी है; किन्तु जिनके लिए वह है, वे कहाँ हैं? × × हमारे साहित्य की मंथर गति, कृश काया तथा अकर्मण्यता में लेखकों का जितना भी दोष चाहे हो, सबसे बड़ा दोष पाठकों का ही है। और दोष क्या दें, सच्चे पाठक ही नहीं के बराबर हैं।" इस निबन्ध में बहुत विस्तार और प्रामाणिक ढंग से हिन्दी-जगत् में सच्चे पाठकों की कमी बतलाई गई है। साहित्यशक्ति के विकास के लिए सुधी पाठकों का महत्त्व भी खूब दरसाया गया है--"अधिकतया साहित्यशक्ति की निरर्थकता से देश को अभागा बना देनेवाला दोषी उसका पाठक-समाज ही हुआ करता है। × × पाठक-समाज जितना ही चेतना-सम्पन्न, जितना ही विशाल होगा, साहित्य की शक्ति उतनी ही दृढ़ कार्यकरी और व्यापक होगी। × × साहित्यशक्ति को सम्पूर्णतया सार्थक करने का सारा श्रेय एक प्रकार से पाठकों का ही है।" परन्तु लेखक ने यहाँ एक सच्ची बात कहने से शायद परहेज किया है। वह बात यह है कि हिन्दी में बहुत-से लेखक और कवि ऐसे भी हैं जिनकी रचनाओं के समझने-योग्य पाठक कभी ब्रह्मा के घर गढ़े ही नहीं गये। बहुतेरी गद्य-पद्य-रचनाएँ सर्वथा दुर्बोध हैं, समझदार पाठक भी आखिर कहाँ तक मगजपच्ची करें? जो हो, इस निबन्ध की भी कुछ पंक्तियाँ वस्तुतः सूक्तियाँ बन गई हैं। जैसे--"जब तक स्रष्टा और द्रष्टा की अनुभूति, रसदृष्टि एक धरातल पर आकर एकाकार नहीं हो जाती तब तक रस आनन्द के आकार में परिवर्तित नहीं हो सकता। × × रचना के रस में रमने की योग्यता ही पाठक में उस संवेदनशीलता का समावेश करती है जिससे लेखक लिखने को अभिप्रेरित होता है। × × रस की प्रतीति गायक और श्रोता, कवि और पाठक, अभिनेता और दर्शक की तदाकारता होती है। जबतक दोनों की रसदृष्टि का सामञ्जस्य नहीं होता, इसकी सिद्धि हो ही नहीं सकती।"

इसी प्रकार 'साहित्य और सहज भाषा'–शीर्षक निबन्ध की कुछ पंक्तियों से भी लेखक की सूझ, अनुभूति और विचार-शक्ति प्रकट होती है। वे पंक्तियाँ स्वयं बहुत स्पष्ट हैं। यथा—"केवल शब्दों का कारुकार्य और कुछ हो सकता है, साहित्य नहीं हो सकता।"—"जो सही मानी में साहित्यकार हैं वे जटिल भाषा के पक्षपाती नहीं हो सकते।"—"भाषा की क्लिष्टता न तो साहित्य का सौंदर्य है, न साहित्यकार की साधना।"—"जो स्वयं सुलझे होते हैं, उनके साहित्य की भाषा स्वयं सहज होती है।"—"साहित्य के जो गुण हैं उनमें प्रसाद-गुण यानी सहजता को ही सर्वोपरि स्थान दिया गया है।" इस तरह लेखक ने इस निबन्ध में भी यह दिखलाया है कि साहित्यिक-संस्कारहीन पाठक के लिए सरल भाषा में साहित्य-रचना करना अत्यन्त कठिन है; क्योंकि सुबोधता का खयाल रखने पर भी 'साहित्य की भाषा जरा बाँकी हुआ करती है' और 'साहित्य में भाषा को रूपसृष्टि के लिए लाक्षणिक होना पड़ता है'।

—शिव०

श्री शिवनाथ, एम्० ए० की चार पुस्तकें

काशी के श्री शिवनाथजी हिन्दी के एक सिद्धहस्त निबंधकार हैं। उनकी छ-सात पुस्तकें निकल चुकी हैं जिनसे उनकी स्वाध्यायपरायणता और मननशीलता स्पष्ट प्रकट होती है। उनकी ये चारों पुस्तकें—हिन्दी-साहित्य की आर्थिक भूमिका, अनुशीलन, मीमांसिका और हिन्दी-नाटकों का विकास—अध्ययनशीलों के लिए बहुत उपयोगी हैं। इनमें पहली दो पुस्तकें प्रयाग के साहित्य-सम्मेलन से और पिछली दो प्रयाग के किताब-महल से निकली हैं। किताब-महल की दोनों पुस्तकें सजिल्द और ढाई-ढाई रुपये मूल्य की हैं तथा साहित्य-सम्मेलन की दोनों डेढ़-डेढ़ रुपये मूल्य की।

हिन्दी-नाटकों के क्रमविकास का इतिहास आरम्भिक युग से आधुनिक युग तक का दिया गया है। उसमें आरम्भिक झाँकी के बाद भारतेन्दु-युग, द्विवेदी-युग, छायावाद-युग आदि का आलोचनात्मक परिचय देते हुए पौराणिक, ऐतिहासिक और सामाजिक नाटकों पर भी लेखक ने समीक्षा-शैली में विचार किया है। तदुपरान्त गीतिनाट्य, समस्या-नाटक, एकांकी और ध्वनिरूपक का भी विवेचन-विश्लेषण बड़ा मार्मिक हुआ है। नाटककारों में श्री जयशंकर प्रसाद और श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र को ही प्रमुख स्थान मिला है। अन्त के एक स्वतंत्र अध्याय में रंगमंच पर भी प्रकाश डाला गया है। इस प्रकार यह पुस्तक उच्च कक्षा के साहित्य पढ़नेवाले विद्यार्थियों के लिए विशेष उपादेय प्रतीत होती है। लेखक ने इसके लिखने में काफी परिश्रम और अनुसंधान किया है, जिसके फल-स्वरूप पुस्तक प्रामाणिक तथा संग्रहणीय बन गई है।

शेष तीन पुस्तकों में साहित्य की विभिन्न समस्याओं पर लेखक के जो विचार हैं उन्हें पढ़ने से पता लगता है कि लेखक ने काफी सजग होकर बड़े मनोयोग के साथ साहित्यक्षेत्र की सभी दिशाओं का पर्यवेक्षण किया है। हमें लेखक के विचार बड़े संयत और ठोस जान पड़े हैं। 'आर्थिक-भूमिका' तो एक नई चीज जान पड़ती है। उसमें बहुत-सी बातें शान्त चित्त

से विचार करने योग्य हैं और साहित्यकारों का ध्यान आकृष्ट करने योग्य भी। ऐसा अनुमान होता है कि लेखक को साहित्य-सम्बन्धी विविध आवश्यक प्रश्नों पर तन्मयता से विचार करते रहने का अच्छा अभ्यास है। जब अपने साहित्यिक जीवन के आरंभ एवं विकास-काल में ही लेखक ने अपनी प्रतिभा और लगन का ऐसा सन्तोषप्रद परिचय दिया है तब निस्संदेह उससे भविष्य में और भी अधिक आशा की जा सकती है।

'अनुशीलन' और 'मीमांसिका' में क्रमशः पन्द्रह और अठारह निबन्ध हैं। सभी निबंधों के साथ उनका रचना-काल भी दिया हुआ है। उन्हें पढ़ने से लेखक के ज्ञान-क्षेत्र का विस्तार तो ध्यान में आता ही है, उसकी अनुभूति-शक्ति की प्रखरता भी अनुमित होती है। भावाभिव्यंजन का प्रकार मनोरम और हृदयग्राही है। भाषा की गति में तरलता और सरसता पर्याप्त है। हाँ, कहीं-कहीं अभिव्यक्तियों की गुत्थियाँ सुलझानी पड़ती हैं, पर उसमें कोई परेशानी नहीं होती। हमारी धारणा है कि ऐसे निबंधों से हमारे साहित्य की श्रीवृद्धि हुई है और हमारे निबन्ध-साहित्य की प्रगति हमें आशा एवं सन्तोष देनेवाली है।

—शिव०

साहित्य और समीक्षा*

'आधुनिक आलोचना अभी तक प्रयोगात्मक अवस्था में ही है। आलोचना की सम्भावनाएँ जितनी अनिश्चित आज हैं, उतनी पूर्व में कभी न थीं। कल तक शोध और मूल्यांकन के कुछ विशिष्ट पक्षों पर जो बल दिया जा रहा था, वह आज स्थानान्तरित हो रहा है और अनेक समस्याएँ, जो कुछ दिनों पहले समाप्त-सी हो गई थीं, आज फिर नये सिरे से उठ खड़ी हुई हैं। 'समाजशास्त्रीय' बाढ़ उतर रही है और उसके पीछे नई उर्वरभूमि, साहित्य और समाज के सम्बन्ध की अपेक्षाकृत अधिक निश्चित और समृद्ध भावना के रूप में, निकलती जा रही है। मनोविश्लेषण की तरंग भी लौट चली है। आलोचना के क्षेत्र में इसकी क्या देन होगी, कहना कठिन है। पर यह तो निश्चित है कि इसके साथ एक नया दृष्टिकोण, एक नई जिज्ञासा आई है और आलोचना के व्यापार-क्षेत्र में एक नया वृत्त जुड़ गया है। प्रभाववादी और 'बाह्य-मापदंडी' प्रवृत्तियों में एक प्रकार का समझौता हो चला है। यह अनुभव किया जा रहा है कि मापदंड अपने-आप में कुछ नहीं है; महत्त्व तो अनुभूतियों के उन प्रयत्नों का है जो प्रत्येक नये उदाहरण में उन्हें एक नये रूप-रंग में ढूँढ़ निकालते हैं; और इस प्रकार उनका अन्वेषण करना उनका पुनर्निर्माण करना है। वैयक्तिक स्वातन्त्र्य के सिद्धांत ने निर्णयात्मक आलोचना को मर्माहत कर दिया है और तुलनात्मक पद्धति से उत्पन्न प्रतिक्रियाओं ने उसका महत्त्व छीन लिया है। वैज्ञानिक प्रणाली में अब भी अनुसंधान जारी है और उसमें विकास की संभावनाएँ हैं।'

---

*लेखक—प्रो० केसरी कुमार, प्रकाशक—मोती लाल बनारसीदास, पटना—४, आकार—डिमाई, मूल्य—३)।

इन शब्दों में, जो केसरी कुमार जी के उपयुक्त निबन्ध-संग्रह के प्रथम लेख 'आलोचना की नई दिशा' के हैं, लेखक का वह दृष्टिकोण देखा जा सकता है जिसकी मौलिकता हिन्दी के आलोचना-साहित्य की सबसे बड़ी आवश्यकता है। हमारा आलोचना-साहित्य आज भी वहीं है जहाँ वह शुक्ल जी से छुट गया था, बल्कि पहले से भी अधिक अव्यवस्थित हो गया है।

केसरी कुमार ने अव्यवस्था के कोलाहल को सुना है और उसपर विचार किया है। 'आलोचना के क्षेत्र में जो कोलाहल सुनाई पड़ रहा है, उसके दो कारण हैं। प्रथमत: आलोचना के भारतीय सिद्धांत, जो सदियों को पार कर निश्चित-से हो गये थे, आज नई समस्याएँ देखकर चिंतित हो उठे हैं। वे नये सर्ग खोलने को आकुल हैं। उन्हें अभी निश्चित पथ नहीं मिला है, और उनके पाँव नई समस्या-संकुल भूमि परनेचल में प्राय: डगमगा जाते हैं। पर हमारा विश्वास है कि नाना जातियों और चिंताओं को अपने में समेट लेनेवाले देश का आलोचना-सिद्धान्त निकट भविष्य में अपना पथ ढूँढ़ लेगा। द्वितीयत: आज जब संसार में जीवन की पारस्परिक निर्भरता की कड़ियाँ अत्यन्त दृढ़ हो गई हैं, तब स्वभावत: भारतीय आलोचना की धारा विदेशी धाराओं से टकरा रही है और अभी दोनों एक रस नहीं हुई हैं।'

अस्तव्यस्तता के और भी कारण हो सकते हैं, पर लेखक के द्वारा निर्दिष्ट कारणों को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। प्रस्तुत निबंध में लेखक ने हिन्दी साहित्य की प्रमुख आलोचन-शैलियों की मीमांसा करते हुए एक नई कसौटी की ओर हिंदी के सुधी समीक्षकों का ध्यान आकृष्ट किया है, जो यों है—

१. लेखक स्वरचित साहित्य का शब्दों के माध्यम से कितना संज्ञापन कर सका है।

२. उसने अपने स्व का कितना विसर्जन किया है।

३. उसने अभिव्यक्ति की सम्भावनाओं का कितना विस्तार किया है।

इस प्रकार यह लेख वस्तुत: आलोचना की एक नई दिशा की ओर संकेत करता है। अन्य लेख भी (विगत महायुद्ध और हिन्दी साहित्य, नई कविता, प्रयोगकालीन भारतेन्दु, द्विवेदी काल की प्रतिनिधि शैली, छायावन की रास, रामकाव्य का पुनर्मूल्यांकन, रवीन्द्रनाथ का शिशु साहित्य और प्रसाद की नाट्यकला) मौलिकता अन्तर्भेदी दृष्टि और विस्तृत अध्ययन के फलस्वरूप महत्त्वपूर्ण हैं।

'नई कविता' शीर्षक निबंध तो अपने विषय पर (प्रयोगवादी कविता पर) लिखा गया पहला निबंध है। केसरी कुमार जी स्वयं प्रयोगवाद के एक प्रमुख कवि हैं और इस विषय पर लिखने के अधिकारी भी।

'प्रयोगकालीन भारतेन्दु' में लेखक ने शायद पहली बार भारतेन्दु द्वारा किये गये पद्य-प्रयोगों पर विचार किया है। इस लेख का महत्त्व इससे भी समझा जा सकता है (गो कि चोरी कोई कसौटी नहीं है) कि इसका शीर्षक बदलकर एक व्यक्ति ने 'नागरी-प्रचारिणी

पत्रिका' (काशी) के भारतेन्दु-अंक में इसे अपने नाम से छपवा लिया था और इसके परिणाम-स्वरूप सम्पादक को अगले अंक में 'पर लेख-हरण' शीर्षक टिप्पणी लिखनी पड़ी थी।

'छायावन की रास' में छायावाद की समीक्षा की गई है और लेखक ने यह स्थापना उपस्थित की है कि 'छायावन की रास धरती पर हुई थी। मिट्टी की प्रतिमाओं ने क्षणिक दिन के आलोक में लास्य रचा था।'

संक्षेप में 'साहित्य और समीक्षा' हिन्दी का एक महत्त्वपूर्ण प्रकाशन है।

—नलिन विलोचन शर्मा

हिंदी के कहानीकार*

हिन्दी का कहानी-साहित्य, बाहर के कहानी-साहित्य की अपेक्षा, आज से प्रायः दस वर्ष पूर्व, अपूर्ण, अस्वस्थ तथा परिमाण में अत्यल्प था, परन्तु आज वह गुण की दृष्टि से पूर्णता को प्राप्त कर रहा है। और परिमाण में प्रभूत है। कहानी-कला के अवयव की दृष्टि से भी वह अधिक से अधिक सूक्ष्म होता जा रहा है। किन्तु, इतना सब होने पर भी, उस पर किसी उत्तरदायी समीक्षक की कृति समक्ष नहीं आयी, उसके प्रतिनिधि कहानीकारों पर कोई प्रामाणिक आलोचना नहीं प्रस्तुत की गई थी। आलोचना का यह भाग प्रायः अस्पृष्ट ही था। प्रस्तुत कृति पहली बार शायद, नहीं, निश्चित रूप से कहानी-कला पर एवं हिन्दी के प्रतिनिधि कहानीकारों पर उनके जीवन, उनकी परिस्थितियों, कहानी की पृष्ठ-भूमि, प्रेरणाओं के प्रसंग तथा तात्त्विक विकास पर आलोचना की पूरी सामग्री, समीक्षक की दृष्टि से, उपस्थित करती है।

पुस्तक के 'आभास' शीर्षक में समीक्षक ने कहानी और परिभाषायें, कहानी और उपन्यास में अन्तर, कहानी और एकांकी में साम्य, कहानियों के विविध रूप, कहानी की विविध प्रणालियाँ, कहानी का मूलाधार, कहानी का आरंभ, कहानी का आधुनिक रूप और उसका आरंभ, भारतवर्ष का स्थान, भारतीय कहानी साहित्य का आरंभिक रूप, पालि का कहानी-साहित्य, वृहत् कथा का स्थान, विकास, मुसलमान युग, अंगरेज काल, प्राचीन और नवीन कहानी में अन्तर, हिन्दी कहानी साहित्य का आरम्भ, निर्माण काल, विकास काल तथा आधुनिक काल—इन उपशीर्षकों पर प्रामाणिक रूप से केवल परिचयात्मक नहीं, अपितु समीक्षात्मक दृष्टि से विचार उपस्थित किया है। इसके अतिरिक्त हिन्दी के २८ लब्धख्याति, समर्थ कथाकारों पर एक तटस्थ, अपने दायित्व के प्रति सचेत समीक्षक की समीक्षा इस पुस्तक की उल्लेख्य विशेषता समझी जानी चाहिए—हालाँ कि, पुस्तक का भूमिकापृष्ठ भी अत्यधिक ऐकान्तिक अध्ययन की वस्तु है। कहानी-साहित्य में अपनी अभिरुचि दिखलानेवालों अथवा उसके सूक्ष्म तत्त्वों के प्रति जिज्ञासा प्रकट करनेवालों के लिए 'आभास' अध्ययन की अपेक्षा करता है।

* प्रो० केसरी कुमार सिंह, एम० ए०—मोतीलाल बनारसीदास, पटना—४, मूल्य २)

पुस्तक की तीसरी विशेषता यह है कि, अन्त में एक कथाकार, श्री नरेश, जो हिन्दी कहानी की नवीन एवं प्रखर प्रतिभा के उदाहरण हैं, का प्रेरणापूर्ण अध्ययन है। आज जहाँ प्रसिद्धि-प्राप्त कथाकार की तूलिका से बहुधा पाठक निराश हो जाया करता है, वहाँ ऐसे कहानीकार हिन्दी कहानी के प्रति उत्सुकता तथा भविष्य की संभवनाएँ उत्पन्न करते हैं। और भी जो विवेचन, समीक्षा के अधिकारी कथाकार हैं, उनपर भी समीक्षात्मक रूप से, और कुछ परिचयात्मक रूप से भी, जानकारी उपस्थित करता है--वे हैं, जयशंकर प्रसाद, विश्वंभर नाथ शर्मा कौशिक, शिवपूजन सहाय, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, प्रेमचन्द, राजाराधिकारमण प्रसाद सिंह, सुदर्शन, आचार्य चतुरसेन शास्त्री, कमलाकान्त वर्मा, निराला, भगवती प्रसाद वाजपेयी, जैनेन्द्रकुमार, राहुल सांकृत्यायन, सुमित्रानन्दन पंत, रामवृक्ष बेनीपुरी, महादेवी वर्मा, अज्ञेय, यशपाल, उपेन्द्रनाथ अश्क, कृष्णचन्द्र, राधाकृष्ण और भगवतशरण उपाध्याय।

इन कथाकारों पर जो विचार उपस्थित किया गया है, वह अन्यत्र दुर्लभ है, बल्कि कुछ तथ्य तो इस पुस्तक में प्राथमिकता का विशेषण प्राप्त करेगा। समानधर्मा कथाकारों का तुलनात्मक अध्ययन एक बहुत लाचार, ज्यादा कठिन कार्य है, ऐसे स्थल पर अपना दायित्व निभाना आसान नहीं। और कहना पड़ेगा, केसरी जी ने ऐसे स्थलों पर काफी चातुर्य नहीं स्पष्टता से काम लिया है। प्रेमचंद के समानधर्मा जीवित, प्रभविष्णु कथाकार सुदर्शन तथा प्रेमचन्द-विषयक अध्ययन में समीक्षक की यह स्पष्टता देखी जा सकती है:--

'साभिप्राय रचना, सामाजिक दृष्टिकोण, अभिव्यक्ति की स्पष्टता और व्यावहारिक भाषा के लिहाज से सुदर्शन प्रेमचन्द के ही निकट हैं, पर वह वस्तु जो सुदर्शन को प्रेमचन्द से अलग करती है, संक्षिप्तता का सौंदर्य है। जिस प्रकार एक कुशल चित्रकार कतिपय रेखाओं से चित्र के मनोभावों को दृश्य कर देता है, उसी तरह सुदर्शन जी कम-से-कम शब्दों में अपने चित्र और पात्र खड़े कर देते हैं तथा अपना मंतव्य सफाई के साथ प्रकट कर देते हैं--'प्रथम किरण', 'कैदी', 'हार की जीत' आदि इसके उदाहरण हैं।

इसी प्रकार अन्य कथाकारों पर 'हिन्दी के कहानीकार' में समीक्षक ने अपनी समीक्षा प्रस्तुत की है। अध्ययन-योग्य यह पुस्तक संग्रह का अधिकारी है।

--शिवचन्द्र शर्मा

'प्रसाद' और उनके नाटक ❀

प्रसाद जी हिन्दी के सबसे अधिक समर्थ नाटककार थे, इस सम्बन्ध में विशेष मतभेद की गुंजाइश नहीं है। एक नये युग के विधायक होने के कारण हिन्दी नाटकों के क्षेत्र में वे सबसे अधिक समादृत भी हुए। उनकी अधिक से अधिक पुस्तकें विश्वविद्यालयों और शिक्षण-संस्थाओं में पढ़ाई जाती हैं और उन पर अनेकानेक आलोचना-ग्रंथ भी लिखे जा चुके हैं। दो-एक महानिबंध भी प्रस्तुत हो चुके हैं। पर शिक्षण-संस्थाओं के सम्पर्क ने आलोचना के

❀ लेखक–प्रो॰ केसरी कुमार, प्रकाशक–मोतीलाल बनारसी दास, पटना-४, मूल्य

स्तर को बाजारू भी कर दिया है। अधिकांश पुस्तकें परीक्षाओं और साधारण परिक्षार्थियों को ध्यान में रखकर लिखी गई हैं और सभी में सामान्य विचार-विन्दुओं को प्राय: दुहराया भर गया है। इसलिए केसरी कुमार लिखित 'प्रसाद और उनके नाटक' का हम स्वागत करते हैं, क्योंकि उपेक्षित सौंदर्यस्थलों की पकड़, विशेषताओं की नये सिरे से खोज, कलात्मक मूल्यांकन आदि तत्सम्बन्धी अन्य आलोचना-ग्रंथों से अलग कर देते हैं।

कथावस्तु-विवेचन में लेखक ने उस सृष्टि पर विचार किया है जिसे प्रसाद जी ने इतिहास और कल्पना-प्रतिभा के संयोग से खड़ा किया है, केवल उसके गौरवपूर्ण ऐतिहासिक आधार पर नहीं, जो सामान्य रूप से अन्य पुस्तकों में मिलता है। इसी प्रकार 'चरित्रांकन' में लेखक का ध्यान चरित्रों के विराट् या कोमल रूपों पर तो है ही, प्रसाद जी के चरित्रांकन के उस टेकनीक पर भी है, जो अन्य ग्रंथों में अनुपलब्ध है और जिसे इस पुस्तक में बड़ी मार्मिकता से उद्घाटित किया गया है।

'हास्य की रूप-रेखा', 'गीत सौष्ठव' और 'भाषा-शैली' ये तीन शीर्षक तो आद्यन्त मौलिक हैं। प्रसाद जी के नाटकों के गीत और भाषा के संबंध में जो भ्रांतियाँ हैं, उनका समीक्षण और समाधान, इन अध्यायों में, गम्भीरता और व्यापकता से किया गया है। अन्वेषणकी दृष्टि, सबलताओं और दुर्बलताओं के उद्घाटन में, समान रूप से पैनी रही है।

प्रायः सभी अध्यायों में प्रसाद जी की तुलना देश–विदेश के अन्य नाटककारों से की गई है। तुलनात्मक पद्धति एक वैज्ञानिक और व्यावहारिक पद्धति है। इससे लेखक के तर्क अधिक प्रभावोत्पादक हो सके हैं। अध्येताओं के लिए पुस्तक उपयोगी और संग्रहणीय है।

—शिवचन्द्र शर्मा

भोजकालीन यान्त्रिक कला-कुशलता

ग्यारहवीं शताब्दी में भारत में यन्त्र-कला की पर्याप्त उन्नति थी, जब अन्य देशों में पर्याप्त अन्धकार था। आधुनिक आविष्कारों का इतिहास तो १६ वीं शताब्दी के अन्त तथा १७ वीं शताब्दी के आरम्भ से शुरू होता है। जब हमारा देश स्वतन्त्र हो गया है, हमें अपने अतीत गौरव को पुनः जाग्रत करना है। हमें पश्चिम से नई बातें सीखनी हैं और अपने पुराने खजाने का पता लगाना है। हमारे ऊपर महान् उत्तरदायित्व है। हमें वर्त्तमान और अतीत को लेकर चलना है, और ऐसे भविष्य का निर्माण करना है जो दोनों से अच्छा हो, दोनों की न्यूनताएं उसमें न हों। जो न अतीत की तरह एक-देशीय हो और न वर्त्तमान की तरह विध्वंसक। वह भविष्य सर्वव्यापक, सर्वसुलभ, सुख-शान्तिदायक, सत्य और अहिंसा का प्रतीक हो।

—विजयेन्द्र शास्त्री (विशाल भारत, कलकत्ता; अप्रैल १६५१ ई०)

हमारा दूसरा नव वर्ष

इस अंक के साथ 'साहित्य' अपने जीवन के दूसरे वर्ष में प्रवेश करता है। पहले वर्ष के चार अंकों मे जो पाठ्यसामग्री प्रकाशित हो चुकी है, उसकी महत्ता एवं उपयोगिता का अनुभव हमारे सुयोग्य पाठक ही कर सके होंगे, हम उसके विषय में कुछ कहने के अधिकारी नहीं हैं। इस दूसरे वर्ष के अंक बहुत पिछड़ गये थे। किन्तु लगातार परिश्रम करके वे प्रकाशित कर दिये गये हैं, जिनमें से तीन अंक तो पाठकों की सेवा में लगातार ही पहुँचेंगे, और इस साल का चौथा अंक भी आगामी वसंतपंचमी के लगभग पाठकों की सेवा मे पहुँच जायगा। यहाँ यह निवेदन कर देना अत्यावश्यक है कि इस साल के पिछड़े हुए तीन अंकों को शीघ्रता से तैयार कराने के लिए पृष्ठ-संख्या में कुछ कमी कर देनी पड़ी है। किन्तु हम प्रयत्न कर रहे हैं कि चौथे अंक में वह कमी पूरी हो जाय। इस तरह, जितनी पाठ्य-सामग्री हम गत वर्ष दे चुके हैं उतनी हीं इस साल भी अवश्य देंगे। और, यदि ग्राहक-वृद्धि से हमें पर्याप्त उत्तेजन मिला, तो हम और भी अधिक सेवा करने योग्य हो सकेंगे।

दो साल के इन आठ अंकों के तैयार करनें में हम कदापि समर्थ न होते यदि हमारे उदाराशय विद्वान लेखक अविश्रान्त भाव से हमारी सहायता में तत्पर न होते। अपने आदरणीय लेखकों की इस सहती कृपा और उनकी निःस्वार्थ साहित्य-सेवा के लिए हम उनके प्रति हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करते हैं। हम उन्हें उनके लेखों की मुद्रित प्रतिलिपियों के अतिरिक्त कुछ भी नहीं दे सके हैं। अतः केवल उनका आभार-अंगीकार कर लेने या उन्हें साधुवाद देने मात्र से ही हम अपने को ऋणमुक्त नहीं मानते। हमें पुनः विश्वास है कि वे आगे भी 'साहित्य' पर पूर्ववत् कृपादृष्टि रखेंगे।

गत वर्ष हम बराबर यह अनुभव करते रहे कि 'साहित्य' में सम्पादकीय टिप्पणियाँ बहुत कम जा रही हैं। बास्तव में इसका मुख्य कारण यह था कि लेखादि के छपते-छपते अन्त में बहुत थोड़ा स्थान बच पाता था और हमें अवशिष्ट स्थान का ही उपयोग करने को वाध्य होना पड़ता था। किन्तु इस वर्ष हमने सम्पादकीय स्तम्भ का स्थान बदल दिया है और आरम्भ के आठ पृष्ठों को उसके निमित्त सुरक्षित कर दिया है। अब हमें आशा है कि विशुद्ध साहित्यिक विषयों अथवा समस्याओं पर हम अपने अधिक-से-अधिक विचार पाठकों की सेवा में उपस्थित कर सकेंगे।

हम इस वर्ष 'साहित्य में कुछ और भी नवीनता लाने की सोच रहे हैं। सम्भव है, इस साल के अन्त तक हमारा सोचा-समझा पूरा न हो सके; परन्तु आगामी वर्ष हम अवश्य पूरा कर सकेंगे, ऐसी आशा है। एक तो हम यह चाहते हैं कि हिन्दी-जगत् में, जहाँ-कहीं जो कुछ रचनात्मक कार्य हो रहा है उसका संक्षिप्त विवरण 'साहित्य' में सदा प्रकाशित होता चले। कौन कहाँ क्या लिख रहा है या किसने अब तक कितना लिख रखा है, यह प्रत्यक्ष प्रकट हो जाने पर साहित्यकारों की एकान्त साधना का तो पता लगेगा ही, किसी काम की आवृत्ति भी न हो पायेगी और साहित्यिक भी दुवारा परिश्रम से बच पायँगे। दूसरा यह कि साहित्य के अध्येताओं की जिज्ञासा-शान्ति और शंका-निवृत्ति के लिए हम 'साहित्य' के प्रत्येक अंक में एक साहित्यिक प्रश्नोत्तर-माला प्रकाशित करना चाहते हैं। इससे लाभ यह होगा कि तत्त्वमर्मज्ञों की कृपा से जिज्ञासुओं की तृप्ति होगी और बहुत-से साहित्यिक तथ्यों का उद्घाटन भी होगा। हमें आशा है कि सुधी पाठकों से इन दोनों कामों में यथोचित सहायता मिलेगी।

—सम्पादक

अखिलभारतीय हिंदी-शोध-मंडल

उद्देश्य

१—मंडल का उद्देश्य हिंदी भाषा और साहित्य की समृद्ध परंपराओं का अनुसंधान, मूल्यांकन तथा नवीकरण होगा।

१—इसके लिए मंडल देश के विभिन्न प्रदेशों मे बिखरी और विलुप्त होती हुई प्राचीन साहित्य-सामग्रियों के संकलन एवं उपयोगी हस्तलिखित पुस्तकों आदि के संगृह के निमित्त अपने अवैतनिक (आर्थिक सुविधा होने पर आवश्यकतानुसार वैतनिक भी) सदस्यों को सब प्रकार से प्रेरणा तथा सहयोग प्रदान करेगा।

३—संगृहीत पुस्तकों का विस्तृत क्रमबद्ध तथा विज्ञान-सम्मत प्रामाणिक सूची-पत्र तैयार कराया जायगा और उनमें से महत्त्वपूर्ण पुस्तकों के प्रकाशन की व्यवस्था भी की जायगी।

४—हिंदीसाहित्य के इतिहास में जो अभाव और अपूर्णताएँ हैं, उन्हें इस प्रकार पूरा करने के बाद उसके अभिनव मूल्यांकन का प्रयास होगा।

५—हिंदी भाषा तथा दूसरी भारतीय भाषाओं का शास्त्रीय तथा वैज्ञानिक अध्ययन आज भी अपेक्षित नहीं समझा जा रहा है। विशेषज्ञों के तत्त्वावधान में भाषाशास्त्रीय अध्ययन की व्यवस्था मंडल का प्रमुख उद्देश्य होगा।

६—इसके लिए मंडल ध्वनिशास्त्रीय प्रयोगशाला की स्थापना करेगा एवं विभिन्न देशों-विदेशों की भाषाओं की ध्वनियों तथा उनके अन्य आवश्यक रूपों के संगृह-कार्य का संचालन भी मंडल का लक्ष्य होगा।

७—इसके साथ-साथ ही लोकगीतों, लोककथाओं आदि के वैज्ञानिक अध्ययन की सम्यक् व्यवस्था के लिए मंडल का अपना एक बृहत् विभिन्न भाषा-साहित्यों का पुस्तकालय भी होगा।

८—अपनी गतिविधि से विद्वानों को परिचित रखनें के लिए मंडल का अपना एक 'दृष्टिकोण' नाम का अनुशीलनपत्र होगा।

९—'दृष्टिकोण' मंडल का मुखपत्र होकर भी विश्वसाहित्य की प्रवृत्तियों का परिचायक होगा। वह हिंदी में स्वतंत्र चिंतन तथा मौलिक गवेषणा का रूढ़िमुक्त माध्यम होगा।

१०—समीक्षा के नवीन उत्तरदायित्व के प्रति जागरूकता एवं विषय-निर्वाचन के प्रति गंभीरता 'दृष्टिकोण' की समीक्षा-संबंधी नीति होगी; परंतु अनिवार्य रूप से शोध-मंडल के उद्देश्य-निर्वाह के प्रयत्नों को उसमें प्रमुखता दी जायगी।

—श्रीशिवचंद्र शर्मा, प्रधान मंत्री, आर. के. भट्टाचार्यी रोड, पटना

आवश्यक सूचना

'नेपालराजवंश' वाले निबंध का शेषांश अगले अंक में प्रकाशित होगा। पाठक दोनों मिलाकर पढ़ने की कृपा करें।

—संपादक
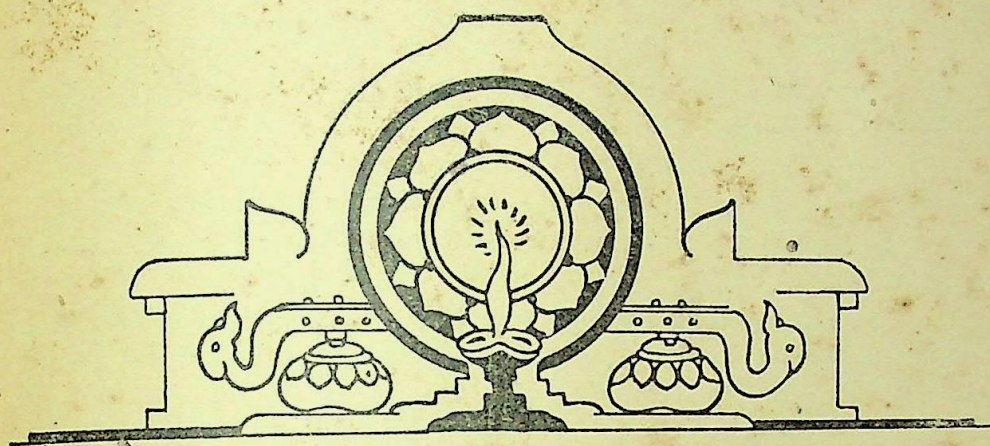
वार्षिक ७) बिहार-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का त्रैमासिक मुखपत्र (एक प्रति २)

वर्ष २ } आषाढ़, संवत् २००८; जुलाई, १९५१ ई० { अंक २

सम्पादक

शिवपूजन सहाय : : नलिनविलोचन शर्मा

अनुक्रम

ग्राहकों और पाठकों से नम्र निवेदन

'साहित्य' के दूसरे वर्ष का यह दूसरा अंक आपकी सेवा में जा रहा है। तीसरा भी अगले सप्ताह में पहुँचेगा। चौथा भी छप रहा है। यदि आपलोगों की सहानुभूति और कृपा बनी रही तो 'साहित्य' नियमित रूप से पहुँचता रहेगा।

हम अपनी सम्बद्ध संस्थाओं और स्थायी समिति के आदरणीय सदस्यों से भी अनुरोध करते हैं कि वे 'साहित्य' के नियमित ग्राहक बनकर हमें उपकृत करें—यह पत्र एक प्रकार से उन्हीं का है और इसीलिए इसको उनसे बहुत-कुछ आशा भी है।

कम-से-कम एक ग्राहक बढ़ा देना किसी हिन्दीप्रेमी के लिए कठिन काम नहीं है। पाठकों में बहुत-से सज्जन इतना उपकार कर सकते हैं। हम ग्राहक-संख्या बढ़ानेवाले उदार सहायकों की नामावली 'साहित्य' में प्रकाशित कर देंगे।

सम्मेलन इस बात के लिए सतत प्रयत्नशील है कि 'साहित्य' सदा ठीक समय पर निकला करे। किन्तु अर्थाभाव के कारण वह अत्यन्त विवश है। यदि आर्थिक कठिनाइयाँ न होतीं तो सम्मेलन प्रतिमास 'साहित्य' का प्रकाशन करके हिन्दीपाठकों को साहित्य की मासिक प्रगति से परिचित कराता रहता। सम्मेलन सभी हिन्दीप्रेमियों से अपील करता है कि वे 'साहित्य' के ग्राहक बनकर और बढ़ाकर सम्मेलन की साहित्यसेवा के इस ठोस रचनात्मक काम में भरपूर सहायता देने की कृपा करें। --**ब्रजशंकर वर्मा, प्रधान मन्त्री**

सहृदय पाठकों से दो बातें

'साहित्य' में हमने जो नया परिवर्त्तन किया है और आगे भी जो कुछ करना चाहते हैं उसका आभास इस नये दूसरे साल के पहले अंक से ही पाठकों को मिला होगा। हम और भी ऐसे कई साहित्यिक विषयों का समावेश 'साहित्य' में करना चाहते हैं जिनसे पाठकों को साहित्य की वर्त्तमान गतिविधि का ज्ञान होता रहे और हमारे साहित्यकार भी जागरूकता के साथ साहित्य के नवनिर्माण में लगे रहें। किन्तु जबतक हम अपने मानसिक संकल्प को कार्यान्वित नहीं कर दिखाते, तबतक पाठकों से कुछ अधिक कहने का साहस नहीं होता। 'साहित्य' में हमने साहित्यिक संस्मरण के सिवा साहित्यिक चिट्ठी और जीवनी भी छापी है। पर हमें ऐसी चीजें बहुत कम मिलती हैं। हम ऐसी चीजें हमेशा चाहते हैं, बशर्ते वे अधिकारी व्यक्तियों की हों। संस्मरणों में विशेषतः स्वर्गीय साहित्यिकों के व्यक्तित्व का विश्लेषण और उनकी कृतियों का आलोचनात्मक परिचय होना चाहिए। चिट्ठियों में किसी-न-किसी साहित्यिक मन्तव्य की चर्चा अथवा तात्कालिक विशिष्ट घटना एवं प्रवृत्ति का उल्लेख होना आवश्यक है। जीवनी या आत्मकथा ऐसे सुप्रतिष्ठित साहित्यसेवी या कलाकार की हो, जो चिरस्मरणीय साहित्यसेवा करके भी आज कहीं उपेक्षित पड़ा हुआ है—विस्मृति के गर्भ में छिपा हुआ है या युगधारा से किनारे हो गया है। ऐसी चीजों के लिए हमें अपने पाठकों की सहायता अपेक्षित है।

हिन्दी में 'साहित्य' के अतिरिक्त काशी-नागरी-प्रचारिणी पत्रिका, सम्मेलन-पत्रिका, हिन्दुस्तानी, अनुशीलन, राजस्थान-भारती आदि त्रैमासिक पत्र-पत्रिकाएँ निकलती हैं। इनके द्वारा शोधपूर्ण और समालोचनात्मक साहित्य तथा सुचिन्तित निबन्धों का जो निर्माण हो रहा है उसका निरीक्षण-परीक्षण एवं मूल्यांकन भी उपयुक्त रीति से होना चाहिए। हम अनुभवी विद्वानों के मार्गप्रदर्शन और सुझाव का सहर्ष स्वागत करेंगे। —**सम्पादक**
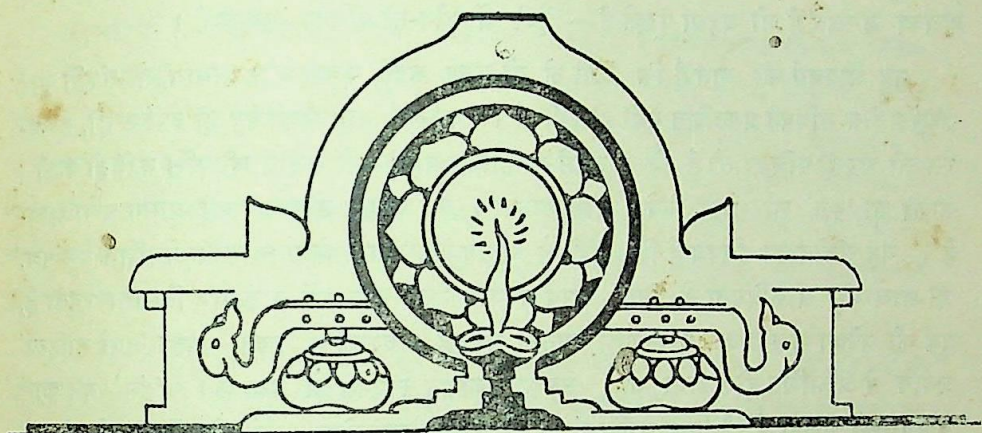
बिहार-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का त्रैमासिक मुखपत्र

वर्ष २ | आषाढ़, संवत् २००८; जुलाई, १९५१ ई० | अंक २

सम्पादकीय

हिंदी का पात्रिक साहित्य

हमने इसी स्तंभ में, कुछ पूर्व, हिंदी में पत्र-पत्रिकाओं की जो बाढ़-सी आ गई है उस पर अपना असंतोष प्रकट किया था। हिंदी में जितनी पत्रिकाएँ प्रकाशित हो रही हैं उनसे कहीं अधिक की जरूरत है, लेकिन वे जैसी हैं उससे तो कहीं अच्छा होता कि कुछ ही निकलतीं पर उच्च कोटि की निकलतीं।

बाढ़ में साधनों का अपव्यय और दुरुपयोग ही अधिक होता है, फिर भी वह नियंत्रित हो सके तो उससे कल्याण की भी संभावना होती है। हम पत्र-पत्रिकाओं की इस बाढ़ में

थोड़ी संभावना भी देख पाते हैं। जिन पत्रिकाओं से हमें आशा होती है उनका हम अभिनंदन करते हैं और उनके स्थायित्व तथा उत्तरोत्तर उत्कर्ष की कामना रखते हैं।

हम ऐसी पत्रिकाओं से हिंदी के उन जिज्ञासु पाठकों को परिचित कराते रहना अपना कर्त्तव्य समझते हैं जो बहुधा पूछते हैं—हिंदी में कौन-सी पत्रिका अच्छी है।

यह आश्चर्य की बात है कि हिंदी के दो मुख्य केंद्रों, काशी और प्रयाग, से संप्रति कोई उल्लेखनीय पत्रिका प्रकाशित नहीं हो रही है। 'करेला', वह काशी का ही क्यों न हो, हास्य-रस की अच्छी पत्रिका तो है किन्तु उससे साहित्यिक पत्रिका के अभाव की पूर्त्ति नहीं हो पाती। काशी का 'हंस' नीर-क्षीर विवेक खो चुका था। अब काशी छोड़ कर वह प्रयाग चला आया है। यह संतोष का विषय है कि हिंदी के महान् गल्पकार प्रेमचन्द द्वारा प्रवर्तित यह पत्र, जो आज भी, लोकप्रियता के लिए, अपने संस्थापक की याद हमें बार-बार दिलाता रहता है, पूर्व की अपेक्षा कुछ उदार दृष्टिकोण अपनाने लगा है। बम्बई से उड़ता-पड़ता 'नया साहित्य' प्रयाग से प्रकाशित होने लगा था। उसका प्रकाशन स्थगित हो गया है। 'हंस' वह काम बखूबी कर सकता है जो 'नया साहित्य' का भी अभीष्ट रहा होगा। जो लोग हिंदी के लेखकों को साहित्य की मिसरी के साथ राजनीति-विशेष का कड़वा क्वाथ पिलाना चाहते हैं उन्हें आपसी एकता के लिए प्रयत्नशील होकर 'हंस' को ही तैराते रहना चाहिए। प्रयाग का 'संगम', साप्ताहिक होने पर भी, केवल सचित्र और विविध-विषयक ही नहीं है, बल्कि साहित्यिक महत्त्व का भी है। श्री इलाचन्द्र जोशी ने पुनः उसका संपादन प्रारंभ किया है। 'संगम' की साहित्यिक धारा फिर ऊपर आ सकेगी ऐसी आशा है। प्रयाग की 'माया' का नाम सर्वथा सार्थक बना हुआ है। उसका प्रतिमान पहले से ऊँचा ही है।

प्रयाग में इस दृष्टि से एक महत्त्वपूर्ण घटना घटी है। 'सरस्वती' के द्विवेदी जी के बाद के संपादक श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी फिर उसके संपादक नियुक्त हुए हैं। हम उनका स्वागत करते हैं। 'सरस्वती' में वह उन्नति अब अवश्य होगी जिसकी आशा उसके पाठक छोड़ ही चुके थे। इस स्तंभ में 'सरस्वती' के सम्बन्ध में विस्तृत टिप्पणी लिखने की बात हम सोच रहे हैं।

जहाँ यह खेद की बात है कि प्रयाग और काशी से कोई नवीन और उत्कृष्ट पत्रिका प्रकाशित नहीं हो रही है वहीं यह अत्यंत संतोष का विषय है कि हिंदी से बच-बच कर रहने वाली दिल्ली से हिंदी की दो उत्कृष्ट पत्रिकाओं का प्रकाशन हो रहा है। पहली है 'प्रतीक' जिसके लिए प्रयाग अनुर्वर सिद्ध हो चुका था, पर, हम आशा करें, दिल्ली, राज-धानी की मर्यादा के अनुरूप, प्रतिपालन जुटा सकेगी। 'प्रतीक' हिंदी की वैसी दो-एक पत्रिकाओं में है जिन पर उनके संपादकों के व्यक्तित्व की छाप रहती है। समझौतों की नगरी दिल्ली में आकर 'प्रतीक' ने भी परिस्थितियों से थोड़ा-बहुत समझौता किया है और अब उसमें चित्रपट की आलोचना के लिए एक स्तंभ रहता है पर, सामान्यतः, उसका साहित्यिक प्रतिमान पहले की तरह ऊँचा है। 'प्रतीक' ने ऐसे अनेक कवियों को प्रकाश में ला दिया है जिनकी रचनाएँ हिंदी की किसी भी दूसरी पत्रिका से वापस लौटा दी गई होतीं

और जो प्रोत्साहन के अभाव में साहित्य-रचना से विरत भी हो जा सकते थे। यदि कोई पत्रिका दो-चार प्रतिभाशाली लेखकों को भी प्रकाश में लाने का श्रेय पा सके तो वह चिरस्मरणीय बन जाती है। 'प्रतीक' निस्संदेह ऐसी पत्रिका है।

दिल्ली से ही त्रैमासिक 'आलोचना' प्रकाशित हो रही है। अभी पहला ही अंक निकला है। हम उसकी सफलता चाहते हैं। पटने की, साहित्यालोचन संबंधी हिंदी की पहली पत्रिका, 'दृष्टिकोण' ने (जिसके बारे में हमारा कुछ कहना अनुचित होगा), इस क्षेत्र में मार्ग-प्रदर्शन किया था और कर रहा है। पटने के साप्ताहिक 'प्रकाश' पर भी, 'प्रतीक' की तरह, संपादक के व्यक्तित्व की छाप है। पटने की ही 'नई धारा', कलकत्ते का 'नया समाज', वर्धा की 'राष्ट्र भारती' और अकोले का 'प्रवाह' हिंदी की ऐसी पत्रिकाएँ हैं जो उल्लेखनीय पत्रिकाएँ बन जा सकती हैं।

काशी–प्रयाग–पटना के साथ ही साथ, पात्रिक साहित्य के क्षेत्र में, दिल्ली का भी महत्त्वपूर्ण स्थान हो, यह आश्चर्य की बात है। ततोधिक आश्चर्य तो यह देख कर होता है कि दक्षिण भारत की दो पत्रिकाएँ, अहिंदी प्रदेश में प्रकाशित होने के बावजूद, हिंदी की सर्व-श्रेष्ठ पत्रिकाओं में परिगणित होने योग्य हैं। हैदराबाद से निकलने वाली 'कल्पना' और 'अजंता' पर हमें गर्व है।

यदि इन पत्रिकाओं को पाठकों का पर्याप्त सहयोग मिलता रहेगा तो, हमें विश्वास है, हिंदी में वास्तविक पात्रिक-साहित्य का जो अभाव है वह दूर हो जाएगा।

—न० वि० श०

हिंदी के महानिबंध

विभिन्न विश्वविद्यालयों के द्वारा, हिंदी में डाक्टरेट की उपाधि के लिए, जो महा-निबंध स्वीकृत हुए हैं, उनके बारे में साहित्यिक दृष्टिकोण से विचार करना आवश्यक है। वे परीक्षा के निमित्त प्रस्तुत और स्वीकृत हो कर साहित्यिक ग्रंथ के रूप में प्रकाशित भी होने लगे हैं। चूँकि उन्हें विशेषज्ञों और विश्वविद्यालयों की स्वीकृति मिली रहती है इसलिए हम उन्हें प्रामाणिक साहित्यिक ग्रंथ भी मान लेते हैं।

विश्वविद्यालय अपने प्रतिमान का निर्णय स्वयं कर सकते हैं; यहाँ, फिलहाल, हमें इस विषय में कुछ भी नहीं कहना है। किन्तु यदि विश्वविद्यालय स्वीकृत निबंधों में से केवल उन्हीं के प्रकाशन की अनुमति दें जो वस्तुतः उत्कृष्ट एवं मौलिक हों तो उनकी मर्यादा की वैसी हानि नहीं होगी जैसी निबंधों के अविचारित प्रकाशन से हो रही है।

अब यह जरूरी नहीं कि हिंदी को प्रोत्साहन देने के लिए उसमें जो भी, जैसा भी लिखा जाए, उसे स्वीकृति मिले ही और उसका प्रकाशन अवश्य ही हो। आज से वर्षों पूर्व हिंदी के ऐसे ही तीन प्रकाशित महानिबंधों की आलोचना करते हुए (अब वह आलोचना 'संस्कृति और साहित्य' में संगृहीत है) डा० रामविलास शर्मा ने निबंध-विशेष के सम्बन्ध में ठीक ही कहा था—"...को पढ़ कर सहसा हिंदी क आलोचना-साहित्य पर अभिमान हो आता है। वह इस कारण कि इससे अच्छी किताबें आए दिन हिंदी माता के भंडार की श्रीवृद्धि किया

करती हैं। शब्दाडंबर खूब है, गनीमत है कि अर्थाडम्बर का अभाव है"! आज हिंदी का आलोचना-साहित्य पूर्वापेक्षा अधिक उन्नत हो चुका है, किन्तु, हम कहने को बाध्य हैं, प्रकाशित होने वाले महानिबंधों का स्तर निम्नाभिमुख ही है।

इन महानिबंधों को देख कर यही कहा जा सकता है कि भारतीय राजनीति और भारतीय उद्योग-धन्धों की तरह ही भारतीय विद्वत्ता भी साधना और अध्यवसाय नहीं रह गया है, कम से कम कर ज्यादा से ज्यादा पाने का साधन बन गई है। यह साहित्यिक ही नहीं नैतिक महत्त्व का भी विषय है। हम यहाँ महानिबंधों की ही बात कर रहे हैं पर आप व्यापक दृष्टि से समकालीन भारतीय विद्वत्ता पर भी विचार करें तो आपको निराश ही होना पड़ेगा।

अंग्रेजी के प्रसिद्ध हास्य-लेखक कनाडा निवासी स्टेफेन लीकाक (जो एक प्रतिष्ठित विश्वविद्यालय के राजनीति-विभाग के अध्यक्ष भी थे!) ने डाक्टरेट की परीक्षा के विषय में कहा है--"इस उपाधि का अर्थ है कि उसे प्राप्त करने वाले के जीवन की अन्तिम बार परीक्षा होती है और वह सर्वथा पूर्ण मान लिया जाता है। इसके बाद वह कोई नई बात ग्रहण नहीं कर सकता! कम से कम हिंदी के इस कोटि के महानिबंधकारों के विषय में लीकाक का व्यंग्य उचित ही है!

हम अन्यत्र इस प्रकार के निबंधों से उदाहरण दे कर अपने कथन की पुष्टि करेंगे और इस महत्त्वपूर्ण विषय को फिर उठाएँगे। यहाँ यह एक उदाहरण पर्याप्त होगा जो एक ऐसे महानिबंध के प्रकाशित रूप से लिया गया है जिसके तीन संस्करण हो चुके हैं:

"अंग्रेजी (!) नाटकों (!) में प्रसिद्ध नाटककार हेनरिक इब्सन ने सबसे पहले अपने नाटकों द्वारा समस्या को प्रधानता दी थी...।"

भाषा और अर्थ दोनों ही दृष्टियों से इस अंश और उसके अंशी का भी पाठक ही अनुमान कर लें।

--न० वि० श०

हमारी साहित्यिक परीक्षाएँ

हिंदी की कई ऐसी सुप्रतिष्ठित संस्थाएँ हैं जिनकी ओर से साहित्यिक परीक्षाओं की व्यवस्था की गई है। उत्तरप्रदेश, बिहार, मध्यप्रदेश, मद्रास आदि प्रान्तों में ऐसी संस्थाएँ कई साल से अपनी परीक्षाएँ चला रही हैं। इन परीक्षाओं में हजारों विद्यार्थी अथवा परीक्षार्थी प्रतिवर्ष सम्मिलित होते हैं। उनमें से अधिकांश उत्तीर्ण भी होते हैं। उनकी शिक्षा के लिए प्रमुख स्थानों में विश्वविद्यालय, विद्यापीठ, महाविद्यालय आदि संचालित हो रहे हैं। फिर भी उनकी संख्या दिन-दिन इतनी अधिक बढ़ती जा रही है कि अनेक स्थानों में उनकी नियमित शिक्षा के लिए समुचित प्रबन्ध करने की आवश्यकता अनुभूत होने लगी है। कई जगह साहित्यिक शिक्षण-संस्थाएँ निकट भविष्य में खुलनेवाली भी हैं।

इन साहित्यिक परीक्षाओं से हिंदीभाषी और अहिंदीभाषी प्रान्तों में असंख्य साहित्यिक उत्पन्न हो चुके हैं और होते जा रहे हैं। इनके द्वारा हिंदीप्रेमियों और हिंदी-

हितैषियों की भी संख्या बहुत बढ़ी है और आगे भी बढ़ने की संभावना है। अबतक लाखों भारतवासी इन परीक्षाओं के कारण राष्ट्रभाषा हिंदी के साहित्य से थोड़ा-बहुत परिचित हो चुके हैं। इस प्रकार इन परीक्षाओं ने हिंदी के प्रचार-प्रसार और निर्माण तथा उत्थान में चिरस्मरणीय सहायता पहुँचाई है। इनके प्रभाव का विस्तार अत्यन्त व्यापक क्षेत्र में दीख पड़ता है।

किन्तु यह कहना और मानना पड़ेगा कि इन परीक्षाओं की व्यवस्था मे बहुत-सी त्रुटियाँ हैं। इनके केन्द्रों की संख्या हजारों है। देश के कोने-कोने में केन्द्र खुले हुए हैं। पर केन्द्रों की कोई प्रामाणिक व्यवस्था नहीं है। मुख्य संचालन-केन्द्रों में यथोचित व्यवस्था होगी; पर बाहर के केन्द्रों में सन्तोषप्रद नहीं है। हमने अनेक केन्द्र देखे हैं। हमने बड़े खेद के साथ यह अनुभव किया है कि ये सारी परीक्षाएँ अप्रामाणिक और अव्यवस्थित हैं। हमारे हिन्दी पत्रकार इतने महत्त्वपूर्ण विषय की ओर से सर्वथा उदासीन हैं। वे इन परीक्षाओं की महत्ता, उपयोगिता एवं लाभकारिता से निश्चय ही परिचित हैं। परन्तु वे इनमें सुधार करने की आवश्यकता पर न कभी विचार करते हैं—न कुछ लिखते हैं। यदि वे इधर थोड़ा भी ध्यान दें, तो सरकारी विश्वविद्यालयों की परीक्षाओं के समान ही इनका भी महत्त्व बढ़ जाय।

हमारी इन परीक्षाओं का महत्त्व आज इस कदर घट गया है कि परीक्षोत्तीर्ण व्यक्तियों-को सरकारी नौकरियाँ पाने में अब बड़ी निराशा होने लगी है। इससे इन परीक्षाओं में लोगों की आस्था घटती जा रही है और उनमें सामूहिक असन्तोष भी बढ़ने लग गया है। किन्तु अपनी कमजोरियों को जानते हुए हम सरकार से किसी प्रकार का अनुरोध करने का साहस नहीं कर पाते। जबतक हम भीतरी-बाहरी गड़बड़ी ठीक नहीं कर लेते तबतक हम न किसी का मुँह बन्द कर सकते हैं और न अपने मुँह की लाली रख सकते हैं।

हमारे परीक्षा-केन्द्रों में परीक्षार्थियों के बैठने और लिखने का स्थान इतना संकीर्ण और अपर्याप्त होता है कि सब-के-सब एक दूसरे से हिलेमिले रहते हैं, सुगमता से परस्पर बातें कर लेते हैं, आसानी से एक दूसरे की कापी देख पाते हैं और पारस्परिक सहायता में निर्द्वन्द्व भाव से तत्पर हो जाते हैं। निरीक्षण करनेवाले भी इतने ढीले-ढाले होते हैं कि निर्भयता से नकल करनेवालों को स्वभावतः छूट मिल जाती है। परीक्षार्थियों की भेड़धसान देखकर परीक्षा प्रहसन-मात्र प्रतीत होती है।

जो सज्जन परीक्षक हैं या रह चुके हैं उनका यह व्यक्तिगत अनुभव है कि बहुत-सी उत्तर-पुस्तिकाएँ एक दूसरे से बहुलांश में मिलती-जुलती हैं। कितनी ही तो अविकल रूप में समानता रखती हैं। इसमें प्रधान दोष परीक्षा-प्रणाली का है। परीक्षार्थी यदि सुयोग पाकर अनुचित लाभ उठा लेते हैं, तो इसमें भी उनका विशेष दोष नहीं; क्योंकि सुअवसर पाकर अवैध लाभ उठा लेना मानव स्वभाव की सहज प्रवृत्ति है। वास्तव में परीक्षा-भवन का प्रबन्ध एसा होना चाहिए कि निरीक्षक की आँखें बचाकर कोई चोरी करने की सुविधा ही न पा सके।

इतना ही नहीं, परीक्षाओं को संचालित करनेवाले प्रधान केन्द्रों में भी कई तरह की दुर्व्यवस्था देखी जाती है। वह चाहे प्रश्नपत्र के सम्बन्ध में हो या प्रवेश-पत्र के सम्बन्ध में या समस्त बाहरी केन्द्रों के नियंत्रण के सम्बन्ध में। पर दुर्व्यवस्था, असावधानता, शिथिलता, अनुशासन-हीनता और उत्तरदायित्व-शून्यता का अनुभव व्यापक रूप से किया जाने लगा है। यह हम हिंदीवालों के लिए बहुत ग्लानिकारक और लज्जाजनक है। हमें लोकमत को शुद्ध करने के लिए अपनी परीक्षाओं के नियमों को पुनः शोधना तथा चुस्त-दुरुस्त करना होगा। नहीं तो इन परीक्षाओं की जमी-जमाई साख और धाक कुछ दिनों में उखड़ जायगी।

सरकारी विश्वविद्यालयों की वार्षिक परीक्षाओं में बड़ी कठोरता से कड़ाई बर्ती जाती है। उन परीक्षाओं के लिए बहुत ही कड़े और निर्मम नियम बनाये गये हैं। उन नियमों के भंग होने पर कठिन-से-कठिन दण्ड की व्यवस्था है। इसलिए उन परीक्षाओं की एक निश्चित मर्यादा है। हम यदि अपनी साहित्यिक परीक्षाओं को भी उन्हीं परीक्षाओं के समकक्ष बनाना चाहते हैं तो हमें भी मर्यादा का पूरा ध्यान रखना होगा। हम कहते तो हैं कि हमारी परीक्षाएँ मैट्रिक, आइ० ए०, बी० ए० अथवा एम० ए० के बराबर हैं; पर जो हिंदीदाँ होते हुए भी परीक्षा की मर्यादा का ध्यान रखना न्यायसंगत समझते हैं, वे स्पष्ट शब्दों में कह बैठते हैं कि हिंदी की साहित्यिक परीक्षाओं की अब कोई प्रामाणिकता नहीं रह गई। हम भले ही पक्षपातवश हिंदी की ओर से कठहुज्जत करें; पर हमारी लचर दलीलों से इस बौद्धिक युग में हमारी परीक्षाओं की प्रतिष्ठा नहीं कायम रह सकती।

लिखित और मौखिक परीक्षाओं में जैसे परीक्षार्थियों से सामना होता है वैसे अयोग्य परीक्षार्थी होते तो सब जगह हैं, पर सब जगह सफलता उतनी सस्ती नहीं होती जितनी हमारे यहाँ है। कहनेवाले कहते ही हैं और जाननेवाले जानते भी हैं कि हमारे यहाँ सफलता की खैरात भी बँटती है। यहाँ तक हमें शिकायत सुननी पड़ती है कि लब्धांक रह गये परीक्षक के पास और परीक्षोत्तीर्णों की नामावली प्रकाशित हो गई। ऐसी बातों में कहाँ तक सचाई है, कहना कठिन है। यद्यपि सरकारी विश्वविद्यालयों की परीक्षाएँ भी सर्वतोभावेन निष्कलंक नहीं हैं, तथापि उनके सभी संचालक अपने उत्तरदायित्व के प्रति पूर्ण सजग हैं तथा उनका नियंत्रण सन्तोषप्रद है। हमें भी अपनी साहित्यिक परीक्षाओं को विश्वसनीय और लोकप्रिय तथा सर्वमान्य बनाने के लिए उन्हें यथासंभव शीघ्र ही सुव्यवस्थित करना चाहिए, नहीं तो हमारे उत्तीर्ण परीक्षार्थी निस्सार उपाधियों को लेकर इतस्ततः भटकते फिरेंगे और हिंदी के छिन्द्रान्वेषियों तथा शुभैषियों को भी बात-बात में उँगली उठाने का मौका मिलता रहेगा।

—शिव०

'बिहार के नये कलाकार'—ग्रन्थमाला

पटना के प्रसिद्ध हिन्दी-दैनिक 'आर्यावर्त्त' के सम्पादकीय विभाग के उदीयमान पत्रकार श्री सत्यदेव एम० ए० और श्री दीनानाथ ने 'बिहार के नये कलाकार' नामक ग्रन्थमाला तैयार करने का आयोजन करके एक अत्यावश्यक कार्य का श्रीगणेश किया है। वे बिहार के वर्त्तमान

कालीन लेखक, कवि, कथाकार, नाटककार, निबंधकार, चित्रकार, पत्रकार, संगीतज्ञ और नृत्यकार का जीवन-परिचय तथा उनकी कृतियों का प्रामाणिक विवरण संगृहीत करना चाहते हैं। उनका विचार 'अतीत के कलाकार' नामक ग्रन्थ तैयार करने का भी है। उनकी ओर से पत्रों में विज्ञप्तियाँ भी प्रकाशित हो चुकी हैं। उनको आधुनिक नई पीढ़ी से कुछ सहयोग भी मिलने लगा है।

जहाँ तक हमें पता है, उक्त ग्रन्थमाला के कई खण्ड होंगे। पहला ग्रन्थ केवल कवियों के सम्बन्ध में होगा। किन्तु इसके भी तीन भाग होंगे। पहले भाग में वे रहेंगे जो व्रजभाषा या पुराने छन्दों में रचना करते हैं, दूसरे में नई शैली के नामी कवि रहेंगे और तीसरे में होनहार तथा उदीयमान।

उत्साही ग्रन्थकारों ने सुपरिचित या ज्ञात-ख्यात कवियों के पास प्रश्नावली भेजी है जिसके उत्तर के आधार पर वे 'इण्टरव्यू'-शैली में ग्रन्थ तैयार करना चाहते हैं। वह प्रश्नावली प्रकाशित हो चुकी है। संभवतः हमारे कवियों की सेवा में वह पहुँच चुकी होगी। आशा है कि कुछ उत्तर भी मिले होंगे। जिला-साहित्य-सम्मेलनों, साहित्यिक संस्थाओं, सार्वजनिक पुस्तकालयों, अध्यापकों और छात्रों से भी इसमें सहायता मिल सकती है।

किन्तु यह काम बहुत बड़ा है। श्रमसाध्य और व्ययसाध्य भी है। इसके सम्पादन में काफी संयम की आवश्यकता होगी। प्रकाशन के लिए भी प्रचुर द्रव्य चाहिए। निश्चय करते समय ग्रन्थकारों ने सब सोच-समझ लिया होगा। उनका संकल्प वास्तव में श्लाघ्य है। हम भी उनकी सहायता के लिए सम्बद्ध सज्जनों से अनुरोध करते हैं। परमात्मा उनके उद्योग को सफल करे, यही कामना है।

—शिव०

बिहार का हिंदी-साहित्य-कोष

झरिया के हिंदी साप्ताहिक 'युगान्तर' के सम्पादक श्री मुकुटधारी सिंह और श्री सतीशचन्द्रजी 'बिहार का हिंदी-साहित्य-कोष' तैयार करने में लगे हुए हैं। यह सूचना हमें उन्हीं की ओर से मिली है। वे अपने 'युगान्तर' में क्रमबद्ध लेखमाला प्रकाशित करके बिहार के साहित्यिक जीवन का एक विश्वकोष-सा बनाना चाहते हैं। लेखमाला के अन्तर्गत बिहार के सभी पुराने और नये साहित्यकार, साहित्य-उन्नायक, संस्था, पत्र-पत्रिका आदि का परिचयात्मक विवरण दिया जायगा। इसके लिए उन्होंने सभी साहित्यानुरागियों से सहायता देने की अपील की है।

इस साल बिहार-हिंदी-साहित्य-सम्मेलन का वार्षिक महाधिवेशन झरिया में ही होनेवाला है। युगान्तर-सम्पादक ने ही उसे निमंत्रित किया है। उस महोत्सव के समय तक इस साहित्यिक विश्वकोष का कहाँ तक निर्माण हो सकेगा, यह तो उसी समय मालूम हो सकता है। किन्तु यह काम ऐसा नहीं है कि दुनिया-भर के प्रपंच में लगे रहकर कोई इसे पूरा कर सके। पत्रों में सूचना प्रकाशित करके दूसरों के भरोसे बैठे रहने से भी यह

काम न होगा। इसके लिए प्रान्त के गाँवों, कस्बों और शहरों में फेरा लगाना पड़ेगा, साहित्यिक व्यक्तियों और संस्थाओं से पूछताछ करके सहायता लेनी होगी तथा पुराने पुस्तकालयों को भी टटोलना होगा। हमारा निजी अनुभव है कि बहुधन्धी आदमी के बस का यह काम नहीं; इसमें एकान्त भाव और एकाग्रचित्त से जो अहर्निश तत्पर रह सकेगा वही इसमें यथेष्ट सफलता पा सकता है।

हम स्वयं सन् १९१५ ई० से बिहार के साहित्यिक इतिहास के लिए सामग्री-संग्रह कर रहे हैं। इसके लिए तभी से कितनी ही बार पत्रों में सूचनाएँ छपवाईं, इधर-उधर से पढ़कर भी कुछ संकलित किया, चिट्ठी-पत्री करके भी बहुत-सा मसाला जुटाया और कई साहित्यिकों तथा संस्थाओं से भी कुछ सामान मँगवाया; फिर भी हमें व्यक्तिगत अनुभव हुआ है कि एक बार प्रान्त में दौरा किये बिना साहित्यिक इतिहास सर्वाङ्गसम्पन्न नहीं हो सकता। इसी के आधार पर हम ऐसे काम करनेवालों को नेक सलाह देना चाहते हैं कि वे केवल प्राप्त सूचनाओं और सामग्रियों पर ही निर्भर न करें, बल्कि प्रान्त में समय-समय पर पर्यटन करने का भी ध्यान रखें; क्योंकि बहुत-से साहित्यिक स्वयं अपने या अपने परिचित के विषय में कुछ लिखने में प्रवृत्त नहीं दिखाई पड़ते।

हम तो चाहते ही हैं कि हमारे साहित्यिक इतिहास में सहायक हो सकनेवाले ग्रन्थ अधिक से अधिक संख्या में तैयार हों और इस तरह के काम में विशेष उत्साही सज्जनों का सहयोग सुलभ हो; परन्तु हमारी धारणा है कि इस प्रकार के काम में पूरी सफलता तभी मिल सकती है जब कुछ धुनी लोग इसमें अपना जीवन खपाने को कमर कस लें। यह काम ऐतिहासिक महत्त्व का है और इसका सांस्कृतिक मूल्य भी कुछ कम नहीं है। फिर भी, जितना कुछ काम वर्त्तमान परिस्थिति में किया जा सकता है उतना भी अवश्य कर्त्तव्य है।

—शिव०

व्यक्ति और संस्कृति

प्रारंभ में मनुष्य संस्कृति का निर्माण करता है और फिर संस्कृति मनुष्य के व्यक्तित्व के अनेक पक्षों को निर्मित करने लगती है। व्यक्ति और संस्कृति दोनों एक दूसरे को क्रमशः प्रभावित करते हैं। संस्कृति व्यक्ति को एक विशेष साँचे में ढालती है। प्रायः प्रत्येक संस्कृति में अपनी परंपरा को बनाये रखने की शक्ति होती है। जीवन के प्रथम वर्षों में संस्कृतिकरण द्वारा शिशु अपनी मूल-भूत प्रवृत्तियों की अभिव्यक्ति के समाज-स्वीकृत माध्यमों से परिचित होता है। व्यक्तिगत स्वच्छता, खानपान, बातचीत, निद्रा आदि सम्बन्धी अपनी आदतें शिशु इसी आयु से सीखता है। उसके व्यक्तित्व के विकास में तथा शेष जीवन के क्रम पर इसका अत्यंत व्यापक प्रभाव पड़ता है। बाल्यावस्था तथा वयःसंधि की आयु तक व्यक्ति अपनी संस्कृति के सिद्धान्तों और आदर्शों से परिचित हो जाता है।

डा० श्यामाचरण दुबे, उस्मानिया विश्वविद्यालय (राष्ट्रभारती, वर्धा ; अप्रैल '५१)

जयदेव और विद्यापति

श्री नलिन विलोचन शर्मा
श्री जयदेव मिश्र

न०--भाई जयदेव जी, आज हमें जयदेव और विद्यापति के संबंध में बातें करनी हैं। आप तो जयदेव ही ठहरे!

ज०--और आप विद्यापति की रचनाओं में अनुराग रखने वाले!

न०--मैं प्रारंभ में ही एक बात पूछूँ? विद्यापति ने 'देसिल बयना' को 'सब ज़न मिटा' कह कर संस्कृत की मधुरता क्यों अस्वीकृत की है? इस संबंध में आपके क्या विचार हैं?

ज०--आप ऐसा नहीं मानते क्या? विद्यापति ने संस्कृत की तुलना में देश-भाषाओं के विषय में जो कुछ कहा है वह तो देश-भाषाओं के साहित्य को पढ़ने-सुनने से मानना ही पड़ता है। व्रजभाषा की 'साँकरी गली में काँकरी' गड़ने वाली उक्ति को सुन कर मंत्र-मुग्ध हो जाने वाले विदेशी की कथा कथा भले हो, किन्तु तथ्य तो झूठ नहीं है। उसी तरह मैथिली में लिखी विद्यापति की कविताएँ चैतन्य-देव जैसे भक्तों को किस प्रकार विह्वल बना देती थीं यह प्रसिद्ध है। यह मधुरता संस्कृत में क्यों नहीं संभव है और देश-भाषाओं में ही क्यों सुलभ, यह कहना तो अनावश्यक ही है।

न०--हाँ, सब से बड़ा कारण तो यही है कि संस्कृत में संयुक्त ध्वनियों की भरमार है। ठीक इसके विपरीत लोक-भाषाओं में इससे बचने की प्रवृत्ति है। इसलिए राजशेखर का तो यहाँ तक कहना है कि जहाँ तक सुकुमारता का प्रश्न है, प्राकृत और संस्कृत में वही अंतर है जो स्त्री और पुरुष में। और गोवर्द्धनाचार्य ने अपनी 'आर्या-सप्तशती' में कहा है--'वाणी प्राकृत-समुचित-रसा बलेनैव संस्कृतं नीता'। लेकिन मैं पूछना यह चाहूँगा कि क्या जयदेव, जिनका आदर्श अभिनव-जयदेव विद्यापति के सामने अवश्य था, अपनी काव्य-माधुरी से इस मंतव्य को अप्रमाणित नहीं करते?

ललित-लवङ्गलता-परिशीलन-कोमल-मलय-समीरे।
मधुकर-निकर-करम्बित-कोकिल-कूजित-कुञ्ज-कुटीरे॥

क्या इसमें मधुरता का अभाव है? इसी के आधार पर तो जयदेव गर्व के साथ अपनी कविता के सम्बन्ध में कहते हैं--

साध्वी माध्वीक-चिन्ता न भवति भवतः शर्करे कर्कशासि।
द्राक्षे द्रक्षन्ति के त्वाममृत मृतमसि क्षीर नीरं रसस्ते॥
माकन्द क्रन्द कान्ताधर धरणितलं गच्छ यच्छन्ति भावम्।
यावच्छृङ्गार-सारस्वतमिह जयदेवस्य विश्वग्वचांसि॥

कहते हैं कि जब तक जयदेव की श्रृंगार-युक्त कविता का अस्तित्त्व है तब तक मधु की कहीं पूछ नहीं है, शर्करा कर्कश प्रतीत होगी, दाख की ओर कोई देखेगा भी नहीं, अमृत मृत है, दूध पानी के समान है, आम को अपने भाग्य पर रोना चाहिए और कान्ता के मधुर अधर का कोई मूल्य नहीं है।

पंडितराज जगन्नाथ ने भी संस्कृत म रचित अपने काव्य के बारे में यह दावा किया है-

आमूलाद्रत्नसानोर्मलयवलयितादा च कूलात्पयोधे-
र्यावन्तः सन्ति काव्य-प्रणयन-पटवस्ते विशंक वदन्तु।
मृद्वीका-मध्य-निर्यन्मसृण-रसझरी-माधुरी-भाग्यभाजां
वाचामाचार्यतायाः पदमनुभवितुं कोऽस्ति धन्यो मदन्यः॥

यानी, सुमेरु पर्वत की तलहटी से ले कर मलय पर्वत से घिरे हुए समुद्र तट तक जितने कुशल कवि हैं वे ठीक-ठीक कहें कि अंगूर की स्निग्ध रस-धारा की मधुरता का सौभाग्य मुझे छोड़ कर किसे प्राप्त है ?

कालिदास की कोमल वाणी के सम्बन्ध में तो ठीक ही कहा गया है कि वह साकूत-कोमल-विलासिनी-कंठ-कूजित-प्राय है।

ज०--तो आप कहना क्या चाहते हैं नलिन जी ? संस्कृत की मधुरता भी अपने ढंग की है और प्रशंसनीय है किन्तु लोक-भाषाओं की मधुरता की जिसने भी तारीफ की है वह आपेक्षिक ही तो है। विद्यापति की इन पंक्तियों को सुनिए--

ए भर बादर माह भादर सून मंदिर मोर।
झंपि घन गरजंति संतत भुवन भरि वरसंतिआ॥
कंत पाहुन काम दारुन सघन खर सर हंतिआ॥
कुलिस कत सत पात मूदित मयुर नाचत मातिआ।
मत्त दादुर डाके डाहुकि फाटि जाओत छातिआ॥
तिमिर दिग भरि घोर जामिनि अथिर विजुरिक पांतिआ।
विद्यापति भन कैसे गमाओब हरि विना दिन रातिआ॥

क्या आप समझते हैं कि ये पंक्तियाँ संस्कृत में रूपांतरित हो कर इतनी मधुर बनी रहेंगी ? विद्यापति ने जयदेव की तरह तो गर्वोक्ति नहीं कही है किंतु वे भी इतना भर तो कहते ही हैं--और क्या यह कहना सर्वथा उचित नहीं है ?--

बालचंद विज्जावइ भासा,
दुहु नहिं लग्गइ दुज्जन हासा,
ओ परमेसर हरसिर सोहइ,
ई निच्चय नाअर मन मोहइ।

न०--विद्यापति का यह कथन पूर्णतः उचित है। लेकिन मधुरता केवल शब्दावली पर आश्रित है, यह मानना भी तो भूल होगी ? मेरा विश्वास है कि अपनी सारी शब्द-माधुरी के बावजूद जयदेव काव्य-माधुरी की दृष्टि से कालिदास की तुलना में अछे ही पड़ते हैं।

ज०—तो नलिन जी, अब हम जयदेव और विद्यापति के काव्य पर ही क्यों न विचार करें ?

न०—हाँ, हम शायद विषयांतर के दोषी हो चले थे। और फिर भी आलोचक अनिवार्यतः जयदेव और विद्यापति दोनों की काव्य-माधुरी की प्रशंसा करते अघाते नहीं। मैं यही तो स्पष्ट करना चाहता हूँ कि क्या उनके काव्य की उत्कृष्टता शब्दों के चयन तक ही सीमित है या उनके काव्य का कोई अंतर्निहित वैशिष्ट्य भी है।

ज०—ऐसा नहीं होता तो जयदेव या विद्यापति युग-युग से उतने लोकप्रिय बने नहीं आते जितने वे रहे हैं। जयदेव ने तो संस्कृत जैसी व्यापक भाषा में लिखा था और उन्हें सहज ही सार देश में प्रसिद्धि और मान्यता मिल गई होगी, किंतु विद्यापति ने एक प्रादेशिक भाषा, मैथिली, में लिख कर भी समस्त देश को रस-सिक्त किया। यदि इनके काव्य में काव्य के वास्तविक गुणों का अभाव रहता तो यह असंभव था।

न०—तो वे गुण हैं क्या ?

ज०—गुण ही क्यों, इनकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इनकी रचनाओं में काव्य और संगीत का अपूर्व समन्वय हुआ है। जयदेव ने गीत-गोविंद के द्वारा एक अभिनव काव्य-रूप का प्रवर्त्तन किया था। उसे पूर्णता प्राप्त हुई विद्यापति की भणिताओं में और उसका विकास हुआ परवर्त्ती हिंदी, बँगला आदि के भक्त कवियों की रचनाओं में। 'पद्मावती-चरण चारण-चक्रवर्त्ती' जयदेव की पत्नी पद्मावती एक नटी थी---ऐसी जनश्रुति है। जयदेव संगीत-नृत्य के वातावरण में अपनी रचनाएँ करते थे, यह तो स्पष्ट ही है। इसी प्रकार विद्यापति के गीतों का साथ करने के लिए जयंत नामक कत्थक का वृत्तांत मिलता है। यह स्वाभाविक ही था कि इन कवियों की रचनाओं में काव्य और संगीत का दुर्लभ संयोग हुआ।

न०—आप इस अभिनव काव्य-रूप को नाम क्या देना पसंद करेंगे ? कुछ विद्वान गीत-गोविंद को परिष्कृत यात्रा कहते हैं, कुछ पशु-चारण-काव्य और कुछ गीति-नाटक। पाश्चात्य विद्वान पिशेल गीत-गोविंद को संगीत-रूपक मानते हैं और अन्य विद्वानों के विचारानुसार वह गीति-काव्य और नाटक का मिश्रण है। इतना तो स्पष्ट ही है कि संस्कृत में ऐसी कोई प्रचलित परंपरा नहीं थी। वर्णन, संवाद, गीत ये तीनों ही इस कुशलता से गीतगोविंद में गुंफित किए गए हैं कि उसे, मेरी समझ से, गीति-नाटक कहना ही समीचीन होगा।

ज०—गीत-गोविंद को गीति-नाट्य आप कहना चाहें तो कह लें। विद्यापति की रचनाएँ पदावली कही जा कर भी गीति-नाट्य मानी जा सकती हैं। किंतु, हम यह भी स्मरण रखें कि आज के गीति-नाट्य की तरह इसका अभिनय नहीं होता था। जो भी हो, नलिन जी, इस सम्बन्ध में एक महत्त्वपूर्ण बात हम कहीं भूल न जायँ और वह यह कि यदि संस्कृत में इस प्रकार के

काव्य की कोई परंपरा नहीं थी तो उसका इतना परिष्कृत रूप गीत-गोविंद में सहसा संभव कैसे हुआ ?

न०——भाई, जयदेव जी, यों तो कुछ विद्वान यह कह कर छुट्टी पा लेना चाहते हैं कि गीत-गोविंद लोक-भाषा की रचना का संस्कृत अनुवाद है, पर मुझे यह उत्तर मान्य नहीं। यों तो संस्कृत के नाटकों में भी जब स्त्रियाँ गाती हैं तो प्राकृत में ही किंतु, दूसरी ओर, संस्कृत में सामवेद की ऋचाएँ भी तो हैं, जिनमें काव्य और संगीत का प्राचीनतम समन्वित रूप हमें देखने को मिलता है। असल में संस्कृत काव्य-शास्त्र काव्य के इस रूप को महत्त्वपूर्ण मानता ही नहीं। यह बहुत दूर तक ठीक भी है। काव्य की सांगीतिकता और चीज है और संगीत और चीज। मैं तो मानता हूँ कि संस्कृत काव्य की गरिमा का रहस्य ही यह है कि उसे संगीत के ताल-लय में नहीं बाँधा गया।

ज०——क्षमा करें, नलिन जी—मैं शायद बीच में बोल बैठा—लेकिन आप आधुनिक हिंदी कविता के संबंध में क्या कहेंगे जिसमें काव्य और संगीत का काफी दूर तक मिश्रण है।

न०——यदि आपका तात्पर्य यह है कि हिंदी गीति-काव्य वस्तुतः गीत-काव्य है ...!

ज०——हाँ, मेरा यही अभिप्राय है।

न०——तो आपका यह कहना बिलकुल ठीक है। गीति-काव्य (Lyric) में सांगीतिकता तो रहती है पर अपने ताल-लय के साथ संगीत नहीं रहता। हिंदी गीति-काव्य में जहाँ इसका ध्यान नहीं रखा गया है वहाँ वह दोष आ ही गया है। इसीलिए हिंदी के जो कवि अपनी कविताएँ इस दृष्टि से लिखते हैं कि वे गाई जा सकें वे बहुत ऊँचे दर्जे की चीज नहीं लिख पाते। कविता 'रिसाइट' तो की जा सकती है, उसका पाठ तो हो सकता है, लेकिन कविता का गाना क्या ? आपने सुना है कभी कि शेली या कीट्स की कविता गाई जाती है ? यों तो अंग्रेजी का शब्द लिरिक व्युत्पत्ति ही क्या वास्तविकता की दृष्टि से भी वाद्य-विशेष के नाम से संबद्ध है किंतु विकसित गीति-काव्य का वैशिष्ट्य ही यह है कि वह गीत-काव्य से भिन्न काव्य का रूप है। वैसे तो संस्कृत में आज के-से गीति-काव्यों का भी प्रचलन नहीं था किंतु संस्कृत कविता में सामान्यतः संगीत को ऐसा स्थान नहीं दिया जाता था कि वह प्रधान तत्त्व ही हो जाए। इसीलिए जहाँ मैं नहीं मानता कि गीत-गोविंद लोक-भाषा की रचना का अनुवाद है वहाँ इससे इनकार भी नहीं करता कि उस पर लोक-भाषा की रचना-प्रणाली का प्रभाव है। काव्य की इस परंपरा के संबंध में, सच तो यह है, कि अभी अनुसंधान हुआ ही नहीं है। लेकिन, भाई जयदेव जी, इन बातों से अधिक क्या यह विचारणीय नहीं कि जयदेव और विद्यापति में कुछ ऐसी समानताएँ हैं जिनका समाधान मिलना ही चाहिए।

ज०--यह तो ठीक है। इन कवियों के विषय में एक बात और। इनक बार म क्या यह प्रश्न कम विकट रहा है कि एक और तो दोनों ही, भक्तों को, आध्यात्मिक प्रेरणा देने वाले भी माने जाते हैं और, दूसरी ओर, उनमें शृंगार–कहीं-कहीं तो उत्तान शृंगार–की प्रधानता भी है। किंतु इसका उत्तर उतना कठिन नहीं है जितना समझा जाता है। जयदेव का प्रतिपालक सेन वंश तथा विद्यापति के आश्रयदाता शिवसिंह, दोनों के पीछे कार्णाट संस्कृति का प्रभाव था। दूसरी बात यह है कि गौड या मिथिला की तत्कालीन संस्कृति और सभ्यता की छाप भी अनिवार्यतः इन कवियों की रचनाओं पर है। एक तीसरा कारण भी है और वह अधिक महत्त्वपूर्ण है। राधा-कृष्ण की उपासना में ही भक्ति और शृंगार का ऐसा, ऊपर से विरोधाभास-पूर्ण, समन्वय है जिससे इस भक्ति-प्रणाली के संबंध मे ही कुछ लोगों के मन में शंकाएँ उत्पन्न हो जाती हैं। श्रीमद्भागवत में शुकदेव ने परीक्षित की इस प्रकार की शंकाओं का अनेकविध निराकरण किया भी है। यह तो अनिवार्य है कि राधा-कृष्ण से संबद्ध काव्य में भी भक्ति-पद्धति का माधुर्य-भाव वर्त्तमान रहे। जब इससे भगवद्भजन में निरत सूरदास भी नहीं बच पाए हैं–या अपने को बचाने की जरूरत ही नहीं समझी–तो राज-सभा में रह कर काव्य करने वालों की क्या कथा!

न०--विद्यापति के विषय में यह विवाद भी तो आलोचकों के लिए सर-दर्द है कि वे थे तो शैव और रचनाएँ की हैं राधा-कृष्ण पर?

ज०--वस्तुतः जयदेव और विद्यापति दोनों ही पंचदेवोपासक थे। यह विषय और रुचि की अनुरूपता ही थी जिसके कारण उन्होंने राधा-कृष्ण पर ही अधिक लिखा। किंतु क्या इन समानताओं के साथ इन दोनों महाकवियों का यह अंतर भी उल्लेखनीय नहीं है कि विषय एक होते हुए भी दोनों ने प्रतिपादन अपने ढंग से किया है?

न०--आप ने ठीक ही तो कहा, जयदेव जी! जयदेव की प्रगल्भ राधा एक स्थिर (static) चरित्र है, विद्यापति की राधा विकासशील। विद्यापति की राधा युवावस्था को क्रमशः पार कर प्रगल्भ बनती है। इसी से विद्यापति राधा के स्वभाव-चित्रण में भी अधिक गहराई में उतर सके हैं। जयदेव विरहिणी राधा के बारे में ऊहात्मक शैली में इतना भर कह कर रह जाते हैं---

विलपति, हसति, विषीदति, रोदिति, चञ्चति, मुञ्चति बाष्पम्। पर विद्यापति की राधा तो, क्या विरह और क्या मिलन, यह कह कर अपने प्राणेश्वर के प्रति अपने भाव व्यक्त करती है---

जनम अवधि हम रूप निहारल, नयन न तिरपित भेल।

(आकाश वाणी के सौजन्य से)

सीमा को स्पर्श कर गया है, या यों कहिये कि कहीं-कहीं उसका रूप आत्मश्लाघा का हो गया है। दृष्टान्त के रूप में भर्तृहरि की इस उक्ति को लीजिए--

"अहञ्च भाष्कारश्च कुशाग्रीयधियावुभौ ।
नवशब्दाम्बुधेः पारं किमन्ये जडबुद्धयः ।।"

मेरी और मेरे भाष्यकार की बुद्धि कुशाग्र की तरह तीक्ष्ण है। हम दोनों ही जब शब्द-सागर का पार नहीं पा सके तो और लोग जो जडबुद्धि हैं वे किस प्रकार पार पा सकते हैं ?

महाकवि कालिदास के रघुवंश में एक श्लोक है -- "तं सन्तः श्रोतुमर्हन्ति सदसद्व्यक्तिहेतवः । हेम्नः संलक्ष्यते ह्यग्नौ विशुद्धिः श्यामिकापि वा ।।" अर्थात् मेरा यह काव्य उन्हीं लोगों के सुनने योग्य है जिनमें सदसद् अर्थात् दोष-गुण के परखने की योग्यता है। सोने की विशुद्धता की परीक्षा एकमात्र अग्नि में ही या कसौटी पर ही हो सकती है। कवि की इस उक्ति में आत्मप्रत्यय की जो भावना है वह प्रच्छन्न होने पर भी कितनी स्पष्ट है।

भवभूति के "मालती-माधव" नाटक के इस श्लोक से प्रायः सभी सुधी पाठक परिचित हैं जिसमें भवभूति ने गर्व के साथ कहा है कि आज मेरे काव्य की अवज्ञा करने वाले भले ही पाये जायँ किन्तु इससे मेरे काव्य की हीनता नहीं, उनकी बुद्धि की हीनता प्रकट होती है। काल अनन्त है और यह पृथिवी विशाल है । इसलिए कभी न कभी मेरे समान कोई काव्यरसिक जन्म लेगा ही और तब मेरे काव्य को वह यथार्थ मर्यादा प्रदान करेगा : "उत्पत्स्यतेऽस्ति मम कोऽपि समानधर्मा । कालोह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी ।।" भवभूति की एक और उक्ति भी इसी प्रकार की है--

"सर्वथा व्यवहर्तव्यः कुतो ह्यवचनीयता ।
यथा स्त्रीणां तथा वाचां साधुत्वे दुर्जनो जनः ।।"

जो करने योग्य हो वही काम सदा करना चाहिए । इस धराधाम पर निन्दा से कौन बच सकता है ? स्त्रियों के चरित्र पर जिस प्रकार लोग दोषारोपण करना पसंद करते हैं उसी प्रकार वाक्य के संबंध में भी।

भारवि ने भी भवभूति के समान यह समझ लिया था कि इस वैचित्र्यपूर्ण विश्व में सब को समान रूप से सन्तुष्ट करना संभव नहीं है । उनकी एक उक्ति है--

"स्तुवन्ति गुर्व्वीमभिधेयसम्पदं विशुद्धिमुक्तेरपरे विपश्चितः ।
इति स्थितायां प्रतिपूरुषं रुचौ सुदुर्लभा सर्वमनोरमा गिरः ।।"

कोई अर्थगाम्भीर्य का पक्षपाती है, कोई निर्दोष वाक्यविन्यास का। इस प्रकार रुचिभेद के होते हुए सर्वजनमनोरम वाक्य एकान्त दुर्लभ है ।

संस्कृत के कवियों में पंडितराज जगन्नाथ की दंभोक्तियाँ प्रसिद्ध हैं। पंडितराज जगन्नाथ कवि की अपेक्षा एक आलंकारिक के रूप में विशेष प्रसिद्ध हैं। 'भामिनी-विलास' नामक काव्य में उन्होंने आत्मप्रशंसा की पराकाष्ठा कर दी है। अपनी कविता के संबंध

साहित्यकारों की आत्मश्लाघा

प्रो० जगन्नाथ प्रसाद मिश्र

आत्मप्रशंसा एक अवगुण मानी जाती है। बड़े से बड़े पण्डित, कवि एवं लेखक आत्मप्रशंसा नहीं करते। हमारे देश के सबसे बड़े कवि कालिदास ने अपने रघुवंश महाकाव्य में अपनी प्रशंसा न करके अत्यधिक विनम्रता दिखलायी है। उन्होंने कविता लिख कर यशःप्रार्थी होने की अपनी महात्त्वाकांक्षा की तुलना एक बौने की चन्द्रमा तक पहुँचने की अभिलाषा से की है। हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ कवि तुलसीदास ने भी रामचरितमानस में अपनी विनय की पराकाष्ठा कर दी है। "कबि न होउँ नहि बचन प्रबीनू। सकल कला सब विद्या हीनू।" फिर आगे चलकर "कबित बिबेक एक नहिं मोरे" इत्यादि कहा है। इस प्रकार और भी अनेक प्राचीन कवियों ने अपनी विद्या, बुद्धि एवं कवित्वशक्ति के संबंध में अपनी विनयशीलता प्रकट की है। इतना ही नहीं, बल्कि प्राचीन कवियों ने अपनी कृतियों में आत्मपरिचय के रूप में कुछ भी नहीं लिखा है। इसीसे वर्त्तमान युग के पुरातत्त्वप्रेमियों के लिए उनके काल का पता लगाना और किसी निर्णय पर पहुँचना एक दुरूह व्यापार हो रहा है। किन्तु आत्मपरिचय के रूप में जहाँ प्राचीन कवियों ने कुछ नहीं लिखा है वहाँ आत्मविश्वास का अभाव उनमें पाया जाता है, ऐसी बात नहीं है। एक कवि, कलाकार एवं लेखक के जीवन में आत्मविश्वास या आत्मप्रत्यय का बहुत बड़ा मूल्य है। यही उसकी लेखनवृत्ति की सबसे बड़ी पूँजी है। यह संभव है कि यह आत्मविश्वास कभी-कभी आत्मप्रशंसा का रूप धारण कर ले। किन्तु प्रत्येक लेखक के मन में अपनी रचनाओं के संबंध में किसी न किसी रूप में गर्व की भावना रहती है। और लेखकों में स्वाभिमान की यह भावना तो होनी ही चाहिए। जो लेखक अपनी रचनाओं के संबंध में एक बलिष्ठ स्वाभिमान अथवा आत्मप्रत्यय की धारणा अपने मन में नहीं रखेगा वह अपने पाठकों के दुर्बल हृदय में बल एवं उत्साह का संचार किस प्रकार कर सकता है, उनके अवसन्नचित्त को तेजस्वी किस प्रकार बना सकता है? कवि की वाणी में नवजीवन प्रदान करने एवं कर्मोद्यम के लिए प्रेरणा तथा स्फूर्ति उत्पन्न करने की जो शक्ति होती है उसका कारण भी तो यही है कि एक सच्चा कवि अपनी जिन अनुभूतियों को व्यक्त करता है उनके पीछे उसके अन्तर की निगूढ़ साधना होती है, उसका आत्मविश्वास होता है। जहाँ अनुभूति की गहराई नहीं होगी, आन्तरिकता का अभाव होगा वहाँ कवि की वाणी शब्दों की कलाबाजी मात्र होगी। उसमें पाठकों के मर्म को छूने और उसके प्राणों को उद्वेलित करने की शक्ति नहीं होगी।

भारत के प्राचीन कवियों ने अपनी रचनाओं में स्वाभिमान एवं आत्मप्रत्यय की भावना प्रकाश्य रूप में व्यक्त की है। उनका यह आत्मप्रत्यय कहीं-कहीं आत्मप्रशंसा की

सीमा को स्पर्श कर गया है, या यों कहिये कि कहीं-कहीं उसका रूप आत्मश्लाघा का हो गया है। दृष्टान्त के रूप में भर्त्तृहरि की इस उक्ति को लीजिए--

"अहञ्च भाष्कारश्च कुशाग्रीयधियावुभौ ।
नवशब्दाम्बुधेः पारं किमन्ये जडबुद्धयः ।।"

मेरी और मेरे भाष्यकार की बुद्धि कुशाग्र की तरह तीक्ष्ण है। हम दोनों ही जब शब्द-सागर का पार नहीं पा सके तो और लोग जो जडबुद्धि हैं वे किस प्रकार पार पा सकते हैं ?

महाकवि कालिदास के रघुवंश में एक श्लोक है -- "तं सन्तः श्रोतुमर्हन्ति सदसद्व्यक्तिहेतवः । हेम्नः संलक्ष्यते ह्यग्नौ विशुद्धिः श्यामिकापि वा ।।" अर्थात् मेरा यह काव्य उन्हीं लोगों के सुनने योग्य है जिनमें सदसद् अर्थात् दोष-गुण के परखने की योग्यता है। सोने की विशुद्धता की परीक्षा एकमात्र अग्नि में ही या कसौटी पर ही हो सकती है। कवि की इस उक्ति में आत्मप्रत्यय की जो भावना है वह प्रच्छन्न होने पर भी कितनी स्पष्ट है।

भवभूति के "मालती-माधव" नाटक के इस श्लोक से प्रायः सभी सुधी पाठक परिचित हैं जिसमें भवभूति ने गर्व के साथ कहा है कि आज मेरे काव्य की अवज्ञा करने वाले भले ही पाये जायँ किन्तु इससे मेरे काव्य की हीनता नहीं, उनकी बुद्धि की हीनता प्रकट होती है। काल अनन्त है और यह पृथिवी विशाल है । इसलिए कभी न कभी मेरे समान कोई काव्यरसिक जन्म लेगा ही और तब मेरे काव्य को वह यथार्थ मर्यादा प्रदान करेगा : "उत्पत्स्यतेऽस्ति मम कोऽपि समानधर्मा । कालोह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी ।।" भवभूति की एक और उक्ति भी इसी प्रकार की है--

"सर्वथा व्यवहर्तव्यः कुतो ह्यवचनीयता ।
यथा स्त्रीणां तथा वाचां साधुत्वे दुर्जनो जनः ।।"

जो करने योग्य हो वही काम सदा करना चाहिए । इस धराधाम पर निन्दा से कौन बच सकता है ? स्त्रियों के चरित्र पर जिस प्रकार लोग दोषारोपण करना पसंद करते हैं उसी प्रकार वाक्य के संबंध में भी ।

भारवि ने भी भवभूति के समान यह समझ लिया था कि इस वैचित्र्यपूर्ण विश्व में सब को समान रूप से सन्तुष्ट करना संभव नहीं है । उनकी एक उक्ति है--

"स्तुवन्ति गुर्वीमभिधेयसम्पदं विशुद्धिमुक्तेरपरे विपश्चितः ।
इति स्थितायां प्रतिपूरुषं रुचौ सुदुर्लभा सर्वमनोरमा गिरः ।।"

कोई अर्थगाम्भीर्य का पक्षपाती है, कोई निर्दोष वाक्यविन्यास का। इस प्रकार रुचिभेद के होते हुए सर्वजनमनोरम वाक्य एकान्त दुर्लभ है ।

संस्कृत के कवियों में पंडितराज जगन्नाथ की दंभोक्तियाँ प्रसिद्ध हैं। पंडितराज जगन्नाथ कवि की अपेक्षा एक आलंकारिक के रूप में विशेष प्रसिद्ध हैं। 'भामिनी-विलास' नामक काव्य में उन्होंने आत्मप्रशंसा की पराकाष्ठा कर दी है। अपनी कविता के संबंध

में इन्होंने कहा है कि मिसरी की डली, द्राक्षा और कामिनी का अधर, इन सब की मधुरता लोकप्रसिद्ध होने पर भी मेरे काव्य की मधुरता की बराबरी नहीं कर सकती।

मधु द्राक्षा साक्षादमृतमथ वामाधरसुधा
कदाचित् केषांचित्खलु हि विदधीरन्नपि मुदम्।
ध्रुवं ते जीवन्तोऽप्यहह मृतका मन्दमतयो
न येषामानन्दं जनयति जगन्नाथभणितिः॥

अर्थात् यह संभव है कि मिसरी, मुनक्का, अमृत और रमणी की अधरसुधा किसी को अच्छी न लगे। किन्तु अवश्य ही वे मन्दबुद्धि जीते हुए भी मृतक के समान हैं जिन्हें जगन्नाथ की उक्तियों से आनन्द-लाभ न हो।

'नैषध काव्य' के कर्त्ता श्रीहर्ष ने प्रत्येक सर्ग के अन्त के श्लोक में "काव्ये चारुणि नैषधीय-चरिते" जोड़ दिया है जिसका अर्थ यह होता है कि कवि ने अपनी कविता को चारु अर्थात् मनोरम कहा है। 'नैषध चरित' के संबंध में एक कौतुक-प्रद किम्वदन्ती प्रचलित है। कहते हैं कि श्रीहर्ष नैषध-चरित की रचना कर उसे अपने मामा, प्रमुख आलंकारिक, मम्मट भट्ट को दिखाने ले गये। मम्मट भट्ट ने उसका आद्योपान्त पाठ कर कहा—"वत्स, यदि कुछ पहले तुम इस काव्य को मेरे पास लाते तो मेरा श्रमभार बहुत हल्का हो जाता। अनेक काव्यों का पाठ करके मैंने अपने 'काव्य-प्रकाश' के दोषपरिच्छेद के लिए उदाहरण संग्रहीत किये हैं। उस समय यदि तुम्हारा 'नैषध-चरित' मिल जाता तो मुझे इतना परिश्रम नहीं करना पड़ता। इस एक ही ग्रन्थ में सारे उदाहरण मिल जाते!" किन्तु इससे यह नहीं मान लेना चाहिये कि 'नैषध-चरित' सर्वथा दोषपूर्ण है और उसमें कुछ खूबी है ही नहीं। "नैषधे पदलालित्यम्" यह उक्ति नैषध के संबंध में पंडितमण्डली में प्रसिद्ध है। माघ के समान श्रीहर्ष ने भी कल्पना के क्षेत्र में संयम से काम नहीं लिया है।

विज्जिका नाम की एक विदुषी महिला कवि को अपने पाण्डित्य पर बड़ा अभिमान था। वह अपने को सरस्वती की साक्षात् मूर्त्ति समझती थी। अपने संबंध में उसने लिखा है—नीलोत्पलदलश्यामां विज्जिकां मामजानता। वृथैव दण्डिना प्रोक्तं सर्वशुक्ला सरस्वती॥" अर्थात् मैं विज्जिका नील कमल के पत्ते के समान श्यामवर्णा हूँ। दण्डी ने मुझे जाने बिना व्यर्थ ही सरस्वती का वर्णन सर्वशुक्ला के रूप में किया है। कुन्देन्दुतुषारहारधवला सरस्वती श्यामवर्णा भी हो सकती है और वह श्यामवर्णा विज्जिका स्वयं थी।

गीतगोविन्दकार जयदेव ने अपने काव्य का परिचय 'मधुर-कोमल-कान्त-पदावली के रूप में दिया है—

"मधुर-कोमल-कान्त-पदावलीम्। शृणु तदा जयदेव-सरस्वतीम्॥"

आधुनिक युग के कवियों एवं लेखकों में स्वाभिमान की भावना कम नहीं है। किन्तु अपने इस स्वाभिमान को उन्होंने आत्मश्लाघा के रूप में व्यक्त नहीं किया है। हाँ, उन्होंने अपने स्वाभिमान को जिन शब्दों में प्रकट किया है उनसे उनके आत्मविश्वास का परिचय अवश्य मिलता है। एक बात और है। वर्त्तमान काल के, विशेष कर

पाश्चात्य देशों के, अनेक कवियों ने आत्मचरित लिखे हैं। अपने आत्मचरित में उन्होंनें गुण-दोष का भी वर्णन किया है। किन्तु इस प्रकार के वर्णनों में भी लेखक के स्वाभिमान का आभास तो मिलता ही है। और आत्मचरित लिखने की यह जो परिपाटी है इसके पीछे क्या लेखक के अन्तराल में छिपी आत्मश्लाघा एवं आत्मविश्वास की भावना काम नहीं करती ? प्राचीन काल में आत्मजीवनी लिखने की परिपाटी नहीं थी। हमारे देश के किसी भी कवि या पण्डित ने आत्मपरिचय के रूप में कुछ भी नहीं लिखा है। इस समय के प्रसिद्ध लेखकों में तो अधिकांश ने आत्मचरित लिखे हैं। कवि-गुरु रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने भी आत्मचरित लिखा है। जब तक लेखक में स्वाभिमान और आत्म-प्रत्यय नहीं होगा वह आत्मचरित लिखने का साहस नहीं कर सकता। यदि साहस करेगा भी तो वह हास्यास्पद सिद्ध होगा। आधुनिक पाश्चात्य लेखकों में बर्नार्ड शा सब से बड़े स्वाभिमानी थे। उनके जैसा स्वाभिमान, या यों कहिये कि आत्मश्लाघा, शायद ही किसी अन्य लेखक में हो। उनके संबंध में एक प्रवाद यह भी प्रचलित है कि आरम्भ में जब शा के नाटकों का प्रचार नहीं हुआ था शा स्वयं लंदन शहर के बड़े-बड़े पुस्तक-विक्रेताओं की दूकानों पर जाते और उनसे बर्नार्ड शा की पुस्तकें दिखाने के लिए कहते। यदि दूकानदार यह कहता कि पुस्तक नहीं हैं तो शा विस्मय प्रकट करते हुए कहते कि बर्नार्ड शा जैसे लोकप्रिय लेखक की पुस्तकें आप नहीं रखते ! उनकी पुस्तक तो तरुण साहित्यिक समाज में हाथों हाथ बिक रही हैं ! अपने एक प्रसिद्ध नाटक Doctor's Dilemma में उन्होंने नायक के मुँह से कहलवाया है —"I am a disciple of Bernard Shaw, I am not anything." यह आत्मश्लाघा नहीं तो और क्या है ?

भारतीय कला का तिब्बत में प्रभाव

तिब्बत की स्थापत्य कला पर भी भारतीय प्रभाव स्पष्ट लक्षित हैं। मन्दिरों तथा बौद्ध-विहारों के निर्माण में तिब्बती कलाकारों ने भारतीय परम्पराओं का अनुकरण किया है। यह मनोरंजक विषय है कि तिब्बत का नहीं, समस्त विश्व का सबसे बड़ा 'द्विपंग' नामक बौद्ध-विहार उड़ीसा प्रांत के कटक नामक स्थान में प्राचीन काल में अवस्थित श्रीदंग बौद्ध-विहार की शैली में निर्मित किया गया था। तिब्बत एक धर्म-प्रधान देश है और उसकी कला भी धर्म-प्रधान है, जो भारतीय कला की एक प्रशाखा मात्र है। वर्तमान तिब्बती अपनी कला में भारतीय प्रभाव से अनभिज्ञ हैं और इसी कारण वे धातु से बनी तिब्बती प्रतिमाओं तथा चित्रों को वाल-ब्रिस अथवा नेपाली कला के नाम से पुकारते हैं। किन्तु वस्तुतः भारत ही वह देश है जिसने अपने क्षमताशाली प्रभाव के साँचे में तिब्बती कला को ढाला है——ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार उसने तिब्बती धर्म, संस्कृति, साहित्य और वर्णमाला को प्रभावित किया है।

——दशरथ राय, विशाल भारत, कलकत्ता, –१९५१ ई०।

हिन्दी में स्लैंग प्रयोग

श्री रामदीन पाण्डेय, एम्० ए०

संसार की प्रायः सभी समृद्ध भाषाओं में स्लैंग प्रयोग पाया जाता है। अंग्रेजी में स्लैंग शब्दों का बृहत् कोष तैयार हो गया है। स्लैंग प्रयोग पर भाषा-विज्ञान की दृष्टि से भी विवेचन हुआ है।

हिन्दी में स्लैंग प्रयोग के संबंध में प्रायः कुछ प्रयत्न नहीं हुआ है। खेद की बात है कि जिस शब्द-समुदाय का प्रयोग जन-समूह में हो, जिसका प्रयोग चलता साहित्य करता हो और जिस के सहारे अनेक पशों के मनुष्य भाव-विनिमय करते हों, वह स्लैंग अभी तक हिन्दी के विद्वानों के द्वारा उपेक्षित बना रहे।

स्लैंग की परिभाषा

स्लैंग सांकेतिक प्रलाप है। प्रत्येक सभ्य देश की साहित्यिक और बोलचाल की भाषा में कुछ ऐसे सांकेतिक शब्द प्रयुक्त होते हैं जिनके द्वारा एक वर्ग या दल के मनुष्य अपने भावों की व्यंजना इस प्रकार करते हैं कि उस विशिष्ट दल के अतिरिक्त दूसरा कोई उन्हें समझ नहीं पाता।

स्लैंग सम्बन्धी सिद्धान्त

(१) एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका, एकादश संस्करण, के २०७-२९ पृष्ठों में स्लैंग-सम्बन्धी विचार दीख पड़ते हैं। उनका सारांश यह है कि स्लैंग शब्द न्यूनाधिक कृत्रिम होते हैं। उनमें स्वाभाविकता की कमी होती है। स्लैंग के अन्तर्गत कथन के अनेक प्रकार हैं और ये जन-मंडली के विविध वर्गों में प्रचलित रहते हैं। पक्के चोरों और आवारों के बीच इसका अधिक व्यवहार होता है।

(२) वामन शिवराम आप्ते ने अपने कोष में स्लैंग के लिये प्रलाप, अपभाषा, अश्लील भाषण, खलोक्ति आदि का प्रयोग किया है।

(३) महाभारत के आदि-पर्व के युधिष्ठिर-विदुर-संवाद में स्लैंग के लिये प्रलाप शब्द आया है।

(४) मानियर विलियम्स अपने संस्कृत-अंग्रेजी-कोष में स्लैंग के लिये अपभाषा शब्द प्रयुक्त करते हैं। वे अपने कथन की पुष्टि कुमारसंभव के पंचम सर्ग के ८३ वें श्लोक के एक शब्द से करते हैं—'न केवलं महतोऽपभाषते।'

(५) अभी तक स्लैंग शब्द हिन्दी के लिये पहेली है। इसके लिये उपयुक्त शब्द का सृजन हिन्दी में नहीं हुआ है। इसे कोई देशज, कोई अपभाषा, कोई परखभाषा, कोई

म्लेच्छभाषा, कोई भूतभाषा, कोई प्रलापात्मक कथन और कोई बाजारू बोली की संज्ञा प्रदान करते हैं। ऐसी परिस्थिति में स्लैंग के लिये किसी एक हिन्दी शब्द को अपनाना अति कठिन प्रतीत होता है।

(६) जान एस् फारमर डब्लू. इ. हेन्ले (John S. Farmer W. E. Henley) ने स्लैंग तथा बोलचाल की अंग्रेजी का कोष लिखा है। इसी प्रकार की कुछ दूसरी पुस्तक हैं—Slang and its Analogues तथा Slang Dictionary, Etymological, Historical and Anecdotal।

स्लैंगगत सभी आंग्ल कोषों का यही निष्कर्ष है कि केवल गँवारू या अश्लील शब्द स्लग नहीं कहलाते, वरन् जानबूझ कर जब किसी खास दल में एक शब्द का प्रयोग खास अर्थ में होने लगता है तब वह स्लैंग बन जाता है और इस स्लैंग का अर्थ उस दल के सदस्य के अतिरिक्त दूसरा नहीं समझ सकता।

(७) स्लैंग को साधारण भाषा का अवयव नहीं कह सकते और न उसकी कमी की ही पूर्त्ति यह करता है।

(८) कुछ भाषाविज्ञों की सम्मति में घरेलू नाम जिस प्रकार वास्तविक नाम का स्थानापन्न है उसी प्रकार स्लैंग बोल चाल के शब्दों का एवज है। उपनाम भी एक प्रकार का स्लैंग है। अशिक्षित श्रोताओं से भाव को छिपाने के लिये स्लैंग का प्रयोग होता है।

(६) घृणा, मनोविनोदशीलता तथा किसी के प्रति द्वेष-भाव से स्लैंग का प्रयोग होता है।

(१०) स्लैंग-प्रयोगकर्त्ता की यही इच्छा होती है कि उस के भावाभिव्यंजन को दूसरा न भोग सके। स्लैंग में प्रभावोत्पादकता अधिक रहती है। वास्तविक नाम से उपनाम अधिक व्यक्तित्व-परिचायक होता है।

(११) स्लैंग का पर्यायी नहीं होता, और न यह शब्दों के अर्थपतन की प्रवृत्ति को रोकने में समर्थ है।

स्लैंग की व्यापकता

कुछ लोगों का यह कहना कि स्लैंग का प्रयोग लोक-विरोधी और निम्न समुदाय करता है, सर्वथा अमान्य है। स्लैंग का प्रयोग प्रगतिशील संस्थाओं में आवश्यकता से अधिक होता है। स्कूलों और कालेजों में, अदालतों और वकालतखानों में, गिर्जाघरों, मंदिरों तथा पार्लमिट में स्लैंग व्यवहृत होता है। साधु-संत भी इसका प्रयोग करते पाये जाते हैं। संसार की भिन्न-भिन्न जातियों में इस के भिन्न-भिन्न नाम हैं। अंग्रेजी में यह स्लैंग कहलाता है तो फ्रांसीसी में आरगो (Argot), स्पेनी भाषा में जर्मनिया तथा इटालियन में गर्गो (Gergo)।

स्लैंग की उत्पत्ति का अनुसंधान

भाषाविज्ञों तथा शरीर-विज्ञान के विशारदों का मत है कि इस प्रकार के सांकेतिक प्रलाप का प्रयोग शुरू-शुरू एसे लोगों के बीच हुआ जो मारे-मारे फिरते थे, जिनके

मुँह की हड्डियाँ साफ नजर आती थीं, जिनकी आँखें चंचल और द्रुतवेगी तथा जिनके हाथ नोच-खसोट के लिये सदा खुजलाते रहते थे।

भाषा-विज्ञान की दृष्टि से स्लैंग शब्दों का उद्भव या तो आकस्मिक उत्तेजना पाकर होता है, या विशिष्ट वातावरण में। सार्वजनिक चुनाव के समय या किसी राष्ट्रिय और सामाजिक आंदोलन के अवसरों पर हार्दिक क्षोभ और मानसिक उत्तेजना की अभिव्यक्ति स्लैंग शब्दों के रूप में होती है।

स्लैंग प्रयोग का स्थल

(१) कानून और चिकित्सा के पेशे में अनेक अप्रामाणिक शब्द व्यवहार में आप से आप चले आते हैं।

(२) कारखाने, खिलौनों के घरों, कार्यालयों, महलों और पुतली-घरों में स्लैंग प्रयुक्त होते हैं।

(३) स्कूलों, कालेजों तथा विश्वविद्यालयों में जहाँ जोश से भरे छात्र रहते हैं स्लैंग प्रचुर परिमाण में प्रयुक्त होता है।

(४) नाविकों और सैनिकों को भी स्लैंग से काम लेना पड़ता है।

स्लैंग की उत्पत्ति में उत्तेजना और क्षोभ अधिक सहायक होते हैं। इनके अतिरिक्त दो-चार और कारणों का उल्लेख अप्रासंगिक नहीं होगा।

(१) अतिप्रिय और घनिष्ठ मित्रों के साथ संलाप करने के समय मुँह से सहसा अनेक अव्यवस्थित, अप्रामाणिक, गँवारू और अश्लील शब्द निकल पड़ते हैं।

(२) ध्वनि स्लैंग की उद्भूति में अधिक सहायक होती है। मूर्खों और अशिक्षितों का अधिक झुकाव उच्च ध्वन्यात्मक शब्दों के व्यवहार की ओर होता है। वे तड़क-भड़क और आडंबर अधिक पसंद करते हैं।

साधारणतः स्लैंग शब्द उच्च ध्वन्यात्मक ही होते हैं––यथा, भड़भड़ पाँडे।

कुछ शब्दों में श्रुतिमधुरता भी होती है––यथा, चुनचुन चाचा।

एक प्रकार का स्लैंग लयात्मक भी होता है––मुटुर मामा, चुटुर चौधरी।

(३) कठिन, परुष तथा श्रुतिकटु शब्दों को संक्षिप्त रूप में उच्चरित करने से भी स्लैंग बन जाते हैं। बंगाली लोग कृष्णा को कृष्टो और पद्मावती को पदावती कहते हैं; हृषीकेश को हृषी और मुचकुंद को मुचु पुकारते हैं।

(४) व्यापार के विस्तार तथा विदेश में उपनिवेशों की स्थापना से भी स्लैंग बनते हैं। ईस्ट इंडिया कंपनी के शासन-युग में नाविक और कर्मचारी भारत से लौट कर इंगलैंड जाते थे। वे लंदन के ईस्ट-एंड में ठहरते थे। वे टिफिन और चिट का प्रयोग जलपान तथा पत्र के अर्थ में करते थे। ये उस समय स्लैंग-प्रयोग समझे जाते थे। क्रमशः इन शब्दों का प्रयोग जब व्यापक हो गया तो ये स्लैंग की अवस्था पार कर अंग्रेजी के अपने शब्द बन गये।

स्लैंग के भेदोपभेद

भिन्न-भिन्न जन-समुदाय में प्रयुक्त होने के कारण स्लैंग के अनेक प्रकार होते हैं। स्कूल स्लैंग, कालेज स्लैंग, व्यापारिक स्लैंग, पार्लमेंट्री स्लैंग, कृषक स्लैंग, पालकी-वाहक स्लैंग इत्यादि। प्रत्येक प्रलापात्मक प्रयोग एक दूसरे से भिन्न होता है। यहाँ विभिन्न क्षेत्रों में प्रचलित स्लैंग के कुछ उदाहरण उपस्थित किए जाते हैं।

स्कूल प्रलापात्मक प्रयोग

स्कूल और कालेज के विकासशील छात्र जोश और उमंग से भरे रहते हैं। अतः स्कूल और कालेज के नियम, अनुशासन तथा तरीकों पर प्रलापात्मक प्रयोग के सहारे आक्रमण करते हैं। बातचीत तथा प्रलाप के सिलसिले में वे बहुत-से ऐसे शब्दों का व्यवहार करते हैं जो उनकी भावनाओं के पूर्ण व्यंजक होते हैं। प्रत्येक स्कूल और कालेज का अपना-अपना प्रलापात्मक प्रयोग होता है।

आक्सफोर्ड और केम्ब्रिज इंगलैंड के दो बड़े विश्व-विद्यालय हैं। वहाँ इतन स्लैंग प्रयुक्त होते हैं कि यदि उनका संग्रह किया जाय तो बृहत् कोष तैयार हो जाय।

स्कूल प्रलापात्मक प्रयोग के उदाहरण

स्कूल क छात्रों का मानसिक क्षितिज अधिक विस्तृत नहीं होता। अत: वे अधिकतर अध्यापकों पर ही आक्रमण करते हैं। काशी के एक अध्यापक कद में अधिक लंबे थे, पर उनका शरीर दुबला और गर्दन भी पतली थी। लड़के उन्हें शुतुरमुर्ग कहते थे। उनके सम्बन्ध में शुतुरमुर्ग के ही द्वारा बालकों में भाव-विनिमय होता था।

विहार क किसी विद्यालय के हेड पंडित डब्बे में हलवा लाकर अपराह्नकाल के अवकाश में खाते थे। वे कुछ स्थूल भी थे। इन्हीं विशेषताओं के कारण वह लड़कों के हलुआ डब्बा थे।

नगाड़ा, मुछन्दर नाथ, सफाचट आदि अनेक स्कूल प्रलाप के निर्देशन हैं। प्रत्येक प्रलापात्मक प्रयोग अपना विशेष अर्थ स्कूल के बालकों के लिये रखता है।

कालेज प्रलापात्मक प्रयोग

विहार के एक कालेज अध्यापक को लड़के नारद कहा करते थे। उनका काम यहाँ की बात वहाँ और वहाँ की यहाँ फैलाना था। एक दूसरे में भेद पदा करने में उन्हें बड़ी अनुरक्ति थी। पौराणिक नारद की भी यही प्रवृत्ति थी। कालेज छात्रों के मस्तिष्क अधिक विकसित होते हैं। इसलिये उनके प्रलापात्मक प्रयोग साभिप्राय, सार्थक और पूर्णभावव्यंजक होते हैं।

किसी अध्यापक का स्वभाव चिड़चिड़ा, चहरा भद्दा और व्यवहार अशिष्ट था। लड़कों ने उन्हें बोकार्डो की संज्ञा प्रदान की थी। इसी प्रकार उनका एक अध्यापक "लोगों" था और तीसरा "अच्छी बात है"।

पीलवान प्रलापात्मक प्रयोग

महावतों के बीच व्यवहृत होने वाले कुछ प्रलापात्मक शब्द :

(१) चारा–हाथियों का खाद्य ।
(२) छाप–पानी पियो ।
(३) मल–उठो ।
(४) धत्त–खड़ा हो जा ।
(५) शाम–बैठो ।
(६) तीर–खिसको या करवट लो ।
(७) समीट–खा (पीलवान हाथ में चारा लेकर हाथी को दिखा कर कहता है) ।
(८) त्री-त्री–मैला पानी है, मत पिओ ।

शिकारी प्रलापात्मक प्रयोग

(१) लगे-लगे–कुत्ते को गीदड़ आदि पर झपटवाना ।
(२) झाला लीली लीली ,, ,, ,, ,,
(३) हुले-हुले ,, ,, ,, ,,

इक्कावानी प्रयोग

(१) टीपो–धुर-धुर (जोतने के समय) ।
(२) रौ–जोर से दौड़ो ।

पालकी ढोने वालों का प्रयोग

(१) बड़ा मस्की बा–भड़कीला रास्ता है ।
(२) हरी अरी है–रास्ते पर गोबर है ।
(३) चहर बा–रास्ते में कीच है ।
(४) जड़ीआ लागल बा–रास्ते में खूँटी या पेड़ की जड़ है ।
(५) बरीए–काँटा गड़ गया है ।
(६) छींटा के दाव–कंटकाकीर्ण राह है ।
(७) बराबर–सवारी रखो ।
(८) जलवा अन्हारी–पानी में घुस रहे हैं ।
(९) भारी–कंधा बदलो ।
(१०) दाहिनी धक्का–रास्ते में दाँईं ओर पेड़ है ।
(११) बाँई धक्का–रास्ते में बाँईं ओर पेड़ है ।
(१२) असमानी हरा–ऊपर पेड़ की डाल है ।
(१३) टपा–टीला या आरी पार हो रहे हैं ।
(१४) जमौटिया लाग बा–सड़क पर पत्थर निकला हुआ है । पाँव में चुभ रहा है ।
(१५) जीअ–रवाना हो, चलो । (पालकी उठाने के समय अगला आदमी बोलता है) ।

(१६) बनल बा–रास्ता बहुत अच्छा है और ढोने वालों को पावों तले किसी प्रकार का कष्ट न होगा ।
(१७) कमर काट के–एक ओर से दूसरी ओर फिरने के समय ।
(१८) दाहिने अँधारी बा–रास्ते के दाँई ओर गढ़ा है ।
(१९) बाँई अँधारी बा–रास्ते के बाँई ओर गढ़ा है ।
(२०) सन्मुख सिर बा–सामने जब बहुत ऊँची जमीन पार करनी हो ।
(२१) भला मुँहतोड़ वा–जहाँ ढालुआ हो ।
(२२) धमक है–यदि सवारी या बोझ भारी हो तो होशियारी से चलने के लिये संकेत ।
(२३) लौटन है–जमीन ऊँची-नीची है ।
(२४) बरिये-बरिये–काँटा जब पाँव में गड़ जाता है ।
(२५) छिप के छिप के–चुपचाप खड़े हो जाओ ।
(२६) खाली-खाली–सामने बड़ा गढ़ा है ।

छोटा नागपुर के पलामू जिले वाले पालकी-वाहक इन्हीं शब्दों का प्रयोग करते हैं ।

सोनारी प्रयोग

(१) गंधन–सोना (इसमें ऐसी खूबी या गंध है कि सभी इस ओर खिच जायँगे।)
(२) लाटी–चाँदी ।
(३) सूब–ताँबा ।
(४) भसुआ–जस्ता ।
(५) कूल–पीतल ।
(६) रूपछा सोना–जिस सोने में कुछ सुफेदी होती है ।
(७) चांद खाद–पीले रंगवाला सोना ।
(८) गिनी खाद या सुवरा सोना–ताँबा मिला हुआ सोना ।
(९) सुवरा रूपछा–एक आना ताँबा और आध आना चाँदी मिला हुआ सोना ।
(१०) सवाई खाद की लाटी–अधिक जस्ता और ताँबा मिली चाँदी । ऐसी चाँदी में चार आना या दो आना जस्ता या ताँबा मिला रहता है ।
(११) परीक–अधिक जस्ता या ताँबा मिली चाँदी ।
(१२) टलहा–आधे से अधिक खाद वाली चाँदी । टलहा और कौरवा पर्यायी हैं ।
(१३) जोड़ लेना या दो आने जोड़ लेना–तुम कुछ हाथ गर्मा लेना । यह उस समय प्रयुक्त होता है जब एक सोनार किसी दूसरे आदमी का आभूषण दूसरे सोनार को बेचने के लिये देता है ।
(१४) ओवन–रुपया ।
(१५) टाली–अठन्नी ।
(१६) मासा–चवन्नी ।

(१७) जोड़ आना–दुअन्नी ।

(१८) मान अन्ना–इकन्नी ।

(१९) ओवन जोड़ लेना–एक रुपया मार लेना ।

(२०) टाली जोड़ लेना—मान जाने पर जोड़ लेना ।

(२१) यह कोदों की है या यह कोद है—उस समय सोनारों के बीच यह प्रयुक्त होता है जब कोई बेचने वाला माल लाता है और उस से बातचीत करने पर आभास मिल जाता है कि चीज चोरी की है। चोर को सोनार कोद कहते हैं और बेवकूफ को कोनारी ।

(२२) ढेहला दाम लगा दे–गहना बेचने वाला चतुर हुआ और दूसरी दूकान में जाना चाहता है तो सोनार अपने आदमियों से ऐसा कहता है। तात्पर्य यह है कि दाम इतना ज्यादा लगा दो कि फिर आना पड़े–बाद में तौल में कम कर देना ।

दूकानदारी प्रयोग

व्यापारी वर्ग में अंकों का बड़ा महत्त्व है। वे अंकों के द्वारा ही बनते और बिगड़ते हैं। इसलिये वे अंकों के लिये स्लैंग का प्रयोग करते हैं।

(१) शान–१
(२) सोहावन–२
(३) सिंघाड़ा–३
(४) फौक–४
(५) बुध–५
(६) दहक–६
(७) पैंत–७
(८) कोठी–८
(९) कोन–९
(१०) सलाय–१०
(११) एकलाय–११
(१२) बराहथी–१२

चार रुपये की चीज़ है तो कहेंगे–९६ की बाकी है। किसी दूसरे के यहाँ से कपड़ा लाना हो तो ग्राहक के सामने अपने आदमियों से कहेंगे–जा,गोदाम से ले आ ।

पियक्कड़ों का प्रयोग

(१) आकासी–ताड़ी ।

(२) दुधुआ–शराब ।

(३) विजया–गाँजा या भाँग ।

मांसाहारियों का स्लैंग

(१) जल-सेम–मछली ।

(२) जलशयन–वेसन की बनी चीज जो मछली की शक्ल की होती है।

(१) हरहा बैल या हराही गाय––जो झुंड से निकल कर दूसरे का खेत चरन के लिये बेतरह दौड़ती है ।

(२) उबेर चरना––चैत क महीने मे रब्बी काट लेने पर मवेशियों को स्वच्छन्दतापूर्वक कटे खेत में चरने देना ।

(३) मेलान चराना–रात के तीसरे प्रहर में छोटानागपुर के जंगलों में भैंस-गाय को चरने के लिये खोल देना ।

(४) खुँट-खुँट––खूँटे से बैल बाँधने के समय इसका प्रयोग ।

(५) जोर-जोर–छोटा नागपुर के जंगलों में दो गायों के एक-एक पाँव रस्सी में बाँध दिये जाते हैं ।

(६) अँटिया देना––धान की कटनी के समय हलवाहों को पारिश्रमिक के अतिरिक्त एक दो 'अरप' धान देना । कई मुट्ठी धान का एक अरप होता है ।

(७) पंजा देना––लोहार, बढ़ई आदि को एक पंजा धान पुरस्कार स्वरूप कटनी के समय दिया जाता है । अनेक अरप धान का एक पंजा होता है ।

(८) बनी गुदारना––धान, कोदो, साँवा, जौ, गेहूँ आदि काटने की मजदूरी बोझे के हिसाब से बोझे में ही दी जाती है ।

(९) महमह करना–सभी धान आदि के कट जाने पर थोड़े से खेत को सभी कटनी करने वालों को स्वच्छन्दतापूर्वक काट कर ले जाने देना ।

(१०) राखी देना या राखी गाड़ना––चने, मटर आदि के खेत में एक छोटे डंडे में पुआल बाँध कर खेत के बीच में गाड़ देना जिससे कोई उसमें न आ सके ।

(११) अगौ काढ़ना––पुरोहित को देने के लिये एक सूप या थोड़ा अन्न 'ओसाए' हुए नाज के ढेर में से निकाल कर देना ।

(१२) ओसाना––नाज को भूसे से अलग करने के लिये हवा में सूप से उड़ाना ।

(१३) भुड़कुंड चढ़ाना––नये बछड़े के कंधे पर लकड़ी की माला डालना और उसे निघारना ।

चरवाही प्रयोग

(१) ठह हई ठह हई अथवा हे हे––बैल को बुलाने का शब्द ।

(२) ही हा हा, ही हा हा––दुहने के लिये गाय को पुकारना ।

(३) छत छत––भैंस दुहन के लिये बच्चे को लगाना ।

(४) शादे––दुहने के समय भैंस को पिछले पैर हटाने के लिये हुक्म दना ।

(५) ह वा, हे वा––बैलों या भैंसों को झरने या नदी को पानी पीने के लिये ललकारना ।

(६) गौद––पशुओं के खाने के सामान––पुआल, भूसा आदि ।

(७) टमटा––छोटी लाठी ।

(८) गोजी––लाठी ।

(९) छकुनी––पतली छड़ी ।

(१०) ठेंगा––डंडा ।

(११) साँपर--दूध रखने की मध्यम कोटि की हाँड़ी।
(१२) टहरी--दुग्धपात्र, दोहनी।
(१३) छान--बाँटी हुई डेढ़ हाथ की रस्सी जिसके द्वारा छोटानागपुर में दो बैल एक साथ बाँध दिये जाते हैं।
(१४) जोरी--रस्सी जो गर्दन में लगायी जाती है।
(१५) बगना--दो छोर वाली बैल बाँधने की रस्सी।
(१६) गोड़ाम--इस रस्सी के द्वारा भैंस पैर में बाँधी जाती है।
(१७) पेचाँढ़--बैल की गर्दन में बँधी सुन्दर रस्सी।
(१८) नोई या नोइया--छोटी पतली रस्सी जिस के द्वारा गाय के पिछले दोनों पाँव लपेटे जाते हैं और तब गाय दुही जाती है।
(१९) अरवन--दुग्धपात्र में अरवन (रस्सी) लगा कर हाथ में लटका लेते हैं।
(२०) जी जी--पशुओं की पूँछ पकड़ कर इस शब्द के द्वारा उन्हें बैठा देते हैं।
(२१) ईयाँ ईयाँ--छोटे भैंस के बच्चे इन्हीं शब्दों के द्वारा पुकारे जाते हैं।
(२२) डहर डहर--पशुओं के रास्ते में चलने के समय इसका प्रयोग करते हैं।

लोहारों के बीच प्रयोग में आने वाले शब्द *

(१) भाथी--चमड़े की बनी धौंकनी जिस से लोहार भट्ठी की आग उद्दीप्त करता है।
(२) नेहाय--जमीन में गाड़ा हुआ एक मोटा लोहा जिस पर तप्त लोहा रख कर पीटा जाता है।
(३) सँड़सी--लोहा पकड़ने का यंत्र।
(४) सँड़सा--वजनदार तप्त लोहे को पकड़ने का यंत्र।
(५) घन--तपे हुए लोहे को पीटने का एक वजनदार यंत्र।
(६) हथौड़ी, हथौड़ा--इसी से कम वजन का लोहा पीटा जाता है।
(७) छेना--लोहा काटने का यंत्र।
(८) छेनी--कम वजन का लोहे काटने का यंत्र।
(९) पिलास--लोहा पकड़ने का यंत्र।
(१०) ढासा--लोहे की ऊँचाई और नीचाई निर्धारित करने का हथियार।
(११) डाई--पेंच-पुर्जा काटने का यंत्र।
(१२) रेती--लोहे को रगड़ने का यंत्र।
(१३) सरेस--लोहे को साफ करने की चीज़।
(१४) सान--छुरी-कैंची, छड़ा तेज करने का यंत्र।
(१५) तूँप और सनाफ--रिपीट करने के लिये तूँप को नीचे कर सनाफ से ऊपर पीटते हैं।

---

* इस श्रेणी के अधिकांश शब्द, लेखक की ही 'स्लैंग' की परिभाषा के अनुसार, स्लैंग' नहीं हैं, प्रत्यत शिल्प-विशेष के गँवारू पारिभाषिक शब्द हैं। --सं०

गाड़ीवानी स्लैंग

(१) हौ रह--गाड़ी खड़ा करने के समय इसका प्रयोग होता है।
(२) आओ कान्ह मोड़ के--ऊँची चढ़ाई के साथ गाड़ीवान कहता है, जिससे बैल गर्दन नीची करके और ताकत लगा कर चले।
(३) आओ बाएँ काट के--जब दो गाड़ियाँ एक जगह विपरीत दिशाओं से आ कर टकराने लगती हैं तब गाड़ीवान ऐसा कहते हैं जिससे बैल बच कर चलें।
(४) बहियाँ चौड़े से--रास्ता संकीर्ण है, गाड़ी खड़ा करो जिस से मेरी गाड़ी पार हो जाय।
(५) आओ ठामें--जल्दी घूम जाओ।
(६) जू जू-गाड़ी में जुट जा।

सभ्य स्लैंग

सभ्य लोगों में भी प्रलापात्मक प्रयोग हुआ करते हैं, पर उनके प्रयोग में साहित्यिकता, विद्वत्ता और आडम्बर का पुट रहता है। चुनाव के समय सभी दलवाले क्षुब्ध हो जाते हैं और अपने कथन को प्रभावोत्पादक बनाना चाहते हैं। उस समय वे ऐसे शब्दों को चुनते हैं जिनमें पर्याप्त उत्तेजना रहती है। इंगलैंड में ह्विग, टोरी, जैकोबाइट, राउंडहेड आदि ऐसे मनोविकारों के व्यंजक हैं।

संस्कृत का तीर्थकाक भी घृणापरिचायक है। हिंदी में महाप्रभु, गुरु आदि शब्द बुरे भावों के द्योतक हैं। अन्य उदाहरण हैं--

(१) दुर्वासा--क्रोधी मनुष्य।
(२) अगिया-कोइलिया--बात पर काम देने वाला। यथा, गोरिंग हिटलर का अगिया-कोइलिया था। पर स्लैंग-प्रयोग में नाम नहीं आता। उदाहरण के लिये गोरिंग का नाम न ले कर इतना ही कहा जायगा कि अगिया-कोइलिया तहलका मचावेगा।
(३) अगिया बैताल--बड़ा क्रोधी।
(४) उठल्लू चूल्हा--निकम्मा आदमी।
(५) उठल्लू का चूल्हा--बेकाम इधर-उधर फिरने वाला।

मजहबी स्लैंग

(१) बगुला भगत--ऊपर से धार्मिकता का ढोंग पर भीतर-भीतर वासनाओं में लिप्त।
(२) दाढ़ी-चोटी--हिन्दू-मुसलमान।
(३) अजानन (बकरे का-सा मुख)--मुसलमान के लिये (भूषण में स्लैंग-प्रयोग)।

सधुक्कड़ी प्रयोग

(१) राग-भोग--मनमाना भोजन--रागभोग हुआ या नहीं?
(२) बाल-भोग--जल-पान, हल्का भोजन--कुछ बालभोग हुआ या नहीं?

(३) डोलडाल—शौच ।

(४) प्रभावती करना—मुँह धोना ।

(५) डंकी से चलाना—कलछी से चलाना ।

(६) काशी फल—कोंहड़ा ।

(७) राम-रस—नमक ।

(८) महाप्रसाद—भोग लगने पर भात ही महाप्रसाद बन जाता है, अन्यथा प्रसाद कहलाता है ।

धोबी स्लैंग

(१) लौंग दो—लोहा देनें के पूर्व धोए कपड़े पर पानी छिड़कना ।

(२) बटियाओ—रेह में भिगों कर कपड़े को धूप में सुखाना ।

(३) कमौन करो—कपड़े में रेह लगाओ ।

(४) इस्त्री देना—लोहा करना ।

(५) कलप देना—धोए कपड़े को मसाले के सहारे कड़ा करना ।

(६) गेल्हा करना—मलमल पर चुन्नट देना ।

(७) नील गारना,लंबर काटना—कपड़े पर मार्का देना ।

हलवाहा स्लैंग

(१) नन नन—बैलों को बाईं ओर फिराने के समय हलवाहा बोलता है । शब्द सुनते ही बैल बाईं ओर मुड़ जाता है ।

(२) तत तत—बैल को सीधे चलाते समय बोला जाता है ।

(३) ठावें—इसी जगह मुड़ो ।

(४) धुरधुर, जुगजुग—कंधे पर जुआठ चढ़ाते समय इन शब्दों का प्रयोग होता है ।

(५) पौ धर—पाँव रख ।

(६) हर महुत्तर करना—खेती शुरू करना ।

(७) पचाट करना—धान बोना शुरू करना जिस में गाँव वाले सहायता करते हैं ।

(८) वहुलावन करना—'रोपन' खत्म करना ।

(९) टाड़ी लगाना—हल में छेद कर बाँस का चोंगा छद म लगा कर खत में बीज बिखरना ।

(१०) हेंगा या चौकी देना—खेत को सम करना ।

(११) फारन करना—खेत को एक बार जोतना ।

(१२) पुरवें करना—रोपा के लिये दो बार जोतना ।

(१३) कादो करना—रोपने के लिये अंतिम बार जोतना ।

कृषक प्रयोग

कभी-कभी कृषकों और हलवाहों में कोई अन्तर नहीं दीख पड़ता । संपन्न कृषक स्वयं हल न जोत कर मजदूर से हल जुतवाते हैं । साधारण कृषक अपना हल स्वयं जोतते हैं ।

उदधि--समुद्र और उसका सुत-पुत्र-अमृत ।

हे मित्र--कहाँ जा रहे हो? काम शरीर में घुस गया है। अतः तुम अमृत-भरी बात कहो ।

यहाँ शब्दजाल चीकारी की भाँति बिछा दिया गया है। पाठक या श्रोता समझ नहीं सकता।

गोस्वामी तुलसीदास की प्रकृति सरल और साधु थी। उनकी रचनाओं में शब्द-जाल के लिये कोई स्थान नहीं है, तथापि बरवै रामायण और सतसई में इस दिशा में उनकी प्रतिभा का विस्फुरण दीख पड़ता है।····

धरा धराधर वरण यग, शरण हरण भवभार।
करण सतर तर परम पद, तुलसी धर्माधार ॥

(तु. स. ३।४३)।

धरा का अन्तिम वर्ण--रा । धराधर-महीधर का आदि वर्ण म । दोनों एकत्रित होने से राम बना। सतर तर शीघ्रतर। शीघ्रतर मुक्ति पाने के लिये धर्म के आधार संसार के दुःखों के हरने वाले राम की शरण पकड़ो।

स्लैंग का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण

इस प्रकार हम देखते हैं कि क्या चोर, क्या साधु, क्या बालक, क्या वृद्ध, क्या पंडित, क्या मूर्ख—सभी अपनी भावनाओं को गुप्त रूप से अपने सदृश वर्ग के मनुष्यों के सामने प्रकट करना चाहते हैं और वह विशिष्ट वर्ग ही उसे सुनना और समझना चाहता है। अपनी प्रकृति के अनुरूप् व्यक्तियों के बीच मनोभावना की अभिव्यक्ति की प्रवृत्ति में स्लैंग की सृष्टि निहित है। धीरे-धीरे ये शब्द प्रसृत होने लगते हैं और कालांतर में स्लैंग भी भाषा का अवयव बन जाता है, पर चिर काल तक यह अपना अस्तित्व पृथक् रखता है।

राष्ट्रभाषा और संस्कृति

किसी भी राष्ट्र को एकता के सूत्र में बाँधनेवाले साधनों में भाषा का प्रथम स्थान है। यों तो राष्ट्रीयता के विकास के लिए भौगोलिक एकता, धार्मिक एकता, सामाजिक एकता, रक्त की एकता तथा राजनीतिक एकता--इन सब का महत्त्व है ; किन्तु भाषा की एकता बिना इनका समुचित परिपाक नहीं हो पाता। देशभाषा का जो रूप राष्ट्रीय जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान ग्रहण कर लेता है वही राष्ट्रभाषा के नाम से पुकारा जाने लगता है। देश के श्रेष्ठतम (?) पुरुष उसे विचारों के आदान-प्रदान का साधन बना लेते हैं ; फलस्वरूप वह भाषा उच्चतम विचारों को प्रकट करने का माध्यम हो जाती है और इस प्रकार देश की संस्कृति की वह मुख्यतम प्रतीक बन जाती है।

डा० धीरेन्द्र वर्मा (राष्ट्रभारती, वर्धा, अप्रैल १९५१ ई०)।

शेरशाह का शासन-प्रबन्ध

डा० देवसहाय त्रिवेद, एम्० ए०, पी० एच० डी०

जब शेरशाह गद्दी पर बैठा तो सारे भारत में अराजकता फैली हुई थी। इसक पूर्व मुगलों ने देश को तबाह ही किया। किन्तु उन्होंने, अनेक दृष्टियों से, शेरशाह के लिये मार्ग भी स्पष्ट कर दिया था।

शेरशाह का राज्य देश की प्राकृतिक सीमा तक विस्तृत था——पूर्व में आसाम की पहाड़ियाँ, दक्षिण में सतपुरा की पहाड़ियाँ, पश्चिम में सिन्धु नद तथा उत्तर में हिमाचल।

तुर्कों ने जिस प्रकार हिन्दुओं के देवमन्दिरों के ऊपरी भाग को तोड़ कर मसजिद में परिवर्त्तन किया, उसी प्रकार शासन-प्रबन्ध का ढाँचा भी ऊपर से तैयार किया। इस समय सुचारु शासन-व्यवस्था या विषय का अभावथा। अन्तर्वेद (दोआब) की राजभूमि की आमदनी से प्रायः राज्य का खर्च चलता था। देश की शेष भूमि उन सरदारों और अमीरों को इनाम के रूप में बँटी थी जो कुछ उपायन और सेना लेकर अपने स्वामी की सहायता के लिये संकट के समय पहुँचते थे, बशर्त्ते कि स्वामी शक्तिशाली रहा, अन्यथा अवसर पाते ही विद्रोह कर स्वतंत्र होने से भी नहीं चूकते थे। ये ही स्थानीय शासक ग्रामीणों के संरक्षक और माँ-बाप थे। तुर्क बादशाहों को केवल भूमि-कर से मतलब था क्योंकि वे राज्य की सारी भूमि अपनी समझते थे। वे प्रजा से सारी पैदावार ले लेते थे, केवल उदर-पोषण के लिये कुछ छोड़ देते थे।

शेरशाह अपने अध्ययन-काल में जौनपुर गया था तथा काशी-पाटलिपुत्र के लोगों से भी सम्पर्क रखता था। संभव है उसने चाणक्य के अर्थशास्त्र का भी नाम सुना हो, और संस्कृत न सही, किसी दूसरे रूप में इसका तात्पर्य भी सुना हो, क्योंकि उसके सारे प्रबन्ध में, या अकबर की शासन-पद्धति में, शायद ही कोई ऐसी बात हो जिसे मौर्य साम्राज्य के महामंत्री ने विवेचित न किया हो। प्राचीन भारतीय इतिहास क आंग्ल और देशी इतिहासवेत्ताओं का ध्यान अभी तक इस ओर नहीं गया। इन शासकों के राज्य-प्रबन्ध की चाणक्य के उद्धरणों से तुलना करने से यह तथ्य प्रमाणित हो जाएगा।

(१६) पंचु--लोहे पर निशान मारने का औजार।
(१७) वर्मा--इसी औजार से छेद किया जाता है।

ठगों का स्लैंग

बृटिश शासन-काल के लाट विलियम बेंटिक के युग में ठगों के बीच हमारे देश में जो प्रलापात्मक भाषा प्रचलित थी उसे भी स्लैंग ही कहेंगे। मालदार बटोही को देख कर एक ठग 'दामोदर' का नारा लगाता था तो दूसरा 'नारायण' कह कर यह संकेत करता था कि नारा या नाला (ऊँची-नीची जमीन) आने दो जहाँ नाले भी बहते हैं। नाले की संभावना नहीं होती तो ठग 'वासुदेव-वासुदेव' गुहराते थे। वासुदेव से अभिप्राय किसी वृक्ष के नीचे वास लेने से था। जब नाला आ पहुँचता या किसी निर्जन वृक्ष की शीतल छाया में बैठ कर पथिक विश्राम करने लगता, तो तीसरा छद्म-वेशी बटमार 'हरि-हरि' की रट लगाता। 'हरि-हरि'—लूटो-लूटो—का संकेत पाते ही अनेक ठग आ पहुँचते और पथिक का सर्वस्व लुट जाता। ठगों की उस जमात के दामोदर, वासुदेव, नारायण, हरि सभी स्लैंग प्रयोग हैं।

व्यावहारिक स्लैंग चर्चा

जब मैं लड़का था और हिन्दी का केवल अल्प ज्ञान रखता था, उस समय अपने साथियों के बीच प्रत्येक शब्द के पूर्व **ची** लगा कर भावाभिव्यंजन करता था। चीकारी जानने वाले हम लड़के तो बात समझ जाते थे, पर दूसरे कुछ नहीं समझते थे।

उदाहरण के लिये एक वाक्य लीजिये। इसके द्वारा हम चार मित्र अपरचित व्यक्ति को जली-कटी सुना कर आनन्द का अनुभव करना चाहते हैं या मनोविनोद। देखो इस उल्लू को—ची दे ची खो ची इ ची स ची उ ची ची ल्लू ची को।

पीकारी के द्वारा भी हम भाव-विनिमय कर लेते थे। उदाहरणार्थ—
पीरा पीम पीजी पीस पीहा पीय पीहो पीवें--राम जी सहाय होवें।

स्लैंग तथा प्राचीन भारतीय साहित्य

भारतीय साहित्य में अति पुरातन काल से स्लैंग का प्रयोग चला आ रहा है। महाभारत के आदि पर्व के १५७ वें अध्याय में संस्कृत स्लैंग की हल्की झांकी मिलती है। अपने ज्येष्ठ पुत्र दुर्योधन के फेर में पड़ कर अन्धराज धृतराष्ट्र जब पाण्डवों को वारणावत के मेले में भेज रहे थे उस समय उन पर आनेवाली विपत्ति की शंका कर विदुर ने भरी मंडली में जो प्रलाप धर्मराज से किया, वह स्लैंग का अन्यतम नमूना है। उस प्रलाप को विदुर और युधिष्ठिर के अतिरिक्त दूसरा नहीं समझ सका था।

क्षत्ता यदब्रवीद्वाक्यं जनमध्येऽब्रुवन्निव।
त्वया च स तथेत्युक्तो जानीमो न च तद्वयम्॥
प्राज्ञः प्राज्ञं प्रलापज्ञं प्रलापज्ञमिदं वचः।
यो जानाति परप्रज्ञां नीतिशास्त्रानुसारिणीम्।
विज्ञायेह तथा कुर्यादापदं निस्तरेद्यथा॥

स्लैंग में निपुण व्यक्ति प्रलापज्ञ कहलाता है। भाष्यकार ने प्रलापज्ञ का अर्थ 'अनर्थवचनाभासाभिज्ञ' किया है। जो शब्द प्रलापज्ञ के अतिरिक्त दूसरों के लिये अर्थ नहीं रखता वह स्लैंग कहलाता है। महाभारत के उसी प्रसंग में अनेक स्लैंग-प्रयोग दीख पड़ते हैं।

कक्षघ्नः शिशिरघ्नश्च महाकक्षे विलौकसः।
न दहेदिति चात्मानं यो रक्षति स जीवति ॥

यहाँ कक्ष, शिशिर, विलौकस् स्लैंग रूप में प्रयुक्त हुए हैं। कक्ष से तात्पर्य घासपात, शिशिर से शीत और विलौकस् से विल में रहने वाले चूहे प्रभृति हैं। घासपात को जो खत्म कर देता है, शीत को जो नष्ट कर देता है वह जंगल में बिल में रहने वाले को नहीं जलाता। इस प्रकार जो (अनलदाह के समय) गढ़े, सुरंग आदि में अपनी रक्षा करता है वही जीता है। यहाँ सभी शब्द जन-विशेष के लिये विशेष अर्थ रखते हैं।

हिन्दी साहित्य और स्लैंग

कबीर की उलटबाँसी, सूर के अद्भुतरस से भरे पद तथा तुलसी की सतसई के कतिपय दोहे आध्यात्मिकता से सिक्त होने पर भी सर्वबोध्य नहीं हैं। काव्य के पूरे मर्मज्ञ ही समझने में समर्थ हैं।

कबीर जीव और माया पर ऐसी कल्पना करते हैं जिसका समझना सोनारी स्लैंग से भी कठिन है।

फीलु रवाबी बलदु पखावज कउआ ताल बजावै।
पहिरि चोलना गदहा नाचै भैंसा भगति करावै
राजा राम ककरीआ बरे पकाए।
किनै बूझनहारै खाए ॥

हाथी रबाब बजाता है, बैल पखावज और कौआ करताल। गधा लंबा वस्त्र पहन कर नाचता है और भैंसा भक्ति करता है। राजा राम ने ककड़ी के बड़े पकाए हैं। किन्हीं वस्तुतः समझने वाले ने उन्हें खाया है।

जीवात्मा और माया का विवाह होने पर इन्द्रियाँ उत्सव मनाती हैं। हाथी, बैल, कौआ, गधा और भैसा ये कर्मेन्द्रियाँ हैं। इसी प्रकार आगे चलकर सिंह, चूहा, शशक आदि के रूप में ज्ञानेन्द्रियों की कल्पना है। ककड़ी के बड़े से अभिप्राय सच्चे ज्ञान से है।

सूर ने भी अनेक पद रचे हैं, जिनके अर्थ थोड़े ही लोग समझते हैं। एक पदार्थ के द्वारा इस कथन की पुष्टि की जाती है।:—

दिनपति चले धौं कहा जात।
धराधरनधर रिपुतन लीनो कहो उदधिसुत बात ॥

दिनपति—सूर्य और सूर्य के पर्यायी मित्र शब्द से कवि का अभिप्राय है।

धरा–पृथ्वी, उस का धरन-धारण करने वाले शेषनाग और उस शेष का धर–शिव और शिव की रिपु–काम।

१३

राज्य-विभाजन

शेरशाह के राज्य में ११३००० डिह या ग्राम थे; २२६७ परगने और ७६ सरकारें थीं :—

सूबा	सरकार	परगना
१. बिहार-बंगाल	७+१२=१६	८८
२. दिल्ली	८	२३७
३. आगरा	१३	२६८
४. इलाहाबाद	६	१६६
५. अवध	५	१३३
६. राजपूताना	५	१६०
७. पंजाब	५	२३२
८. मालवा	१२	३०१
९. मुलतान	३	८८
	७६	२२६७

मध्य-मान से हम कह सकते हैं कि एक सरकार में प्रायः १६०० ग्राम[१] और ३० परगने होते थे। एक परगना में प्रायः ५० ग्राम होते थे। शेरशाह सूबों को प्रधानता नहीं देना चाहता था। सूबों के प्रधान, बंगाल के काजी फजिहत के समान, पंगु थे। प्रत्येक परगने में एक शिकदार और एक अमीन होता था। शिकदार[२] सैनिक पदाधिकारी ही होता था और शान्ति के लिए उत्तरदायी था। अमीन, अमीर, या आमील लोक-पुरुष होता था। वह राज-कर के संचय के लिए उत्तरदायी था। कारकून (लेखक) और खजांची उसके सहायक होते थे। आवश्यकता पड़ने पर शिकदार सैनिक शक्ति से उसकी सहायता करता था, अन्यथा वह हस्तक्षेप नहीं करता था। ये सभी वैयक्तिक और समुदय रूप में केन्द्रीय शासन के प्रति उत्तरदायी होते थे।

---

१. तुलना करें—नदीशैलवनगृष्टिदरीसेतुबन्धशाल्मलीशमीक्षीरवृक्षानन्तेषु सीम्नां स्थापयेत्। अष्टशतग्राम्यामध्ये स्थानीयं चतुःशतग्राम्या द्रोणमुखं द्विशतग्राम्या खार्वटिकं दशग्रामीसंग्रहेण संग्रहणं स्थापयेत्। अन्तेष्वन्तपालदुर्गाणि ।। २।१।३-५

२. समाहर्ता चतुर्धा जनपदं विभज्य ज्येष्ठमध्यमकनिष्ठविभागेन ग्रामाग्रं परिहारकमायुधीयं धान्यपशुहिरण्यकुप्यविष्टिकर प्रतिकरमिदमेतावदिति निबन्धयेत्। तत्प्रदिष्टः पञ्चग्रामीं दशग्रामीं वा गोपश्चिन्तयेत् ।। २।३५

कई परगनों के ऊपर एक सरकार होता था जिसके दो प्रधान अधिकारी, एक सैनिक प्रमुख शिकदार[१] (शिकदार-ए-शिकदारन) और एक लौकिक प्रमुख न्यायकर्त्ता (मुंसिफ–ए–मुंसिफान) होते थे। उनका पद प्रायः आजकल के जिलाधीश और जिलाजज के समान होता था, किन्तु इनके द्वारा शासित क्षेत्रफल एक डिविजन के बराबर होता था। प्रमुख शिकदार के पास परिस्थिति के अनुसार २००० से ५००० सैनिक होते थे। वह लोगों को अपने वश में रखता, शांति स्थापित करता, दुष्टों का दमन करता तथा उद्दण्ड कृषकों को आदर्श दण्ड देता जिससे भयभीत हो कर दूसरे विद्रोह न करें। वह कंटक-शोधन का कार्य भी करता था।

प्रमुख न्यायकर्त्ता सरकार के सभी लौकिक पुरुषों की देख-भाल करता था, जिससे लोग जनता को पीड़ा न पहुँचा सकें या राजधानी में गोलमाल न करें। प्रमुख न्यायकर्त्ता शब्द इस बात का भी संकेत करता है कि प्रत्येक सरकार में अनेक न्यायकर्त्ता (मुंसिफ) होते थे। ये घूम-घूम कर दीवानी अभियोगों और किसानों की आपत्तियों को सुनते तथा परगने के अधिकारी, ग्राम मुखिया और कृषकों के पारस्परिक अभियोग का न्याय करते थे। प्रधान न्यायकर्त्ता परगना के अधिकारियों को पदच्युत नहीं कर सकता था, वह केवल अपना विचार उच्च अधिकारियों को लिख कर भेज सकता था जो उचित निर्णय देते थे।

शेरशाह राज्य और कर के छोटे या बड़े सभी कार्यों का निरीक्षण स्वयं करता था। प्रत्येक विभाग[२] (कारखाना) का मंत्री (अरकाँ-इ-दौलत) अपने विभाग की बातें चौथे प्रहर में सुनाता था और शेरशाह उनके लिए आज्ञा लिखवा देता था, जिससे पुनः उस विषय पर विवाद की आवश्यकता न पड़े।

वह राज्य का प्रधान कोषाध्यक्ष भी स्वयं था। वह प्रतिदिन राज-कोष का लेखा-जोखा लेता और निरीक्षण करता था।

सैनिक संगठन

शेरशाह के पास विशाल सेना थी। वह सर्वदा अपने साथ १५०,००० अश्वारोही और २५००० पदाति रखता जो या तो बन्दूकची या धनुषधारी होते थे। उसके हाथीखाने में ५००० हाथी थे। युद्ध-प्रस्थान के समय उसके पास और अधिक सेना हो जाती थी।

---

१. समाहर्त्ता दुर्गं राष्ट्रं खनिं सेतुं वनं व्रजं वणिक्पथं चावेक्षेत। कोशपूर्वाः सर्वारम्भाः। तस्मात् पूर्वं कोशमवेक्षेत। प्रचारसमृद्धिश्चरित्रानुग्रहश्चोरनिग्रहो युक्तप्रतिषेधः शस्यसंपत्पण्यबाहुल्यमुपसर्गप्रमोक्षः परिहारक्षयो हिरन्योपायनमिति कोशवृद्धिः ।। २।६

२. तस्मादस्याध्यक्षाः संख्यायकलेखकरूपदर्शकनीवीग्राहकोत्तराध्यक्षसखाः कर्माणि कर्युः ।। २।९

कुलानां च स्त्रीपुरुषाणां बालवृद्धकर्मचरित्राजीवव्ययपरिमाणं विद्यात्। एवं च जनपद-चतुर्भागं स्थानिकः चिन्तयेत्। गोपस्थानिकस्थानेषु प्रदेष्टारः कार्यकारणं बलिप्रग्रहं च कुर्युः ।। २।३५

राज्य-सेना के कुछ अंश प्रमुख सेनापतियों (फौजदार) के अधीन राज्य के आपत्ति-स्थानों में या सीमान्त पर या दुर्गों में रखे जाते थे—जैसे, ग्वालियर में १००० बन्दूकची, वियाना में ५०० बन्दूकची, रणथम्भौर में १६०० बन्दूकची, चित्तौर गढ़ में ३००० बन्दूकची, माण्डू में १०००० अश्ववार और ७००० बन्दूकची, रायसीना में १००० बन्दूकची, चुनार में १००० बन्दूकची, रोहतास गढ़ में १०००० बन्दूकची। सीमान्त पश्चिम में हैवतखाँ नियाजी ३०००० सैनिकों के साथ और दक्षिण में सुज्जत खाँ १२००० सैनिकों के साथ रक्षा कार्य के लिए तत्पर रहते थे। इसी प्रकार की सेनायें नागौड़, जोधपुर, अजमेर, लखनऊ और कालपी में रहती थीं।

शेरशाह स्वयं ही राज्य का प्रधान सेनापति और वेतन बाँटने वाला था। वह स्वयं प्रत्येक सिपाही को देख कर मौखिक रूप से मासिक वेतन सुना दिया करता था, जिससे सिपाही को मालूम हो जाय कि उसे कितना वेतन मिलता है और बीच के अधिकारी गड़बड़ न कर सकें[१]। इस कारण प्रत्येक सिपाही अपने को सम्राट का कर्मचारी समझता था और अपने उच्च अधिकारी की आज्ञा का पालन सम्राट के प्रतिनिधि के रूप में करता था। हरेक सिपाही का कोई न कोई पहचान करने वाला था जिससे वह धोखा न दे सके। घोड़ों की आकृति और दाग[२] वह अपने सामने करवाता जिससे लोग गोलमाल न करें। सीमान्त के घोड़ों के दाग की परीक्षा करने के लिए मुंसिफ नियुक्त किये जाते थे। प्रत्येक सरदार और सेना के साथ गुप्तचर[३] रहते थे जो यथासमय सम्राट को प्रत्येक बात की सूचना दिया करते थे। कहा जाता है कि एक बार शेरशाह ने सुज्जत खाँ को मालवा में सिपाहियों को कुछ भूमि बाँटने की आज्ञा दी किन्तु उसने उस भूमि का कुछ अंश स्वयं हड़पना चाहा। इस पर २००० सिपाही शेरशाह के पास चले और एक पड़ाव पर आ कर ठहर गये। उन्होंने आपस में परामर्श किया और कहा—हमें स्वयं शेरशाह के पास जाना उचित नहीं क्योंकि हमें सुज्जत खाँ के साथ दक्षिण में भेजा गया है, बिना उसकी आज्ञा के यहाँ से चले जाना उचित नहीं। हम शेरशाह के पास एक वकील भेजें और उसकी आज्ञा का पालन करें। सिपाहियों के वकील के पहुँचने के पहले ही शेरशाह को गुप्तचरों से सब कुछ पता चल गया था। सुज्जत खाँ को बड़ी कड़ी चेतावनी मिली और उससे कहा गया कि उन सिपाहियों को प्रसन्न करो अन्यथा तुम्हारी भूमि छिन जायगी और बन्दीगृह में भेज दिये जाओगे। सुज्जत खाँ ने किसी प्रकार उन सिपाहियों को प्रसन्न कर अपने पक्ष में किया।

---

१ समागमविषमः ॥ २।८।५२

२ मन्त्रिणश्चाबुधीयानां वेश्याः कारुकुशीलवाः ।
दण्डवृद्धाश्च जानीयुः शौचाशौचमतन्द्रिताः ॥ ५।३।५०

३ कृतनरेन्द्राङ्कशस्त्रावरणमायुधागारं प्रवेशयेत् ॥ ५।३

घोड़ों का दाग इसलिए आवश्यक था कि सरदार सिपाहियों को ठग न सकें और सभी सरदार अपनी पदवी के अनुकूल सिपाहियों को रखें। कुछ सरदार झूठ बोल कर अनेक सिपाहियों का मासिक वेतन ले लिया करते थे और भूमि मिल जाने पर बहुत से सिपाहियों को हटा दिया करते थे और केवल कुछ को आवश्यक कार्य के लिए रख छोड़ते थे[१] यदि स्वामी उनके घोड़ों और सिपाहियों का निरीक्षण करना चाहता तो वे किसी प्रकार इधर-उधर से बेकार आदमियों और घोड़ों को[१] इकट्ठा कर देते थे। इसी प्रकार राज-कोष को खाली कर ये अपना कोष भरते थे। यदि स्वामी की दशा बुरी हुई तो ये तुरन्त दूसरों की सेवा स्वीकार कर लेते थे। अतः शेरशाह ने निश्चय किया कि किसी भंगी या महल की दासी या सिपाही[२] तक को बिना रूप-वर्णन के वेतन न दिया जाय और घोड़े उसके सामने दागे जायँ। वह सर्वदा इनके रूप-वर्णन का मिलान करता था।

उसकी सेना में हिन्दू भी उच्च पद पर रखे जाते थे। उदाहरण के लिए, विक्रमादित्य गौड़ और राजा रामसिंह के नाम लिये जा सकते हैं। उसकी सेना में अनेक राजपूत भी थे। भोजपुर के वीर और चतुर सिपाही उसके प्रधान अंग-रक्षक होते थे।

भूमि-कर

अल्लाउद्दीन खिलजी के समय उपज का आधा कर के रूप में लिया जाता था। मुहम्मद तुगलक ने भूमि-कर एकाएक दसगुना कर दिया जिससे कृषक जंगलों में भाग गये और वहाँ पशुओं के समान उनका शिकार किया गया। यवन सिपाही और हिन्दू ग्रामणी (मुकद्दम) सर्वदा कृषकों को परेशान करते थे। ये ग्रामणी और चौधरी प्रायः वंश-परम्परा से नियुक्त होते थे अतः राजा के निर्बल होने पर ये स्वयं जमींदार बन कर धन हथिया लेते थे।

शेरशाह ने भूमि की माप रस्सी से करवाई। अकबर ने रस्सी के बदले लट्ठा (बाँस) का प्रयोग किया। एक जरीब या बीघा में ३६० वर्ग गज होते थे। प्रत्येक किसान की भूमि अलग नापी जाती थी और पैदावार की एक चौथाई सरकारी कर के रूप में ली जाती थी। कृषक यह अंश उपज में भी दे सकता था और नकद भी, यद्यपि सरकार रुपया लेने के पक्ष में थी।

परगने के प्रत्येक ग्राम की माप अमीन या मुंसिफ करता था, प्रत्येक कृषक अपना स्वीकृति-पत्र (कबूलियत) देता था और सरकार उसे पट्टा देती थी। प्रत्येक ग्रामणी कर एकत्र करता था, किन्तु सरकार चाहती थी कि कृषक यथासंभव परगने के राज-कोष में स्वयं कर दे आवें। नियत भूमि-कर के सिवा कृषकों को नियत एकत्रीकरण शुल्क

---

१. अश्वाध्यक्षः पण्यागारिकं क्रयोपागतमाहवलब्धमाजातं साहाय्यकागतकं प्रणस्थितं यावत्कालिकं वाश्वपर्यग्रं कुलवयोवर्णचिह्नवर्गागमैर्लेखयेत् ॥ २।३०

२. कोशकोष्ठागाराभ्यां च गृहीत्वा मासलाभमश्ववाहश्चिन्तयेत् ॥ २।३०

और माप-कर[१] भी देना पड़ता था। ग्रामणी को एकत्रीकरण शुल्क २½ प्रतिशत मिलता था। हरएक शिकदार, कारकून और अमीन को प्रतिदिन ५८ दाम यात्रा और भोजन खर्च के लिए मिलता था और वे वसंत में २०० बीघा तथा शरत् में २५० बीघा मापते थे। खेत बोने के पहले ही वार्षिक कर नियत हो जाता था और उपज के समय कड़ाई से वसूल किया जाता था। यदि फसल पैदा न[२] हो तो कुछ भी नहीं लिया जाता था।

इमामों को वह मार्ग-व्यय दे कर भेज देता था और भूमि-दान का फरमान वह स्वयं मुहरबन्द करके शिकदार के पास भेजता था, जिससे मार्ग में वे कुछ बदल न सकें या उत्कोच दे कर अधिक भूमि न ले सकें।

शेरशाह ने नियम कर दिया था कि विजयी सेना कहीं पर भी कृषकों को कष्ट न दे। वह स्वयं खेतों की रक्षा करता था। वह मार्ग में दोनों ओर अश्ववारों को खड़ा कर देता था जिससे कोई भी खेत का एक दाना न छू सके और खेत में चल कर उपज को हानि न पहुँचावे। यदि कोई भी पुरुष खेत को हानि पहुँचाता पाया जाता तो वह स्वयं उसका कान काट लेता और अन्न के बाल को उसक गले में लटका कर सभी सिपाहियों के बीच चक्कर कटवाता। यदि मार्ग के संकीर्ण होने के कारण खेत को हानि पहुँचती तो अमीन को बुलवा कर उसका अनुमान करवाता और किसानों की हानि की पूर्त्ति राज-कोष से करवाता। वह शत्रु के प्रदेशों में भी कृषकों को नहीं लूटता था। वह न तो उन्हें दास ही बनाता और न खेती को हानि ही पहुँचाता था। वह कहता था कि कृषक निर्दोष होते हैं, वे शक्ति के आगे झुक जाते हैं। यदि मैं उन्हें यातना दूँगा तो वे गाँव छोड़ कर भाग जायँगे। इस प्रकार देश उजाड़ और वीरान हो जायगा और फिर उसे समृद्ध बनाने में बड़ी कठिनाई होगी।

सड़क और सराय

उसने राज्य की रक्षा के लिए अनेक राज-मार्ग[३] बनवाये। इन सड़कों से सिपाही और पथिक जाते थे। दो-दो कोस पर यात्रियों की सुविधा के लिए सरायें होती थीं। उसने पंजाब के रोहतास गढ़ से बंगाल के सोनार गाँव तक १५०० कोस लंबी सड़क

---

१. सीताभागो......वर्तनी रज्जूश्चोररज्जुश्च राष्ट्रम्॥ २।६

२. अकृषतामाच्छिद्यान्येभ्यः प्रयच्छेत्। अकृषन्तोऽपहीनं दद्युः। धान्यपशुहिरण्यैश्चैनाननुगृह्णीयात्तान्यनुसुखेन दद्युः। अनुग्रहपरिहारौ चैभ्यः कोशवृद्धिकरौ दद्यात्। अल्पकोशो हि राजा पौरजानपदानेव ग्रसते। निवेशसमकालं यथागतकं वा परिहारं दद्यात्॥ २।१

दण्डविष्टिकराबाधैः रक्षेदुपहतां कृषिम्।
स्तेनव्यालविषग्राहैः व्याधिभिश्च पशुव्रजान्॥ २१।४५

३. वणिक्पथप्रचारान्वारिस्थलपथपण्यपत्तनानि च निवेशयेत्॥ २।१

बनवायी जो आजकल ग्रैंड ट्रंक रोड के नाम से प्रसिद्ध है।[1] यह सड़क चन्द्रगुप्त मौर्य के समय से चली आ रही है। इसी प्रकार की सड़कें उसने आगरा से मांडू और आगरा से चित्तौरगढ़ होते हुए जोधपुर तक तथा लाहौर से मुलतान तक बनवाईं। उसने इस प्रकार चार प्रधान-प्रधान सड़कें बनवाईं। संभवतः उसने पुरानी सड़कों की मरम्मत ही करवाई थी। यात्रियों की सुविधा के लिए उसने सड़कों के दोनों ओर सघन छाया-दार फल-वृक्ष लगवाये थे। उसने कुल १७०० सरायें बनवाईं। प्रत्येक सराय में हिन्दू और यवन के लिए अलग वास-स्थान बने थे। दोनों के पीने के लिए अलग जल मिलता था तथा हिन्दुओं की सुविधा के लिए ब्राह्मण रहा करते थे। यहाँ घोड़ों के लिए दाना भी मिलता था। सभी को इन सरायों में पद के अनुकूल सरकार की ओर से भोजन मिलता था और जानवरों के लिए चारा-दाना मिलता था।

इन सरायों के चारों ओर गाँव होते थे। गाँव वाले अपनी उपज को सराय के बाजार में बेचा करते थे। प्रत्येक सराय में एक कुआँ और एक मसजिद होती थी और उसमें एक इमाम, एक मुअज्जिन और कई चौकीदार होते थे। इन कर्मचारियों के वेतन सराय के पास जमीन से दी जाती थी। राज्य के कर्मचारी अपनी यात्रा में यहीं ठहरते थे और प्रत्येक सराय में राजा के ठहरने के लिए भी एक स्थान (खाना-ए-बादशाही) होता था। प्रत्येक सराय का प्रबन्ध एक शिकदार करता था। इन सरायों में मुसलमानों को पका-पकाया भोजन और हिन्दुओं को आटा-घी मिलता था। ये सरायें डाक-चौकी का भी काम करती थीं। प्रत्येक सराय में दो घोड़े सर्वदा तैयार रहते थे। गुप्तचर इन डाक-चौकियों के जरिये बादशाह को समाचार पहुँचाया करते थे। हरकारे और समाचार-लेखक भी इन सरायों में रहते थे। बाजार-भाव भी सर्वत्र पहुँचाया जाता था। चिट्ठियों का वितरण इन चौकियों के द्वारा होता था। सेना के संचालन और बादशाह के स्वास्थ्य का समाचार बराबर एक दूसरे को मिलता रहता था।

वाणिज्य

शेरशाह और इस्लामशाह के समय ग्रामणी अपनी सीमा की रक्षा स्वयं करते थे जिससे कोई चोर या डाकू किसी व्यापारी को हानि[2] न पहुँचा सके। शेरशाह ने अपने अधिकारियों

---

१. चतुर्दण्डान्तरा रथ्याः। राजमार्गद्रोणमुखस्थानीयराष्ट्रविनीतपथाः। संयानीयव्यूह-श्मशानग्रामपथाश्चाष्टदण्डाः ॥ २।४। स्थानीयराष्ट्रविनीतपथं साहस्रः ॥ १।१०। पूर्ववच्च गृहीत्वैनान्समाहर्त्ता प्ररूपयेत्। सर्वज्ञख्यापनं राज्ञः कारयन् राष्ट्रवासिषु ॥ ४।५।२५

२. वल्लभैः कार्मिकैः स्तेनैरन्तपालैश्च पीडितम्। शोधयेत् पशुसंघैश्च क्षीयमाण-वणिक्पथम् ॥ २।१।४६

को आज्ञा दी थी कि वे लोगों को व्यापारियों के साथ अच्छा बर्त्ताव करने को बाध्य करें। यदि कोई व्यापारी मर जाय तो उसके धन को कोई हाथ न लगाने पावे, उसका धन राज-कोष के निरीक्षण में रहे और उसके उत्तराधिकारी को दिया जाय। सर्वत्र उचित स्थान[1] पर चुंगी-घर बने थे।

शेरशाह ने नियम कर दिया था कि चुंगी राज्य में केवल दो स्थानों[2] पर ली जाय। एक तो राज्य में प्रवेश होने के समय तथा दूसरे विक्रय-स्थान पर। बंगाल से जो माल आता था उस पर शकरी गली पर चुंगी लगती थी। इसके सिवा किसी भी सड़क, घाट, नगर या ग्राम में कोई चुंगी लगाने का साहस नहीं कर सकता था। उसने अपने अधिकारियों को भी आदेश कर दिया था कि वे बाजार-भाव पर ही सामान खरीदें।

अधिकारियों का प्रत्यावर्तन[3]

प्रति वर्ष या प्रति दूसरे वर्ष वह आमिलों को बदलता था और उनके स्थान पर नये लोगों को भेजता था। शेरशाह कहता था—मैंने अच्छी तरह परीक्षा की है, ठीक से जाँच की है, तब मुझे पता चला है कि परगने के अधिकारियों को जो लाभ और आय है वह अन्य किसी विभाग में नहीं। अतः मैं अपने अनुभूत और विश्वस्त[4] सेवकों को जिले का प्रबन्ध करने के लिए भेजता हूँ जिससे दूसरों की अपेक्षा वे अधिक वेतन, लाभ और आय प्राप्त कर सकें। प्रति दो वर्ष के बाद में उनके बदले दूसरे नौकरों को भेजता हूँ जिससे मेरे शासन में मेरे पुराने बूढ़े सेवक लाभ उठावें तथा उनके लिए भी आराम और सुख का द्वार खुल जाय।

लोक-व्यवस्था के अनुसार सैनिक-व्यवस्था में भी वह इस बात का ध्यान रखता था कि लाभ और श्रम सभी को समान रूप से मिले। वह कभी किलों के सिपाहियों को जागीर पर भेज देता और कभी जागीर वालों को रण-भूमि में बुला लेता और रण-क्षेत्र से लोगों को जागीर में आराम करने को भेज देता।

इस प्रकार अधिकारियों के अनवरत प्रत्यावर्तन[5] से कोई भी स्वतंत्र बनने का साहस नहीं कर सकता था।

---

१. ध्वजमूलमतिक्रान्तानांचाकृत शुल्कादष्टगुणो दण्डः ॥ २।२१

२. अमुद्राणामत्ययो देयद्विगुणः। कूटमुद्राणां शुल्काष्टगुणो दण्डः ॥ २।२१ शुल्काध्यक्षः शुल्कशालां ध्वजं च महाद्वाराभ्यासे निवेशयेत् ॥ २।२१

३. न भक्षयन्ति ये त्वर्थान्न्यायतो वर्धयन्ति च। नित्याधिकाराः कार्यास्ते राज्ञः प्रियहिते रताः ॥ २।६।३९-४०

४. आस्रावयेच्चोपचितान्विपर्यस्येच्च कर्मसु। यथा न भक्षन्त्य त्यर्थं भक्षितं निर्वमन्ति च ॥

५. उत्तराध्यक्षाणमन्तेवासिनशिल्पशौचयुक्तास्संख्यायकादीनामपसर्पाः। बहुमुख्यमनित्यं चाधिकरणं स्थापयेत् ॥ २।६

जन-रक्षा

प्रमुख शिकदार[१] राज्य में शांति बनाए रखने के लिए उत्तरदायी था। उसके सहायक परगनों में उसी प्रकार उत्तरदायी थे। चोर और डाकुओं से रक्षा के लिए उसने बहुत ही सरल नियम बना दिया था कि यदि कहीं चोरी या डाका हो तो ग्रामणी उसकी क्षति-पूर्त्ति करे या चोर-डकैत को उपस्थित करे। यदि कई ग्रामों की सीमा हो तो प्रत्यक ग्राम-मुखिया को इसका उत्तरदायी समझा जाय। यदि कहीं पर हत्या हो हो जाय तो आमिल ग्रामणी[२] को पकड़ कर बन्दी-गृह में डाल दे। यदि नियत समय तक हत्यारे का पता ग्रामणी न दे तो उसे ही मृत्यु का दण्ड दिया जाय और यदि उस हत्यारे का पता लगा दे या बतला दे तो उस हत्यारे को मृत्यु-दण्ड दिया जाय।[३] उसे पक्का विश्वास हो गया था कि बिना इन लोगों के मिले चोरी, डकैती या हत्या नहीं हो सकती। अतः ग्रामणी अपने ग्राम की सीमा की रक्षा के लिए स्वयं पहरा दिया करते थे जिससे कहीं चोरी-डकैती न हो जाय या उनका शत्रु किसी यात्री को हानि न पहुँचावे। अतः मार्ग ऐसा निष्कंटक था कि यदि कोई अशर्फी की थैली भी ले कर रात को निर्जन स्थान में सो जाय तो पहरा देने की आवश्यकता न थी।[४] जब भक्षक को ही रक्षक बनाया जाय तो व्यवस्था अच्छी होगी ही (!)।

न्याय

शेरशाह न्याय का अवतार था। कंटक-शोधन का काम शिकदार करता था तथा दीवानी अभियोगों की देखभाल मुंसिफ करते थे। हिन्दुओं के अभियोगों का निर्णय प्राचीन मनु और याज्ञवल्क्य धर्म-शास्त्रों के अनुकूल किये जाते थे। मीर-अदल और काजी कुरान के अनुसार यवनों के मुकद्दमों का न्याय करते थे। जहाँ विभिन्न धर्मों का प्रश्न होता था वहाँ साधारण धर्म का प्रयोग किया जाता था।

---

१. एवं समाहर्तृप्रदिष्टास्तापसव्यञ्जनाः कर्षकगोरक्षकवैदेहकामध्यक्षाणां च शौचाशौचं विद्युः। पुराणचोर०यञ्जनाश्चान्तेवासिनश्चैत्यचतुष्पथशून्यपदोदपाननदी-निपानतीर्थायतनाश्रमारण्यशैलवनगहनेषु स्तेनामित्रप्रवीरपुरुषाणां च प्रवेशनस्थान-गमनप्रयोजनान्युपलभेरन् ॥ २।३५। समाहर्तृवन्नागरिको नगरं चिन्तयेत्। एवं दुर्गचतुर्भागं स्थानिकश्चिन्तयेत् ॥ २।३६

२. दशकुलीं गोपो विंशतिकुलीं चत्वारिंशत्कुलीं वा ॥ २।३६

३. चोराणामभिप्रधर्षण चित्रो घातः ॥ ४।६ अचोरं चोर इत्यभिव्याहरतश्चोरसमो दण्डः चोरं प्रच्छादयतश्च ॥ ४।८

४. धर्मस्थास्त्रयस्त्रयोऽमात्या जनपदसंधिसंग्रहद्रोणमुखस्थानीयेषु व्यावहारिकान-र्थान् कुर्युः ॥ २।१। एवं कार्याणि धर्मस्थाः कुर्युरच्छन्नदर्शिनः। समाः सर्वेषु भावेषु विश्वास्याः लोकसंप्रियाः ॥ ३।२०

मुद्रा

शेरशाह के पहले मुद्रा की बड़ी बुरी दशा थी। उसने नये ढंग की ताम्र-मुद्रा चलाई जिसे दाम कहते थे। उसने अठन्नी, चवन्नी, दुअन्नी और इकन्नी भी चलायी, जिनसे राज्य का कर देने में सरलता हो सके। उसने मिली-जुली धातुओं के माप-तौल की मुद्रा उठा दी और सुन्दर सोना, चाँदी और ताँबे के नियत तौल की मुद्रायें ढलवायीं। उसने चाँदी के १८० ग्रेन का रुपया भी ढलवाया जिसमें १७५ ग्रेन शुद्ध चाँदी रहती थी। वह आजकल के रुपयों के समान ही था। उस पर बादशाह का नाम देवाक्षर और अरबी लिपियों में ढला रहता था।

उसके सिक्कों पर अनेक टकसालों[१] के नाम खुदे हैं जिससे इतिहास-निर्माण में सहायता मिलती है। राज्य-विजय के साथ ही साथ वह भूमि-व्यवस्था, पथ-निर्माण और टकसाल[२] भी स्थापित करता जाता था। उसने अपना नाम अमर करने के लिये अनेक नगर बसाये--यथा, शेरगढ़ उर्फ दिल्ली, शेरगढ़ उर्फ कन्नौज, शेरगढ़ उर्फ सक्करवक्खर।

शेरशाह के सिक्के चौपहल और गोल दोनों पाये जाते हैं। स्वच्छ सोने के सिक्कों का तौल १५७ ग्रेन, १६८.५ ग्रेन और १६६४ ग्रेन पाया गया है और अठन्नी का तौल ८८ ग्रेन है। ताम्र दाम का तौल ३११ ग्रेन से ३३२ ग्रेन तक है। दाम का सामान्य तौल ३२३५ ग्रेन है। चाँदी और ताँबे का अनुपात ६४ और १ का है।

ये सिक्के दो भाषाओं में हैं। देवाक्षर में उसके नाम के विभिन्न अक्षर-विन्यास हैं, यथा—श्री सेर साही, श्री सर साह, श्री सिरि साह। यह पक्का, कट्टर सुन्नी था, क्योंकि इस्लाम के आदि के चार खलीफों के नाम—अबू बकर, उमर, अली और उसमान सिक्कों पर पाये जाते हैं। ९४६ हिजरी के शमशादबाद के ढले चौपहल सिक्के पर अबू बकर का नाम ऊपर, उसमान का नीचे, उमर का दाहिने और अली का नाम बाईं ओर है। बादशाह की उपाधि इस प्रकार है--अल सुलतान अल अदल अल मुऐद अल रहमत अलदुनिया वा अलदीन अबुल मुजफ्फर शेरशाह सुलतान खल्द अल्ला मुलकुहु व सुलतानतहु।

इसके सिक्के विभिन्न स्थानों से पाये गये हैं, यथा – आगरा, मानपुर, फतहाबाद, ग्वालियर, कालपी, रसूलपुर, सतगाँव, शरीकाबाद, शेरगढ़ (सासाराम) चुनार, संभल, उज्जैन, आबू, अलवर, विमाना, हिस्सार, बारनौल, लखनऊ, कन्नौज, शेरगढ़ उर्फ हजरत दिल्ली और शेरगढ़ उर्फ सक्करवक्खर।

दान

शेरशाह का भोजनालय सबके लिये खुला था, क्योंकि इसमें सहस्रों अश्ववार और पदाति प्रतिदिन भोजन करते थे। उसने सामान्य आज्ञा दे दी थी कि यदि कोई

---

१. सौवार्णकः पौरजानपदानां रूप्यसुवर्णमालेशनिभिः कारयेत्।
२. सौवार्णकेनादृष्टमन्यत्र वा प्रयोगं कारयतो द्वादशपणो दण्डः। कर्त्तुर्द्विगुणः सापसारश्चेत्। २।१४॥ प्रज्ञातः कूटरूपकारक इति प्रवास्येत ॥४।४

भी सिपाही, या धार्मिक व्यक्ति, फकीर या कृषक भूखा हो तो बादशाह के भोजनालय में भोजन कर ले, उसे भूखा न जाने दिया जाय। इस महानस का दैनिक व्यय ५०० अशर्फियाँ होता था। शेरशाह प्रायः कहता था—राजाओं के लिये इमामों को दान देना आवश्यक है क्योंकि भारत के नगरों की समृद्धि और उन्नति इन्हीं इमामों और पुण्यजनों[1] पर निर्भर है। ये इमाम शिक्षकों, यात्रियों और संकटापन्नों की सहायता करते हैं, जो बादशाह तक स्वयं नहीं पहुँच सकते, अतः ये बादशाह की स्तुति करेंगे; इनसे यात्रियों और दरिद्रों को लाभ पहुँचता है तथा विद्या, कला और धर्म का विकास होता है; जो चाहता है कि परमेश्वर हमें महान् बनावे उसे उलमाओं और भक्तों को भोजन[2] देना चाहिए जिससे इस लोक में उसकी प्रतिष्ठा हो और परलोक में सुख हो।

इमारत

शेरशाह को भवन-निर्माण का बहुत शौक[3] था। सासाराम में उसका रौजा उसके साम्राज्य का दिग्दर्शक है। वह विशाल होने के साथ ही साथ सुन्दर है। वह बाहर से तो इस्लाम का पर अन्दर से हिन्दुत्व का प्रतिबोधक है। उसके चारों ओर सरोवर है और वह एक ऊँचे चबूतरे पर बना है। उत्तर भारत में इसके पूर्व की कोई भी इमारत इसकी समता नहीं कर सकती। कनिंघम के विचार में यह ताजमहल की भी बराबरी कर सकता है। इसका गुंबज आगरा के ताज से भी १३ फीट चौड़ा है। हम कह सकते हैं कि यह तुगलक और शाहजहाँ के बीच की सुन्दर रचना है। इस पर शेरशाह के चरित्र और व्यक्तित्व की छाप है। यद्यपि धर्म के अनुसार उसे अपनी कब्र नहीं बनवानी चाहिये थी तथापि उसने अंतिम विश्रामालय की रचना में ऐसी लगन दिखाई कि कारीगरों ने उसमें उसकी मूर्ति ढाल दी।

शेरशाह कहा करता था कि यदि मैं जीता रहा तो प्रत्येक 'सरकार'[4] में एक दुर्ग अच्छे स्थान पर बनाऊँगा जो आपत्ति के समय पीड़ितों का आश्रय हो और दुष्टों का निवारण करे। मैं मिट्टी की बनी सभी सरायों को पक्की ईंटों का बनाना चाहता हूँ जिससे राज-मार्ग का योग-क्षेम हो। इसीलिये उसने खुरासान के रास्ते पर छोटा रोहतासगढ़ बनवाया जहाँ से काश्मीर और गक्करों से रक्षा की जा सके। यह लाहौर से ६० कोस दूर है और जब टोडरमल ने इसके बनवाने की कठिनाइयों को लिख भेजा तो शेरशाह ने उत्तर दिया—मैं जानता हूँ कि तुम चतुर और समझदार हो किन्तु अब तुमसे कुछ भी नहीं होगा क्योंकि तुम धन को दोस्त समझते हो। जब काम करने की आज्ञा मैंने दे दी है तो तुम्हें मजदूरी के लिये धन की चिन्ता न करनी चाहिये, चाहे जो खर्च पड़े सरकारी खजाने से मिलेगा। टोडरमल ने यह

---

१. ऋत्विगाचार्यपुरोहितश्रोत्रियेभ्यो ब्रह्मदेयान्यदण्डकराण्यभिरूपदायकानि प्रयच्छेत् ।। २।१।८

२. बालवृद्धव्याधितव्यसन्यनाथांश्च राजा बिभृयात् ।। २।८

३. जनपदद्वाराण्यन्तःपालाधिष्ठितानि स्थापयेत् ।। २।१।६

४. चतुर्दिशं जनपदान्ते सांपरायिकं देवकृतं दुर्गं कारयेत् ।। २।३

आज्ञा पाते ही एक पत्थर का दाम एक अशर्फी कर दिया, फिर पीछे एक पत्थर का दाम एक बहलोली रुपया हो गया।

पहले दिल्ली की पुरानी राजधानी यमुना नदी से कुछ दूरी पर थी। उसने अल्लाउद्दीन के इस किले को तोड़ कर यमुना के किनारे राजधानी बनवायी। उसने नगर में दो विशाल किले बनवाने की आज्ञा दी जो पहाड़ के समान दृढ़ हों और खूब ऊँचे हों। छोटा किला शासक के रहने के लिये था और नगर की रक्षा के लिये चारों ओर दीवारें थीं। पुराने किले में उसने एक सुन्दर मसजिद भी बनवायी जो किला कुहना मसजिद के नाम से ख्यात है। उसने उस किले का नाम शेरगढ़ रखा। उसने इसके भीतर एक प्रासाद भी बनवाया जिसका नाम शेरमण्डल था किन्तु शेरमण्डल और नगर की चहारदिवारी के पूरा होने के पहले ही वह चल बसा। उसने कन्नौज के भी पुराने किले को तोड़ कर उस स्थान पर एक नया किला बनवाया। जहाँ उसने विजय पायी थी वहाँ उसने शेरसुर नामक नगर बसाया। इसके सिवा उसने पटने में एक किला और मसजिद तथा बंगाल के मैमनसिंह जिले में शेरपुर मोरचा बनवाया। उसने बिहार की राजधानी बिहार से हटा कर पटना में बसाई। वह बंगाल की राजधानी राजमहल में बनवाना चाहता था जो नदी के किनारे होने के अतिरिक्त व्यापारिक दृष्टि से भी उत्तम है।

उपसंहार

जिस दिन से शेरशाह गद्दी पर बैठा किसी को भी उसका विरोध करने का साहस न था। कोई भी सिपाही, सरदार, चोर या डकैत पराये धन को स्वप्न में भी कुदृष्टि से नहीं देख सकता था। चोरी और डकैती का तो नाम भी सुनने में नहीं आता था। यात्री और परदेशी निश्चिन्त हो कर पर्यटन कर सकते थे। गाँवों के मुखिया और जमींदार स्वयं पहरा देते थे। स्त्रियाँ भी सोने के गहनों से भरे टोकरे को सर पर ले कर बेखटक घूम सकती थीं--चोर या डाकू को पास फटकने की हिम्मत न थी।

यद्यपि अफगान लड़ाके, झगड़ालू, विवादी और उपद्रवी होते हैं तथापि शेरशाह के शासन-काल में वे सर्वदा शान्त बने रहे। शेरशाह चातुर्य और अनुभव में द्वितीय हैदर था। थोड़े ही दिनों में उसने राज्य प्राप्त किया और राज-मार्ग की रक्षा, शासन-व्यवस्था और सेना तथा जनता के संतोष के लिये उपाय कर लिया।

शासन-व्यवस्था के सम्बन्ध में जो गड़बड़ी चली आ रही थी उसे उसने दूर किया और नियमित रूप से कार्य चलने लगा जिससे राजा-प्रजा दोनों को यथेष्ट लाभ पहुँचा। चाणक्य और शेरशाह की पद्धतियों की तुलना से स्पष्ट है कि दूसरा कहाँ तक पहले का ऋणी है। खेद है कि शेरशाह के पहले के किसी भी यवन सम्राट् के शासन-प्रबन्ध का पूरा वर्णन नहीं मिलता। हमें तो कुछ ही दिन पूर्व चाणक्य के अर्थशास्त्र का भी ज्ञान हुआ है। अनंगरंग नामक पुस्तक एक पण्डित ने सिकन्दर लोदी के राज्य-काल में लिखी थी। संस्कृत का पठन-पाठन बन्द नहीं हो गया था। हो सकता है कि शेरशाह ने चाणक्य अर्थ-शास्त्र को किसी से सुना-समझा हो।

उपनिषदों का तात्त्विक विवेचन

डा० विश्वनाथ प्रसाद सिंह वर्मा

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्——यह सम्यक ज्ञान ही दिव्य अनुभूति है और यह 'योऽसावसौ पुरुष: सोऽहमस्मि' के यथार्थ बोध से सिद्ध होता है। यह अनुभव की स्थिति ही निर्वाण या ब्राह्मी संस्थिति है और इसी का वर्णन करते हुए रामतीर्थ जी ने एक पद कहा है --

तनहास्तम तनहास्तम चि:बुलअजब तनहास्तम् ।
जुज़ मन न बाशद हेच शै यकतास्तम् तनहास्तम् ।।

कणाद और गौतम, जैमिनि, प्रबुद्ध कात्यायन तथा अरस्तू ने विभिन्न तत्त्वों का (Mutually exclusive categories) उपपादन किया है। बौद्ध दर्शन और वेदान्त में विचारात्मक प्रणाली का आश्रयण कर अनुभव जगत् की बड़ी विशद व्याख्या है और मानव मात्र के सामने एक पूर्ण, समग्र जीवन के चित्र खड़े किए गये हैं। आधुनिक मनोवैज्ञानिक भी बतलाता है कि हमारा ऊपरी जीवन एक अंशमात्र है, अर्द्धज्ञात (sub-conscious) चेतना का भी पूरा विचार करना है। विलियम जेम्स का कहना है कि आधुनिक मनोविज्ञान के क्षेत्र में अर्द्धज्ञात चेतना का आविष्कार और उसका अध्ययन एक महत्त्वपूर्ण घटना है। उपनिषद में जाग्रत, स्वप्न, और सुषप्ति का पूरा वर्णन है और साथ ही साथ लोकोत्तर तुरीया का भी वर्णन है। आचार्य शंकर ने माण्डूक्य भाष्य में लिखा है :--

प्रज्ञानांशुप्रतानै: स्थिरचरनिकरव्यापिभिर्व्याप्य लोकान् ।
भुक्त्वा भोगान्स्थविष्ठान्पुनरपि धिषणोद्भासितान्कामजन्यान् ।।
पीत्वा सर्वान्विशेषान्स्वपिति मधुरभुङ् मायया भोजयन्नो ।
मायासंख्यातुरीयं परममृतमजं ब्रह्म यत्तन्नतोऽस्मि ।।

उपनिषद के व्यापक मनोविज्ञान के अनुसार (द्रष्टव्य : छांदोग्योपनिषद, इन्द्र और प्रजापति का संवाद) मनुष्य का सर्वश्रेष्ठ पुरुषार्थ 'शिवं शान्तमद्वैतं' स्थिति को प्राप्त करना है। यद्यपि ह्यूम और बौद्ध दार्शनिकों ने आत्मा को विज्ञानसंतान ही कहा है और यद्यपि उनके विचारों का समर्थन जेम्स और रसेल भी आज कर रहे हैं तथापि औपनिषद तत्त्वज्ञान की आत्मिक भित्ति इससे हिल नहीं सकती। औपनिषद आत्मज्ञान ने आत्मा की स्थिति को मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया पर आश्रित न कर आध्यात्मिक प्रक्रिया का आश्रयण किया है। आत्मा केवल ज्ञान-प्रक्रिया का आधार (कांट के अनुसार Transcendent unity of apperception) ही नहीं है, यह एक स्वतंत्र और वास्तविक सत्य है। जर्मन विद्वान याकोबी का कहना है कि वेद और प्राचीन उपनिषद के युग में स्वतंत्र द्रव्यात्मक आध्यात्मिक आत्मा (soul as a spiritual monad) का विचार उपस्थित नहीं हुआ था, किन्तु ऋग्वेद, यजुर्वेद और बृहदारण्यक में आत्मा के सम्बन्ध में इतने अधिक

उद्धरण याकोबी का खंडन करने में समर्थ हैं कि उनके विचार का खंडन हम अनावश्यक समझते हैं। अथर्ववेद में स्पष्ट कहा है—आत्मानममृतमजरं युवानम्। ऋग्वेद (१।१६४।३०) में कहा है—जीवोमृतस्य चरति स्वधाभिः।

उपनिषद ने इस गम्भीर मनोविज्ञान और दर्शन का आश्रय लेकर उस सत्य का अनुसंधान किया है जो मनुष्य को पूर्ण शांति प्रदान कर सके। आलोचक गफ (Gough) का कहना है कि उपनिषद में केवल बौद्धिकता है, आध्यात्मिकता नहीं है। किन्तु यदि बायबिल और उपनिषद को तुलनात्मक अध्ययन की दृष्टि से देखा जाय तो मालूम पड़ेगा की साम (Psalms) से भी बढ़ कर आध्यात्मिक स्थल उपनिषद में उपस्थित हैं। उदाहरणार्थ—अहं वृक्षस्य रेरिवा। कीर्तिः पृष्ठं गिरेरिव ऊर्ध्व्पवित्रो वाजिनीव स्वमृतमस्मि द्रविणं सुवर्चसं सुमेधा अमृतोऽक्षितः (तैत्तिरीयोपनिषद १।६।१०)।

प्राचीन उपनिषदों में ज्ञान की प्रधानता है। नवीन में उपासना और भक्ति का प्राबल्य है। श्वेताश्वतर में वेदान्त, सांख्य और योग का ईश्वरवादमय समन्वय है। योग प्रणाली का आश्रयण शांकर वेदान्त की उपासना-पद्धति में भी किया जाता है। कठोपनिषद में कहा है कि स्वयंभू ने इन्द्रियों को जगद्ग्राही बनाया और हमें प्रयत्न से उसे आत्मोन्मुख करना चाहिए। पिथागोरस और अफलातूं की विचारधारा भी इसी प्रकार की है। भक्ति और ज्ञान का पूर्ण समन्वय भगवद्गीता में है। सम्पूर्ण ज्ञान का उन्मेष गीतोक्त दर्शन में भक्ति के सहारे ही सम्भव बताया गया है।

उपनिषद की समग्रतत्त्वदर्शन प्रणाली का, तात्त्विक साक्षात्कार की उपायभूता योगजनित ऋतम्भरा प्रज्ञा का और भक्ति का उद्देश्य चरम सत्य का तादात्म्य ही है। यह परम सत्य ही ब्रह्म है। यह ब्रह्म दो प्रकार से वर्णित है। सच्चिदानन्द निर्गुण निरुपाधिक ब्रह्म परमार्थ सत् है। यही ब्रह्म अविद्या की दृष्टि से, धर्मपथ में, उपास्य ईश्वर, जगत् का कर्त्ता, पालक और संहारक है। ईसाई और वैष्णव धर्म में, हेगेल और रामानुज के दर्शन में, न्याय और स्वामी दयानन्द के विचार में यह सगुण ब्रह्म ही धर्ममय मनुष्य का अन्तिम लक्ष्य और दार्शनिक चिन्तन की परिणति है। शंकर ने इसे ब्रह्म का तटस्थ लक्षण स्वीकृत किया है। उपनिषद में इस ब्रह्म के बोधक वाक्य आते हैं:—

(क) एतस्मादात्मनः आकाशः सम्भूतः।
(ख) भीषाऽस्माद्वातः पवते। भीषोदेति सूर्यः।
भीषाऽस्मादग्निश्चेन्द्रश्च। मृत्युर्धावति पञ्चमः।
(ग) ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
(घ) कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः।

किन्तु इस सगुण ब्रह्म से भी परात्पर विज्ञानघन अद्वैततत्त्व का वर्णन उपनिषद में आता है:—

(क) स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि।
(ख) सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म।
(ग) अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्।

उपनिषद के ऋषि इस परमोत्कृष्ट तत्त्व की स्वरूपतः उपलब्धि ही परम पुरुषार्थ समझते थे। बौद्ध दर्शन में जगत्कर्त्ता ईश्वर का उपहास किया गया है। अश्वघोष, वसुबंधु, नागार्जुन तथा योगाचार विज्ञानवादियों ने निरपेक्ष सत्य की घोषणा की है। उपनिषद का अद्वैत ब्रह्म और सगुण ईश्वर समस्त धार्मिक अनुभूति और दार्शनिक चिंतन को आत्मसात् कर सकते हैं। गीता की भाषा में क्षरभावापन्न सर्वभूत और अक्षर ब्रह्म का समावेश पुरुषोत्तम में होता है। पुरुषोत्तम का तात्पर्य श्री दासगुप्त ने "अति व्यक्तित्व" (Super-personality of God) किया है। उपनिषद में ब्रह्म का जहाँ व्यक्त मूर्त्त वर्णन आता है, जैसे——वैश्वानर पुरुष— वहाँ गीता के समान ही वर्णन पाए जाते हैं। व्यावहारिक क्षेत्र में धार्मिक अनुभूति की सत्यता को मानना अति आवश्यक है और ब्रैडले का कथन है कि इसके अतिरिक्त इससे ऊपर की अनुभूति असम्भव है। परन्तु वेदान्त की साधना का अनुयायी श्रवण, मनन, निदिध्यासन से युक्त पुरुष, परम तत्त्व की एकाकारता का जो दिव्य अनुभव करता है वह अनुभव ही धर्म का प्राण है। श्री अरविंद के विचार में वेद और उपनिषद काल के ऋषि परम, परात्पर सत्य की प्राप्ति का अनुष्ठान अवश्य करते थे, किन्तु इस परम अनुभूति को प्राणमय और पार्थिव चेतना तक वे उत्थापित न कर सके और इसीलिये भारत में मायावाद का दर्शन प्रचलित हुआ। किन्तु हम इस विचार से असहमत हैं।

श्री अरविंद के अनुयायी डाक्टर मैत्र (S. K. Maitra) का कथन है कि जगत्, प्राण, मन, और आत्मा का पूर्ण समन्वय करने वाला दर्शन श्री अरविंद के दर्शन के अतिरिक्त अन्यत्र नहीं है। इस दृष्टि से शंकर, प्लेटो और हेगेल से भी कुछ अधिक महत्त्व उन्होंने अरविंद को प्रदान किया है। यह ठीक है कि जड़ जगत् और आत्म जगत् का समन्वय अरविंद ने किया है और इस समन्वय का मूलाधार आत्मा का जगत् में आरोहण और अवनयन और जड़ जगत् का आत्मा में आरोहण और उन्नयन है। परम विज्ञान (supermind) की क्रियाशीलता से ही यह प्रक्रिया संभव है। इतना कहने के बाद भी हमारा निश्चित विचार है कि स्वयं अरविंद का दर्शन मायावाद को हटा नहीं सका। अरविंद जगत् की सत्ता मानते हैं किन्तु परम सत्ता (absolute reality) केवल मात्र सच्चिदानन्द ब्रह्म की है। ज्ञान को क्रियात्मक (consciousness-force) मान कर जगत् का उत्पत्ति-क्रम उपस्थित किया गया है, तथापि यह सब पूर्णतः सत्य नहीं है। उपनिषद का भी यही विचार है, यद्यपि अरविंद ने अनेक युक्तियों का प्रयोग किया है जिनका विकसित रूप उपनिषद में उपलब्ध नहीं है। जब मानव के दुःखों और कमजोरियों की ब्रह्म-दृष्टि से सत्ता नहीं है तो अवश्य जगत् मायात्मक है। अन्य युक्तियों से भी अरविंद दर्शन में जगत् मायात्मक है। यदि जगत् की वास्तविक सत्ता है तो योग-पद्धति निरर्थक है। हम क्यों साधारण मार्ग का त्याग कर मातृ-शक्ति को आत्म-समर्पण करें? आत्म-समर्पण का एक ही कारण हो सकता है और वह है जगत् का अतात्त्विक होना। औरफिक भ्रातृसंघ (Orphic Brotherhood), प्लेटो

और उपनिषद में प्रत्यगात्मदर्शित्व का उपदेश जगत् को अतात्त्विक स्वीकृत करके ही दिया गया है। जब हम ईश्वर और जगत् में तुलना करते हैं और जगत् की अपेक्षा ईश्वर को श्रेष्ठ ठहराते हैं तो दार्शनिक दृष्टि से मायावाद सामने चला आता है। भगवान् बुद्ध ने यद्यपि ब्रह्म या ईश्वर को स्वीकार नहीं किया है तथापि अंगुत्तर निकाय में प्रभास्वर को स्वीकृत करने के कारण, तथा निर्वाणात्मिका शांति का जगत् की तुलना में वैशिष्ट्य प्रतिपादित करने के कारण एक प्रकार से बुद्ध भी मायावादी हैं। संन्यासधर्म का स्पष्ट अर्थ है जगत् की अतात्त्विकता की स्वीकृति।

उपनिषद दर्शन का एक आवश्यक अंश मायावाद है। दृश्य जगत् का इन्द्रिय-ग्राह्यरूप के अतिरिक्त इतर रूप प्रस्तुत करना ही साधारण-जन-परिगृहीत स्वरूप को मायात्मक घोषित करना है। उपनिषद में मायावाद इस लिये आता है कि सच्चिदानन्द ब्रह्म की तात्त्विकता पर अत्यन्त बल दिया गया है। यदि भौतिक और प्राणमय जगत् का योग के द्वारा दिव्यीकरण (Divinisation) सम्भव है तो स्पष्ट है कि मानवेन्द्रियों से जो इन-इन सत्ताओं का रूप इस समय गृहीत है वह आतात्त्विक है। पिछले वेदान्त में जगत् व्यापी माया को कर्तृत्व-शक्ति-सम्पन्न घोषित किया गया है। श्री अरविंद को भी जगत्कर्तृत्व में अज्ञान (Inconscience) को स्वीकृत करना ही पड़ा।

उपनिषद मायावाद नवीन वेदान्त के मायावाद से भिन्न है। उपनिषद का माया-वाद मनुष्य को निराशा या निरुत्साह का संदेश नहीं देता। उपनिषद में भोजन का वैशिष्ट्य और शारीरिक शक्ति का संवर्धित रूप बहुत अतिरंजित है। छांदोग्य में कहा गया है :--

बलं वाव विज्ञानाद्भूयोऽपि ह शतं विज्ञानवतामेको बलवानाकम्पयते स यदा बली भवत्याथातथातो भवति।

उपनिषद का संदेश है:--

नायामात्मा बलहीनेन लभ्यः। उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।

उपनिषद की ज्ञानधारा का मूल स्रोत तर्कात्मक नहीं है। जैसा कि उल्लेख हो चुका है विषयविषयीज्ञान से ऊँचे स्तर का तदाकारवृत्तिजनक प्रज्ञान ही उपनिषद की ज्ञानराशि का आधार है। यूरोपीय दर्शन में जहाँ ब्रह्म या ईश्वर के अस्तित्व के सम्बन्ध में प्रमाण दिए गए हैं वहाँ अन्तिम आधार बुद्धि ही है। महान् तत्त्वचिन्तक सेन्ट टामस एक्विनस के सम्बन्ध में कहा जाता है कि प्रचण्ड ग्रंथों की रचना करने के बाद इसने कहा कि लिखना निरर्थक है। परन्तु इस प्रकार की उक्ति यूरोपीय दर्शन में कम पाई जाती है। स्पायनोजा ईश्वर-प्रेम में मस्त रहा करता था किन्तु उसका दर्शन-शास्त्र विशुद्ध गणित की प्रणाली के आश्रयण का उदाहरण है। वेदान्त का बराबर यह विचार रहा कि मानव बुद्धि के द्वारा समस्त सत्य का दर्शन नहीं हो सकता। अतएव बादरायण और शंकर ने कहा है :--

तर्काप्रतिष्ठानादप्यन्यथानुमेयमिति चेदेवमप्यविमोक्षप्रसंगः ।। इतश्च नागमगम्येऽर्थे केवलेन तर्केण प्रत्यवस्थातव्यम् । यस्मान्निरागमाः पुरुषोत्प्रेक्षामात्रनिबन्धनास्तर्का अप्रतिष्ठिता भवन्ति उत्प्रेक्षाया निरङ्कुशत्वात् ।

वदस्य तु नित्यत्वे विज्ञानोत्पत्तिहेतुत्वे च सति व्यवसितार्थविषयन्त्वोपपत्तेः । तज्जनितस्य च ज्ञानस्य सम्यक्त्वमतीतानागतवर्तमानः सर्वैरपि तार्किकैरपह्नोतुमशक्यम् ।। (वे० सू० २-१-११ भाष्य) ।

यूरोप में बुद्धिवादी दर्शन का पूरा आरम्भ कांट से हुआ और हेगेल में उसकी परिणति हुई। हेगेल बुद्धिवाद का पूर्ण प्रतिष्ठापक था। इधर उसके बुद्धिवाद के विरुद्ध क्रांति यूरोप और अमरीका में हुई है। विलियम जेम्स ने इच्छा-शक्ति का विचार उद्घोषित किया। बर्गसाँ ने प्रातिभ ज्ञान का सिद्धान्त सामने रखा। किन्तु यद्यपि जेम्स और बर्गसाँ ने हेगेल के बुद्धिवाद का विरोध किया है तथापि उनकी आलोचना का पूरा आधार बौद्धिक ही है। उपनिषद के विचार में विद्या का स्वरूप विमल प्रज्ञा ही है। इस प्रज्ञा के सहारे समस्त अज्ञान और क्लेश की निवृत्ति होती है। कठोपनिषद कहता है :—

एषः सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते ।
दृश्यते त्वग्रया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ।।

यह सूक्ष्म बुद्धि बौद्धिक शक्तियों के अतिशय केन्द्रीकरण का परिणाम हो सकती है अथवा मानव चेतना के किसी विशिष्ट स्तर का प्रस्फुटन ही इससे अभिप्रेत हो सकता है। बहुश्रुतत्व, मेधा और प्रवचन से सम्पूर्ण सत्य की प्राप्ति सम्भव नहीं है। वेद और उपनिषद की भाषा के पीछे जो शक्ति छिपी है उसका रहस्य भी इस अनुभावात्मक सत्य में है। नवीन बौद्ध दर्शन में भी इस प्रकार का विचार पाया जाता है। सम्यक् संबोधि के विना इस अद्वयतत्त्व की उपलब्धि नहीं हो सकती। सम्यक् संबोधि को प्राप्त करने के लिये प्रज्ञा की आवश्यकता है। बौद्ध लोग कहते हैं कि शुष्क प्रज्ञा से कोई लाभ नहीं हो सकता। पुण्य-संभार तथा ज्ञान-संभार से ही प्रज्ञा की उत्पत्ति होती है। दान, शील तथा क्षान्ति के दीर्घकालीन अभ्यास के प्रभाव से पुण्य-संभार का उदय होता है। वीर्य और समाधि के अभ्यास के प्रभाव से ज्ञान-संभार उत्पन्न होता है। इन दोनों से विशुद्ध प्रज्ञा का उन्मेष होता है। धीरे-धीरे प्रज्ञा की निर्मलता का सम्पादन करना पड़ता है। प्राथमिक प्रज्ञा हेतु अथवा साधनस्वरूप है, उससे फलरूप यथार्थ प्रज्ञा का विकास होता है। साधन-प्रज्ञा भी पहले श्रुतमयी, चिन्तामयी तथा भावनामयी रूप में प्रकट होती है। इस अवस्था में साधक अधिमुक्तचरित कहा जाता है। इसके बाद अपरोक्ष ज्ञान के आविर्भाव के साथ-साथ प्रज्ञा बोधिसत्त्वभूमि में प्रविष्ट हो कर क्रमशः निम्नवर्ती भूमियों का परिहार करती हुई ऊर्ध्वभूमि को प्राप्त कर प्रकृष्टता लाभ करती है। पर्यवसान में अर्थात् अन्तिम भूमि के छूट जाने पर बोधिसत्त्वभूमि अतिक्रान्त हो जाती है। इसी के साथ ही द्वैत-भाव की समाप्ति हो जाती है एवं फलभूत

बद्धत्वरूप अद्वैत प्रज्ञा आविर्भूत होती है।... बुद्धत्व ही प्रज्ञा का आत्यन्तिक उत्कर्ष है। आध्यात्मिक लोग इस प्रज्ञा को सर्वाकारोपेत, सर्व-धर्म-शून्यताधिगम-स्वभाव और निर्विकल्प कहते हैं"।

महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथ जी, कल्याण, वेदान्तांक—पृ० ५६३-६४)।

जैन दर्शन में भी इसी प्रकार का विचार उपलब्ध होता है। योग दर्शन में भी प्रज्ञोद्भावक शक्तियों का वर्णन पाया जाता है। किन्तु यूरोपीय दर्शन में प्रकाशित या अप्रकाशित रूप से भी प्रज्ञा का पूरा स्वरूप नहीं उपलब्ध होता है। यूनानी धर्म और दर्शन में बौद्धिक और कलात्मक अनुभूति का वर्णन पाया जाता है किन्तु आध्यात्मिक आनन्द की स्थिति इससे ऊँची है। तैत्तिरीयोपनिषद में ब्रह्मानन्द का क्रमशः वर्णन पाया जाता है।

विज्ञानशास्त्र के अनुसार अन्तिम सत्य प्राकृतिक या विषयीगत (objective) है और समस्त इतर वस्तुओं की व्याख्या इसी के सहारे करनी होती है। उपनिषद के अनुसार अन्तिम सत्य प्रत्यगात्मस्वरूप है और अन्य वस्तुओं की व्याख्या इससे की जाती है। आनन्द की सत्ता की स्थापना करके जगत् के स्वरूप की विलक्षण प्रक्रिया उपनिषद में पाई जाती है। प्रतीत्यसमुत्पाद के अनुसार अविद्या और संस्कार और विज्ञान के द्वारा ही उपादानस्कन्ध की उत्पत्ति होती है। तृष्णा और भव का प्रभाव जन्म के ऊपर पड़ता है। इस प्रकार उपनिषद और बौद्ध दर्शन में प्राकृतिक जगत् के ऊपर भावनात्मिका (Idealistic) शक्तियों का प्रभाव स्वीकृत है। विज्ञान ने भी स्वीकृत किया है कि यदि हमारे शरीर की रचना विभिन्न प्रकार की होती तो भौतिक जगत् का स्वरूप हमें विभिन्न प्रकार का मालूम होता। अब तक के अनुसंधानों के बाद भी विज्ञान को अधिक वेग से जगत् की रहस्यशीलता को स्वीकार करना पड़ रहा है और इससे शंका होती है कि शायद दृश्य जगत् का वास्तविक ज्ञान हमें नहीं है।

वस्तुओं की ज्ञेयता अथवा अज्ञेयता को ले कर ही संवित्शास्त्र में अनेक गहरे शास्त्रार्थ होते हैं। कांट ने वस्तुतत्त्व को अज्ञेय कहा। हमारी इन्द्रियों से तथा बुद्धि से जो कुछ ज्ञान उपलब्ध होता है वह ज्ञातृ-सापेक्ष है। किंतु हेगेल के अनुसार यदि किसी द्रव्य के समस्त गुणों का ज्ञान हो जाय तो वस्तु अवगत हो गई। एंगेल्स ने लिखा है कि कांट ने वस्तु-तत्त्व की अज्ञेयता का सिद्धान्त इसलिये उत्थापित किया कि उसके समय भौतिक विज्ञान का परीक्षण-क्षेत्र सीमित था। आधुनिक युग के विकसित विज्ञान ने वस्तुओं का पूर्ण विश्लेषण कर दिया है अतएव अज्ञेय वस्तु-तत्त्व अब नहीं है। उसके अनुसार विज्ञान के विकास के साथ ही अज्ञेयवाद का अन्त हो जायगा। किन्तु उपनिषद की विचार-धारा एक गहरा प्रश्न उपस्थित करती है। प्रकृति की वस्तुओं का निर्माण मानव बुद्धि के अनुसार नहीं हुआ है। विज्ञान भी इस प्रकार का दावा नहीं कर सकता। विश्वात्मा के तेज का प्रकाशन निखिल विश्व में हो रहा है। अतएव उपनिषद के अनुसार मानव बुद्धि से उत्कृष्ट, वस्तु-तत्त्व के सम्पूर्ण ज्ञान के निमित्त, परात्पर विज्ञान अपेक्षित है। अतः यदि इस परात्पर विज्ञान को नहीं प्राप्त कर, मानव बुद्धि स्वयं

समस्त वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त करेगी तो एक विचारपूर्ण वैज्ञानिक अज्ञेयवाद ही दर्शनशास्त्र का अन्तिम परिणाम होगा। उपनिषद की दृष्टि से यह व्यापक अज्ञेयवाद आंशिक सत्य का प्रकाशन ही होगा क्योंकि मानसातीत चिद्घन तत्त्व का ज्ञान इस बुद्धि के द्वारा नहीं हो सकता। अतएव केनोपनिषद में कहा है :—

यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम्।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ।।

किन्तु वैज्ञानिक इस मानसातीत सत्य को मन की विडम्बना मात्र कह सकता है। आज का मनोविज्ञान अध्यात्मशास्त्र की विचार-धारा को प्राथमिक अज्ञान या भय का अवशेष ही कहता है। आज के मनोवैज्ञानिक धार्मिक अनुभूति को मनःप्रसूतिका कह कर उसका उपहास करते हैं। किन्तु मनोवैज्ञानिकों का एक ऐसा दल भी सामने आया है जो अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष (Extra-sensory perception) में भी विश्वास करता है। न्याय दर्शन में भी ऐसा प्रत्यक्ष स्वीकृत है। सेन्ट ऑगस्टीन, दांते, गेटे, कांट, हेगेल और क्रोचे ने, धार्मिक अनुभूति मानवस्वभाव का सरल प्रकाशन है, ऐसा विचार रखा है। उपनिषद की विचार-धारा धर्म को अत्यन्त ही स्वाभाविक मानती है। मानवता के स्वभाव के साथ यह सम्बद्ध है। उपनिषद के ऋषि जिन उदात्त भावनाओं से प्रभावित हो कर तत्त्वज्ञान का ऊहापोह करते हैं उससे मानवान्तरात्मा की वह उत्कण्ठा प्रकाशित होती है, जिसे मनुष्य अविद्यावर्त्त से निकल कर सत्योन्मुख होने पर अनुभूत करता है। कांट के अनुसार यह मानव बुद्धि का स्वाभाविक प्रकाश है। विभिन्न देशों में विभिन्न समयों में योगियों को समान प्रकार की अनुभूति होती है—यह इसका प्रमाण है कि यौगिक अनुभूति केवल वैयक्तिक नहीं है, विज्ञान के समान यह भी बाह्यकेन्द्राभिमुखी (objective) है। फारस के सूफी कवियों, ईसाई रहस्यवादी सन्तों और स्वामी रामतीर्थ की वाणी में विलक्षण साम्य है। उपनिषद की वाणी से शापेनहावर, इमर्सन और थोरो प्रभावित हैं। आवश्यकता इस बात की है कि मनुष्य पक्षपात-रहित हो इस अनुभूति का विश्लेषण करे। भारतीय योग-पद्धति, चाहे वह उद्दालक आरुणि की हो या पतञ्जलि की, कभी अध्यात्म को सम्प्रदाय-विशेष की वस्तु नहीं मानती। वह सार्वजनीन है। योग दर्शन में स्पष्ट कहा है कि दिग्देश-काल समयानवच्छिन्न सार्वभौम महाव्रत हैं, और यदि इस प्रकार की स्थापना सत्य है तो निश्चय ही इन नियमों के अनुष्ठान से प्राप्तव्य अनुभूति विश्वजनीन होगी।

परम सत्य को वाणी और मन का अविषय घोषित करने से उपनिषद में एक प्रकार का अज्ञेयवाद सामने आता है। स्पेन्सर का अनुकरण करते हुए उन्नीसवीं शताब्दी में यूरोप में अज्ञेयवाद का प्रचार हुआ किन्तु उपनिषद के अज्ञेयवाद और स्पेन्सर के अज्ञेयवाद में एक बड़ा अन्तर है। स्पेन्सर का अज्ञेयवाद, इस अज्ञेयता को हटाने का कोई दूसरा साधन नहीं बताता है। किन्तु उपनिषद में, जैसा ऊपर कहा जा चुका है, प्रातिभ समग्र ज्ञान का वैशिष्ट्य प्रतिपादित किया गया है। उपनिषद की व्यापक विचार-धारा का अनुसरण करने पर मालूम पड़ता है कि डार्विन के अनुयायी हैकल और

जुलियन हक्सल आदि और बट्रैंण्ड रसेल के समान भौतिकवादी भी मानव जीवन के लक्ष्य की पूर्ण व्याख्या नहीं कर सकते। ईश्वर की सत्ता का निषेध करना आसान है किन्तु इससे कुछ विशेष प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। विलियम जेम्स ने भी मानव जीवन को लक्ष्य-युक्त बनाने के लिये ईश्वर-विश्वास को आवश्यक बताया है। डेन्मार्क निवासी हौफडिंग (Hoffding) नामक विचारक का कथन है कि नैतिक महत्त्वों को सुरक्षित रखना ही धर्म और अध्यात्म है। अध्यात्म की शांतिदायक शक्ति को विलियम जेम्स ने स्वीकृत किया है और कहा है कि वर्डस्वर्थ, दांटे आदि की कविताओं में जो आश्वासन हम प्राप्त करते हैं उसका रहस्य नैतिक शक्तिओं और आध्यात्मिक भावनाओं में उनका विश्वास ही है।

मानवता के पूर्ण विकास के लिये ही जगत् में अनेकानेक विचार-धाराओं का उत्थान होता है। उन्नीसवीं सदी में टाल्स्टाय, हेगेल, कार्ल मार्क्स, दयानन्द और रामकृष्ण का उद्भव हुआ और विश्व-शांति के विभिन्न मार्ग उन्होंने प्रवर्त्तित किये। फ्रांस निवासी आगस्टे कॉम्ट ने देवताओं की पूजा के स्थान पर मानव मात्र की सेवा का मार्ग बतलाया। उस समय से आज तक विभिन्न विचार सामने आ रहे हैं। यूनानी सोफिस्ट (Sophist) प्रोटागोरस ने कहा था कि वैयक्तिक मनुष्य (individual man) ही विश्व की सचाई का मापक है। सुकरात और अफलातूं ने उसका उत्तर मनुष्य के अन्दर व्यापक मानवता (universal man) का उद्घाटन करके दिया। क्रोचे ने कहा है कि विश्व-शांति के लिये मानवकल्याणवाद आवश्यक है। आदर्शवादी बौद्धिक विचारक करुणा और कल्याण का संदेश देते हैं। राधाकृष्णन् और रवीन्द्रनाथ ठाकुर जैसे लोग अन्ताराष्ट्रियवाद का संदेश देते हैं। किन्तु उपनिषद के व्यापक तत्त्वज्ञान के आश्रयण के बिना नीति-नियमों का पूरा पालन जगत् में नहीं हो सकता। मनुष्य जब तक, 'आत्मवत्सर्वभूतेषु' नहीं देख सकता तबतक जगत् में शांति नहीं हो सकती। ईशोपनिषद में कहा है:—

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ।।
यास्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ।।

जब तक सच्ची आत्मिक शिक्षा दे कर मनुष्य के पशुत्व को कम नहीं किया जाता तब तक जगत् में युद्ध बन्द नहीं होगा। जब तक मनुष्य के अंदर पशुओं की हिंसावृत्ति है तब तक युद्ध और हिंसा के समर्थक हेराक्लिटस, बिस्मार्क, नीत्शे और सोरेल जैसे मनुष्य पैदा होंगे। यदि क्रूरता ही मनुष्य की शक्ति और सभ्यता की सूचिका है तब तो चर्चिल, ट्रूमन, हिटलर और मुसोलिनी तथा स्टालिन को, हलागू खाँ और चंगेज खाँ अपने पैरों तले रौंदने की शक्ति रखते थे। फिर जगत् के ऐतिहासिक उनकी आलोचना क्यों करते हैं ? यदि सचमुच जगत् की उन्नति अपेक्षित है तो वह गाँधीवाद के द्वारा होगी, मार्क्सवाद के द्वारा नहीं। मनुष्य की इच्छाओं को उद्दाम प्रश्रय देने का अर्थ होगा अतिरंजित दानवत्व। इस गम्भीर अतिरंजित वासना-वृत्ति के कारण ही रोम का पतन

हुआ। स्टालिन जगत् का पैगम्बर नहीं हो सकता--जब तक उसकी दृष्टि गिद्ध की भाँति पश्चिमी एशिया पर लगी है। दुनियां का पैगम्बर गाँधी हो सकता है, जिसका समस्त जीवन उपनिषद् के इस मंत्र पर--'सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा'--एक प्रत्यक्ष और जीवित-जाग्रत भाष्य है। डार्विन, हेगेल और अरविंद ने मनुष्य के सामने विकासवाद का सिद्धान्त प्रस्तुत किया है जिसका अर्थ है दानवत्व की पराजय और देवत्व की विजय। यह विजय भावनाओं के परिष्कार और शुद्धि पर आश्रित है।

किन्तु इस कथन का तात्पर्य यह नहीं है कि उपनिषद से पूँजीवाद का समथन होता है। यदि अत्याचार और अनाचार का दमन अपेक्षित है तो उपनिषद और भगवद्गीता में व्यापक हिंसा का समर्थन है। आत्मदर्शिनी बुद्धि से युक्त हो कर भले ही मनुष्य विश्व का विनाश कर डाले पर वह कल्याण की भावना से हो, द्रोह, घृणा और स्वार्थ की भावना से नहीं। कठोपनिषद् में कहा है:--

हन्ता चेन्मन्यते हन्तुं हतश्चेन्मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते।

इस प्रकार उपनिषद का अद्वैततत्त्व जगत् में शांति रखने का निर्मल आध्यात्मिक मार्ग हमारे सामने उपस्थित करता है। यह मार्ग किसी देश विशष या सम्प्रदाय विशष का नहीं, सार्वजनीन है। कार्लायिल, रस्किन, इमरसन, थोरो, वाल्ट ह्विटमैन, मारिस, आल्डुअस हक्सले, आदि उपनिषद की विचारधारा का समर्थन करते हैं। किन्तु उपर्युक्त चिंतकों का आधार केवल मानसिक है। उपनिषद के अनुसार केवल बौद्धिक परिवर्त्तन अधूरा है। आध्यात्मिक चेतना के नियमों के अनुसार परिवर्त्तन अपेक्षित है। कविता, कला चित्रकारी, संगीत और दर्शन के चिन्तन और मनन में इस चेतना का आंशिक प्रकाश होता है। इस चेतना के पूर्ण आविष्कार के लिये सतत आत्मानुचिंतन अपेक्षित है। श्री अरविंद के विचार में दिव्य सत्य का त्रिविध अभिव्यक्तीकरण होता है:--(१) वैयक्तिक (२) जागतिक और (३) जगदातीत। परम विज्ञानात्मिका परात्पर शक्ति क उदय के लिये इन त्रिविध सत्यों का समान रूप से साक्षात्कार अपेक्षित है। इसीलिये वे कहते हैं--"संसार में एक प्रहेलिका का दर्शन होता है। जब परम विज्ञान का अवतरण होगा तब इस प्रहेलिका का समाधान हो जायगा और तब केवल आत्मा का ही नहीं, प्रकृति का भी मोक्ष हो जायगा। इस सत्य के आंशिक तेजस्वी रूप को वीराचारी और दिव्याचारी तांत्रिकों ने देखा था किन्तु इस सत्य क समग्र अवतरण का अब समय आ गया है।" (Aurobindo : The Riddle of this world)। वैज्ञानिक हैकल केवल प्रहेलिका के विचार से सन्तुष्ट हो गया था किन्तु अरविंद उसका समाधान भी करते हैं।

'कुरुक्षेत्र' का षष्ठ सर्ग

श्री शत्रुघ्न प्रसाद सिंह, एम्. ए.

कविवर 'दिनकर' विरचित 'कुरुक्षेत्र' पौराणिक प्रबन्ध काव्य होते हुए भी एक महाकाव्य है। महाकाव्यों की वस्तु-विन्यास-शैली को दृष्टि-पथ में रखते हुए यह कहा जा सकता है कि जिस सर्ग में कवि का हृदय निर्भय, निर्भीक एवं निर्द्वन्द्व हो कर सफल अभि-व्यञ्जन करता है वही सर्ग उस काव्य का हृदय होता है। जिस प्रकार उत्तर काण्ड 'मानस' का, काम-लज्जा सर्ग कामायनी का, और साकेत का नवम सर्ग साकेत का हृदय है उसी प्रकार 'कुरुक्षेत्र' का षष्ठ सर्ग ही कुरुक्षेत्र का हृदय है। षष्ठ सर्ग में 'दिनकर' जी का कवि-हृदय मुखरित हुआ है।

ऊपर सब कुछ शून्य शून्य है,
कुछ भी नहीं गगन में,
धर्मराज, जो कुछ है वह है
मिट्टी में जीवन में——

जैसी पंक्तियों के रचयिता के नयन-पथ में यह पृथ्वी सदैव वर्त्तमान रहती है। वह एक क्षण भी धरती को विस्मृत नहीं कर पाता। मिट्टी के नर-तन-धारी मानवों पर उसकी दृष्टि सदैव बनी रहती है। स्वर्गिक भू को मानव-पुण्य-प्रसू समझ कर वह मृत्तिका के पुतले मानव को कभी भुला नहीं सकता। मिट्टी पर चलने वाले मिट्टी के देवता उसके गीतों के उपास्य देव हैं। शेक्सपियर के अनुसार कवि की भावना स्वर्ग से पृथ्वी और पृथ्वी से स्वर्ग की ओर अनुक्षण आया-जाया करती है, किन्तु मिट्टी के सेवक महाकवि 'दिनकर' को 'मिट्टी की ओर' आन में बड़ा आनन्द आता है। उस स्थिति को सर्व-सुलभ बनाने के लिये चन्द्र-लोक से पृथ्वी तक सीधे, सरल राज-मार्ग की स्थापना की सफल कामना वे कर चुके हैं। मिट्टी की सच्ची सेवा-भावना से परिपूर्ण हो कर कवि का विह्वल हृदय विश्वेश से यह भीख माँगता है कि इस वैषम्यपूर्ण विश्व में साम्य की स्निग्ध एवं उदार रश्मि शीघ्रातिशीघ्र प्रस्फुटित हो, चिर दग्ध पृथ्वी की निर्जीव, निष्प्राण, शिराओं में रक्त-संचार हो। अतः

साम्य की वह रश्मि स्निग्ध, उदार
कब खिलेगी, कब खिलेगी विश्व में भगवान ?
कब सुकोमल ज्योति से अभिषिक्त——
हो, सरस होंगे जली-सूखी रसा के प्राण ?

ऐसी पंक्तियों से अन्त होने वाले षष्ठ सर्ग का प्रारम्भ भी उसी स्थायी भाव से होता है। जब कवि का धरित्री-सेवक हृदय करुण चीत्कार कर उठता है:—

धर्म का दीपक, दया का दीप,
कब जलेगा, कब जलेगा, विश्व में भगवान ?
कब सुकोमल ज्योति से अभिषिक्त—
हो, सरस होंगे जली-सूखी रसा के प्राण ?

वैषम्य की दाहक ज्वाला से झुलसी हुई पृथ्वी एक बार शीतल हो कर लहलहा उठे, इसके लिए मिट्टी के सेवक की जरूरत है। इसकी माँग युग-युग से होती आई ह। वह सच्चा सेवक लोकोत्तर देवता नहीं, साधारण मनुज ही है, जिसे आप प्रसन्नता और भक्ति के आवेश में 'मनुज नहीं, मनुजता के सौभाग्य-विधाता' भी कह सकते हैं।

इतिहास की सबसे बड़ी विडम्बना यह है कि आदि काल से लेकर अब तक उसकी शाश्वत समस्याओं के समाधान के लिये न जाने कितने समाज-सेवक (पैगंबर और अवतार के रूप में) अवतरित हुए और अपनी पुनीत वाणी से इस समस्या का एक ही हल, शब्दों के हेरफेर के साथ, दुनिया के सामने पेश करते रहे। लेकिन आज भी उन समस्याओं के रूप वैसे ही हैं। मानव की समृद्धि और विकास के इतिहास में नित्य नये-नये अध्याय बढ़ते जा रहे हैं। अध्यात्मवादी नैतिक विश्वास की नींव पर अपना संस्कृति-भवन निर्मित कर रहे हैं। इसके विपरीत मानव के सभी व्यापारों की छानबीन तर्क के सहारे भी की जा रही है। मानव की जीवन-व्यवस्था और उसके मूल्यों का नव्य निर्धारण दो विरोधी दृष्टियों से होता रहा है। द्वापर से बहुत आगे बढ़ कर बीसवीं शती तक आ कर संसार भौतिक विज्ञान का अनन्य सेवक बन-सा गया है। इस स्थिति में पहुँच कर व्यक्ति के आभ्यंतर पक्ष पर समाज के बाह्य मूल्यों का महत्त्व स्थापित होने लगा है। इस बुद्धिवाद के युग में विज्ञान का बोलबाला है। हम यह मानने के लिये बाध्य हो रहे हैं कि ज्ञान की ज्योतित पृथ्वी पर अवतरित होने के लिये हम विज्ञान के प्रति कृतज्ञ हैं :—

पूर्व युग-सा आज का जीवन नहीं लाचार,
आ चुका है दूर द्वापर से बहुत संसार,
यह समय विज्ञान का, सब भाँति पूर्ण समर्थ,
खुल गये हैं गूढ़ संस्कृति के अमित गुरु अर्थ
चीरता तम को सँभाले बुद्धि की पतवार
आ गया है ज्योति की नव भूमि में संसार।

मानव की शान्ति, समृद्धि, सुख तथा विकास विज्ञान की उत्तरोत्तर उन्नति पर ही निर्भर है। पश्चिमी विज्ञान के जन्मदाता महर्षि फ्रांसिस बेकन तथा उन्हीं की सरणि पर चलने वाले अन्यान्य विज्ञान-प्रिय मनीषियों ने 'ज्ञान ही शक्ति है', का नारा बुलंद किया, निस्सीम प्रगति की पूणता की प्राप्ति के लिये ज्ञान के संचय को ही मानव का

सर्वमान्य आदर्श घोषित किया। फल यह हुआ कि मानव जीवन को पूर्णता की स्थिति में पहुँचाने के लिये सतत प्रयासी वैज्ञानिकों के सामने प्रकृति भी झुकने लगी। आज प्रकृति पर मानव विजयी होने लगा है। यथा :—

हैं बँधे नर के करों में वारि, विद्युत, भाप
हुक्म पर चढ़ता उतरता है पवन का ताप
है नहीं बाकी कहीं व्यवधान,
लाँघ सकता नर सरित, गिरि, सिन्धु, एक समान।

तथा

शीश पर आदेश कर अवधार्य,
प्रकृति के सब तत्त्व करते हैं मनुज के कार्य,
मानते हैं हुक्म मानव के महा वरुणेश
और करता शब्द-गुण अम्बर वहन सन्देश।

अतः संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि विज्ञान की निस्सीम प्रगति के कारण अवनि-अम्बर के कण-कण की शक्ति पर मानवता का प्रायः अधिकार हो गया है। सम्पूर्ण पृथ्वी मानव के चरणों के नीचे है, विशाल व्योम उसकी मुट्ठी में बँध गया है। विज्ञान के अन्तिम लक्ष्य की पूर्त्ति हो गयी है, उसके अभीष्ट की सिद्धि हो गयी है। फिर भी मानव सुखी नहीं, परम दुखी है, उसके अन्तःप्रदेश में हाहाकार हो रहा है। उसकी कठोर तपस्या के बाद भी उसके वास्तविक उद्देश्य की प्राप्ति नहीं हो सकी है। यही विज्ञान-पटु मानव-मस्तिष्क की विडम्बना है। कारण यह है कि वैज्ञानिकों ने मानव जीवन की एक विशेष प्रच्छन्न शक्ति पर दृष्टिपात नहीं किया, उसे अपने चिन्तन की परिधि से बाहर ही रखा। मानव की इस प्रच्छन्न शक्ति का नियमन और नियन्त्रण वांछनीय था। इनके अभाव में शांति-सुख का साधन, विज्ञान, मनुष्य के संताप और विनाश का कारण बन गया। 'दिनकर' के शब्दों में :—

इस मनुज के हाथ से विज्ञान के भी फूल
वज्र हो कर छूटते शुभ धर्म अपना भूल।

विज्ञान के फूल भी अपना शुभ धर्म भूल कर स्वयं मानव पर वज्र हो कर छूटने लगे। मनुष्य की प्रच्छन्न शक्ति का नाम मानव की स्वार्थ-प्रियता है, जिसके वशीभूत हो कर मानव स्थूल का जिज्ञासु बन जाता है, मानव की हत्या करने का अभिमान करता है? इसी स्वार्थ-प्रियता के कारण 'ज्ञान का आगार', 'सृष्टि का शृंगार', मनुज संहार-सेवी वासना का भृत्य और छद्म-प्रिय, बन कर हिंस्र और रक्त पिपासु पशु के स्तर पर उतर आता है :—

यह प्रगति निस्सीम! नर का यह अपूर्व विकास!
चरणतल भूगोल! मुट्ठी में निखिल आकाश!
किन्तु है बढ़ता गया मस्तिष्क ही निःशेष,
छूट कर पीछे गया है रह हृदय का देश।

वैज्ञानिकों ने एक बड़ी भूल की और वह यह है कि उन्होंने मानवता की उन्नति के लिये महज वैज्ञानिक प्रगति को ही पर्याप्त समझा। उन्होंने इस बात पर जरा भी ध्यान नहीं दिया कि मानव-प्रगति के लिये मस्तिष्क के साथ-साथ हृदय का संबंध भी आवश्यक है, मानसिक उन्नति के साथ-साथ हृदय की उन्नति भी वांछनीय है। मनुष्य के मस्तिष्क के साथ उसके हृदय का घनिष्ठ संबंध है, इसे वैज्ञानिकों ने भुला ही दिया। जब हृदय-लोक में वासना का तिमिर फैला रहता है तो मनुष्य को अपने कल्याण-अकल्याण, हित-अहित का ज्ञान ही नहीं रह जाता और मानव स्वयं अपने दुःख और सर्वनाश का कारण बनने लगता है :—

वासना की यामिनी जिसके तिमिर से हार
हो रहा नर भ्रान्त अपना आप ही आहार ;
बुद्धि में नभ की सुरभि, तन में रुधिर की कीच
यह वचन से देवता, पर कर्म से पशु नीच।

अतः सदिच्छा और सद्भावना के समुचित विकास के लिये वासना के अन्धकार को परमार्थ-प्रकाश से नष्ट करना अपेक्षित है।

मानव जीवन की प्रगति के लिये हृदय और मस्तिष्क के समान विकास की स्थापना को मान लेने पर हमें यह सोचना पड़ेगा कि मानव मात्र के लिये कौन-सी वृत्ति श्रेयस्कर है और कौन सी अश्रेयस्कर। 'दिनकर', इस दिशा में, एक ओर, गाँधीवादी विचार-धारा से प्रभावित होने के कारण आदर्शवादी चिन्तकों के स्वर में स्वर मिला कर विज्ञान और विज्ञान के अपवित्र आविष्कारों को अश्रेयस्कर घोषित करते हैं, तो, दूसरी ओर, वे बड़ी ही ओजपूर्ण वाणी में हृदय की विमलता को मानव जीवन के लिए श्रेयस्कर प्रमाणित करते हैं :—

श्रेय उसका प्राण म बहती प्रणय की वायु,
मानवों के हेतु अर्पित मानवों की आयु।
श्रेय उसका आँसुओं की धार,
श्रेय उसका, भग्न वीणा की अधीर पुकार।
दिव्य भावों के जगत में जागरण का गान,
मानवों का श्रेय, आत्मा का किरण-अभियान।
यजन, अर्पण आत्म-सुख का त्याग,
श्रेय मानव का, तपस्या की दहकती आग,
बुद्धि-मन्थन से विनिर्गत श्रेय वह नवनीत—
जो करे नर के हृदय को स्निग्ध, सौम्य, पुनीत।
श्रेय वह विज्ञान का वरदान,
हो सुलभ सब को सहज जिसका रुचिर अवदान।

तथा
श्रेय होगा मनुज का समता विधायक ज्ञान
स्नेह सिंचित न्याय पर नव विश्व का निर्माण।
एक नर में अन्य का निःशंक दृढ़ विश्वास
धर्म दीप मनुष्य का उज्ज्वल नया इतिहास।

इन पंक्तियों में विज्ञान-प्रधान भौतिकता को हृदय-प्रधान आध्यात्मिकता की ओर से चुनौती दी गई है। 'कुरुक्षेत्र' के षष्ठ सर्ग में गांधीवाद के 'सर्वोदय दर्शन' का सुरम्य और सम्पूर्ण रूप प्रतिबिम्बित हुआ है।

सर्वोदय और साहित्यिक

महात्मा गाँधी के नेतृत्व में भारत ने सामाजिक शोषण का अन्त करने के लिए सर्वोदय-रूपी जिस नीति का आविष्कार किया है, उसकी व्यावहारिकता असंदिग्ध भले ही हो, पर समयापेक्षी अवश्य है। सर्वोदय का सिद्धान्त भव्य हो, मनोरम हो, स्तुत्य हो; पर वह हिन्दी के भूखे साहित्यिक की पत्नी के घर आज शाम को ही सवा सेर आटा तो नहीं पहुँचा सकता! और यदि यह नहीं तो उसकी व्यावहारिक उपयोगिता आज कितनी समझी जाए! सर्वोदय जब ऐसे समाज की रचना कर देगा जो "शोषणहीन, वर्गहीन होगा और जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को भेदभाव के बिना वे सब सुविधाएँ प्राप्त होंगी जिनसे वह अपने जीवन का पूरा-पूरा विकास कर सके" तब हिन्दी का गरीब साहित्यिक भी स्वराज्य-देवता का जय-जयकार करने लगेगा। पर जब तक ऐसी सुविधाएँ सर्व-सुलभ नहीं हैं; वे केवल 'सर्वोदय', 'साहित्यकार-संसद' या 'सरस्वती-मन्दिर' के कुछ विशिष्ट सदस्यों तक ही सीमित हैं, और सच्चा श्रमजीवी साहित्यिक उनसे वंचित है, तब तक सर्वोदय की बात सामान्य साहित्यिक के गले से नीचे नहीं उतर सकती। और जिस बात को साहित्यिक स्वयं नहीं समझता, उसे वह दूसरों को कैसे समझाए!

—सरस्वती, प्रयाग; मार्च १९५१ ई० (सम्पादकीय)

गुरुदेव के संस्मरण

पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी

आज गुरुदेव का जन्म-दिन है। आज बार-बार गुरुदेव के जन्मोत्सवों की ही याद आ रही है। इस थोड़े समय की बातचीत में इन उत्सवों के सम्बन्ध में ही कुछ कहने की प्रबल इच्छा हो रही है। जब तक गुरुदेव इस संसार में रहे इस दिन को, उनके शिष्य उनको अपने बीच बिठा कर जन्मोत्सव मनाया करत थे; उनके जीवन के अन्तिम ग्यारह उत्सवों में सम्मिलित होने का सौभाग्य मुझे भी प्राप्त होता रहा है। शान्ति-निकेतन के आश्रमवासियों के लिये यह उत्सव विशेष उत्सव और उल्लास का कारण रहा करता था। जब मैं शान्तिनिकेतन गया था तब ८ मई को उत्सव मनाने के बाद ग्रीष्मावकाश हुआ करता था पर इसमें कई कठिनाइयाँ आने लगीं। शान्तिनिकेतन में पानी का कष्ट बराबर बना रहता था। ग्रीष्मावकाश बहुत कुछ कुओं के पानी पर निर्भर करता था। यदि कुआँ का पानी समाप्त हो गया तो छुट्टी अपने आप हो जाया करती थी। लेकिन शान्ति-निकेतन का प्रत्येक बच्चा गुरुदेव का जन्मोत्सव अवश्य मनाना चाहता था। इसलिए यह आवश्यक हो गया कि कोई ऐसा उपाय निकाला जाय जिसमें अप्रैल महीने में ही गुरुदेव का जन्मोत्सव मना लिया जाय। बँगला पंचांग सौर-वर्ष के हिसाब से बनता है। संक्रान्ति के दूसरे दिन से वहाँ महीना आरंभ होता है। इसी प्रकार बंगाल का प्रथम मास वैशाख होता है जो मेष-संक्रांति के दूसरे दिन से शुरू होता है। आज-कल प्रायः १४ अप्रैल को वैशाख की पहली तारीख पड़ती है। गुरुदेव की जन्म-तिथि वैशाख मास की २५ वीं तारीख थी। सो आश्रम में गुरुदेव का जन्मोत्सव वैशाख की पहली तारीख को मनाने का निश्चय किया गया। यही तिथि बंगाल के नव-वर्ष की प्रथम तिथि भी होती है। यों भी उस दिन हम लोग गुरुदेव को प्रणाम करने जाया करते थे और गुरुदेव भी उस दिन कुछ न कुछ उपदेश अवश्य करते थे। अब दोनों उत्सव एक ही दिन मनाये जाने लगे। आश्रम में वही परम्परा आज तक चली आती है। वस्तुतः यह जन्मदिन का उत्सव न होकर जन्ममास का उत्सव है। १४ अप्रैल को गुरुदेव का उत्सव मनाना अब शान्तिनिकेतन में रूढ़ हो गया है। परन्तु यह नहीं समझना चाहिए कि आश्रमवासियों ने ८ मई या २५ वैशाख को एकदम भुला दिया है। ग्रीष्मावकाश के बाद भी जो लोग आश्रम में रह जाया करते हैं वे उस दिन भी उत्सव मना लेते हैं। मैं प्रायः सभी ऐसे उत्सवों में उपस्थित रहता आया हूँ। कभी-कभी तो इस दूसरे उत्सव का पौरोहित्य भी मुझे ही करना पड़ता था। आज सोचता हूँ तो आँखों में बरबस आँसू आ जाते हैं। कितना बड़ा सौभाग्य था। रवीन्द्रनाथ के जन्मोत्सव का पौरोहित्य। उस दिन गुरुदेव शुभ्र कौशेय वस्त्र की धोती पहनते थे कौशेय वस्त्र का लंबा कुर्ता और उसी की सुन्दर चादर। उस देव-मनोहर शरीर पर ये वस्त्र इतने सुन्दर

लगते थे कि क्या बताऊँ। उन बड़ी-बड़ी प्रेमपूर्ण आँखों की जब याद आती है तो हूक-सी उठती है। आज हम उनका चित्र रख कर उनका जन्मोत्सव मनाते हैं, उनके विषय में व्याख्यान सुना करते हैं। कितना बड़ा भाग्य-विपर्यय है।

आँखिन में जो सदा रहते तिनकी यह कान कहानी सुन्यों करैं।

मुझे यह छवि बिल्कुल प्रत्यक्ष सी दिखाई देती है। गुरुदेव उत्सव-स्थल पर पधारते थे। शंखध्वनि से वायुमण्डल मुखरित हो उठता था। मैं वेदमंत्रों से गुरुदेव का स्वागत करता था, आचार्य नन्दलाल बोस और उनके शिष्यों द्वारा रचित मनोहर चित्रों से सजा हुआ सभा-स्थल मांगल्य-गान से गूँज उठता था और गुरुदेव स्मित हास्य से आसन ग्रहण करते। उनकी उपस्थिति में अपूर्व परिपूर्णता थी। जहाँ वे उपस्थित होते वहाँ सब कुछ भरा-भरा लगता। जब 'शतकाण्डो दुश्च्यवनो' मन्त्र के पाठ के बाद उनके हाथों में दूर्वादिल बाँधता तो वे बड़े स्नेह से हाथ बढ़ा देते।.... मेरा यह परम सौभाग्य आज विलुप्त हो गया है। जैसे एक मधुर स्वप्न हो। जन्मोत्सवों में अब भी उपस्थित होता हूँ पर अब वे हाथ नहीं मिलते जिनमें दूर्वादिल बाँधकर उनके शतायु होने की प्रार्थना कर सकूँ।

आश्रम में जितने उत्सव होते थे उनमें गान और वेद-मंत्रों का प्राधान्य रहता था। गान गुरुदेव के रचे हुए होते थे, सुर भी उन्हीं के दिये रहते थे, सिर्फ गाने वाले आश्रम के वे लोग होते थे जिनमें गा सकने की क्षमता होती थी। आचार्य क्षितिमोहन सेन वेद-मन्त्रों का चुनाव करते थे। मैं सन् १९३० के नवम्बर में शान्ति-निकेतन प्रथम बार गया था। १९३१ के वैशाख में ८ मई को मैं गुरुदेव के जन्मोत्सव में प्रथम बार सम्मिलित हुआ। इस बार उनका सतरवाँ जन्मदिन था। इसीलिये धूम भी बहुत थी। आचार्य सेन ने उसी बार मुझे और अन्य कई अध्यापकों और विद्यार्थियों से वेद-मन्त्रों का पाठ कराया था। और लोग तो नाना स्थानों में चले गये पर मैं तभी से आचार्य जी के सहकारी के तौर पर उत्सवों में वेद-मन्त्रों का पाठ करने लगा। उनकी अनुपस्थिति में मुझे प्रधान पुरोहित का भी काम करना पड़ता। गुरुदेव उत्सव के अनुरूप वेद-मन्त्रों के चुनाव में बहुत रस लेते थे। वे प्रत्येक मन्त्र और गान को स्वयं देख लेते थे। आवश्यकता पड़ने पर मन्त्रों के अनुवाद की भाषा का सुधार भी करते थे। प्रत्येक छोटे से छोटे काम को वे बहुत गंभीरतापूर्वक देखते थे। परन्तु उस संपूर्ण गंभीरता में एक प्रकार का सहज भाव बना रहता था। यह सहज गंभीर भाव उनकी अपनी विशेषता थी। इसी ने शान्ति-निकेतन के प्रत्येक कार्य को इतना सुरुचिपूर्ण बना दिया है।

मार्मिक विनोद गुरुदेव की विशेषता थी।

एक बार गुरुदेव ने एक विशेष उत्सव के लिये मन्त्र चुनने का भार भी मुझे दिया था। उन दिनों आचार्य सेन आश्रम में उपस्थित नहीं थे। उत्सव की बात गुरुदेव के मन में आई और तुरन्त उनका आदमी मेरे पास पहुँचा। उत्सव के अवसर पर वे बालक की तरह प्रसन्न हो उठते थे। मेरे पास जब उनका आदमी पहुँचा तो मुश्किल से उस समय सूर्योदय हुआ होगा। मैं कुछ नहीं समझ पाया कि गुरुदेव ने क्यों बुला भेजा है। दौड़ा-दौड़ा गया। गुरुदेव

बड़े प्रसन्न थे। उन्होंने बताया कि अमुक दिन को मेरे मन में अमुक उत्सव की बात आई है। इस बार मन्त्र तुम्हें ही चुनने पड़ेंगे, तुम्हें ही पढ़ने पड़ेंगे। फिर जरा विनोद के स्वर में बोले ... तुम मेरे प्रतिद्वंदी बनना चाहते हो, यह नहीं हो सकेगा। एक क्षण के लिए मैं समझ नहीं सका कि उनका आशय क्या है, परन्तु उनका चेहरा तब तक स्मित-दीप्त हो चुका था। उन दिनों मैंने भी दाढ़ी बढ़ा ली थी। शायद वह अच्छी नहीं दीखती थी। कम से कम कवि की आँखों में स्थान पाने योग्य तो वह नहीं ही थी। गुरुदेव का इशारा उसी ओर था। बोले, वेद पढ़वाता हूँ तो चेहरा भी वेद पढ़ने वाले का चाहता हूँ। और फिर हँसते हुए बोले आज कल यह बड़ा खतरनाक है। बच के रहा करो।

मैंने वेद-मंत्र चुने। उसका बँगला अनुवाद भी लिखा और गुरुदेव के पास ले गया। थोड़े में रीझना गुरुदेव को ही आता था। एकदम भोलानाथ। मेरे मन्त्रों की उन्होंने खूब प्रशंसा की। अनवाद की भाषा की भी प्रशंसा की। यद्यपि प्रेस में जाते-जाते वह भाषा एकदम बदल गई थी। छपी प्रति मुझे देते हुए बोले--बंगला अनुवाद थोड़ा बदल दिया है। देख लो। उनका मूल शब्द था 'एकटू'। उस 'एकटू' के पीछे कितना स्नेह था। गुरुदेव ने सोचा होगा कि कहीं इसे ऐसा न लगे कि बँगला मुझसे बहुत गलत लिख गई थी। इसीलिए उन्हें ऐसा कह देना आवश्यक जान पड़ा। मैं कृतकृत्य हो गया। जरा-जरा सी गलतियों पर विद्यार्थियों को झिड़क देने वाले अध्यापक क्या जानते हैं कि वे मनुष्य के भावी निर्माण में कितनी बाधा पहुँचा रहे हैं।

मैंने गुरुदेव से परिचय हो जाने के कुछ बाद से ही हिन्दी में उनकी कविताओं के विषय में लिखना शुरू किया। मैं ही जानता हूँ कि इन लेखों में कितनी त्रुटियाँ थीं। मेरे इन लेखों की कटिंग्स को एक बार आचार्य सेन ने गुरुदेव को दिया। उन्होंने उसे रख लिया। अपने अत्यन्त व्यस्त कार्यक्रम के भीतर भी उन्होंने उन बालप्रयत्नों को देखने का समय निकाल लिया और जब मैं कई दिन बाद उनसे मिला तो बहुत ही उत्साहवर्धक शब्दों में उन्होंने कहा''बहुत अच्छा लिखा है तुमने। मुझे यह प्रसन्नता है कि तुम पढ़ कर लिखते हो। फिर जरा विनोद के साथ बोले मुझे ऐसे समालोचक मिलते हैं जो बिना पढ़े ही लिख मारते हैं। फिर थोड़ा रुक कर किसी पुरानी बात को याद करते हुए बोले--बिना पढ़े जो आलोचना लिखी जाती है वह जमती खूब है। और हँस पड़े। मैंने निस्संदेह समझा कि यह उत्साह देने के उद्देश्य से कहे हुये वाक्य हैं। अपनी त्रुटियों का मुझे बराबर ज्ञान बना रहता है, उस समय भी था। परन्तु वे दो-चार वाक्य मेरे लिये कितने महत्त्वपूर्ण थे यह कोई भी सहृदय आसानी से समझ सकता है। एक दिन एक साहित्यिक ने अपने विषय में बड़े दर्द के साथ कहा कि मैं लड़कों को बढ़ावा नहीं देता, सस्ता बनना बहुत अच्छी बात नहीं है। तो मुझे रवीन्द्रनाथ की वह बात याद आ गई। वर्द्धिष्णु युवकों को प्यारपूर्वक उत्साहित कर देना सस्ता बनना है। और यदि सस्ता बनना ही है तो महँगा बनना क्या बहुत बड़ी बात है।

उनके पास जाने से बराबर यह अनुभव होता था कि मैं छिन्न-वृन्त तूल-खंड की भाँति व्यर्थ ही इधर-उधर मारे-मारे फिरने के लिये नहीं बना हूँ। छोटे से छोटे

जीवन की भी अपनी चरितार्थता है। एक भी ऐसा अवसर स्मरण नहीं जब उनके पास से हताश होकर लौटा होऊँ। कभी-कभी तो बढ़ावा देने के लिए वे अपने घर पर खींच ले जाते थे। कहते -- देखो, मैं भी पहले तुम्हारी ही तरह इन बातों से घबराता था। मानों व और मैं एक ही स्तर के मनुष्य हों, मानों उनमें और मुझमें केवल इतना ही अन्तर था कि वे कुछ पहले दुनिया में आ गये थे और मैं कुछ बाद।

साधारण से साधारण बातचीत में भी वे कभी नीचे नहीं उतरते थे। उनके प्रत्येक वाक्य में उनके महिमामय व्यक्तित्व की छाप रहती थी। पर साधारण से साधारण विद्यार्थी को भी वह महिमा बोझ नहीं मालूम होती थी। मनुष्य की महिमा के वे प्रचारक थे और प्रत्येक मनुष्य में उसके महिमामय रूप को वे पहचान लेते थे। साधारण औरतों, बालकों, नौकरों तक में उस महिमा का साक्षात्कार उन्हें मिल जाता था और यही कारण है कि वे सच के अविसंवादी स्वजन थे। प्रत्येक बालक उन्हें उतना ही निकट का समझता था जितना कोई उनके घर का या परिवार का आदमी। वे हृदय उड़ेल कर स्नेह दे सकते थे और दूसरों का सर्वोत्तम पा भी सकते थे। उनका व्यक्तित्त्व अपूर्व था····सब प्रकार से अपूर्व।

इस समय मेरे मन में सौ-सौ बातें आ रही हैं। समझ में नहीं आता किसे सुनाऊँ। जो बात सबसे अधिक मन में आती है वह यही कि महान् गुरु का शिष्य होना बड़े सौभाग्य की बात है। शान्ति-निकेतन से जो लोग कीर्त्तिमान हो कर निकले हैं उनके निर्माण में इस अपूर्व स्नेह का कितना बड़ा हाथ है यह बात वे सभी स्वीकार करेंगे। रवीन्द्रनाथ पारस थे। जो भी उनके सम्पर्क में आया वह धन्य हो गया। उन्होंने अपनी कई कविताओं में कहा है कि जब वे इस दुनिया में न रहें तो शोक नहीं मनाना, इस दुनिया के लता, फूल, पेड़, पौधे सब के भीतर वे बने रहेंगे। मृत्यु के कुछ दिन पूर्व उन्होंने एक कविता लिखी थी--जब मैं इस मर्त्यकाया में न रहूँ। मूल कविता बंगला में है। उसके आरम्भ की दो-तीन पंक्तियों का हिन्दी भाषान्तर सुना देता हूँ। आज इन पंक्तियों की स्मृति और भी हृदय में कचोट उत्पन्न कर रही है। कविता की आरंभिक पंक्तियाँ इस प्रकार हैं।

"जब मैं इस मर्त्यकाया में न रहूँ, इस क्षण-भंगुर देह को छोड़ जाऊँ

उस समय मुझे याद करने की यदि तुम्हारी इच्छा हो तो तुम इस निभृत शान्त छाया में आ जाना जहाँ यह चैत्र का शाल-वन खिला हुआ है।"

इस कविता की अन्तिम पंक्तियाँ इस प्रकार हैं:--

तुम्हें यदि कभी मुझे स्मरण करने की इच्छा हो तो देखो, सभा न बुलाना, हुजूम न करना,

आ जाना इस छाया में जहाँ यह चैत्र का शाल-वन खिला हुआ है।"

रवीन्द्रनाथ चले गये। इस मर्त्यकाया को छोड़ कर निकल गये पर चैत्र का शाल-वन अब भी है। उसी मस्ती के साथ खिला हुआ।

—ऑल इंडिया रेडियो के सौजन्य से

हस्तलिखित प्राचीन पोथियों का संग्रह : विवरण-पत्र*

सम्पादक--डाक्टर धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री

[गतांक से आगे]

[३०] **भक्तमाल**--ग्रंथकार--श्रीनाभा जी। लिपिकार--श्री भीष्मदास जी। अवस्था-अच्छी है। प्राचीन, हाथ का बना, देशी कागज। पृष्ठ--९३। प्र० पृ० पं० लगभग २६। आकार--। लिपि--नागरी। रचनाकाल--×। लिपिकाल--कार्त्तिक, शुक्ल, ३ तृतीया, सं० १९३४, (सन् १८७७) गुरुवार।

प्रारंभ--श्री गणेशायनमः ।। अथ श्री भक्तमालटीका सहीत लिष्यते ।। टीका करता को मंगलाचरण ।।

कवित्त ।। महाप्रभु कृस्नचैतन्यमनहरन जू के चरन को ध्यान मेरे नाम मुख गाईये ।।
ताही समै ना भाजू मै आग्या दई लई धारि टीका विस्तार भक्तमाल कौ सुनाईये ।।
कीजिये कवित्तवंध छंद अति प्यारो लगै जगै जगमाही कहवानी विरमाईये ।।
जानौ निज मति ऐपै सुन्यौ भागवत शकद्रुमुनि प्रवेस कियौ ऐसै ही कहाईये ।।
अथ टीका को नाम स्वरूपवरनन ।।

रचि कविताई सुषदाई लगै निपट सुहाई औ सचाई पुनिरुक्त लै मिटाई है ।।
अक्षर मधुरताई अनुप्रास जमुकाई अति छवि छाई मोद भरी सी लगाइ है ।।
काव्य की बड़ाई निज मुषन भलाई होत नाभाजू कहाई तातै पौटिक सुनाइ है ।।
हृदय सरसाइ जो पै सुनिलैं सदाइ यह भक्तिरस बोधनी सुनाम टीका गाइ है ।।

अन्त-- स्वारथ के साधवे कौ आनके अराधवे कौ दीननिके वाधिवे कौ दौरत नुमाय कौ ।।
कोमल कृपा लहइ संतनिकौ सदाचार दुर्जननुदारता सौवै वेरौ अलसाय कै ।।
आलसी आलाम सुषधाम रामचंद्र भूल्यौ उल्यौ भवसिंधमाहि फूल्यौ धन पाय कै ।।
करमी कुचाल लाल मालाहून तिलक भाल ऐसे भक्त मालहि कीजै कहलाय कै ।।६३२
नाभा स्वामी जू की अस्तुति ।।

छप्पै ।। नमो नमो महाराज नमो श्री नाभा स्वामी
गुन निधान सब जान काल त्रिये अंतरजामी
भक्तमाल सुष जालभक्ति रस अमृत भीनी
जक्त सिंधु कौ तरन परम नोका इह कीनी

*बिहार-राष्ट्र-भाषा-परिषद् (पटना) की ओर से, डा० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री के तत्त्वावधान में श्री रामनारायण शास्त्री बिहार-भर में ग्रन्थशोध करते हैं, जिसका विवरण, गतांक में दिया गया था, शेषांश यहाँ दिया जाता है, फिर आगे भी बराबर दिया जायगा।

—सम्पादक

भागौत धर्म सब कथन कौ चतुर वेद प्रगट्यौ मही ।।
जन लाल दास कै ग्रास यह चरन सरन राषो सही ।।६३३।।

दोहा--बार बार वंदन करूनाभा ग्राभा ग्रैन ।। कह्यौ गाभा वेद को भक्त माल सुष दैंन ।।१।।
इति श्री भक्तमाल मूल टीका सहित संपूर्ण समाप्त ।।१।।

वि०--भक्तिकाव्य ।

टि०--१--यह "भक्तमाल" सटीक है। टीका की शैली प्राचीन है। भाषा "रामचरित-मानस" से मिलती-जुलती है। यद्यपि पोथी के प्रारंभ या ग्रन्त में टीकाकार के नाम का स्पष्ट संकेत नहीं है, तथापि कुछ स्थानों से प्रगट होता है कि इसके टीकाकार "श्री लालच दास" जी हैं। इनके ग्रौर भी ग्रंथ हैं। उससे भाषा-साम्य है। ग्रंथ के ग्रंत में "जन लाल दास कै ग्रास" नाम की ग्रोर संकेत कर रहा है। इनके ग्रन्य ग्रंथों में भी नाम के लिए ये शब्द ग्राये हैं।

२--पोथी की लिपि प्राचीन है। शैली पुरानी होने के कारण ही ग्रस्पष्ट है। लिपिकार ने ग्रपने सम्बन्ध में लिखा है:--"ग्रंथ लिपि समाप्त कीया भीष्मदास स्वय पठनार्थे ।।१।। पछि देशहरिया नाहजहा रोट के षान ।दल्लिसर के ग्रग्रेहवषाना ग्राम सो जान कोसषोरस सोहै प्रमानतामधि बैठिकै ग्रंथ पूरा कीया भीष्म गुरुपदधरि ध्यान ।।१।। नष सीष षष्ट ग्रीम को लिषत भवो ग्रति कष्ट। मूरष हाथ न दिजीयो सप्त लिषौ सप्त ग्रष्ट ।।१।। संसतसो विनती मोरी छुटल ग्रक्षर लेव सब जोरी ।।

इससे लिपिकार के स्थान ग्रादि का संकेत मिलता है।

यह ग्रंथ श्री कबीर पंथी म० तेघड़ा, मुंगेर के प्रमुख साधु के सौजन्य से प्राप्त किया। ग्रंथ बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् के संग्रहालय में संग्रहीत है।

[३१] **भक्तमाल**--ग्रंथकार-श्री नाभास्वामी जी। लिपिकार--। ग्रवस्था--ग्रच्छी है। हाथ का बना, देशी कागज। पृष्ठ--१६। प्र० पृ० पं० लगभग--३०। ग्राकार--। लिपि--नागरी। रचनाकाल--×। लिपिकाल--×।

प्रारंभ--श्री सद्गुरु कबीर साहिबायनमः ।। बंदेहं श्रीगुरोः श्रीयुत् पदकमलं श्री गुरु-वैष्णवदास।
श्री रूपसाग्रजातंसहगणरघुनाथन्विदमतम् ।। तं सजीवं साहेतं सावधूतं परिजन-सहितं क्रुस्नचैतन्य देवं श्री राधाक्रुस्नपादनर सहगणललितान् श्री विसाखा-न्विताश्वम् ।।१।।
चेतोमृगैर्जनानां सततनगता श्री प्रियादासटीका गंधद्रव्यादिलेपाहारिभकैव्यंजनी समन्तात्। सानदासर्वशास्त्र ग्रवलिवकुलमोद्यानलता श्री नाभामालाकारेण क्रपा-चरतिहरिहृदि श्रीमतीभक्तिमालां ।।२।।
ग्रह्म ।। वंदोभक्त सुमाल लालिलाबिली मतनहरण ।। भेटत कठिन कराल भाल ग्रंकवद्गुजन्मके ।। बंदोतवधूरिगुण सागरनागरमह ।। क्रपा सजीव-निमूरिव्या-धिहरण करुणा भवन ।।१।।

रसिकनलोगभूपजोरिपान विनतिकरत ।। महाराजसुखस्वरूप भक्तमालहि विधि कह्यौ ।।

अन्त-- पद ।। मीठेमीठेचाषिवेरल्याईभीलनी ।। कौनसी अचार वरतीनही रंगरूप रतीजाति हू मै कुलहीनी बड़ी है कुचीलनी ।।

जूठे फल पाये राम सकुचे न भाव जानि तुमतौ प्रभु असी कीनी रस की रसीलनी कौनसी तुपस्या कीनी वैंकुंठ पदई दीनी विमान मैचठीजात अैसी है सुसीलनी ।। सांची प्रीतिकरै कोई दासमीरानुधरै सोई प्रीति ही सोतरि गई गोकुल की अहीरनी।।१।। एकादशे ।। -भक्तयाहमेकया ग्राह्य शुद्धयात्मा प्रियस्थितां ।। भक्तिं पुनातिमन्निष्टा-स्वपाकानपि संभवान् ।।१।।

वि०-- भक्तिकाव्य । दार्शनिक और साहित्यिक ।

टि०-- इस ग्रंथ में गीता, पुराण आदि के श्लोकों के उल्लेख द्वारा टीकाकार ने ग्रंथ के विषय की पुष्टि की है । ग्रंथ के मूल और टीका को प्रारंभ करने के पूर्व टीकाकार ने विभिन्न विषयों पर अपने मत दिये हैं । आत्मा के सम्बन्ध में पृ० ४ में--।। गीतायां ।। नैनं छिदति शस्त्राणि नैनं दहति पावक:

न चैनं क्लेदयंत्यापो न शोषयति मारुतः ।।१।। सो जीव नित्य है ।। पूरव अध्यास-चल्यौआवै हैइंदृयादिकन कोलयविक्षेप है परन्तु जीव को नही ।। त्रयकालत्रयावस्था-विषैअपरिछिन्न है याते ध्यान ।।"

टीकाकारने अपने विषय में पृ० ३ में लिखा है--"श्री अग्रनरायनदासप्रियाप्रिय-प्रगटी जीवन रसिकरसाल प्रभु ब्रह्मा पुनिविस्नुप्रभुसर्वज्ञमहेस रविशशिवरुण कुवेर शेष गणेश सुरेस ।।१।।

जाकी सत्ता पाय के सभही होत समर्थ अपने अपने दास के सकल समारत अर्थ जब जब राक्षस देत दुष काहूकीनवसाय ।। व्याकुल फिरत विहाल अति महाकष्ट को पाय ।।"

पोथी के टीकाकार श्री प्रियादासजी हैं । ग्रंथ अपूर्ण है । टीका के पूर्व भूमिका विस्तृत है । पोथी की भाषा अवधी और व्रज से मिलती जुलती है ।

२--पोथी के लिपिकार का नाम प्रारंभ या अन्त में नहीं है । लिपि की शैली प्राचीन और अस्पष्ट है । लिपिकार कोई कबीरपंथी वैष्णव साधु हैं । प्रारंभ में "सद्गुरु-कबीर" का नाम लिया गया है । टीका अच्छी है । "मा० लो०" यह संकेत मूल ग्रंथ के लिए है । ग्रंथ में उद्धरण, गीता, बामन पुराण और पद्म पुराण से दिया गया है । ग्रंथ के पृष्ठ--४ में "हनुमन्नाटक" का भी उद्धरण दिया गया है । ग्रंथ अनुसंधेय है ।

३--यह ग्रंथ श्री कबीर स्थान, तेघड़ा, मुंगेर से प्राप्त किया है ।
पोथी बिहार राष्ट्रभाषा-परिषद् के संग्रहालय में है ।

[३२] **आत्मबोध**--ग्रंथकार--श्री स्वामी शंकराचार्य । लिपिकार--×। अवस्था--अच्छी है, हाथ का बना देशी कागज । पृष्ठ १० । प्र० पृ० पं० लगभग--३५ । आकार-। लिपि--नागरी । भाषा-संस्कृत । रचनाकाल--× । लिपिकाल--× ।

प्रारंभ-(पतले अक्षरों में) ओं श्री गणेशायनमः श्री गुरवेनमः शतमखपूजितपादंशतपथमनसोगोचराकारं विकसितजलरुहनेत्रमुमाछायां कमाश्रये शंभुं १

इह भगवान खलु शंकराचार्यः उत्तमाधिकारिणं वेदांतप्रस्थानत्रयं निर्मायितदवलोकने समर्थानां मंदबुद्धीनां अनुग्रहार्थं सर्वं वेदांत सिद्धांतसंग्रहं आत्मबोधाख्यं प्रकरणं निर्दिदर्शयियुः तं प्रतिजानीते तपोभिरिति कृछ्रचांद्रायण नित्यनैतिक उपासना धनुष्ठानरूपैस्तपोभिः क्षीणानिपापानिरागाद्यंतः करणदोषा येषां ते नित्यनैमित्तिकैरेव कुर्वाणे दुरितक्षायमाप्नोतीति वचनात् अतएव शांतानाम क्षोभिताशयानां वीतरागिणां इहायुत्रार्थ फलभोगरहितानांमुमूक्षूणांसंसारग्रंथि भेदनेकृत प्रयत्नानां-यथोक्त साधन संपन्नानां अयमात्मबोधोभिदीतयते विधिमुखेनावश्यकतया प्रतिपाद्यत इत्यर्थः १

(मोटे अक्षरों में) ओं तपोभिः क्षीणपापानां शतनां वीतरागिणां मुमूक्षूणामपेक्ष्योय यात्मबोधोभिधीयते ।।१।।

बोधोहि साधनेभ्योहि साक्षात्मोक्षैक साधनं पाकस्य वह्निवत्ज्ञानं विनामोक्षो न सिध्यति ।।२।।

अविरोधितयाकर्म विद्यांत्विनिवतयेत् विद्याविद्यांनिहंत्येवतेजस्तिमिरसंघवत् ।।३।।

(पतले अक्षरों में) ननु तपोमंत्र कर्मयोगाधने कसाधनेषु सत् सुमोक्ष प्रतिबोध एव किमितिप्राधान्येनोच्यत इत्यत आह ।। बोधो इति तपोमंत्र कर्मयोगादिसाधनानि परंपश्याक्रमेण ज्ञान द्वारा मोक्षं साधयंति ज्ञानं तु स्वजन्म मात्रादेवा ज्ञानं निःशेष नाशयित्वामुमुक्षुंस्वराज्येऽभिषेचयति अतोन्यसाधनेभ्यो ज्ञानस्यप्राधान्य मुक्तं तदेव दृष्टांतेन दृढयति पाकस्येति यथालोके पाचन क्रियायाः काष्ठजलभांडादि साधनेषु सत्स्वपिवह्निविना पाको न सिध्यति तद्वत् ज्ञानं विना मोक्षो न सिध्यतीत्यर्थः ।।२।।

अन्त--(पतले अक्षरों में) पुनस्तद् ब्रह्म ज्ञानार्थं श्लोकत्रयेण पृथक्-पृथक् निरूपयति यदिति यद्वस्तु भासा अर्कादिभिर्भास्यते तत्द्भास्यै रर्कादिभिर्न भास्यते न तत्रसूर्योभाति न चंन्द्रतारकंनेमाविद्युतो यांति कुतो यामाग्निस्तमेवभात यनुभाति सर्वं यस्य भासा सर्वमिदं विभाति इति श्रुतेः येन सर्वमिदं भूतभौतिकं भावरूपं जगद्भातितद्ब्रह्मेत्यत वधारयेत् जानीयात् ६१।। तप्तापसः पिंडवत् स्वयमेववांतर्वहिर्त्यप्यभासयन्निखिलं ब्रह्म प्रकाशत इत्याह स्वयमिति स्वयमंतर्गतमितिस्पष्टार्थः ६२ पुनस्तदेवाहजगद्विलक्षणमितिसर्वं ब्रह्मैव सत्यं तथापि जगद्रूपेणपश्यति तदा न गृह्यते इत्याह जगद्वैलक्षण्येन तत्कार्यत्वेन विचार्य्यतच्चज्ञातुं शक्यं ब्रह्मणोत्पन्न विद्यते यदिततोन्यत् दृश्यते यत्किंचनतन्भृषैव मरुमरीचिका जलवदित्यर्थः ६३ पुनस्तदेव स्फुटं निरूपयति दृश्यत

इति चक्षुषा दृश्यते श्रोत्रेण श्रूयते यन्मनसास्मर्यते यच्चवाचा अभिधीयेतत्तत्त्व ज्ञानात्सर्वं ब्रह्मैव सच्चिदानंदमद्वयं ब्रह्मणोऽन्यन्न किंचिदस्तीत्यर्थः ।।६४।।

(मोटे अक्षरों में)

अतएव स्थूलमह्रस्वमदीर्घमजमत्ययं अरूप गुणवर्णाख्यं तद्ब्रह्मेत्यवधारयेत् ६०।।

पद्मासाभास्यतेर्कादिर्भास्यैर्यन्नावभास्यते येन सर्वमिदं याति तद्ब्रह्मेत्यवधारयेत् ६१।।

स्वयमंतर्गतं व्याप्यभासयन्निखिलं जगत् ब्रह्म प्रकाशतेवह्निप्रतप्तायसपिंडवत् ६२।।

जगद्विलक्षणं ब्रह्मब्रह्मणोन्यन्नकिंचन ब्रह्मान्यद्भातिचेन्मिथ्या यथा मरुमरीचिका ६३

दृश्यते श्रूयते यद्यद्ब्रह्मणोन्यन्नकिंचन तत्वज्ञानाच्चतद्ब्रह्म सच्चिदानंदमद्वयं ६४

सर्वगं सच्चिदात्मानं ज्ञानचक्षु निरीक्षते अज्ञान चक्षुर्नेक्षेत भास्वतं भानुमंधवत् ६५

स्मरणादिभिस्संदीप्तो ज्ञानाग्निपरितापितः जीवसर्वमलानमुक्तः स्वर्णवित् द्यौतयेत्स्वयं ६६

हृदार्कशोधितोह्मात्या वोधमानस्तमोपहत् । सर्वव्यापी सर्वधारी येन सर्वं प्रकाशते ६७

दिग्देश कालाद्यनपेक्ष्यं सर्वगं शीतादिभिन्नित्य सुखनिरंजनं

यः स्वालतीर्थं भजते विनिष्क्रियः ससर्ववित्सर्वगतो मृतो भवेत् ६९

(पतले अक्षरों में) ननु यदि सर्वगतं ब्रह्मततत्सर्वैः किंन पश्यत इत्याशंक्य चक्षुरादिभिर्नगृह्यत इत्येनयाश्रुत्या प्रतिपादयति न चक्षुषा गृह्यते नापिवाचा नान्यैर्देवैस्तपस्या कर्मणा वा ज्ञानप्रसादेन विश्रुद्धसत्वस्ततस्तुतं पश्यति निष्फलंध्याय मन इति सर्वगमिति यः सतज्ञानचक्षुः सर्वगतमपिसच्चिदानंदं ब्रह्म पश्यति यस्त्वा ज्ञानचक्षुः सन् पश्यति यथा प्रकाशमानमपिमनुं अंधो न पश्यति ज्ञानप्रसादेनचक्षुषा विशुद्धसत्वः निवृताविद्यः सदा सर्वत्र ब्रह्मैव पश्यति न चक्षुषा पश्यति कश्चिदेनं-हृदा ममीषामनसाभि क्रुस्नो मृतास्ते भवंतीति श्रुत्यापि तस्य प्रमाणतराविषयत्वम वद्यार्यतेत्यर्थः ६५ एवमुक्तरीत्यानुभवसंपन्नस्यापितदामासरहितस्य वासना वशात् किंचिदज्ञानं संभवति तत्परिहारार्थं पुनः स्मरणादि कुर्यादित्याह स्मरणादिति जीवः प्रत्यागात्मा एतत्प्रकरणार्थ स्मरणादिभिर्मननादिभिरुच्चैर्दीप्तः प्रकाशितः ज्ञानमेवाग्निस्तेन परितापितो भाति शोभते इत्यर्थः सर्वसंसारमूल-भूता ज्ञानमलान्युक्तः स्वयमेव सम्यक् प्रकाशते यथाग्निपरितापितः स्वर्ण-औपाधिकं उर्वणादिकं हित्वा स्वरूपेण प्रकाशते तद्वदित्यर्थः ६६ ।। एवं संशोधितो जीवं परमात्मा हृदयाकाशेनुदितः सन् तम अज्ञानमुपसंहरन् भानुवत्पूवस्वरूपः प्रकाशत इत्याह हृदिति -बोधएवमनुः सर्वस्याधारभूतत्वात्सर्वव्यापी सर्वधारी च शेषं स्पृष्टं ६७ न न्वात्मनोज्ञान प्रतिबंधक दुरितपरिहारार्थं प्रयागादि तीर्थ यस्रोद्योगः कर्तव्य इत्याशंक्या आत्मतीर्थस्नातस्य न किंचित्कर्तव्यमित्याह दिग्वेदेशेति यो विनिक्रियः परमहंसः स्वात्मतीर्थं भजते सर्ववित्सर्वज्ञः सर्वत्र परमात्मस्वरूपत्वात् अमृतोयुक्तो भवेत् कथंभूतं स्वात्मतीर्थं दिग्देशकालाद्यन-पेक्ष्यमेव सर्वगंशीतादि द्वंद्वदुःखानिहस्तीति शीतादिहृन्निप्यसुखं मोक्षानंदप्रायकत्वात् इतस्तीर्थेषु तद्विपरीतं द्रष्टव्यं तस्मादात्मतीर्थे स्नातस्य न किंचिदवशिष्यत इतिभावः ६९

इति श्रीमतपरमहंस परिव्राजकाचार्य्य गोविंदभगवत्पूजपादशिष्य श्रीमच्छंकराचार्य्य विरचितात्मबोध संपूरणम्

वि०—दार्शनिक।

टि०—१–यह ग्रंथ अनुसंधेय है। श्री शंकराचार्य के "आत्मबोध" की बड़ी ही विशद व्याख्या इस टीका में की गयी है। टीकाकार ने अपने सम्बन्ध में कुछ भी नहीं लिखा है। मूल ग्रंथ मोटे अक्षरों में, बीच में है। व्याख्या पतले अक्षरों में है। लिपिकार के नाम का भी ग्रंथ के प्रारंभ या अन्त में निर्देश नहीं है। लिपिकार कोई कबीरपंथी साधु प्रतीत होते हैं, यह पोथी के प्रारंभ में "गुरवेनमः से स्पष्ट होता है।

२–पोथी की समाप्ति के बाद ३ पृष्ठ का "तत्वबोध" नामक लघुकाय मूल ग्रंथ है। यह भी श्री शंकराचार्य जी का ही है। इसमें मोक्षप्राप्ति के साधन का समुल्लेख है। ग्रंथ ध्येय है। अन्त में "इति श्री तत्वसार संदीपनकर्मचिंतनम्" लिखा है।

३–लिपि की शैली प्राचीन और अस्पष्ट है।

यह ग्रंथ कबीरमठ, तेघड़ा, मुंगेर से प्राप्त किया। ग्रंथ बिहार राष्ट्रभाषा-परिषद् में संगृहीत है।

[३३] **सतनाम**—ग्रंथकार–×। लिपिकार–×। अवस्था–अच्छी। पृष्ठ–१८। प्र० पृ० पं० लगभग–१८। आकार– । लिपि–नागरी। रचनाकाल–×। लिपिकाल–×।

प्रारंभ—(पतले अ०) ज्ञनकार है जगत को भावी भुत व्रत तीनो अक्षर ते न्यारो न हिशहीये ही वात यौ प्रवान वेद मत को

ताहिते कहत है कवीर तीन अंक जोर मोर और कहैगते अगत को २

(मोटे अक्ष०) क ब्रह्मं अमीनामेषु।। विद्यमाणं विशिष्यते रमंते श्रवभुतानं। यत कवीरस्य उच्यते। ३

(पत० अक्ष०) टीका।। जल में कवीर यौर थल में कवीर पांच तत्त में वसे कवीर तीनि गुन में कवीर है।

विद्यमाण जान यौ बिसेसना है जन हेके से निसु दिन ज्यौ दृगन में नीर है

थावर औ जंगम जत जीव जगत मो है रह्यौ भरपुर जैसे जटित जजीर है

ताहिते कहत है कवीर तीनि यंक जोरि मोरि मोरि और हिलगावै ते अधीर है।।३।।

(मो० अक्ष०) मूल।। कः सुख सागोरो दाता।। बीज ज्ञान तथैव च रहितोआदि यंतेण। यत कवीरस्य उच्यते।।४।।

(प० अक्ष०) टीका। कहत ककार सुष सागर दातार यहै ध्यान को शयासागुर ज्ञान वीज वानी है

रटत रकार सोर हित आदि अंत मध्य कहत चहत जाकी अकथ कहानी है

गुगै कै सो गुर जोई षाये सोई स्वाद जानै चुप चाप होईक कक्ष वात ना वषा ी है।

ताहिते कहत है कवीर तीनी यंक जोरि मोरि मोरि औरही कहैगे ते अज्ञान्न है।।४।।

अन्त—मुल ।। (मोटें अक्षरों में) कपटस्या पटं क्षेत्रा ।। विचारो परमार्थकः। राग...
विनासश्च ।। यत कवीरस्य उच्यते ।।२६।।
(पतले अक्षरों में) टीका ।—कपट प्रछेदा ।।

सवते सिरे है पर सुन्य पर कर्न काज कारन ।। ककार सब जगणि शतार यह ।।
कहत बकार सो विचार करौ ।। वार वार जन जग माह जानौ मानौ सार शार यह ।।
राम राम रटवहे आठो जाम काम सोई सोई निजा नाम धाम धाम है रकार यह ।।
ताही ते कहत है कवीर तीणि अंक जोरि मोरि माषै ।। और नर्क निरधार यह ।।३४।।
(मोटे अक्षरों में) मूल ।। कमुदत्तीय जथा भावो ।। विमला चक्षुक्षियागती ।।
धारना सुभ लोकानां । यत कवीरस्य उच्यत ।।३५।।
(आगे के पृष्ठ फट गये हैं)

वि०—कबीरपंथ का दार्शनिक साहित्य ।

टि०—१–यह पुस्तिका अपूर्ण है। प्रारंभ और अन्त के पृष्ठ फट होने के कारण, ग्रंथ का नाम, ग्रंथकर्त्ता, लिपिकार और काल आदि के सम्बन्ध में ज्ञात नहीं होता है। ग्रंथ में 'ग्रंथ का नाम' भी नहीं है। अन्त के कुछ पृष्ठों पर "सतनाम" लिखा है। यह नाम उपयुक्त प्रतीत नहीं होता। इस में 'क' आदि वर्णों के आधार पर कबीर की स्तुति के प्रसंग में दार्शनिक, व्यवहारिक, प्रसंग है। मूल ग्रंथ संस्कृत श्लोक में है और उसकी टीका हिन्दी पद्य में। मूल श्लोक के प्रत्येक के पदान्त में "यत् कवीरस्य उच्यत" और हिन्दी पद्य के, प्रत्येक के अन्त में "तीनी अंक जोरि" आदि हैं। सभी ४५ पद हैं किन्तु पष्ठ २ से आरंभ होकर पृष्ठ १७ तक लगातार हैं और बीच के दो पृष्ठ नहीं हैं। २०वें पृष्ठ की दो पंक्तियाँ मात्र हैं।

२–पुस्तिका की लिपि स्पष्ट और सुन्दर है। लिपि-शैली, यद्यपि प्राचीन है, तथापि "व" "औ" "ब" क्रमशः अपने स्वरूप में ही लिखे गये हैं। 'खा' के लिए "ष" औ "ज" के लिए "य" तथा "य" के लिए 'य' के नीचे विन्दु देकर "य" लिखा गया है। किन्तु यहाँ शुद्ध रूप ही लिखा गया है।

३–यह पुस्तिका कवीरपंथी मठ, तेघरा, मुंगेर के एक साधु के सौजन्य से प्राप्त किया, पुस्तिका बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् के संग्रहालय में संगृहीत है।

[३४] ••ग्रंथकार—× । लिपिकार—प्रेमदास । अवस्था—अच्छी, बीच-बीच में फटा है। पृष्ठ—१५० । प्र० पृ० पं० लगभग—२८ । आकार— ।
लिपि—नागरी । रचनाकाल—× । लिपिकाल—× ।

प्रारंभ—।।मंगल।।

दिनन कहो दयाल भक्ति की पन करो ।। सरण आपकी लाज गई साहिब जिन करो ।।१।।
नउ द्वार विकार धारनौ का वगै ।। मेरी सुरति नहीं ठहराय लगन कैसे लगै ।।२।।
पांच तत्व गुन तीन का सावर सा जीया ।। जम राषै मिल माय तो फंदन फांदिया ।।३।।
त्रिगुण फांदि फंदी आप माया मद जाल में ।। भौ सागर के विच महा जंजाल मै ।।४।।

मोछ मुक्ति जब होय दया जन पै करौ ।। मेरो काटो कर्म विकार दास अपनौ करौ ।।५।।
साहेव-कवीरवंदि छोर अरज एक मानिय ।। हमसे पतीत उधारि सरन साहिब आनिये।।६ ।।

अन्त—।।टेक।।

मन करि घीत कायाकरि थाली ब्रह्म ज्ञान करि वाती पंच तत ले दीप गजोया वल अषय दिन राती ।।१।।
चित चंदन ओ ध्यान सुगंधन अनहद घंट बजाई अज पाधुनि भाव धरि भोजन मन सा भोग लगाई ।।२।।
चवर सुन अपख्यान गावना नावक पाट लगाई भीतर हरि पुजि पर मे सुर अतम पुहुप चढ़ाई ।।३।।
संष मृदंग गंग हर धुनि उपजै अनहर वाजै वीन ब्रह्मा विस्न महेस नारद सकल साध लोलीन ४
काल निकंदन सुर नर वंदन संतन पुरन अधार कहे कबीर भक्ति येक मागौ आवागमन निवारि ।।५।।

वि०-- कबीर साहित्य । दार्शनिक ।

टि०--१--पोथी के प्रारंभ या अन्त में पोथी का नाम नहीं दिया हुआ है । प्रतीत होता है— कबीर दास के अनेक ग्रंथों का इसमें लघुकाय, संक्षिप्त संग्रह है । इसमें साखी, रमैनी, मंगला, मंगलाविलास और सेहरा तथा होरी आदि है । रचना सुन्दर, हृद्य और दार्शनिक है । स्थान-स्थान पर निर्गुण, रहस्यवादी भावना का बड़ा ही गंभीर पुट है । यों तो प्रायः प्रत्येक पद्य के अन्त में "कहै कबीर" ऐसा लिखा है किन्तु पृष्ठ संख्या ३५ और ३६ में श्री धर्मदास जी का नाम आया है जो श्री संत कबीर साहब की ही शिष्य-परंपरा में से कोई सम्भव हों । "सतगुरु की सर्वत्र चर्चा है । ग्रंथ अनुसंधेय है ।

२--पोथी की लिपि प्राचीन और अस्पष्ट है । प्रारंभ के ७ पृष्ठ फटे हुए हैं और ८ से प्रारंभ होने पर भी दो पृष्ठ जीर्ण हैं । अन्त में भी पोथी अपूर्ण है । पृष्ठ सं० १०१ तक दी गयी है, बाद के ४६ पृष्ठों में सं० नहीं दी गयी है ।

३--यह पोथी श्री कबीरमठ, तेघड़ा, मुंगेर से प्राप्त किया । पोथी बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् में संगृहीत है ।

[३५] **श्रीमद्भगवद्भक्तिरत्नावलि**--ग्रंथकार--परमहंस विष्णुपुरी । लिपिकार—वैष्णव श्री प्रेमदास । अवस्था—अच्छी, प्राचीन, देशी कागज । पृष्ठ—१६ । प्र० पृ० पं० लगभग—३० । आकार— । लिपि—नागरी । रचनाकाल—फाल्गुन शुक्ल, २ द्वितीया, १३५५, शक सं०, मंगलवार । लिपिकाल—चैत्र,शुक्ल, ९ नवमी सं० १८६८, शनिवार ।

प्रारंभ--ॐ श्रीमते भगवन्म्विादित्यायनमः ।। ॐ ऊपक्रायंतु भूतानि पिशाचा सर्वतो दिश । सर्वेषामविरोधेनब्रह्मकर्मसमारयेत । अपसर्प्पंतु ये भूता ।। जे भूताभुमिसंस्थिता विघ्नकर्तारस्ते नश्यंतु शिवाज्ञया ।।

उों अपवित्रं पवित्रो वा सर्वावस्थांगतोपिवा ।। यः स्मरेत् पुंडरिकाक्षंसवाह्याभ्यांतर
- शुचिः ।।

उों पुंडरीकाक्षाय नमः । उों उोंकारस्य ब्रह्मा ऋषिः परमात्मा देवता गायत्री छंदः ।।
अभिषेके विनियोगः ।।

उों भूरादिमहाव्याहृतीनां प्रजापति ऋषिः ।। अग्निर्वायु सूर्यो देवता ।। गायत्री
त्रयष्टुपुछंदासि ।।

अथाभिषेक मंत्र ।। उों विष्णु विष्णु वाक् वाक् ।। प्राण प्राण ।। चक्षु चक्षु ।।
श्रोत्रं श्रोत्रं ।। नाभी हृदये ।। कंठ ।। शिर ।। शिखा । वाहुभ्यां ।। यशोवलं ।।
इति महाकाव्यं ।।

उों आत्म उपपातकदुरितक्षयार्थं ।। ब्रह्मा प्राप्त्यै प्रातसंध्योपासनमहं करिष्ये
तत्सवितुरिति प्रजापति ऋषिः सविता देवता गायत्री छंद ।। अभिषेके विनियोगः ।।
उों पुनातु । उों भूः पुनातु ।। उों भुवः पुनातु ।।

उों स्वः पुनातु ।। उों मह पुनातु ।। उों तपः पुनातु ।। उों सत्यं पुनातु ।। उों भूर्भुवः
स्व पुनातु ।।

उों तत्सवितुर्विरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहिधियो योनः प्रचोदयात् ।।
उों सर्व पुनातु ।। तत्र उदकं ग्रहित्वा ।। उों भूर्भुवः स्व रितिभूवः प्रक्षिपेत् ।।

अन्त०—— एकादशे उद्धववाक्यं भगवतं प्रति ।। तापत्रयेणाभिहितस्य घोरे संतप्यमानस्यभवाब्धिनीश ।।

पश्यामि नान्यक्षरणं तवांघ्रिद्वद्वातपत्रादमृताभिवर्षनात् ।।९।।

दशमे मुचुकुंदवाक्यं भगवतं प्रति ।। चिरमिह वृजिनर्तिस्तप्यमानोनुतापैरवितृस्य षड्मित्रोलब्धशांतिः कथंचित् ।।

शरणदशमुपेतस्त्वत्पदाब्जं परात्मन्न भयभृतमशोद्धं पाहिमापन्नमीशः ।।१०।।

वि०—— श्रीमद्भागवत का संक्षेप ।

टि०— ग्रंथकार श्री विष्णुपुरी जी ने ग्रंथ की समाप्ति पर निम्न शब्दों में अपना अभिप्राय प्रकट किया है ।

"विष्णुपुरीवाक्यं ।। एवं श्री श्रीरमणभवतायत्समुत्तेजितोहं चांचल्येवा सकलविषये सारनिर्द्धारणे वा ।।

आत्मप्रजाविभव सदृशैस्तत्र यत्तौर्यमेतैः ।। साकं भक्तै रगति सुगतेतुष्टि मे हित्वमेव ।।१।।

साधूनां स्वत एव संमतिरिह स्यादेव भक्त्यार्थिना मालोच्य ग्रथनश्रमंच च विदुषामस्मिन्यवेदातुरः ।।

ये केचित्परकृत्यपश्रुतिपरास्तानर्थ येमत्कृतिं मुयोषीक्ष्यवदंत्ववद्य मिहचेत्सावासनास्थास्यति ।।२।।

एष स्यामहमल्प बुद्धि विभावोप्ये कोपिकोपिध्रुवम् मध्ये भक्तजनस्य मत्कृतिरियं नस्यादवज्ञास्पदं ।।

किं विद्यासरघाः किमुज्वलकुला किं पौरुषाः किं गुणाः।। स्तत किं सुंदर मादरेण ससिकैर्नापीयतेतन्मधुः ।।१३।।

इत्येषा बहुयतनतः कृतवता श्री भक्ति रत्नावली तत्प्रीत्यैवतथैंवसं प्रकठितातत्कांति मालामयाः ।।

यत्र श्रीधरसंत मौक्ति लिखते नूनाधिकं यत् भूतं तत् क्षंतुं स्वधियोर्हथ स्वरचना लघ्वस्यमे चापलं ।।१४।।

२—ग्रंथकार ने ग्रंथ रचनाकाल और स्थान के सम्बन्ध में—"महायज्ञशर प्राणशशांके गुणते शके फाल्गुणे शुक्लं पक्षस्य द्वितीयायां सुमंगले ।।१५।।

वाराणस्यामहेशस्यसन्निधौहरिमंदिरे ।। भक्ति रत्नावली सिद्धा संहिता कांति-मालया ।।१६।।

इति श्रीमत्पुरुषोत्तमचरणारविंद कृपांमकरंदविंदुः प्रोन्मीलितविवेकतैर मुक्त परमहंस विष्णुपुरी ग्रीथीतायां श्री भागवतामृताधिलध्व श्री मद्भगवद्भक्तिरत्ना-वल्यां भगवतशरण नाम त्रयोदश विरचनं ।।१३।। संपूर्ण ।

शुभमस्तु मंगलं ।।" इससे प्रतीत होता है कि ग्रंथकार बनारस के निवासी थे ।

३—ग्रंथ की भाषा यत्र-तत्र ठीक नहीं है। व्याकरण की अशुद्धियाँ तो हैं ही साहित्यगत दोष भी हैं । यह ग्रंथ श्रीमद्भागवत के आधार पर लिखा गया है, जैसा कि ग्रंथकार ने स्वयं स्वीकार भी किया है । नारद, शुकदेव, ब्रह्मा, नारायण, व्यास और शुकदेव आदि के परस्पर वार्तालाप, प्रश्नोत्तर आदि के रूप में, दार्शनिक चर्चाएँ हैं । ग्रंथ अनुसंधेय है ।

४—लिपि प्राचीन और अस्पष्ट है । प्रतीत होता है ग्रंथ में विशेष अशुद्धियाँ लिपिकार के प्रमादवश हैं । ग्रंथ को समाप्त करते हुए लिपिकार ने लिखा है—"लिखितं वैष्णव श्री प्रेमदास ।। शेई पठितं ।। शन्संमत अठारस ।।१८।। अठासठ ।६८। चैत्रमासे शुक्ल पक्षे रामनवम्यां शनीवासरे । श्रीमते भगवन्निम्वाकार्य नमोनमः ।। श्री राधाकृष्णाभ्यां नमः ।।"

५—यह ग्रंथ श्री कवीरमठ, तेघड़ा, मुंगेर के साधुजी के सौजन्य से प्राप्त किया । ग्रंथ बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् में सुरक्षित है ।

[३६] **व्याकरण और छंद**—ग्रंथकार— × । अवस्था—अच्छी देशी कागज । पृष्ठ—१० । प्र० पृ० पं० लगभग २५ । आकार— । लिपि—नागरी । रचनाकाल—× । लिपिकाल— × ।

प्रारंभ—श्रीमते रामानुजाय नमः बंदे ब्रह्म शिवं वदे वंदे देवौ सरस्वती लक्ष्मी वंदे हरिवादे वन्दे सिद्धार्थ देवतां

सूत्रसप्तसतंयस्म ददौ साक्षात्सरस्वती अनुभूतिस्वरूपाय तस्मै श्री गुरवेनमः २

अल्पाक्षर मसंदिग्धं सारवद्विश्वतोमुखं अस्तोभ्यमनवद्यंच सूत्रं सूत्रविदो विदुः ३

संज्ञा च परिभाषा च विधिर्नियम एव च प्रतिषेधो विकारश्च षड्निधं सूत्र लक्षणं ४

अतिदेशोनुवादश्च विभाषाच निपातन एतच्चतुष्टयं शिक्षा दशेधाकैश्चिदुच्यते ५

अन्त--आर्योत्तरार्द्धतुल्यं प्रथमार्द्धमपि प्रयुक्तंचेत् कामिनि तामुपगीतिं प्रकाशयते महाकवयः ५
हे अमृतवाणि अमृद्वाणी यस्या सा अमृतवाणी तस्या संबोधने हे अमृतवाणि तदानीं तस्मिन्काले छंदोविदः छंदशास्त्र
वेत्तरः तांगीतिं भाषंते तदानीं कदा यत्र यस्मिन्काले आर्यापूर्वार्द्धसमपूर्वेच तदर्द्धंच पूर्वार्द्धं आर्याया
पूर्वार्द्धं त्रिंशत्मात्रकं ऽऽऽऽ।।ऽ।ऽ।।।।।।ऽ।।ऽ।।ऽ तेन समं तुल्यं द्वितीयमपि नुत्तरार्द्ध-यपिचेत्तं प्रयुक्तं भवति
ऽऽ।ऽऽऽऽऽ।।।ऽ।ऽऽऽ ४
हे कामिनि कामोस्या अस्यां वास्तीति कामिनी तत्संबोधने हे कामिनि महाकवस्ता-मुपगीति प्रकाशयंते कथयंति तांकां यत्र चेत् यदि अर्यातरार्द्धतुल्यं आर्यायाः यदुत्त-रार्द्ध सप्तविंशत्मात्रकं ऽ।।ऽ।।ऽऽ।ऽ।ऽऽ।ऽ।।ऽ तेनतुल्यं प्रथमामपि प्रयुक्त भवति
ऽऽ।ऽ।ऽऽ।।ऽ।।ऽ।ऽऽऽ ५ ।

वि०—१--इस ग्रंथ में श्री अनुभूतिस्वरूपाचार्य विरचित "सारस्वत व्याकरण" के सूत्रों की अपूर्ण सूची और अपूर्ण छन्द-संग्रह है। दोनों ग्रंथ अपूर्ण होने के कारण ग्रंथ का नाम और लिपिकार का नाम नहीं है। छंद-ग्रंथ सटीक है।

२—पोथी के साथ अन्त में १६ पृष्ठ में "गवाक्" शब्द के रूपों का विवरण दिया हुआ है, जो ग्रंथ से ही सम्बद्ध है। संक्षिप्त धातु पाठ भी है।

३--ग्रंथ की लिपि स्पष्ट नहीं है और प्राचीन है। ग्रंथ सोनपुर कबीरमठ से प्राप्त किया है। यह ग्रंथ राष्ट्रभाषा परिषद् के संग्रहालय में सुरक्षित है।

[३७] **युगलस्तोत्र**--ग्रंथकार–श्री भट्ट। लिपिकार– । अवस्था–अच्छी, प्राचीन देशी कागज। पृष्ठ–१०। प्र० पृ० पं० लगभग–२८। आकार–– । लिपि–नागरी। रचनाकाल–× । लिपिकाल–× ।

प्रारंभ—रागबिभास--

उठत भोर लालजू के संगतें कुंजकी कसत राधिकाप्यारी
खिसी खिसी परत नीलपट सिरतें सशीवदनी नव यौवनवारी
मनभावती लाल गिरिधरजू की रचिहैं विधाता सुहृथ संवारी
जै श्री भटसुरति रंग भीनें प्रीय सहित देखे निकुंज बिहारी ७
प्रात मुदित मिलि मंगल गावैं लाल लडंती कों सखी लडावैं
रहसिकेलिकहिहीयें भाई राधामाधव अधिक हिताई
प्रेम संभ्रमकें वचन सुनावैं सुंदरी हरिमुख दर्शन पावैं
भाल विशाल कमलदलनैंनी स्यामास्याम परम सुखवैंनी
जैं जैं शुरकरताल बजावैं गीतवाद्य सुचाल मिलावैं
हीयेंहाव भावलियें थाराररतिघृतज्योतिवात विहारा
तनमनमुक्ता चौक पुरावैं आरति श्री भट अमिट परचावैं ८

अन्त०--रागकेदारौ--

फूली कुमुदनी सरद सुहाई जमुनातीर धीर दोऊ विहरत कमल नील कट भाई
नील वरन स्यामा रुच कीनी अरुन वरन ता हरिमन भाई
श्री भट लपटी रहैं अंसनकर मानौं मरकतमीन कनक जाराई १०२
स्यामा स्यामपदपावै सोईगुरु संतति अति रीत जो होई नंद सुवन वृषभानु
सुतापद भजै तजै मन अति जोई
श्री भट अटकि रहैं स्वामिपन आनकं हे मनि सब छाई १०३

दोहा--श्री भट प्रगटित जुगलसत पढै कंठत्रिकाल जुलगकेलि अवलोंकसें मिटैं विषैजंजाल १०४

इति श्री युगल सत संपूर्णः

वि०— कृष्णभक्ति काव्य ।

टि०--१--इस ग्रंथ में कविवर श्री भट्ट ने राधा और कृष्ण के प्रेम का बड़ा ही आकर्षक और मनोरंजक वर्णन किया है। इसकी भाषा, ब्रजभाषा साहित्य से मिलती-जुलती है। ब्रज-भाषा के कवियों के समान ही, विभिन्न रागों में रचना की गयी है। एक राग के बाद दोहा का समावेश है। वर्णन बड़ा ही रोचक और हृद्य है। शैली सुन्दर है और भाषा प्रभावकारी है। ग्रंथ अनुसंधेय है। ग्रंथ के प्रारंभ के दो पृष्ठ फटे हुए हैं।

२--ग्रंथ की लिपि पुरानी और अस्पष्ट है।

३--यह ग्रंथ श्री कबीरमठ, सोनपुर के महंत जी के सौजन्य से प्राप्त किया। ग्रंथ राष्ट्रभाषा-परिषद् के संग्रहालय में संगृहीत है।

[३८] **गजेन्द्रस्तोत्रम्**--ग्रंथकार-×। लिपिकार-×। अवस्था-अच्छी, प्राचीन देशी कागज। पृष्ठ-६। प्र० पृ० पं० लगभग-२६। आकार- । लिपि--नागरी। रचनाकाल-×। लिपिकाल-×।

प्रारंभ०--श्रीमते रामानुजायनमः ।। मया हि देव देवस्य विष्णोरमिततेजसः ।। श्रुत्वा संभूतयः सर्वा गदतस्तव सुब्रत ।।१।।
यदि प्रसन्नो भगवान् ननु ग्राह्योस्मि वा यदि ।। तदहं श्रोतुमिच्छामिनृणां दुःस्वप्न-नाशनं ।।२।।
स्वप्ना हि सु महाभाग दृश्यंते ये शुभाशुभं ।। फलानि तत्प्रयच्छंति तद्गुणान्येव भार्गवः ।।३।।
तादृक् पुण्यं पवित्रं च नृणामतिशुभप्रदं ।। दुस्वप्नोश्च शमं याति तन्मे विस्तरतो वद ।।४।।
शौनक उवाच ।। इदमेव महाभाग पृष्ठवांस्ते पितामह ।। भीष्मं धर्मभृतां श्रेष्ठं-धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ।।५।।
युधिष्ठिर उवाच ।। जितं ते पुडरीकाक्ष नमस्ते विश्वभावन ।। नमस्तेस्तु हृषीकेश महापुरुष पुवजः ।।६।।
आद्यं पुरुषमीशानं पुरुहुतं पुरातनं ।। ऋतमेकाक्षरं ब्रह्म व्यक्ताव्यक्तं सनातन ।।७।।

अन्त०——य इदं शृणुयान्नित्यं प्रातरुत्थाय मानवः ।। प्रान्पुयात्परमं सिद्धि दुः स्वप्नं तस्य नश्यति ।।४०।।
गजेंद्रमोक्षणं पुण्यं सर्वपापप्रणाशनं ।। श्रावयेत्प्रातरुत्थाय दीर्घमायुखाप्नुयात् ।।४१।।
श्रुतेन हि कुरु श्रेष्ठ स्मृतेन कथितेन च।। गजेन्द्र मोक्षणंचैव सद्यः पापात्प्रयुच्यते।।४२।।
मया ते कथितं राजन् पवित्रं पापनाशनं ।। कीर्त्तयश्च महाबाहो गजेंद्रस्य महात्मनः ।।४३।।
चरितं पुण्य कर्माणि पुष्करं वद्धते यश ।। प्रीतिमा——

वि०——भक्ति (स्तोत्र) साहित्य।

टि०——१–यह पुस्तिका महाभारत से ली गयी प्रतीत होती है। इसके प्रारंभ या अन्त में ग्रंथकार, लिपिकार और समय आदि का निर्देश नहीं है।
२–ग्रंथ की लिपि प्राचीन और अस्पष्ट है। ग्रंथ सोनपुर, कबीरमठ के महंत जी की कृपा से प्राप्त किया है। ग्रंथ बिहार राष्ट्रभाषा-परिषद् के संग्रहालय में संगृहीत है।

हिंदी का साहित्यिक

कहते हैं, श्री और सरस्वती में परस्पर-विरोध है। सरस्वती को जो सच्च हृदय से अपना लेता है, वह जैसे जीवन-व्यापी अभाव को गले लगा लता है। यह नियम अँगरेजी आदि सम्पन्न भाषाओं पर भले ही लागू न हो, क्योंकि सुनते हैं, वहाँ अच्छे लेखकों को प्रति शब्द एक पौंड तक पुरस्कार मिलता है, पर हिन्दी पर पूर्णतया लागू है। हिन्दी ही नहीं; संस्कृत क कवि भी अभाव का रोना रोते-रोते चल गये। एक कवि ने तो यहाँ तक शिकायत की है कि पाणिनि ने समासों में से एक को 'अव्ययीभावः' नाम हम कवियों को लक्ष्य करके दिया है और 'बहुव्रीहि' धनवानों को लक्ष्य करके। हिन्दी के निर्माताओं की जीवनियाँ ध्यान-पूर्वक पढ़ जाइए, आपको अव्ययीभाव अपने विकराल रूप में सर्वत्र दिखाई देगा। भारतेन्दु जैसा सम्पन्न व्यक्ति भी नागरी के चक्कर में पड़ कर सब कुछ गँवा बैठा और अन्त में अव्ययीभाव से पीड़ित हो कर इस लोक से बिदा हुआ। प्रेमचन्द और चगताई जैसे उत्कृष्ट कहानी-लेखक भी यहाँ सम्पन्नता का स्पर्श न कर सके!

——सरस्वती, प्रयाग; मार्च १९५१ ई० (सम्पादकीय)

नेपाल-वंशावली

डॉक्टर देवसहाय त्रिवेद, इतिहास-शिरोमणि

[गतांक से आगे]

किरातवंश ने (गोकर्ण में) कलि पूर्व १२ से कलि संवत् ११०६ तक राज्य किया।

१. यलम्बर
२. पवि
३. स्कन्धर
४. अवलम्ब
५. धृति
६. हुमति – पाण्डवों के साथ वनवास किया।
७. जीवित ने महाभारत युद्ध में पाण्डवों का साथ दिया और खेत रहा। इसके राज्यकाल में शाक्यसिंह बुद्ध नेपाल आये।
८. गलि
९. पुष्क
१०. सुयर्म
११. पर्व
१२. वक
१३. स्वनन्द
१४. स्थुंक के राज्यकाल में पाटलिपुत्र का अशोक[१] नेपाल आया। अशोक की पुत्री चारुमती ने क्षत्रिय देवपाल का पाणिग्रहण किया। देवपाल ने पशुपतिनाथ के पास देवपाटन बसाया और वह नेपाल में रहने लगा।
१५. गिध्री
१६. नने
१७. चुक
१८. ठोर
१९. थोको
२०. वर्म
२१. गुज
२२. पुष्कर

१. यह अशुद्ध ज्ञात होता है। अशोक का काल कलि-संवत् १६१०-१६४६ है (जर्नल आफ इण्डियन हिस्ट्री, मद्रास, भाग १८ पृ० ५४) देखें।

२३. केसु
२४. शुक
२५. शंभु
२६. गुणन
२७. कंबु
२८. पटुक--इस ने शंखमूल तीर्थ में एक नया दुर्ग बनाया। इसके काल में सोमवंशी क्षत्रियों ने आक्रमण आरंभ किया।
२९. गस्ति यह सोमवंशी क्षत्रियों के बार-बार आक्रमण से निराश हो कर सिंहासन से भाग गया और ललितपाटन के समीप गोदावरी के तट पर फुलोच्छा में एक नया दुर्ग बनाया। इसके बाद सोमवंश का राज्यारम्भ हुआ। किरात वंश ने कुल १११८ वर्ष राज्य किया।

सोमवंश--इस वंश के पाँच राजाओं ने कुल २८३ वर्ष (कलि संवत् ११०६ से क. सं. १३८९ तक) राज्य किया।

१ निमिष
२ मीनाक्ष
३ काकवर्मा

४ पशुप्रेक्षदेव ने पशुपतिनाथमन्दिर का जीर्णोद्धार किया (कलि संवत् १२३४) तथा भारत से लोगों को बसने के लिए बुलवाया।

५ भास्कर वर्मा ने सारे भारत पर विजय प्राप्त की, देवपाटन का विस्तार किया, पशुपतिनाथ की पूजाविधि को ताम्रपत्र पर उत्कीर्ण करवा कर चारुमती विहार में सुरक्षित रखा तथा अपुत्र होने के कारण उसने सूर्यवंश के प्रथम राजा भूमिवर्मा को गोद लिया।

क्रम-संख्या	राज-नाम	भुक्त राज-वर्ष	सूर्यवंश कलिसंवत्
१	भूमिवर्मा	७	१३८९–१३९६–इसने बाणेश्वर को राजधानी बनाया।
२	चन्द्रवर्मा	६१	१३९६–१४५७
३	जयवर्मा	८२	१४५७–१५३९
४	वर्षवर्मा	६१	१५३९–१६००
५	सर्ववर्मा	७८	१६००–१६७९
६	पृथ्वीवर्मा	७६	१६७९–१७५५
७	ज्येष्ठवर्मा	७५	१७५५–१८३०
८	हरिवर्मा	७६	१८३०–१९०६
९	कुबेरवर्मा	८८	१९०६–१९९४
१०	सिद्धिवर्मा	८१	१९९४–२०७५
११	हरिदत्तवर्मा	८१	२०७५–२१५६–इसने नीलकंठ में जलशयन मन्दिर बनाया।
१२	वसुदत्तवर्मा	६३	२१५६–२२१९

१३	यति वर्मा	५३	२२१९–२२७२
१४	शिववृद्धि वर्मा	५४	२२७२–२३२६
१५	वसंत वर्मा	६१	२३२६–२३८७
१६	शिव वर्मा	६२	२३८७–२४४९
१७	रुद्रदेव वर्मा	६६	२४४९–२५१५
१८	वृषदेव वर्मा	६१	२५१५–२५७६––इसके राज्यकाल में दक्षिण
१९	शंकर वर्मा	६५	२५७६–२६४१ से शंकराचार्य ने आ कर बौद्धों
२०	धर्मदेव वर्मा	५९	२६४१–२७०० का विनाश किया। शंकर की
२१	मानदेव वर्मा	४९	२७००–२७४९ गति कलि संवत् २५९३ में
२२	यहीदेव वर्मा	५१	२७४९–२८०० हुई और ३२ वर्ष की अवस्था में
२३	वसंतदेव वर्मा	१६	२८००–२८१६ चल बसे।
२४	उदयदेव वर्मा	२५	२८१६–२८४१
२५	मानदेव	२५	२८४१–२८६६
२६	गुणकामदेव वर्मा	२०	२९६६–२८८६
२७	शिवदेव वर्मा	२१	२८८६–२९०७–इसने शाक्त पद्धति को पुनर्जी-
२८	नरेन्द्रदेव वर्मा	२२	२९०७–२९२९ वित किया। देवपाटन को
२९	भीमदव वर्मा	१६	२९२९–२९४५ राजधानी बनाया तथा संन्यासी
३०	विष्णुदेव वर्मा	२७	२९४५–२९७२ हो गया।
३१	विश्वदेव वर्मा	२८	२९७२–३०००–इसकी कन्या का पाणिपीडन अंशुवर्मा ने किया।

ठाकुरी वंश

१	अंशुवर्मा	६८	३०००–३०६८––इसके राज्यकाल में विक्रमा-
२	कृतवर्मा	८७	३०६८–३१५५ दित्य ने आ कर संवत् का
३	भीमार्जुन	९३	३१५५–३२४८ प्रचार किया।
४	नन्ददेव	५२	३२४८–३३००
५	वीरदेव	९५	३३००–३३९५
६	चन्द्रकेतुदेव		
७	नरेन्द्रदेव		
८	वरदेव		
९	शंकरदेव	१२	इसके राज्यकाल में अवलोकितेश्वर नेपाल
१०	बर्द्धमानदेव	१३	आए।
११	वलिदेव	१३	
१२	जयदेव	१५	१ ० २ ६ ३

१ अतीत कलिवर्षेषु शुन्य द्वन्द्व रसाग्निषु। नेपाले विजयते श्रीमान् आर्यावलोकितेश्वरः॥ ३६२० क० सं० में अवलोकितेश्वर नेपाल आये।

१३	बालार्जुनदेव	१७	
१४	विक्रमदेव	१२	
१५	गुणकामदेव	५१	—इसने व्याघ्रमती और विष्णुमती नदियों के संगम पर कलि-संवत् ३८२४ में कान्तिपुर (काष्ठमाण्डु) बनाया।
१६	भोजदेव	८	
१७	लक्ष्मीकामदेव	२२	
१८	जयकामदेव	२०	अपुत्र

नवाकोट का ठाकुरी वंश

१	भास्कर देव	
२	बलदेव	
३	पद्मदव	
४	नागार्जुनदेव	
५	शंकरदेव	—इसने नेपाल संवत् २४५ में प्रज्ञा-पारमिता को स्वर्णाक्षरों में लिखवाया।

द्वितीय ठाकुरी वंश

१	वामदेव		
२	हर्षदेव		
३	सदाशिवदेव		—इसने क० सं० ३८५१ में पशुतिनाथ मंदिर को स्वर्ण-छत्र चढ़ाया।
४	मानदेव	१०	
५	नरसिंहदेव	२२	
६	नन्ददेव	२१	
७	रुद्रदव	७	
८	मित्रदेव	१६	
९	अरिदेव	२१	
१०	अभयमल्ल	२२	
११	जयदेवमल्ल	१०	—कलिसंवत् ३९८२ में नेवारीसंवत चलाया।
१२	आनन्दमल्ल	२५	—भक्तपुर बसाया जिसे 'भातगाँव' भी कहते हैं।

जयदेव और आनन्दमल्ल भाई थे। दोनों दो स्थानों पर राज्य करते थे। इनके समय में कर्णाटक से नान्यदेव ने आक्रमण किया, और श्रावण-शुल्क ७ कलि-संवत् ३९९१ में सारे नेपाल पर अधिकार कर लिया, तथा दोनों मल्लों को तिरहुत भगा दिया ध्यान रहे, नान्यदेव का मिथिला में राज्या रोहणकाल शक संवत् १०१९ या कलि-संवत् ४१९८ माना जाता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि नेपाल में कुल १०० राजाओं ने मिल कर ४००२ वर्ष राज्य किया। इसका मध्यमान प्रति राज्य ४० वर्ष होता है।

———

संकलन

कन्नड़ साहित्य

हमारे भारतीय विधान ने केवल चौदह भाषाओं की ही गणना की है, जिनमें संस्कृत भी एक है। इन भाषाओं में कन्नड़ का भी एक विशेष स्थान है। यह भाषा लगभग एक कोटि अस्सी लाख लोगों द्वारा बोली और समझी जाती है। संपर्ण मैसूर स्टेट, दक्षिणी कानड़ा, मद्रास के बेलारी और कुर्ग जिले, धारवार, बीजापुर, बेलगाम, बंबई प्रान्त का उत्तरी कानड़ा, हदराबाद के रायचूर, गुलवर्गा और बीदर जिले--वह सारा भू-भाग है, जहाँ कन्नड़ जनता निवास करती है और कन्नड़ भाषा का साम्राज्य है। भाषाविदों का कहना है कि काडगु, तुलू, बडंगा, कुरूँबा, गोलरी, कुरखा-गवली, टोडा, कोटा आदि कन्नड़ की ही बोलियाँ हैं जो आज भी कर्नाटक के कुछ हिस्सों में बोली जाती हैं और जिनके बोलनेवालों की संख्या लगभग ५ लाख है। समग्र भारतीय भाषाएँ या तो संस्कृत-कुल की हैं जिसे इंडो-युरोपियन कुल भी कहते हैं अथवा द्रविडियन कुल की। कन्नड़ द्रविड़-कुल की है और तामिल, तेलगू और मलयालम उसकी भाषा-भगिनियाँ हैं और दक्षिण भारत के विभिन्न भागों में बोली जाती हैं। कन्नड़ की अपनी लिपि है जो ध्वनि-मूलक है और दक्षिण-भारतीय लिपियों में उससे तलगू विशेष मिलती-जुलती है। समस्त भारतीय लिपियों की तरह इसका उद्‌गम भी ब्राह्मी लिपि से है। इसकी वर्णमाला में भी उतने ही अक्षर हैं जितने देवनागरी में हैं, केवल दो स्वर और दो व्यंजन इसमें अधिक हैं। यह रेखाओं, वृत्तों और पुछल्लों में लिखी जाती है और बहुत कलापूर्ण है। कन्नड़ भाषा के प्राचीनतम उदाहरण ईसा की दूसरी शताब्दी के किसी ग्रीक-ड्रामा में पाये जाते हैं जो मिस्र के ऑक्सी-हिंचस में भोजपत्र पर लिखे पाये गये हैं। लिखित कन्नड़ का सर्व-प्रथम उदाहरण १६१ ई० का खुदा एक प्रस्तर-शिलालेख माना जाता है।

सबसे प्राचीन पुस्तक जो आज उपलब्ध है वह काव्य-शास्त्र पर है। यह "कविराज-मार्ग" ग्रंथ नृप तुंग अमोघवर्ष नामक राष्ट्रकूट राजा का लिखा माना जाता है, जो सन् ८१४ से ८७७ ई० में हैदराबाद के मालखेड नगर का राजा था। इस पुस्तक में अनेक प्राचीन कवियों तथा गद्यलेखकों का उल्लेख है और उनमें से अनेक की सूक्तियाँ इसमें दी हुई हैं। विमलोदय, नागार्जुन, जयबंधु, दुर्विनीत आदि गद्यलेखकों का उल्लेख लेखक ने किया है। वड़ारधन कन्नड़ का प्राचीनतम गद्य ग्रंथ है जिसमें १९ जैन कथायें हैं और जो छठी शताब्दी का लिखा माना जाता है। इसकी शैली बहुत प्रसादपूर्ण तथा व्याकरण-शुद्ध है। दूसरा गद्यग्रंथ "त्रिषष्ठ लक्षण पुराण" है जो लगभग ९७५ ई० का लिखा माना जाता है। इसके लेखक चामुंडराज हैं।

वह प्रदेश जिसमें कन्नड़ लोग रहते हैं एक विविधता-पूर्ण भू-भाग है और सुन्दर तथा छविमय है। चावल के खेत, सुपारियों के बगीचे, कोयल की सुरीली तान, मीठे

रसमय फल, झीलें और पोखर, विविध रंग-बिरंगे कमल--कन्नड कवियों-द्वारा इन सब का बहुत मधुर वर्णन किया जाता है। उसका अपना समुद्री किनारा है जो लगभग २५० मील लंबा है और इसी से लगा किनारे का लंबा तटवर्त्ती प्रदेश है, जो सम्पूर्ण वर्ष, बड़े-बड़े नारियल के वृक्ष, सुघर कदली वृक्ष तथा विविध जंगल आदि से हराभरा बना रहता है। और ज्यों-ज्यों हम अंदर की ओर अग्रसर होते हैं हमें वह विस्तृत भू-भाग मिलता है जिसे पश्चिमी घाट कहते हैं, जो घने और ऊंचे जंगलों का पहाड़ी प्रदेश है और जहाँ पहाड़ों की ऊँचाई कहीं-कहीं समुद्र सतह से ५ हजार फीट से भी अधिक है। इसके बाद ही एक उच्चतम भू-प्रदेश है जो लगभग दो-तीन हजार फीट ऊँचाई पर है जिस पर अनेक विस्तृत उपजाऊ मैदान हैं और जहाँ अनेक छोटी-छोटी नदियाँ एवं जल-प्रवाह फैले हैं।

क्या स्थापत्य-कला और क्या शिल्पकला सबमें कर्नाटक अपने पड़ोसी प्रान्तों की प्रगति से किसी प्रकार पिछड़ा न रहा। नृत्य एवं संगीत तो सदा से इस प्रान्त में मंदिर-पूजा का एक विशेष अंग ही रहा है। भारतीय संगीत-कला के विकास में कर्नाटक के संगीतकारों ने एक महत्त्वपूर्ण योग दिया है। अध्यात्म और तत्त्वज्ञान को लें तो इसे पंचाचार्यों में से एक आचार्य मध्वाचार्य की जन्मभूमि होने का सौभाग्य प्राप्त है जिन्होंने ११ वीं शताब्दी में द्वैत-सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। ८ वीं शताब्दि के प्रारंभ में श्रीशंकराचार्य ने अपना प्रधान मठ कर्नाटक-शृंगेरी में स्थापित किया था, जो शंकराचार्य का दक्षिण-भारत में प्रसिद्ध एवं सबसे बड़ा मठ है। इस प्रकार इस भौतिक एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि पर कन्नड़ भाषा और साहित्य का जन्म हुआ है जिनका विकास-काल अधिक नहीं तो भी सुदूर ईस्वीकाल के प्रारंभ के दिनों तक आँका जा सकता है। दक्षिण की सभी भाषाओं की ही तरह कन्नड़ के अपने लोक-गीत हैं और ग्रामीण-लोक साहित्य भी है जो उस भाषा पर संस्कृत के प्रभाव से पूर्व का है और उससे बिलकूल अछूता है। इनमें वेदान्दे और चेतना-से प्रसिद्ध गीत वाद्यों पर गाये जाते थे। इसके अलावा त्रिपदी, शतपदी, काण्ड, संगत्य, रागाले आदि ऐसे लोक-गीत हैं जो विशुद्ध रूप से स्थानीय एवं ग्रामीण गीत थे। पर अपने विकास में कन्नड भाषा संस्कृत से केवल प्रभावित ही नहीं हुई उससे उसका पोषण भी होता रहा। आगे चल कर हम केवल कन्नड़ शब्दावली ही नहीं पाते बल्कि उसके साहित्य को संस्कृत भाषा के प्रभाव से ओत-प्रोत पाते हैं।

ग्राम-गीतों के और ग्रामीण नाट्य प्रयोगों में गीगीपद, लावणी, पारिजात नाटक, भागवत लीला, राधा और यक्षगान लीला उल्लेखनीय हैं। कन्नड़ साहित्य में शिलालेख और ताम्रपत्र साहित्य की आज भी अपार सम्पत्ति है जिनके उतारे और भाषान्तर-परिवर्तन होने को हैं। प्रस्तर और ताम्रपत्र लेख हजारों की संख्या में हैं। इनमें से बहुतेरा साहित्य सुन्दर है और काव्यपूर्ण है। कन्नड़ के प्राचीनतम साहित्यिक ग्रंथ जो आज पुस्तक के रूप में उपलब्ध हैं जैनों द्वारा लिखे गये हैं। उनमें से कुछ ऐतिहासिक उपाख्यान हैं और उच्च श्रेणी के काव्य के नमूने हैं। वे गद्यपद्यमय चंपू प्रणाली में लिखे गये हैं।

जब हम दशवीं शताब्दी में पहुँचते हैं तब हमें एक नयी साहित्य प्रणाली, जिसे वचन साहित्य कहा गया है, अत्यन्त विकसित रूप में पाते हैं। यह एक विशेष पद्धति का गद्य है जिसे

व्यंगोक्तियाँ या चुटकले कहते हैं, जो प्रायः ध्वनिमय और प्रासपूर्ण होता है तथा जिसमें कुछ ही पंक्तियाँ होती हैं। साहित्य की इस प्रणाली की विशेषता, कहा जाता है, यह है कि इसकी रचना वीरशैव-धारा के तीन सौ वचनकारों द्वारा हुई है जिनमें से २५ तो स्त्रियाँ ही थीं। यहाँ हम कर्नाटक के एक समाज-सुधारक और महान वचनकार वसव के दो वचनों का अनुवाद देते हैं।

"लोग इस लोक और परलोक की बातें करते हैं। लेकिन क्या वे एक दूसरे से भिन्न हैं? हम सत्य बोलें और यही दुनिया स्वर्ग बन जायगी। और यदि हम मिथ्या बोलते हैं तो हम इसे नर्क बना देते हैं। सत्याचरण ही स्वर्ग है और दुराचरण नर्क। मेरे इस कथन का ईश्वर साक्षी है।"

"यह देह भी तो तेरी ही है, फिर मेरा अपना क्या रहा? मेरा मन भी तेरा है, अतः अब मेरा अपना मन भी तो नहीं है। यह सम्पत्ति भी सब तेरी है तो क्या रह गया है जिसे मैं अपना कह सकूँ? हे प्रभो! जब सभी कुछ तेरा है तब क्या मेरा कोई भिन्न अस्तित्त्व रहा?"

इस प्रकार तेरहवीं और चौदहवीं शताब्दि में हम साहित्य में एक ऐसी बढ़ती हुई प्रवृत्ति पाते हैं जिसे दास साहित्य कहा जाता है। इस साहित्य का एक वैशिष्ट्य यह है कि इसकी रचना अत्यन्त सरल भाषा में है और वह आज भी एकदम नवीन मालूम होता है। यह संगीत शास्त्र के अनुसार "राग" और "ताल" के साथ गाये जाने के लिये लिखा गया है। इस दिशा में पुरंदरदास ने बहुत लिखा है और अपनी अधिकृत रचनाओं से कर्नाटक साहित्य को शास्त्र-शुद्ध करने का श्रेय इन्हीं को है। वे वास्तव में कर्नाटकी संगीत के जनक माने जाते हैं। आपकी बहुतेरी रचनाएँ भक्ति-गीत हैं जो वैष्णवी भावनाओं से ओतप्रोत हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि कविता को मधुर गेय स्वरूप देने की कला को सारे प्रान्त में प्रोत्साहन दिया जाता रहा है जिसे 'गमक-कला' की विशेष संज्ञा दी जाती है। श्री कनकदास का एक पद विशेष देखिये जिसमें वे प्रभु की माया का रहस्योद्घाटन करते प्रतीत होते हैं—

"हे अगम्य! तुम्हें जान पाने में असमर्थ हूँ। तुम मायापति जो हो! मैं नहीं जान पाता कि इस महान अभिव्यक्ति (संसार) के एक भाग हो अथवा यही तुम्हारा एक अंश है? न जाने तुम स्वयं इस देह में निवास करते हो या यह देह ही तुम में प्रतिष्ठित है? ओह! शक्कर और मिठास में कौन जाने किसका कौन अंश है। चखनेवाली जीभ ही में तो दोनों समाये हुए हैं! सुमन और सुगंध! कौन बताये कि कौन किसमें आश्रित है? घ्राण शक्ति में ही तो दोनों का समावेश है। अहे! इस रहस्य को केवल तुम्हीं तो जानते हो।"

वैराग्य के सम्बन्ध में श्री पुरंदरदास का एक दूसरा पद भी देखिये—

"जो मोहरहित है उनका जीवन धन्य है! जीवन तो जिया जाय उस पंछी-सा जो दालान में क्षण भर को चहक कर उड़ जाता है, उन लोगों-सा जो किसी मेले में जुटते हैं और रात भर में बिखर जाते हैं, उन शिशुओं-सा जो किनारे पर घरौंदे बनाते-बिखेरते हैं, उस पथिक-सा जो रात भर किसी सराय में ठहर कर प्रातःकाल ही अपनी मंजिल पर चल पड़ता है। मेरे प्रभु! विरक्तिमय जीवन का वरदान मुझे केवल तुम्हीं तो दे सकते हो!"

कन्नड़ भाषा तथा साहित्य यद्यपि दो हजार वर्ष प्राचीन है किन्तु इस साहित्य का बहुत कम अंश पुस्तकाकार में उपलब्ध है। वास्तव में यह बात बड़ी शोचनीय है। सच पूछा जाय तो असंख्य शिलालेखों और ताम्रपत्रों के अलावा नृपतुंग की सुप्रसिद्ध रचना "कविराजमार्ग" को छोड़ ९ वीं शताब्दी के पूर्व की कोई रचना उपलब्ध नहीं है। पर इसके बाद १२वीं शताब्दि तक पहुँचते-पहुँचते हम कितने ही कवि पाते हैं जिन्होंने अनेक महाकाव्य लिखे हैं और शब्द-रचना एवं काव्य-प्रणाली में अनेक प्रगति-प्रयोग किये हैं, जिनसे बाद का सारा कन्नड़ साहित्य प्रभावित हुआ है। पंपा, पोन्ना और रान्ना आदि इस काल के विशेष उल्लेखनीय नाम हैं। इनके जैनपुराण प्रसिद्ध हैं और वे आज भी महाकाव्य के रूप में पढ़े जाते हैं। इस काल में सिवा एक-दो गद्य ग्रंथों के, अन्य गद्य ग्रंथ मुश्किल ही से पाये जाते हैं।

दसवीं और १९ वीं शताब्दि के बीच हम "वचन" और "वास" साहित्य ही नहीं पाते किन्तु रामायण, महाभारत तथा भागवत की कथाओं का आधार लेकर लिखनेवाले अनेक कवि इस काल में हुए हैं। कुमार वाल्मीकि, कुमार व्यास, लक्ष्मी, राघवका, हरिहर, भीमकवि आदि अनेक कवियों ने कई विशद पुराण लिखें हैं जो सरल कन्नड़ में होते हुए भी उत्तम काव्य-गुणों से अलंकृत हैं। इन सब में हमें कन्नड़ कवियों की रचनात्मक प्रतिभा के दर्शन होते हैं। और, अनेक स्थलों पर वर्णन, कथा-प्रवाह एवं चरित्र-चित्रण में वे मूल ग्रंथों से ऊँचे उठते जान पड़ते हैं।

हाँ, जिसे आधुनिक कन्नड़ का प्रथम स्वरूप कहा जा सकता है उसके दर्शन हमें १९वीं शताब्दि के प्रारंभ में होते हैं। इसी शताब्दि में हमें नाटक, उपन्यास एवं लघु कथा का क्रमिक विकास दृग्गोचर होता है। संस्कृत के अनेक नाटकों का अनुवाद इन्हीं दिनों हुआ। सन् १८०० में "कलावती-परिणय" नामक एक उपन्यास लिखा गया। सन् १८२३ में केम्पुनारायण का लिखा हुआ "मुद्रा-मंजूष" अपने ढंग का एक ऐतिहासिक उपन्यास है। "राजावली कथा" जो एक विचित्र लम्बी कथा है १८३८ में देवचंद द्वारा लिखी गई। इसी काल में अनेक संस्कृत ग्रंथों के अनुवाद हुए, जिसका श्रेय मैसूर के राजा मुम्मडि कृष्णदेव राय को है। १९ वीं शताब्दि के उत्तरार्ध में ईसाई धर्म-प्रचारकों द्वारा कन्नड़ भाषा के अध्ययन एवं साहित्य-सर्जन की दिशा में बहुत उल्लेखनीय प्रयत्न हुए। उन्होंने व्याकरण, छंदःशास्त्र, एवं अलंकार तथा प्राचीन काव्यों का अंग्रेजी में अनुवाद किया। संसार को कन्नड़ के साहित्य भांडार का प्रथम परिचय कराने का श्रेय इन्हीं ईसाई धर्म-प्रचारकों को है। उन्होंने एक अच्छे शब्द-कोष का संकलन भी किया तथा धातु के अक्षर और आधुनिक छापाखाने की शुरूआत भी की।

साहित्य-समालोचक आधुनिक कन्नड़ गद्य का जन्म-काल १८९७ से मानते हैं। 'मुद्दन' का 'रामाश्वमेध' इसी वर्ष प्रकाशित हुआ। यह ग्रंथ भी अत्यन्त उत्कृष्ट शैली में लिखा गया है यद्यपि इसके गद्य का स्वरूप अलंकार-मिश्रित काव्य-गुण-प्रधान प्राचीन शैली तथा आधुनिक सरल कन्नड़ के बीच का है। बीसवीं शताब्दि के प्रारंभ काल तक कन्नड़ साहित्य संस्कृत के महारथियों का ही अनुगमन करता परिलक्षित होता है। पर बीसवीं शताब्दि के आगमन के साथ ही हमें एक विशिष्ट परिवर्तन पाते हैं जो अंग्रेजी साहित्य के प्रभाव के कारण

है। लोकमान्य तिलक का शक्तिशाली मराठी साप्ताहिक 'केसरी' कन्नड़ में अनुवादित होता था और हाथों हाथ बिक जाता था। लोकमान्य की महान कृति 'गीता रहस्य' का अनुवाद भी कन्नड़ में हुआ। इस प्रकार देश-भक्ति की एक महान् लहर के साथ ही आधुनिक कन्नड़ की पत्रकारिता का शिशु पैदा हुआ। इस राजनैतिक जागृति का परिणाम जीवन के विविध क्षेत्रों में हुआ और इससे आधुनिक साहित्य-प्रयास में भी नव-चेतना जागृत हुई। सन् १९१४-१८ के होमरूल आन्दोलन तथा १९२०-२१ के असहयोग आन्दोलन की दो महान लहरों ने साहित्य-सर्जन की दिशा में पुनः नव प्रेरणायें प्रदान कीं। आज कन्नड़ पत्रकार-क्षेत्र में अनेक अच्छे-दैनिक, साप्ताहिक एवं मासिक हैं जो अपनी समकक्ष भाषाओं के समाचार-पत्रों की तुलना में किसी भी बात में कम नहीं उतरेंगे।

कर्नाटक को एक भाषा-प्रदेश बनाने में संयुक्तिकरण आन्दोलन ने तथा साहित्य-निर्माण की दिशा में 'कर्नाटक संघ' आन्दोलन ने बड़ा उल्लेखनीय सहयोग दिया है। इनके अलावा "विद्यावर्द्धक" तथा "कन्नड़-साहित्य-परिषद" नामक दो संस्थाएँ हैं जो कन्नड़ साहित्य के प्रचार-प्रसार में अपना मार्ग-दर्शन देती रही हैं। अपने उज्ज्वल अतीत में प्रतिष्ठित तथा संस्कृत से समृद्ध, कन्नड़ साहित्य ने अंग्रेजी की नवीन कला-प्रणाली के आत्मसात् करने का प्रयत्न भी किया है ताकि यह विश्व की सजीव एवं गतिमान आत्मा के साथ-साथ चल सके। यों प्रथम हम स्पेंसर और मिल के अनुवाद देखते हैं और तत्पश्चात् कन्नड़ में अनेक बंगाली उपन्यासों का अनुवाद भी। कन्नड़ अनुवादकों की दृष्टि से बंकिम तथा शरद के बँगला तथा हरिनारायण आपटे के मराठी उपन्यास बहुत लोकप्रिय थे। आज तो यह दावा किया जा सकता है कि कन्नड में लघुकथा का विकास भारतवर्ष की किसी भी अन्य भाषा की टक्कर का है। इस शताब्दि के प्रथम दो में रूढ़ीगत काव्य का स्थान गीतिकाव्य, लघुगीत एवं अतुकान्त कविता ने तथा ऐसे ही दूसरे प्रकारों ने ले लिया। और आज कन्नड़ में निबंध साहित्य, ऐतिहासिक ग्रंथ, वैज्ञानिक आदि साहित्य का सर्जन खूब जोरों से हो रहा है।

आधुनिक कन्नड के निर्माण एवं समृद्धि में जिन अनेक लेखकों, ग्रंथकारों एवं कवियों ने अपना सहयोग दिया है उनका मूल्यांकन यहाँ कर सकना संभव नहीं। यहाँ हम जिन लेखकों की नामावली दे रहे हैं वह केवल उदाहरण स्वरूप है। बीसवीं सदी के प्रारंभ में श्री आलूर, कृष्णराव मुदवेदकर, हनापुरमठ, वंकटकृष्ण्या का नाम नहीं भुलाया जा सकता। उत्तेजनापूर्ण पत्रकारिता क्षेत्र में जो जोत उन्होंने जगाई, उसे पीछे आनेवाले श्रीमोहरे, रामय्या, तिरूमल शर्मा तथा अन्य प्रज्वलित करते रहे। किन्तु विशेष मँजी हुई रचनाओं के लिये, अँगरेजी कविता के अनुवाद के लिये, कन्नड की स्वतंत्र काव्य-रचना के लिये, समालोचना के साहित्य के लिये हमें कुछ समय तक बाट जोहनी पड़ती है और तब हमें श्री कंठय्या, मस्ती व्यंकटेश आयंगर, डी० व्ही० गुडप्प आदि अनेक प्रतिभासंपन्न साहित्यकारों के दर्शन होते हैं। उमर खय्याम का अनुवाद और वेलूर मंदिर की प्रस्तर कला के सौंदर्य का काव्यमय वर्णन कर उर्जस्वित एवं प्रतिभा-सम्पन्न कलाकार के नाते श्री गुडप्प अपना स्थान सुरक्षित कर लेते हैं। श्री मस्ती लघुकथा की कला में सबसे बाजी मार लेते हैं और दूसरों के लिये मार्ग दर्शक बन जाते हैं। शीघ्र ही एक नयी पीढ़ी

तैयार होती हैं जो भावना, अभिव्यक्ति एवं साहित्य के नये स्वरूप में क्रांति का नया संदेश भरे, इन पथ–प्रदर्शकों का अनुगमन करने लगी हैं। इनमें श्री बेन्दरे का नाम उल्लेखनीय है जिनकी अपनी नई कविता प्रणाली है, भाषा अरूढ़ है और अभिव्यक्ति सीधी और चोट करने वाली है। वे एक कला विवेचक के साथ ही साथ हास्यरस प्रणेता हैं। श्री गोकाक एवं श्री मुगली ऐसे लेखक महारथी हैं जिन्होंने काव्य के अलावा नाटक, उपन्यास एवं लघुकथायें भी लिखी हैं। साली की कविता कोमल है और माधुर्य से ओत-प्रोत है। श्री कैलाशम् तथा राजरत्नम् ने एक नई प्रणाली शुरू की और चलती-फिरती भाषा को काव्य का जामा पहना दिया। कलाशम् की अँग्रेजी में लघुनाटिकायें हैं जिनमें उन्होंने पौराणिक व्यक्तियों––कर्ण, कृष्ण, द्रोण, एकलव्य आदि––का चित्रण किया है और जिनकी शैली बड़ी ओजस्विनी एवं विविधतापूर्ण है। उन्होंने कुछ लघु सामाजिक नाटिकायें भी लिखी हैं जिनमें उन्होंने अनेक समस्यायों पर करारी चोटें की हैं और जो इब्सन की-सी मौलिक तथा सीधी हैं। बाल साहित्य में श्री राजरत्नम् का नाम उल्लेखनीय है। के० व्ही० पतप्पा न केवल उर्वर प्रतिभा वाले हैं बल्कि कर्नाटक के एक बहुत मजे हुए लेखक हैं, कन्नड में उनकी रामायण एक चिरस्थायी ग्रंथ है। श्री शिवराम दास एक तेजस्वी युवक हैं जो सर्वसाधारण भाषा में बड़े चुभते व्यंग्य कसते हैं। कन्नड को उनकी देन बहुत बड़ी है और उनकी कहानियाँ तथा उपन्यास सब ओर पढ़े जाते हैं। श्री गोविन्द पई जो गत दिसंबर १९५० में कन्नड-साहित्य-सम्मेलन बंबई के अध्यक्ष थे––कन्नड के राजकवि हैं और स्वयं ही में एक पूर्ण व्यक्तित्व हैं। एक प्रतिभा-संपन्न कवि होने के अलावा वे एक अन्वेषक विद्वान एवं सफल समालोचक भी हैं। वे भाषाविद् भी हैं और कभी न हारनेवाले कार्यकर्त्ता भी हैं। कन्नड साहित्यकारों के लिये उनका आह्वान प्रगतिशीलता को अपनाने का है। हाल ही उन्होंने कहा था कि कवि ही दुनिया के सच्चे विधायक एवं निर्माता हैं। और, इससिये उन्ह अपने कार्य में दृढ़तापूर्वक तत्पर होना चाहिये। हमारी परंपरा में जो कुछ प्राप्त है उसे लेकर, नये शब्दों की रचना कर, अन्य साहित्य से भरसक उधार ले, अभिव्यक्ति को नया-नया स्वरूप देकर तथा अपनी लिपि में समुचित संशोधन-सुधार करते हुए हम प्रगति पथ पर अग्रसर होना चाहिये। आधुनिक कन्नड़ पर नई भावनाओं, नये दृष्टिकोण और अंग्रेजी साहित्य की छाप विशेषरूप से है। आज का कन्नड साहित्य, गीतिकाव्य, दीघ्र काव्य-रचनाओं वर्णनात्क रचनाओं, नाटक लघु और लंबी कथाओं, उपन्यास आदि से समृद्ध एवं सुप्रतिष्ठित है। वह रूढिवाद की लकीर को छोड़ चुका है और प्रकृति, प्राकृतिक गति, प्रेम, स्वदेशभक्ति, समता, मानवता, उत्क्रान्ति, आर्थिक एवं अन्य विषमताओं, शांति और युद्ध आदि इसी प्रकार के अनेक विषय लेकर लिखा जा रहा है जो विश्व में आधुनिक कविता के विषय में हैं। आज तो हम देखते हैं कि आधुनिक कवि या लेखक अपनी व्यक्तिगत अनुभूतियों को समग्र मानव समाज की भावनाओं में समरस कर उन्हें अभिव्यक्ति प्रदान करता है। कुछ विशष साहित्यकार इस सत्य का साक्षात्कार कर चुके हैं कि साहित्य को मानवता के उस स्वरूप-व्यक्तित्त्व का वहन (प्रसाधन) बनाना है जो अपने वातावरण विशेष में प्रतिष्ठित होते हुए भी विश्वमानव के जीवन एवं उसकी अनुभूति की अजस्र धारा से संलग्न हैं। वे जानते ह कि उनके पास

अनमोल विरासत है किन्तु वे यह भी जानते हैं कि नवसृजन एवं नव-निर्माण ही जीवन का मार्ग है और उन्हें इस विषय में अपनी पड़ोसी भाषाओं की प्रगति के साथ-साथ चलना है।

—श्रीरंगरावजी दिवाकर (मानवता, अकोला; मार्च-अप्रैल '५१ ई०)

भारतीय संस्कृति में लोकधर्म का स्थान

भारतीय और पश्चात्य जीवन में जो विशेष विभिन्नता दिखाई पड़ती ह, उसका स्पष्ट कारण यह है कि हमारा जीवन अन्तर्मुखी और पाश्चात्य जीवन बहिर्मुखी रहा है। जहाँ हम आध्यात्मिक ध्येय की प्राप्ति के लिए जीवन में कठिनतम साधनाओं को महत्त्व देते हैं, वहाँ पाश्चात्य जीवन अपने भौतिक विकास में ही कर्त्तव्य की इतिश्री समझता ह— उसकी पूर्त्ति ही उसका ध्येय रहता है। अतीत काल से चला आ रहा यह हमारा अन्तर्मुखी दृष्टिकोण ही हमारे स्थायित्व का आधार है। यही कारण है कि हमारी संस्कृति और जीवन-धारा सदा से शाश्वत है और रहेगी।

मनुष्य की अंतिम से अंतिम अभिलाषा सच्चे अर्थ में मानव बनना होती है। अपने स विशिष्ट उद्देश्य को सफलता-पूर्वक पा लेना मानवत्व से देवत्व की ओर अग्रसर होना है। हम जानते हैं कि मानव-जीवन मे विकास के चरम लक्ष्य तक आने के लिए जिस तत्त्ववाद, दर्शन और आदर्शों की आवश्यकता है, उनका अटूट भण्डार हमारा भारतवर्ष रहा है, और उसका अनन्त स्रोत रही है हमारी सभ्यता और संस्कृति।

आज की स्थिति में हमें भारत में समस्त अभिशापों का अन्त करना है। यह कौन नहीं चाहेगा कि हमारा भारत अतीत के वैभव की पुनः प्राप्ति ही नहीं करे, अपितु उससे कहीं बढ़कर अन्योन्य आधुनिक प्रगतियों से आगे बढ़ जाय। अपने १५ अगस्त को दिये गये भाषण में डॉ० राजेन्द्र प्रसाद ने कहा था—'हम एक महान भूतकाल में उत्तराधिकारी तथा एक सुन्दरतर और महत्तर भविष्यकाल के शिल्पी हैं।" यह तो प्रत्येक व्यक्ति अपने गर्वीले मस्तक को उठाकर कह सकता है कि हम महान ही नहीं, बल्कि महानतम भूत के उत्तराधिकारी हैं। परन्तु सुन्दरतर और महत्तर भविष्य-काल के शिल्पी हम अपने-आप को कैसे कह सकते ह, जब हम उन्नति के स्थान पर अवनति की ओर अग्रसर हो रहे हैं। यदि हमें अपने राष्ट्रीय भवन को भव्यता के साथ-साथ सुदृढ़ बनाना है तो हमें उसकी नींव सदाचार, नैतिकता और सामाजिक सुव्यवस्था के रोड़े से भरनी पड़ेगी। इस भवन का निर्माण हमारे आदर्शों के वास्तविक स्वरूप और उनके अनुरूप श्रम पर ही हो सकेगा। आज हम उठें और आगे आकर अपने जीवन में वांछनीय चेतना एवं स्फूर्त्ति को स्थान देकर अपने-आपको आदर्शवादी नागरिक बनावें। यही हमारा चरम लक्ष्य है जिसमें ही सच्चा सुख और शान्ति निहित है।

—मानवता, अकोला; फरवरी, १९५१ ई०

आधुनिक साहित्य और मनोविकृति

आधुनिक कला में असुन्दर का चित्रण बढ़ता जा रहा है; उसी प्रकार आधुनिक साहित्य में विद्रूप और जगुप्सित, वीभत्स और विकृत रूपों का निरूपण भी एक समस्या बन गया है।

आलोचकों के लिए यह एक चिन्ता का विषय है। ××× आज के साहित्य और कला में कुछ ऐसा ऊबड़-खाबड़, विचित्र-अजीब, नया और असहनीय-सा उभरता चला जा रहा है जिसे हम संक्षेप में मनोविकृति कहें। ××× क्या कवियों में ही कुछ दोष है जो उनकी रचनाएँ गद्यप्राय हो गई हैं? क्षेमेन्द्र का यह उद्धरण आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने 'आज-कल के छायावादी कवि और कविता' में बहुत वर्षों पूर्व उद्धृत किया था—

"यस्तु प्रकृत्याश्मसमान एव कष्टेन वा व्याकरणेन नष्टः
तर्केण दग्धोऽनलधूमिना वाप्यविद्धकर्णः सुकविप्रबन्धैः
न तस्य वक्तृत्वसमुद्भवः स्याच्छिक्षा विशेषैरपि सुप्रयुक्तैः
न गर्दभो गायति शिक्षितोऽपि संदर्शितं पश्यति नार्कमन्धः"

अर्थात्—जिसका हृदय स्वभाव से ही पत्थर के समान है, जो जन्मरोगी है, व्याकरण 'घोकते-घोकते' जिसकी बुद्धि जड़ हो गई है, घट-पट और अग्निधूम से सम्बन्ध रखनेवाली फक्किका रटते-रटते जिसकी मानसिक सरसता दग्ध-सी हो गई है, महाकवियों की सुन्दर कविताओं का श्रवण भी जिसके कानों को अच्छा नहीं लगता, उसे आप चाहे जितनी शिक्षा दें और चाहे जितना अभ्यास करायें, वह कभी कवि नहीं हो सकता। जैसे सिखाने से भी गदहा गा नहीं सकता या अन्धा सूर्यबिम्ब नहीं देख सकता।

आज की साहित्य-कला में—दुरूहता, दुर्बोधता, ग्राम्य तथा अशिष्ट विषयों की चर्चा; मनोविकृतिपूर्ण चरित्रों का चित्रण; यौन तथा अन्य मनोविकारों से ग्रस्त मानवों के संज्ञा-प्रवाह का यथातथ्य वर्णन; कुण्ठा और त्रास; मनोदौर्बल्य और हताशता; एतादृश्यत्व से समझौता अथवा आत्महन्तामयी खीझ; बौखलाहट और एक ही डंडे से सबको पीटने की पाशवी वृत्ति; अवर्ण्य की अवतारणा और जुगुप्सित का जानबूझकर वर्णन बराबर बढ़ता जा रहा है। इसके कुछ कारण, जो आलोचकों ने सुझाये हैं, इस प्रकार हैं—

(१) साहित्यकला के वर्ण्य विषय में ही दोष बढ़ते जा रहे हैं। (२) ज्ञान का क्षेत्र व्यापक होता जा रहा है, अतः चेतना अधिक बहुमुखी और चक्राकार होती जा रही है। (३) साहित्यकार का व्यक्तित्व कुचला हुआ और आत्मपीडक है। (४) साहित्यकार एकान्त व्यक्तिवाद का पोषण करता है, अतः उसकी चिन्ताधारा ही कल्पनाश्रित 'रूपवाद' में खो गई है। (५) साहित्य की अभिव्यंजना के नये-नये माध्यम और साधन बढ़ते जा रहे हैं, अतः साहित्यकार की प्रयोगशील अवस्था की यह तुतलाहट है। (६) जीवन के विराट् संघर्ष में साहित्यकार दिशि-हारा पथहारा हो गया है, इसलिए राह न सूझने से वह अँधेरे में टटोल रहा है। (७) या, आज का पाठक या श्रोता ही विकृति का प्रशंसक और इच्छुक बन गया है; अतः फिल्मों के समान साहित्य और कला में भी एक प्रकार का सस्तापन, भद्दापन या हल्कापन आ गया है।

हमें यह मानकर चलना चाहिए कि आज के साहित्य में अस्वास्थ्य है और उससे लड़ने का यत्न करना चाहिए, अथवा फिर उसे एक अनिवार्य युग-रोग मानकर स्वीकार करके चुप रहना चाहिए, जो इष्ट नहीं।

—प्रभाकर माचवे (कल्पना, दक्षिण-हैदराबाद; अप्रैल ५१ ई०)

नवीन....और....उल्लेख्य

शिप्रा
श्री जानकीवल्लभ शास्त्री
मुजफ्फरपुर; साढ़े तीन रुपय।

आलोचक –
श्रीनरेश

शिप्रा का यह द्वितीय संस्करण अपने-आप में ही इस बात का प्रमाण है कि आचार्य श्री जानकीवल्लभ शास्त्री की, इस पुस्तक में संगृहीत, कविताएँ कितनी लोकप्रिय हैं। आचार्य श्री जानकीवल्लभ शास्त्री हिंदी के पाठकों के लिए, और संस्कृत के पाठकों के लिए भी, कोई नया नाम नहीं। शास्त्री जी की बहुमुखी प्रतिभा आधुनिक हिंदी साहित्य और उसकी वर्त्तमान मनोवृत्तियों को अपनी रचनाओं से बराबर चौंकाती रही है, और शिप्रा संग्रह की कविताएँ इस कथन की पुष्टि में प्रमाण स्वरूप पेश की जा सकती हैं।

प्रस्तुत पुस्तक में, प्रथम संस्करण में संगृहीत कविताओं के अतिरिक्त, ग्यारह नवीन रचनाएँ भी संगृहीत हैं। इसलिये द्वितीय संस्करण में पहले की अपेक्षा कुछ अधिक रचनाएँ तो हैं ही, इन रचनाओं का अपना एक महत्त्व भी हो जाता है। ये नवीन रचनाएँ प्रथम संस्करण की रचनाओं की तुलना में कवि की संवेदनशीलता और चेतना की नई पहल (facet) हैं, अतः कवि की चेतना के विस्तार और उसकी दिशा का संकेत भी।

शिप्रा बीसवीं सदी के हिंदी काव्य की परम्परा के गीतों से कुछ अलग की चीज है। अतः इसका काव्यगत महत्त्व जितना है, उससे कुछ कम इसका ऐतिहासिक महत्त्व भी नहीं। सच तो यह है कि शिप्रा के कवि जानकीवल्लभ स्वयं साहित्य में, इसी दृष्टि से, महत्त्वपूर्ण हैं, क्योंकि वे केवल कवि नहीं। हाँ, उपन्यास उन्होंने अब तक नहीं लिखे हैं, लेकिन कहानियाँ लिखी हैं, आलोचना और समीक्षा सम्बन्धी लेख ही नहीं, पुस्तकें लिखी हैं (उनकी प्रकाशित-अप्रकाशित रचनाओं की एक लंबी तालिका है) और दर्शन के अध्येता के नाते भी बहुत-कुछ लिखा है। लेकिन हर कहीं उनके व्यक्तित्व की अपनी छाप है जो उनके पूर्व के साहित्यकारों में भी कहीं नहीं; साथ के साहित्यकारों में भी नहीं (कुछ व्यक्तियों को छोड़ कर जैसे, निराला, नलिनविलोचन आदि)। इस दृष्टि से न केवल शिप्रा, बल्कि उनकी समस्त रचनाएँ महत्त्वपूर्ण हैं; और साहित्य के नाम पर आई हुई चीजों में जो कुछ महत्त्वपूर्ण (significant) नहीं, उसे साहित्य मानने में इन पंक्तियों के लेखक को हिचक है।

शिप्रा की कविताओं का बहुत महत्त्व है। इसके लिए पहले तीन बातें : शिप्रा की भूमिका के रूप में प्रो० श्री केसरी कुमार का लघु लेख; काव्य-कला शीर्षक से जानकीवल्लभ जी के काव्य-कला सम्बन्धी अपने विचार और मेरे द्वारा लिखी जानेवाली यह समीक्षा। प्रो० केसरी कुमार स्वयं एक कवि हैं, साथ ही समर्थ आलोचक भी। यही हाल जानकीवल्लभ

जी का भी है। और जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, महत्त्वपूर्ण (significant) जो न हो, वैसे साहित्य को साहित्य मानने में मुझे हिचक है, अतः जो महत्त्वपूर्ण नहीं उसकी समीक्षा की कोई आवश्यकता भी नहीं मानता। लेकिन शास्त्री जी की शिप्रा की समीक्षा करने में बैठा हूँ। तो निष्कर्ष स्पष्ट है।

ऊपर जो कुछ कहा गया है वह साहित्य में अक्सर आये गर्वोक्ति स्वरूप कुछ नहीं। वह एक तथ्य (fact) मात्र का कथन (statement) ह। ध्यान पूर्वक देखा जाय तो गीति के नाम पर हिन्दी साहित्य में अब तक कैसी लचर तुकबन्दी और पद्यबाजी होती रही है, यह स्पष्ट हो जाता है। और उस पृष्ठ-भूमि में, वास्तविक अर्थ में जो गीति हो सके, ऐसे छंदों और कविताओं को महत्त्वपूर्ण मानना गलत नहीं होगा। शिप्रा की कविताओं के वास्तविक महत्त्वांकन के लिए गीति की प्रकृति पर विचार करना अनिवार्य होगा। इस पहलू पर सोचने से ही तथाकथित गीतों और शिप्रा के गीतों के असंख्य अन्तर स्पष्ट होंगे। और इसके लिए गीत की प्रतिष्ठा पाई हुई कुछ कविताओं के साथ इन गीतों को देखना अच्छा होगा। गीति के क्षेत्र में छायावादी कवियों ने बड़ा नाम पाया है (निराला को छोड़ कर), और पंत, प्रसाद, महादेवी आधुनिक हिंदी गीतों के सफल, यशस्वी त्रिदेव माने गये हैं। (सच भी है कि इन कवियों के पहले गीति नाम की चीज खड़ी बोली में नहीं आई थी)। इनकी रचनाओं को देखना आवश्यक है। प्रसाद को ही लीजिए——

ले चल मुझे भुलावा देकर
मेरे नाविक धीरे-धीरे

अक्सर इसकी आलोचना यों हुई है कि प्रसाद इस गीत में पलायनवादी हैं। लेकिन ऐसा झगड़ा जीवन के दर्शन के लिए जितना भी महत्त्वपूर्ण हो, काव्य के सौंदर्यांकन के लिए उसका कोई महत्त्व नहीं, क्योंकि जीवन का दर्शन ज्यों-का-त्यों काव्य का अथवा साहित्य का दर्शन नहीं होता। मार्क्सवाद भी साहित्य की गली से हो कर गुजरने पर Alitet Goes to the Hills; Quiet Flows the Don; The Don Flows to the Sea आदि का रूप लेता है। वैसे काव्य में भी ऐसा ही। इसी तरह बुद्ध के दर्शन का संकेत भले ही इसमें हो लेकिन बुद्ध के भाई द्वारा शर-हत हंस बुद्ध की गोद में दिखला कर हम मात्र बौद्ध दर्शन का संकेतों द्वारा उदाहरण नहीं पेश करते होते हैं, उससे अधिक, बहुत अधिक कुछ करते होते हैं। अतः पलायनवाद और प्रगतिवाद का झगड़ा लेकर हम जितना भी उलझ लें, साहित्य का मूल्यांकन मात्र उसीसे नहीं किया जा सकता। साहित्य जीवन को आंशिक रूप में, खंड रूप में देखना नहीं है, उसे उसकी संपूर्णता में देखना है, और जीवन का सत्य, उसकी संपूर्णता में, जितनी प्रगति है उतना ही पलायन भी है, जितना जीवन है उतना मरण भी है। अतः प्रसाद की इन पंक्तियों की आलोचना, केवल पलायन के दर्शन के आधार पर, अप्रासंगिक (redundent) हो जाती है। मेरे विचार से उसकी सबसे कड़ी आलोचना तो यह है कि नाविक क्यों? धीरे-धीरे क्यों? यानी उस कविता में भाव-क्षेत्र (field of emotion) नदारद है, अतः वे भाव (emotions), जिनकी रिपोर्टिंग कवि

कर रहा है, अकारण (unwarranted) हो उठते हैं, अतः महत्त्वहीन भी। अस्तु, हिंदी गीतियों से गीति संबंधी कुछ ऐसे निष्कर्ष तो निकाले ही जा सकते हैं—

(१) गीति व्यक्तिगत अथवा वैयक्तिक भावावेशों की अभिव्यक्ति है।

(२) अभिव्यक्ति का माध्यम भाषा है।

(३) भाषा लोक के सामाजिक संबंधों की पहली शर्त है।

(४) गीति लोक की भाषा में व्यक्तिगत भावावेशों की अभिव्यक्ति है।

स्पष्ट है कि लोक-भाषा (public language) में व्यक्तिगत भावों (personal emotions) की अभिव्यक्ति का कोई अर्थ नहीं होगा जबतक कि उसका कोई महत्त्व न हो। लेकिन तब लोक-भाषा गद्य होती। वैसी स्थिति में गीति, कहा जा सकता है, लोक-भाषा से होकर अभिव्यक्त नहीं होती। तब—

(१) गीति की अभिव्यक्ति लोक की भाषा को अस्त-व्यस्त (disturb) करके होती है।

(२) इसलिए उसे महत्त्वपूर्ण होना आवश्यक है, नहीं तो रूढ़ भाषा को (conventional language) को अस्त-व्यस्त (disturb) करना अकारण (unwarranted) होगा।

(३) व्यक्तिगत भावावेश महत्त्वपूर्ण तब होंगे जब उनमें जीवन की किसी महत्त्वपूर्ण बात का उद्घाटन होगा।

यदि उपर्युक्त को मान लें तो गीति-कला की अंतिम और एक मात्र कसौटी यह होगी—

गीति वह जहाँ भावावेश की जमीन हो; यानी टी० एस० एलियट का यह सिद्धान्त कि काव्य में संबद्ध आधार (objective correlative) का होना आवश्यक है।

भावावेश को यदि बिजली मानें, तो उसका तार भी नजर आये, इस दृष्टि से काव्य में प्रेषणीयता के गुण की माँग निरर्थक हो उठती है। काव्य, इस दृष्टि से, पाठक के पास पहुँच कर भावावेशों को पुनर्निर्मित (recreate) करता है, प्रेषित (transmit) नहीं।

'ले चल वहाँ भुलावा देकर' में ऐसी ही कठिनाइयाँ हैं। उसका संबद्ध आधार (objective correlative) शायद कुछ रहा होगा जो कवि के मन में ही रह गया और पाठकों को कवि ने केवल अपने पद्यबद्ध आवेश दे दिये। महादेवी, पंत आदि के साथ भी ऐसी ही कठिनाई है, हालाँकि महादेवी सांध्य-गीत तक आते-आते काफी सुगढ़ हो उठी हैं; और पन्त स्वर्ण-किरण, स्वर्ण-धूलि तक आते-आते अधिक बिखर गये हैं। महादेवी के 'राग भीनी तू सजनि' में स्थापत्य गुण कुछ आया है लेकिन इतना नहीं कि सारी कविता एक सुगुंफित पूर्णता (integrated whole) हो। बात साफ-साफ यों कही जाय कि 'राग भीनी' में भी विभिन्न भावों और दृश्यों को एक छंद में पिरो दिया गया है, और कुछ नहीं। देखिए—

राग भीनि तू सजनि निःश्वास भी तेरे रँगीले
लोचनों में क्या मदिर नव
देख जिसको नीड़ की सुधि
फूट निकली बन मधुर रव
झूलते चितवन गुलाबी में चले घर खग हठीले।

यहाँ तक तो एक चित्र सुगुंफित (integrated) रूप में सामने आता है। लेकिन इस चित्र के प्रसंग में आगे का यह चित्र—

छोड़ किस पाताल का पुर
राग से बेसुध चपल
सपने लजीले नयन में भर
रात नभ के फूल लाई
आँसुओं से कर सजीले

किसी तुक पर नहीं। खींच-खाँच कर यह कहा जा सकता है कि संध्या के वर्णन के साथ रात का चित्र बहुत अप्रासंगिक नहीं होगा। लेकिन सांध्य आवेश अपने आप में रात के इस चित्र को अनिवार्यता नहीं देता। यही हाल हिंदी के समस्त गीतों के बारे में कहा जा सकता है। हाँ, निराला ही एक अपवाद हैं। उदाहरण की आवश्यकता नहीं। 'अपरा' और 'अर्चना' के सभी गीत उत्कृष्ट स्थापत्य के नमूने हैं।

इस परिदृश्य में शिप्रा के गीत यदि निष्कलुष नहीं तो चाँद की तरह तो हैं ही। अगर कहीं धब्बे निकलें भी तो वे बाकी की सफाई, सौंदर्य, की वृद्धि ही करते हैं।

शिप्रा के गीतों के बारे में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बात मैं यह मानता हूँ कि गीति के नाते वैयक्तिक होने पर भी इनमें कवि अत्यधिक प्रखर रूप से निर्वैयक्तिक होता है। निर्वैयक्तिकता के लिये काव्य में व्यंग्य का स्वर अनिवार्य होता है। शिप्रा के अधिक गीतों में यह स्वर आपको मिलेगा। बाकी की आलोचना, कि अनुप्रास और छंद कैसे हैं, शब्द कैसे हैं, स्थापत्य के अंतर्गत ही आ जाती है। इतना निस्संकोच कहा जा सकता है कि एकाध स्फुट कमजोर स्थलों को छोड़, शास्त्रीजी के गीत स्थापत्य की दृष्टि से उत्कृष्ट हैं।

चूँकि काव्य की उत्पत्ति शब्दों को अस्त-व्यस्त करने से होती है इसलिये जिस काव्यकार का शब्दों पर जितना अधिक अधिकार होगा वह उतना ही, उसी अनुपात में, अत्यधिक सुन्दर रचना कर सकन की क्षमता रखेगा। मैंने काव्यकार का शब्दों पर अधिकार कहा है, न कि यह कि जिसका शब्दों पर जितना अधिकार होगा वह उसी अनुपात में उतना काव्यकार होगा। शब्दों पर अधिकार का अर्थ यह नहीं कि वह काव्यकार शब्द-सागर हो, बल्कि यह कि वह शब्दों को जीवंत और स-प्राण देखना जाने। शेक्सपियर और कीट्स इसके अच्छे प्रमाण हैं। उनके पास शब्द अधिक नहीं थे लकिन शब्दों को वे इस प्रकार पहचानते थे कि जितने शब्द उनके पास थे उतने से ही उन्होंने अतुलनीय काव्यों की रचना की। ऐसी अवस्था में काव्य में अलंकार की अपेक्षा अनिवार्य नहीं रह जाती। सादे-से-सादा वाक्य भी अत्यधिक तीव्रता (intensity) प्राप्त कर लेता है। कीट्स के गीत, या वर्ड्स्वर्थ के भी, इसके उदाहरण हैं। कीट्स की पंक्तियों में भी:—

My heart aches, and a drowsy numbness pains
My sense, as though of hemlock I had drunk आदि

अथवा

O, for a draught of vintage! that hath been
Cool'd a long age in the deep-delved earth,

Tasting of flora and the country green,
Dance, and Provencal song, and sunburnt mirth!
O for a beaker full of the warm South,
Full of the true, the blushful Hippocrene,
With beaded bubbles winking at the brim
And purple-stained mouth;
That I might drink, and leave unseen,
And with thee fade away into the forest dim.

म बिना किसी अलंकार-प्रयत्न के भी भाव की तीव्रता है, और वह तीव्रता अनायास आ जाती है। वैसे ही वर्ड्स्वर्थ के A violet by the mossy stone
Half-hidden from the eyes या My spirit did a slumber seal आदि में भी।

अब कहूँ, शास्त्री जी शब्दों के केवल पारखी नहीं, भंडार भी हैं। संस्कृत के उत्कृष्ट अध्येता होने के नाते शब्दों की उन्हें कमी भी नहीं; और काव्य-मर्मज्ञ और काव्यकार होने के नाते शब्दों की पहचान भी उन्हें है। देखिये--

सब अपनी-अपनी कहते हैं!
कोई न किसी की सुनता है,
नाहक कोई सिर धुनता है,
दिल बहलाने को चल-फिर कर,
फिर सब अपने में रहते हैं
सब अपनी-अपनी कहते हैं!

'मौज' शीर्षक कविता का एक छंद। इन पंक्तियों में भावुकता नहीं, जिसका डर अक्सर एसी गद्यात्मक (prosaic) पंक्तियों में होता है। भावावेश के लिए अपना नासूर भी नहीं कुरेदा गया है। फिर भी (platitudes) साधारण तथ्यों को लेकर इतनी तीव्रता लाई गई है। चूँकि यहाँ कवि अपने, और साधारण अर्थ में 'सामाजिकता', से ऊपर उठ कर सामान्य तथ्यों को देखता है, इसलिये ही उसमें भाव तीव्र हो उठे हैं। सामान्य तथ्य जबर्दस्त सत्य होते हैं, लेकिन अकाट्य होते हुए भी उनमें रोजमर्रापन इतना होता है कि वे सत्य होने की तीव्रता को खो बैठते हैं; जैसे, आदमी मरता है। लेकिन काव्य में आ कर वही 'ग्रे' की 'एलिजी' बन जाता है। शास्त्री जी की इस कविता में भी ऐसा ही होता है। वैसे ही 'मस्ती' में भी:--

कुछ हो जाने में क्या है?
ले-ले सौ-सौ बलि प्राणों की
पुजती प्रतिमा पाषाणों की;
कुछ भावुक नयनों से जग को--
यों धो जाने में भी क्या है?
कुछ हो जाने में क्या है?

या

होते कहीं कपोत-कपोती !
मैं तिनके चुन नीड़ बनाता
तू पाँखें फैला कर सोती !
राज-सदन के पास घास पर बिखरे दाने देख,
तेरा हृदय मचलता, मुख पर खिंचती तृष्णा-रेख। आदि।

शास्त्री जी के व्यंग्य-स्वरों के लिये अश्वत्थामा, तिमिर पर्व आदि सुन्दर उदाहरण हैं।--

कुरुक्षेत्र का नाम इसी से उज्ज्वल हो
मानवता की हत्या यदि इतिहास है !
डटा निहत्था कौन काल के सामने ?
देश-काल के ऊपर चुप आकाश है !!

और

खिंचता जाता तेज, तिमिर तनता; क्या फेरा !
अरे, सबेरा भी होगा या सदा अँधेरा ?
रहे अँधेरा, ये समाधियाँ दिख जाएँगी,
घास-पात पर शबनम से कुछ लिख जाएँगी !
कभी पढ़ेंगे लोग, --न सब दिन अपढ़ रहेंगे
कभी कहेंगे, मूक व्यथा सब दिन न सहेंगे !
--" अंधकार का तना चँदोवा था इस भू पर,
दीप उजलते, जलते थे बस ऊपर-ऊपर !
जीवित जले हुए 'कीड़ों' की ये समाधियाँ,
दीप जलाना मना, यहाँ उठतीं न आँधियाँ !"

ऐसे फुटकर उदाहरणों को देकर शास्त्री जी के काव्य के साथ न्याय तो नहीं ही किया जा सकता; इसके लिये सभी कविताओं का रसास्वादन आवश्यक है। पार्वती के वाग्बाण, चाँदनी, अश्वत्थ आदि रचनाओं में भी 'सहृदय व्यंग्य' के स्वर के कारण रस की जैसी उद्भावना होती है वैसी परंपरागत हिंदी काव्य में दुर्लभ है।

अंतरा

आलोचक –

श्री रमण ; इभायण,

श्रीनरेश

नया टोला, मुजफ्फरपुर, ढाई रुपये ।

अंतरा के कवि रमण हिन्दी संसार के सुपरिचित कवि हैं, और एक जमाने के बदनाम कवि भी। मुझे तिथि और साल तो ठीक-ठीक याद नहीं, लेकिन इतना तो हिन्दी साहित्य के किसी भी चौकस पाठक को स्मरण होगा कि मास्को नामक रमण के कविता-संग्रह ने कम-से-कम बिहार में बड़ी हलचल पैदा कर दी थी। रमण के अंतरा के कोमल-तीव्र स्वरों पर कुछ कहने के पहले मास्को की याद कर लेना मैं आवश्यक मानता हूँ। उसका कारण

यह है कि रमण को समझने और उनसे रस लेने के लिये मात्र उनके काव्य को देखने से काम नहीं चलने का। बात और भी साफ हो जायगी यदि यह कहा जाय कि अंतरा की कविताओं को पढ़ने के पहले अंतरा की भूमिका पढ़ लेनी चाहिये। मास्को से अंतरा तक कवि के विचार कहाँ तक उलझे हुए हैं, और कहाँ तक सुलझे हुए, इसे जान लेने के लिये ही भूमिका को पढ़ लेना चाहिये। जिन्होंने मास्को पढ़ा होगा उन्हें या तो अंतरा से बड़ी नाउम्मीदी हासिल होगी, या उम्मीद, क्योंकि यह अंतरा 'मास्को' के 'स्थाई' का नहीं; रमण कवि-व्यक्ति की गोपन स्थाई' का है।

रमण के बारे में मैं कुछ अपने विचार प्रकट (observations) किये बिना उनकी कविता के बारे में अपनी पूरी बात नहीं कह रहा होऊँगा। इसलिये पहले वे। तो रमण की कविताएँ बड़ी व्यक्तिगत होने का दावा करती हुई भी नितांत 'निर्वाद' नहीं। मास्को के यथार्थ-वाद, कहा जाय, तथ्यवाद की उलझन (मेरी नजर में वह उलझन या काव्य का विवादी स्वर है) अंतरा तक आ कर भी कवि को छोड़ नहीं सकी है, साथ ही इसके, कवि, व्यक्ति और कवि के संबंध के बारे में, अपनी भूमिका में जो कुछ कहता है, उससे भी उपर्युक्त की ही पुष्टि होती है; रमण के इस कथन की नहीं कि अंतरा की कविताएँ किसी वाद विशेष का भार वहन नहीं करतीं। और रमण की इस उलझन का कारण, उसकी दृष्टि में, व्यक्ति और कवि का सम्बन्ध है। भूमिका के कुछ उल्लेखनीय स्थल ये हैं—

"अंतरा मेरे एक पुराने स्वप्न का मूर्त्तरूप है। स्वप्न का सत्य साकार होने के लिए कुछ तो आधार माँगता ही है और मेरे लिए यह संतोष की बात है कि मेरा प्राप्त आधार युगीन चेतना के अतिरिक्त अंतश्चेतना एवं विशुद्ध भावुकता की तलहटी में पनप कर मर्मस्पर्शी कल्पनाओं के सहारे सत्यं, शिवं, सुन्दरं के स्वर्गीय संदेशों का बोझ उठाये आपके सामने आ सका है।

"अंतरा मेरे अबतक की सम्पूर्ण साहित्यिकता का प्रतीक है। **'अंतरा से अलग न तो मेरा कवि कोई अस्तित्व रखता है और न मेरा 'मैं' कोई जिंदगी।** जिंदगी की हर दिशा में मेरे द्वारा वर्तित ईमानदारी ही 'अंतरा' की काया है और समय-समय पर अपनी परिस्थितियों द्वारा आलोड़ित मेरी भावना पर पहुँचने वाली चोट इसकी आत्मा।...

"अपने-आप से अलग अपने कवि को आश्रय दे, कोई उसकी वाणी से कला का प्रतिनिधित्व करावे——और सफलता से करावे——इसमें मुझे यकीन नहीं होता। **शायद इसीलिये मेरे मानव और मेरे कवि में तनिक भी अंतर नहीं रह गया है।** मुझे चोट पहुँचने पर मेरे कवि ने आह की है और कवि को कष्ट होने पर मैं छटपटा गया हूँ——यही अब तक होता रहा है।...

"मास्को से सर्वथा भिन्न स्वत: मुझ में आ कर मेरी वाणी के द्वारा प्रस्फुटित होनेवाली प्रेरणाओं के कोमल-करुण अभिव्यक्तियों के रूप इसमें अधिक देखने को मिलेंगे।..."

उलझन यह है कि क्या मास्को का कवि रमण का नहीं था, अथवा, मास्को की कविताएँ रमण द्वारा जिंदगी में वर्तित ईमानदारी से उद्भूत नहीं थीं। और यदि उनमें कवि की ईमानदारी के ही स्वर थे तो उसके स्वर अंतरा में बदल क्यों कर गये?

मेरे खयाल से गीत मनोदशा (mood) की चीज होती है. इसके लिए इसीसे किसी दर्शन विशेष, वाद विशेष के तर्क-संगत विस्तार या प्रतिपादन की कोशिश उसमें नहीं होनी चाहिए। हाँ, अच्छी शिक्षा (schooling) के बाद जो दृष्टिकोण बन जाता है उसके आधार से कवि हर चीज को यदि देखने लगे तो हर मनोदशा में वह संगति पायेगा। अंतरा की कविताएँ एक खास मनोदशा या एक खास अनुभव-विस्तार (experience-span) की चीजें हैं। इसीलिये अंतरा के विभिन्न गीतों में बार-बार एक ही दर्द, एक ही अफसाना, एक ही व्यथा विभिन्न शब्दों तथा छंदों में व्यक्त हुई है।

'इसी उम्मीद पर उत्साह से अभिशाप सहता हूँ' 'यह गगन विस्तार मेरी वेदना है', 'सूने सपनों के आस-पास', 'वेदना का रूप हूं मैं', 'मत चिर-व्यथा का भार लेना', 'आरती दे किस व्यथा की', 'वेदना के लोक में भी', 'क्यों वियोगी की कथा है', 'आह है पीड़ा सुखद ; कुछ है कसक, कोमल व्यथा है ! प्राण प्रिय इतना समझ लो--दर्द की जीवित कथा है' की-सी पंक्तियाँ पद-पद पर इस संग्रह में मिलती हैं।

जहाँ तक नितांत व्यक्तिगत अनुभूतियों और व्यक्तिगत कारणों से उनकी अभिव्यक्ति का प्रश्न है, अंतरा के गीत कहीं बड़े चुस्त भी हैं, कहीं कमजोर भी। लेकिन इतना है कि चुस्त या कमजोर पंक्तियों में भी रमण की वेदना विकृति (morbidity) के किनारे पहुँची हुई नहीं है। वेदना के स्वर के 'अस्तर' में उमंग और उत्साह की मूर्छना भी बोलती है।

मेरी समझ से अंतरा के जो गीत या स्थल कमजोर भी पड़ते हैं उनका उत्तरदायित्व रमण के इस खयाल पर है कि व्यक्ति और कवि एक ही है, उसे एक ही होना चाहिए। काव्य-जगत का इतिहास बतलाता है कि सभी महाकाव्यों के रचयिता तुलसीदास की तरह भक्त नहीं हुए। बँगला 'मेघनाद वध' के माइकेल मधुसूदन का जीवन सामाजिक रूढ़ि की आँखों से निम्न स्तर का उतरेगा। अँगरेजी का, शक्ति का कवि बाइरन व्यक्तिगत जीवन में कभी भी स्वस्थ नहीं माना जायगा। ऑस्कर वाइल्ड की भी वही हालत थी। आज का दीवाना बनाने वाला जाँ पॉल सार्त्र एक 'काफे' का मालिक है, व्यवसायी है, और व्यवसाय, विशुद्ध तर्क की दृष्टि से, कभी भी ईमानदारी से किया नहीं जा सकता। इतना ही नहीं, यदि कवि और व्यक्ति की भिन्नता को अस्वीकार कर दिया जाय तो व्यथा सहते हुए सृजन करना संभव नहीं होगा। इस विषय पर इतना ही कहना पर्याप्त होगा।

और छोड़िये, अब कविता की कुछ बातें हों। जहाँ तक इनका सवाल है, इन कविताओं से औसत पाठक उनके जितना रसास्वादन नहीं कर सकेंगे जिन्हें रमण को बहुत नजदीक से जानने का सौभाग्य प्राप्त है। जो उन्हें नजदीक से नहीं जानते उन्हें इन गीतों में गीतों-सा ही मजा आयगा। जो उन्हें नजदीक से जानते हैं, उन्हें इन गीतों की टेक उन्हें अपनी राह पर चल सकने की टेक देगी, ऐसा विश्वास के साथ कहा जा सकता है।

रमण के इन गीतों के अधिकांश में बड़ी निजी भावनाएँ हैं इसलिये उनसे किसी का भी कोई झगड़ा नहीं हो सकता। उदाहरणार्थ--

जीवन मेरा भार हुआ है
एक-एक दिन, एक-एक युग--

देता हूँ दे एक-एक पग
आज अचानक काँटा पथ का
मेरा निर्मम प्यार हुआ है।
या
मैं जीवन-पथ पर रोता हूँ !
जग में सब अपनापन खोकर—
केवल सुख सपनों को लेकर—
मानव के कोमल स्वभाव से, पथ-पाषाणों पर झुकता हूँ।

ऐसी पंक्तियों में, हो सकता है, बहुतों के हृदय की वेदना के मर्म-स्वर की प्रतिध्वनि हो। गेयता इनमें है। जुबान पर ये आसानी से चढ़ जाती हैं। लेकिन इसकी-सी रचना—

बड़ी वेदना लेके मैं जी रहा हूँ
न प्राणों को छाया कभी मिल सकी थी,
न दुर्दिन की दुनिया कभी हिल सकी थी,
जिसे तुम बता विष को ठुकराते युग से—
उसे कह सुधा अनवरत पी रहा हूँ
जो कलियों ने देखा मुझे, मुस्कुरायीं—
न हमदर्दियाँ खार ही ने दिखायीं—
भटकते बियाबाँ में किस्मत की चादर
जो थी फट गई, मैं उसे सी रहा हूँ।

अंतरा में कम हैं। लेकिन इस कमी से रमण की काव्य-प्रतिभा का मूल्यांकन नहीं होगा, होगा ऐसी रचनाओं से ही। और यह भी ठीक है कि उत्कृष्ट रचनाएँ कसरत से ही हो पाती हैं, मिल पाती हैं। सादगी का यह अंदाज और भी निखार खाता यदि उर्दू शायरी के चुभते वजन पर रमण 'किस्मत की फटी चादर' सीने की बात पर बस नहीं करते। फिर भी इन दो कमजोर पंक्तियों को छोड़ शेष कविता तो काफी अच्छी हुई है। वेदना के मनोवेग में जितना गांभीर्य हो, वह उतना ही पुरअसर होती है। उफनती-उबलती वेदना हमदर्दी का हकदार कम होती है। और रमण की वास्तविक वेदना का स्वर यहाँ अत्यधिक गंभीर और संयत हो उठा है। चीख-चीख कर यह कहना कि वेदना है, उन्माद का लक्षण होगा। संयत वेदना का तासीर गहरा तब होता है जब वह आपका ध्यान आकृष्ट करने को लाल कपड़ा न दिखाए। उर्दू की ये दो पंक्तियाँ इसीलिए क्लासिक-सी मानी जाती हैं—

सिरहाने मीर के आहिस्ता बोलो
रोते-रोते अभी टुक सो गया है।

व्यक्तिगत चुभन के दायरे से बाहर रमण ने अंतरा के गीतों में कभी-कभी काफी कमजोर ढंग से बातें कह दी हैं--

मैंने पूजे देव, मनुज भी मैं पूजूँगा !
मैंने गाए गीत, शंख भी मैं फूंकूँगा !
कला कला के लिए हुई तो, क्लीव हुई वह--
ज्वाला भरे समुद्र-बीच भी मैं कूदूँगा !

या

गला देश के लिए नहीं तो गला नहीं है।

या

अब तक चुप ही रहा, न अब चुप रहना होगा,
चाहे कटे ज़ुबान, सत्य ही कहना होगा—
जलें महल के साथ झोंपड़े भी यदि मेरे—
फिक्र नहीं उन्चास पवन को चलना होगा।

या

मा शहीद की, रो मत तेरा हँसता बेटा—
अगर मुल्क के लिए मरा तो मरा नहीं है !

या

शोषक का हो चुका, आज शोषित की बारी।

स्पष्टतः इन पंक्तियों में काफी सस्तापन है ; साथ ही, इस परंपरा को दिनकर ने एक अर्सा हुआ चुका दिया। इसलिए ऐसी पंक्तियाँ पाठक के मन में किसी आवेग विशेष का पुनर्निर्माण कर नहीं पातीं।

अंतरा की कविता लोकप्रिय हुई हैं, ऐसा द्वितीय संस्करण से स्पष्ट है। लेकिन रमण लोकप्रियता को अपनी कला की कसौटी न बनाएँ, ऐसा मेरा विचार है। उनमें संभावनाएँ हैं और यदि कलम के इस्तेमाल में वे संयम से काम लेते रहे तो शायद बहुत लोकप्रिय नहीं होते हुए भी वे साहित्य को कुछ ठोस दे सकें, ऐसा कहा जा सकता है।

बिहार के साहित्यकारों की अप्रकाशित रचनाएँ

[१] आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री (साहित्यविभागाध्यक्ष, संस्कृत-कालेज, मुजफ्फरपुर) ने कई साल पहले 'श्रीनिरालाअभिनन्दनग्रंथ' छपवाना शुरू किया था। उसमें अधिकतर 'निराला' जी और उनके रचे साहित्य से सम्बन्ध रखनेवाली संस्मरणात्मक एवं समीक्षात्मक रचनाएँ हैं। वह छ–सात सौ पृष्ठों तक छपा हुआ है। अर्थाभाव से आगे न छप सका। उसके सब छपे फार्म नष्टप्राय हैं। किन्तु शास्त्रीजी के पास एक प्रति सुरक्षित है। उसके प्रकाशित होने से हिन्दीसाहित्य में एक अपूर्व ग्रंथरत्न संचित हो जायगा। उसके सिवा शास्त्रीजी के साहित्यिक निबन्धों, कविताओं और कहानियों के संग्रह भी तैयार हैं। हिंदी-जगत् शास्त्रीजी की विद्वत्तापूर्ण रचनाओं से भलीभाँति परिचित है, इसलिए उनके विषय में कुछ कहना अनावश्यक है। उन्होंने 'राधा' नामक एक सुन्दर महाकाव्य की भी रचना की है, जो प्रकाशित होने पर हिन्दी का एक अनुपम काव्यग्रंथ होगा।

[२] श्री जयकिशोरनारायण सिंह (सीतामढ़ी, मुजफ्फरपुर) ने 'मेघदूत' का हिन्दी-पद्यानुवाद तैयार किया है। आज तक जितने ऐसे अनुवाद प्रकाशित हो चुके हैं उनसे यह कहीं बढ़ाचढ़ा है और मूल के अत्यन्त समीप होते हुए भी सुबोध, स्पष्ट, ललित और मनोहर है। इसके सिवा उनके साहित्यिक निबंध भी बड़े अनूठे हैं और उनकी कविताएँ तथा कहानियाँ भी बहुत उच्चकोटि की हैं। इन सबका संग्रह भी प्रकाशित होने से हिन्दी में अध्ययन-मनन के योग्य साहित्य प्रस्तुत होगा। नोबेल-पुरस्कार-विजेता डाक्टर अलेक्सिस करेल की प्रसिद्ध पुस्तक 'मैन द अन-नोन' का हिन्दी-अनुवाद 'अज्ञात मानव' नाम से भी तैयार है।

[३] श्री शिवनन्दन सहाय (धरहरा, डा० रूनी सैदपुर, मुजफ्फरपुर) ने हिमालय-पर्वत, अफगानिस्तान और सीलोन (लंका) की यात्रा करके आँखों–देखा वर्णन लिखा है। वे अनेक बार हिमालय-प्रदेशों की यात्राएँ कर चुके हैं। उनके अनुभव अनमोल और असंख्य हैं, जो उनकी इन पुस्तकों में सरल भाषा में अंकित हैं। 'कैलासदर्शन' पुस्तक उनकी प्रसिद्ध है। उनकी ये पुस्तकें सचित्र हैं। इन ज्ञानवर्धक और मनोरंजक पुस्तकों के प्रकाशन से हिन्दी में बड़ा सुन्दर तथा प्रामाणिक यात्रा-साहित्य तैयार होगा। इन यात्रा-विवरणों में कितनी ही अद्भुत, रोचक और ज्ञातव्य बातें भरी हुई हैं।

[४] श्री व्रजविहारीशरण जी (पाँड़ेपट्टी, बक्सर)–आप वयोवृद्ध पुराने साहित्य-सेवी हैं। इतिहास और संस्कृत के अच्छे ज्ञाता हैं। आपके तीन नाटक तैयार हैं—नन्दपतन, अशोक, कुणाल। आपके गवेषणापूर्ण निबन्धों का संग्रह भी प्रकाश में आने योग्य है। आपकी रचनाएँ पटना के दो मासिक पत्रों ('बिहार' और 'नई धारा') में प्रायः छपती हैं। आपके नाटक और निबन्ध महत्त्वपूर्ण हैं। उनके प्रकाशित होने से हिन्दीसाहित्य को अच्छी ही चीजें मिलेंगी। उनकी कहानियों का संग्रह भी तैयार है।

[५] श्री रासविहारीराय शर्मा (हेडमास्टर, जिला-स्कूल, राँची) —आप भी पुराने साहित्यसेवी हैं। आपने 'बिहार के शैलीकार गद्यलेखक' नामक ग्रंथ तैयार किया है। बहुत खोज और परिश्रम का यह परिणाम है। इसमें दो खण्ड हैं जिनमें पुराने और नये गद्यकारों का परिचय है तथा उनकी रचनाओं के नमूने भी हैं। इस ग्रंथ में पं० सदल मिश्र से आधुनिक शैलीकारों तक का समालोचनात्मक परिचय है। इसका शीघ्र छपना बहुत जरूरी है।

[६] प्रो० गिरिजादत्त त्रिपाठी (हिन्दीविभागाध्यक्ष, मुन्शीसिंह कालेज, मोतिहारी, चम्पारन)—आपके पास रस-छन्द-अलंकार-विषयक एक सर्वाङ्गसुन्दर ग्रंथ तैयार है। यह आपके अनेक वर्षों के स्वाध्याय और अनवरत श्रम का फल है। इनमें कई नवीनताएँ भी हैं। इसके छपकर निकल जाने से हिन्दीसाहित्य की शोभा बढ़ेगी।

[७] प्रो० मुरलीधर श्रीवास्तव (हिन्दी-विभागाध्यक्ष, राजेन्द्र-कालेज, छपरा) आपने 'हालकेन' के प्रसिद्ध अँगरेजी-उपन्यास (मास्टर अफ मैन) का हिन्दी-अनुवाद 'पाप की छाया' के नाम से किया है। मूल पुस्तक की मौलिकता और उसकी विशेषताओं की रक्षा करते हुए आपने स्वाभाविकता एवं रोचकता का भी यथेष्ट निर्वाह किया है। अनुवाद प्रामाणिक है।

[८] श्रीरघुनाथ प्रसाद मुख्तार (बाबूबाजार, आरा)—आप एक वयोवृद्ध साहित्य-सेवी हैं। आरा-नागरी-प्रचारिणी सभा के पुराने भक्त और सेवक हैं। आपने इधर अनेक संस्मरण लिखे हैं। उन्हें देखने से पता चलता है कि उन संस्मरणों के छपने से बहुत-सी साहित्यिक, सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक और मानव-स्वभाव-परिचालक बातें मालूम होंगी जिनमें नैतिक शिक्षा और हास्य-विनोद का अच्छा पुट है। निराली चीज है।

[९] श्रीशुकदेवनारायण जी बिहार के बड़े होनहार नवयुवक लेखक हैं। आप कई सार्वजनिक संस्थाओं में साहित्यिक कार्य कर चुके हैं। आपने 'धरती और आकाश' नामक बालोपयोगी एवं किशोरोपयोगी सुन्दर वैज्ञानिक पुस्तक लिखी है। वनस्पति-जगत् पर भी आपकी एक पुस्तक तैयार है। ये दोनों पुस्तकें बहुत उपयोगी और आकर्षक हैं।

[१०] हिन्दी के सुप्रसिद्ध कथाकार श्री राधाकृष्णजी ('आदिवासी'—सम्पादक, राँची) ने एक पौराणिक उपन्यास तैयार किया है। उसका नाम "वे" रखा है। वह हिन्दी में एक अपूर्व उपन्यास होगा।

[११] श्रीरामगोपाल शर्मा 'रुद्र' हिन्दी के प्रसिद्ध कवि हैं। उनका 'द्रोण' काव्य प्रकाशित हो चुका है। उनकी सुन्दर कविताओं के दो संग्रह तैयार हैं।

[अन्य लेखक एवं कवि भी कृपया शीघ्र सूचना भेजें]

'बिहार का साहित्यिक इतिहास'

गत वर्ष के चौथे अंक के चौथे आवरणपृष्ठ पर 'बिहार का साहित्यिक इतिहास' के सम्बन्ध में आरंभिक विज्ञप्ति प्रकाशित हो चुकी हैं। इस ग्रंथ को शीघ्र तैयार कर देने का आदेश बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् से मिल चुका है। उसी के तत्त्वावधान में सारी संगृहीत सामग्री का विश्लेषण कराया जा रहा है। यह काम हो जाने पर शेष या अपेक्षित सामग्री के लिए पुनः विज्ञप्ति प्रकाशित कराई जायगी। ऐसा अनुमान होता है कि अभी बहुत-से साहित्यकारों के परिचय अवशिष्ट अथवा अप्राप्य हैं। अतः सभी साहित्य-स्रष्टाओं से नम्र निवेदन है कि वे इस ग्रन्थ को सर्वाङ्गपूर्ण बनाने में समुचित सहायता करें।

कृपया नीचे के पते से सब तरह की सामग्री भेजिए—

(मंत्री, बिहारराष्ट्रभाषापरिषद्, सम्मेलनभवन, कदमकुँआ, पटना–३)
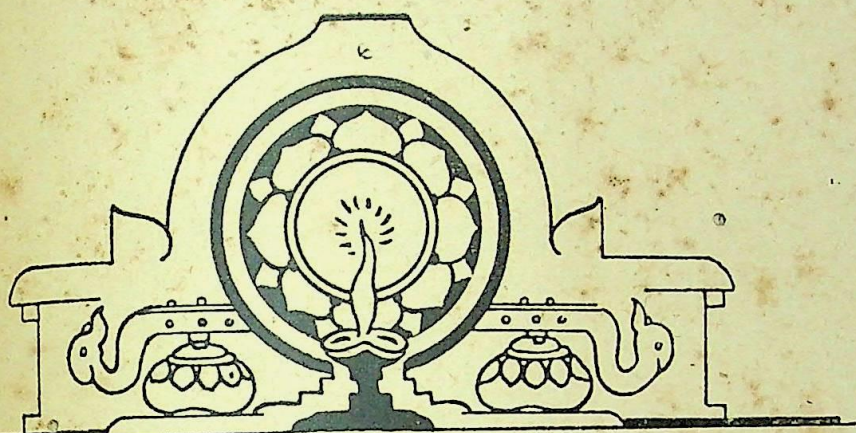
साहित्य

बिहार-हिन्दी साहित्य-सम्मेलन का त्रैमासिक मुखपत्र

वर्ष २ | आश्विन, संवत् २००८; अक्तूबर, १९५१ ई० | अंक ३

सम्पादक

शिवपूजन सहाय : : नलिनविलोचन शर्मा

विषयानुक्रम

"बिहार का साहित्यिक इतिहास"

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् की ओर से उसके मंत्री श्री शिवपूजन सहाय की देख-रेख में "बिहार का साहित्यिक इतिहास" नामक ग्रन्थ तैयार कराया जा रहा है। उसके लिए बिहार के हिन्दीप्रेमियों का सहयोग अत्यन्त आवश्यक है। बिहार के साहित्यानुरागियों की सहायता के बिना यह महान् कार्य कभी सफल नहीं हो सकता। इसलिए सभी हिन्दीहितैषियों से नम्र निवेदन है कि वे इस ग्रन्थ को सर्वांग पूर्ण बनाने में यथाशक्ति, यथासंभव सहायता देने की कृपा करें।

इस ग्रन्थ के लिए निम्नांकित प्रकार से सहायता दी जा सकती है और शीघ्रातिशीघ्र उस सहायता की अत्यन्त आवश्यकता है; क्योंकि इस साल ग्रन्थ को पूरा तैयार कर देने का दृढ़ निश्चय किया गया है—

(१) पुराने पुस्तकालयों में बिहार के पुराने साहित्यकारों की जो पुरानी पुस्तकें हों उनका विवरणात्मक परिचय चाहिए—लेखक, सम्पादक, अनुवादक या संग्रह-कर्त्ता; पुस्तक का विषय; उत्तम अंश का उदाहरण; प्रकाशन—संवत् या सन्; पृष्ठ-संख्या; मूल्य; प्रकाशक; लेखक का पता।

(२) किसी पुराने लेखक या कवि की अप्रकाशित पाण्डुलिपि किन्हीं सज्जन के पास हो तो उसका भी पूरा विवरण चाहिए—ग्रन्थकार का नाम और पता; ग्रन्थ का नाम और विषय तथा चुना हुआ उत्कृष्ट उदाहरण; रचना—संवत् या सन्; पृष्ठ-संख्या; लिपिकार का नाम और पता।

(३) वर्त्तमान साहित्यकार की प्रकाशित—अप्रकाशित सब रचनाओं का नाम और आवश्यक विवरण—प्रकाशन-काल; प्रकाशन-स्थान; अप्रकाशित रचना का संक्षिप्त परिचय; रचनाकार का जन्म-संवत् और रचना-काल; संक्षिप्त जीवन-परिचय और जन्मस्थान तथा निवासस्थान का पूरा पता; विशेष उल्लेखनीय बातें; रुचि-प्रवृत्ति आदि।

(४) पत्र-पत्रिका के सम्पादक और संचालक तथा प्रकाशक का पूर्वोक्त रीति से संक्षिप्त परिचय; पत्र-पत्रिका का नाम और प्रकाशन-काल तथा प्रकाशन-स्थान; पृष्ठ-संख्या; वार्षिक मूल्य; प्रकाशन स्थगित होने का समय; मुख्य-मुख्य जानने योग्य आवश्यक सूचनाएँ, सम्पादकीय लेखों में से आरम्भ और अन्त अथवा मध्य का उत्तम उदाहरण।

(५) प्रमुख साहित्यकारों के चित्र और उनकी लिखी साहित्यिक चिट्ठियाँ तथा उनके नाम से लिखी दूसरे साहित्यकारों की चिट्ठियाँ।

(६) हिन्दी पुस्तकालयों के संस्थापकों और संचालकों का संक्षिप्त परिचय; हिन्दी-हितार्थ काम करने वाली सार्वजनिक संस्थाओं तथा उनके संस्थापकों एवं संचालकों और कार्यों का संक्षिप्त विवरण।

(७) हिन्दी के ऐसे भक्तों और सेवकों का संक्षिप्त परिचय, जो स्वयं लेखक या कवि नहीं हैं या थे; पर जिनके सदुद्योग से हिन्दी का प्रचार, उपकार अथवा हित-साधन हुआ हो या हो रहा हो।

सब तरह की उपयुक्त सामग्री भेजने का पता—

—मंत्री, बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, सम्मेलन-भवन, पटना ३
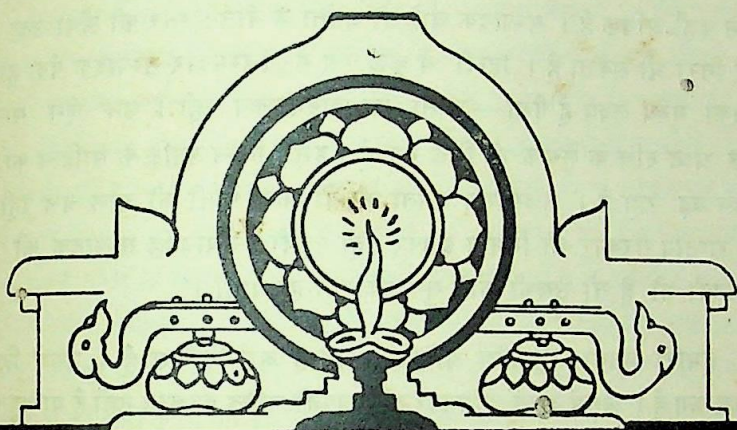
साहित्य

बिहार-हिन्दी-साहित्य सम्मेलन का त्रैमासिक मुखपत्र

वर्ष २ | आश्विन, संवत् २००८; अक्तूबर, १९५१ ई० | अंक ३

सम्पादकीय

लेखक-सम्पादक-सम्बन्ध

लेखक और पत्र-सम्पादक का बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। दोनों के पारस्परिक सहयोग के बिना साहित्य-रचना का उद्देश्य सिद्ध नहीं होता। लेखक के भाव और विचार सम्पादक के पत्र द्वारा जनता तक पहुँचते हैं। सम्पादक के पत्र का कलेवर लेखक के सहयोग से सुन्दर होता है। इस तरह, एक का दूसरे के लिये महत्त्व बहुत अधिक है। किन्तु हिन्दी संसार म लेखक से अधिक सम्पादक का ही महत्त्व है। विगत युग के सम्पादक को लेखक के साथ-साथ पाठक भी पैदा करना था ; पर आज के सम्पादक को वह सब कुछ नहीं करना, केवल जनता के मन में सुरुचि पैदा करना है। जब तक जनसाधारण में

सुरुचि पैदा न होगी तब तक सत्साहित्य का प्रचार नहीं बढ़ेगा। यह सुरुचि पैदा करने का काम लेखक से अधिक सम्पादक कर सकता है। इस काम में सम्पादक का उत्तरदायित्व लेखक से कहीं अधिक है। सम्पादक चाहे तो जनता के नैतिक स्तर को ऊँचा उठा सकता है, और गिरा भी सकता है। हिन्दी में कुछ ऐसे गैर-जिम्मेदार सम्पादक पैदा हो गये हैं, जिनका मुख्य लक्ष्य है पैसा—जनता का चरित्रोत्कर्ष नहीं। उन ऐसे सम्पादकों को कुछ भ्रष्ट रुचि के लेखक भी मिल गये हैं। इससे निम्न कोटि के साहित्य का प्रचार दिन-दिन बढ़ रहा है। फलस्वरूप जनता की नैतिकता पानी की चाल चल रही है। हमारी राष्ट्रीय सरकार की निगाह इसपर नहीं पड़ती। जवाबदेह सम्पादक की नजर अगर पड़ती भी है तो उसकी कोई सुनवाई नहीं हो पाती।

हमारी जनता अधिकांश अशिक्षित अथवा अर्द्ध-शिक्षित है। उसमें हिताहित की समझ कम है। उसमें अपने अधिकार और अपनी शक्ति का ज्ञान नहीं है या बहुत थोड़ा है। उसकी नैतिकता की नींव हिलाने वाले जितने सजग हैं उतना ही वह खुद असावधान है। यदि जनता में कुछ दम होता—कुछ चेतना होती तो चौराहों पर अनिष्टकर साहित्य की होलियाँ जलाई जातीं। तब जनता के चरित्र के साथ खिलवाड़ करने वाले पैसापंथी सम्पादकों के होश ठिकाने आते। तब सत्साहित्य की पूछ होती। तब सत्साहित्य पनपता—पल्लवान्वित होता और पुष्पित। किन्तु, जब हमारे बहुतेरे लेखक भी कर्त्तव्यज्ञान से वंचित हैं तब उनमें ऐसा साहस नहीं कि स्वेच्छाचारी सम्पादकों से असहयोग कर सकें। जिस दिन सस्ता बाजारू साहित्य तैयार करनेवाले लेखकों के मन में क्रान्ति की भावना जाग उठेगी उस दिन मन-मथनकारी साहित्य का दिवाला पिट जायगा। परन्तु ऐसा तभी होगा जब सत्साहित्य की सृष्टि करनेवाले लेखकों को सुरुचि-सम्पन्न सम्पादकों की ओर से उतना ही प्रोत्साहन प्राप्त होगा, जितना अवांछनीय साहित्य वमन करने वाले लेखकों को निरंकुश सम्पादकों से प्राप्त होता है। लेखक और सम्पादक के मधुर सम्बन्ध से ही साहित्य सँवरेगा।

आज हिन्दी में अच्छे लेखकों की कुछ कद्र होने लगी है। लब्धप्रतिष्ठ लेखकों को कुछ आर्थिक पुरस्कार भी मिलने लगे हैं। छुटभैया लेखक भी कुछ-न-कुछ पाने लग गये हैं। किन्तु फिर भी स्थिति कुछ ऐसी सन्तोषप्रद नहीं है कि कोई लेखक स्वतन्त्र अथवा स्वावलम्बी जीवन बिता सके। बड़े-से-बड़े यशस्वी लेखक भी दिन-रात खटने के बाद किसी तरह अपनी ही आवश्यकताओं की कुछ पूर्त्ति कर पाते हैं, अपने परिवार का भरण-पोषण नहीं। इसका मुख्य कारण यह जान पड़ता है कि स्वाधीनचेता सम्पादकों की बड़ी कमी है। उन्हें पत्र-संचालक अथवा प्रकाशक की इच्छा के अनुसार ही अपने लेखकों को पुरस्कृत करना पड़ता है। जो सम्पादक स्वयं ही संचालक एवं प्रकाशक भी हैं उनकी आर्थिक स्थिति प्रायः ऐसी दृढ़ नहीं कि लेखकों को यथेच्छ पुरस्कार दे सकें। पत्राध्यक्षों

के निर्देशानुसार काम करने वाले सम्पादक इच्छा रहते हुए भी अपने लेखकों को सन्तुष्ट नहीं कर पाते ।

इस युग में रोटी का सवाल बड़ा बीहड़ हो गया है। लेखकों का हिन्दी प्रेम अथवा साहित्यानुराग जीविका की जटिल समस्याओं के बीच उलझकर हतप्रभ-सा हो रहा है। विशेषतः उदीयमान लेखकों और कवियों को पराधीन या स्वाधीन सम्पादकों से मनचाहा सहारा नहीं मिलता। इस तरह बहुत-से होनहार लेखक अच्छी तरह उभरने नहीं पाते। यदि प्रतिभा की परख रखनेवाले सम्पादक लब्धकीर्त्ति लेखकों के साथ-साथ नये उगते हुए मेधावी लेखकों का भी उत्साहवर्द्धन करते चलें तो भावी पीढ़ी स्वतः पुष्ट होती जायगी। सब तरह से विचार करने पर इसी निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि हिन्दी की वर्त्तमान स्थिति समझते हुए और उसकी बढ़ती हुई प्रगति को विशेष उत्तेजित करने के लिये लेखकों और कवियों को कुछ दिन धैर्य और सन्तोष से काम लेना पड़ेगा तथा जनता में सुरुचि पैदा करने का दृढ़ संकल्प करना होगा। और सम्पादकों को मिठास के साथ साहित्य-स्रष्टाओं को अपनाना होगा और उन्हें यथाशक्य सन्तुष्ट रख कर उनसे ऐसा साहित्य तैयार कराना होगा जिससे हिन्दी-पाठकों का वास्तविक कल्याण हो सके।

—शिव०

हिन्दी और अंग्रेजी के पत्रकार

यद्यपि देश के जागरण में, स्वतन्त्रता-संग्राम में, राष्ट्रीय आन्दोलन की सफलता में और लोकमत को अनुकूल तैयार करने में हिन्दी पत्रों ने ही सबसे अधिक परिश्रम किया है तथापि अंग्रेजी के पत्रों का महत्त्व आज भी हिन्दी पत्रों से अधिक समझा जा रहा है। आज भी जनसाधारण पर हिन्दी पत्रों की ही धाक है, पर हिन्दी पत्रकारों की दशा सर्वत्र शोचनीय ही है। निश्चय ही पहले से अब हिन्दी के सम्पादकों का मूल्यांकन अधिक होने लगा है, फिर भी अंग्रेजी पत्रों के सम्पादकों से उनकी कोई तुलना नहीं की जाती।

जहाँ एक ही कार्यालय से अंग्रेजी और हिन्दी के अखबार साथ-साथ निकलते हैं वहाँ दोनों के सम्पादकों के और अन्य सहायक पत्रकारों के वेतनक्रम में इतनी अधिक विषमता है कि पत्र-संचालकों की इस भेदनीति का रहस्य समझ में नहीं आता। अगर समझ में आता भी है तो यही कि अभी तक हमारे हिन्दी भाषाभाषी पत्राध्यक्षों की मनोवृत्ति भी अंग्रेजियत के रंग में शराबोर है और वे आज तक हिन्दी की शक्ति का ठीक-ठीक अनुमान भी नहीं कर सके हैं। यह सही है कि सरकार की ओर से अंग्रेजी को अपना अस्तित्त्व कायम रखने के लिये बारह वर्ष का एक युग मिल गया है; परन्तु वह इसलिये नहीं मिला है कि हिन्दी को लताड़ कर अंग्रेजी को चन्दन का टीका लगाया जाय, बल्कि वह इसलिये मिला है कि निश्चित अवधि के अन्दर ही अंग्रेजी का स्थान लेने योग्य हिन्दी बना दी जाय। किन्तु यह तभी संभव होगा जब हिन्दी भाषाभाषी पत्रस्वामी ईमानदारी से हिन्दी के पृष्ठपोषण और उन्नयन में तत्पर हों।

अंग्रजी के अखबारों को जितनी सुविधाएँ सुलभ हैं उतनी ही कठिनाइयाँ हिन्दी पत्रों को नसीब हैं। हिन्दी पत्रों के मार्ग में पग-पग पर विविध बाधाएँ हैं। उन सबको झेलते हुए हमारे पत्रकार आर्थिक संकट भी झेल रहे हैं। किन्तु उनके त्याग का मूल्य आँकनेवाला कोई सहृदय भी होना चाहिये। अंग्रेजी के पत्रों से हमारा कोई द्वेष नहीं—हमारी कोई शिकायत नहीं, पर हिन्दी पत्रों से हमारी स्वाभाविक सहानुभूति इसलिए है कि जनसमाज के उद्बोधन के प्रयत्न में वे विदेशी भाषा के पत्रों से बहुत आगे बढ़े हुए हैं। मगर हमारी छूछी सहानुभूति की तब तक कोई सार्थकता नहीं जब तक हमारे पत्राध्यक्षों में यह अनुभूति नहीं पैदा होती कि देशी भाषा के पत्रों के हाथ में ही देश का भविष्य है और उस महान भविष्य के निर्माण में हिन्दी पत्र ही समर्थ होंगे।

अंग्रेजी के पत्रों का अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व बतला कर उनका पक्ष समर्थन किया जाता है। हम उसका विरोध करना नहीं चाहते। हम अंग्रेजी पढ़ने-लिखने को भी नापसन्द नहीं करते। लेकिन यह जरूर खलता है कि हिन्दी पढ़ने और समझने की शक्ति अथवा योग्यता रखनेवाले लोग भी यह कहते हुए अंग्रेजी के पत्र पढ़ा करते हैं कि हिन्दी पत्रों से सन्तोष ही नहीं होता। निस्सन्देह उस सन्तोष के भीतर गुलामी के कीटाणु भरे हुए हैं, जो केवल अंग्रेजी के पत्रों से ही प्राप्त होता है। आखिर वह सन्तोष कब और कैसे प्राप्त होगा? वह तो तभी प्राप्त हो सकता है जब हिन्दी के पत्रों की अवस्था क्रमशः उन्नत की जाय—उन्हें सामूहिक रूप से आश्रय एवं प्रोत्साहन दिया-दिलाया जाय।

अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोगों से अगर यह कहा जाय कि अंग्रेजी अखबारों के साथ कुछ हिन्दी पत्र भी लिया कीजिए, तो वे बिना हिचक-झिझक के ही पैसे के अभाव का बहाना कर बैठेंगे। हमारे बंगाली भाई अंग्रेजी के बहुत बड़े हिमायती हैं, पर उनमें से शायद ही कोई ऐसा अभागा होगा जो नियमित रूप से एक-दो बँगला पत्र न खरीदता और पढ़ता हो। मुसलमान भाई भी अंग्रेजी के साथ ही उर्दू को भी अपनाने का ख्याल रखते हैं। मराठी, गुजराती, तामिल, तेलगु, कन्नड़, मलयालम, उत्कल आदि भाषाओं के अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोग भी अपनी-अपनी भाषा के पत्रों को अकुण्ठित चित्त से अपनाते हैं। किन्तु हिन्दी संसार के अंग्रेजीदाँ लोगों में बहुत ही कम ऐसे हैं जो अपनी भाषा के प्रति कुछ ममता रखते हैं। अंग्रेजी के ये अनन्य उपासक यदि हिन्दी की ओर भी थोड़ा ध्यान देते चलें, तो हिन्दी को जो जनता का सहारा मिल रहा है वह और भी सबल होता जायगा, जिससे हिन्दी के सम्पादकों और पत्रकारों की मान-मर्यादा काफी बढ़ जायगी।

हमारा ख्याल है कि लोकप्रियता और प्रचारवृद्धि के लिए तथा अंग्रेजीदाँ लोगों को स्वाभाविक रीति से आकृष्ट करने के लिए हिन्दी के सम्पादकों और पत्रकारों को घोर परिश्रम करना होगा। सच तो यह है कि आज यदि वे वस्तुतः परिश्रम करते होते तो अंग्रेजी के मुकाबले उनका मोल न घटता। मोर्चे पर डटने के लिए जितनी क्षमता और सत्ता अपेक्षित है उतनी तो उनमें होनी ही चाहिए। हिन्दी के कुछ पत्र आज भी

अंग्रेजी से टक्कर लेने योग्य हैं, कुछ सम्पादक और पत्रकार भी बराबरी में धार पर डटे रहने योग्य हैं ; किन्तु अंग्रेजी के सामने हिन्दी की जो हीनता हमारे अपने लोगों की नजरों में समाई हुई है वही कंचन को काँच कर रही है। —शिव०

हिन्दी में हस्तलिखित पत्र-पत्रिकाएँ

इधर हिन्दी प्रेमियों में एक नई कलात्मक प्रवृत्ति जाग रही है। हिन्दी-सम्बन्धी बहुत-सी संस्थाएँ हस्त-लिखित पत्र-पत्रिकाएँ निकालने लगी हैं। कहीं कोई साहित्य-परिषद् निकालती है, कहीं कोई बालगोपाल-मण्डली या नवयुवक - गोष्ठी। कहीं किसी पुस्तकालय या छात्रावास से निकलती है, कहीं किसी मुहल्ले और महिला-समिति से। हमारा अन्दाज है कि अकेले बिहार में ही कम-से-कम एक-डेढ़ सौ हस्त-लिखित पत्रिकाएँ बड़ी सजधज से निकला करती हैं। कहीं उनका रूप मासिक है, कहीं द्वैमासिक या त्रैमासिक, कहीं-कहीं षाण्मासिक और वार्षिक भी। तारीफ यह कि उनके विशेषांक भी समय-समय पर निकला करते हैं। उनकी बहुरंगी सजावट देखने ही योग्य होती है। देखने से हिन्दी प्रेमियों के उत्साह और परिश्रम का तो अन्दाज लगता ही है, उनकी सुरुचि और लगन का भी पता लगता है। साथ ही, कला के प्रति उनके अविरल अनुराग का प्रमाण भी मिलता है।

हमने पचासों हस्त-लिखित पत्रिकाएँ देखी हैं। कुछ तो ऐसी सजीली दीख पड़ीं जैसी कोई मुद्रित पत्रिका भी शायद ही हो। कुछ के विशेषांक तो मुद्रित विशेषांकों से बढ़े-चढ़े नहीं तो उनके समकक्ष जान पड़े। पाठ्यसामग्री का संकलन भी दूषने योग्य नहीं। लिखावट की सुघराई छपाई को भी मात करनेवाली और चित्रकारी तो इतनी चमत्कारपूर्ण कि जान पड़ता है—जनसमाज के अन्दर कला की अभिरुचि अंकुरित हो रही है और आज की नई पीढ़ी में नये कलाकारों का एक खासा दल तैयार हो रहा है।

उदाहरण के लिए स्थानीय हिन्दी-साहित्य-संघ (गर्दनीबाग, पटना) की 'रश्मि' नामक पत्रिका के 'मेघांक' का उल्लेख करना अप्रासंगिक न होगा। इसमें लगभग तीन दर्जन चुनी हुई रचनाएँ लिपिबद्ध हैं। लिपिकार का हस्तकला-कौशल तो मनोहर है ही, मेघ-सम्बन्धी रचनाओं का संग्रह और उनके भावानुकूल उन्हें अलंकृत एवं चित्रित करने का प्रयास भी प्रशंसनीय है। अज्ञात रूप से, समाज के एक निभृत कोने में, बिना किसी प्रकार की आकांक्षा के, काफी तल्लीनता और श्रद्धा के साथ, देश के नौनिहालों के ऐसे कितने ही दल चुपचाप कला की आराधना कर रहे हैं। उनकी एकान्त साधना कभी व्यर्थ न होगी। उनकी चीज की कद्र भावी युग में अवश्य होगी। आज के युग में भी उनकी कलाप्रियता का उचित आदर होना चाहिए। साहित्यिक महोत्सवों के अवसर पर ऐसी पत्रिकाओं की पृथक् प्रदर्शनी होने की आवश्यकता है और उनके कुशल कलाकारों को पुरस्कृत एवं उत्साहित करना भी वांछनीय है।

हम 'साहित्य' में हस्त-लिखित पत्र-पत्रिकाओं का संक्षिप्त विवरणात्मक परिचय प्रकाशित करना चाहते हैं। किन्तु विवरण प्रकाशित करने के पूर्व हम उन्हें स्वयं देखना भी चाहेंगे। और, उनके संचालकों से यह निवेदन भी करेंगे कि वे स्थानीय और पड़ोसी चीजों को विशेष महत्त्व दिया करें। आशय यह कि जहाँ से जो पत्रिका निकलती हो वहाँ के कलावन्तों, गुणियों, शिल्पियों और दर्शनीय वस्तुओं का प्रामाणिक वर्णन उसमें होना चाहिए। अपने जिले और नगर का, अपने सबडिवीजन और परगने का, अपने अड़ोस-पड़ोस के पहाड़-नदी-जंगल का, इसी प्रकार पशु-पक्षी और पेड़-पौधे तथा मन्दिर-तालाब का गवेषणात्मक वर्णन लिपिबद्ध होता चलेगा तो एक दिन कभी ऐतिहासिक शोध का विषय बन जायगा और पत्रिका की कीमत बहुत अधिक बढ़ जायगी। वह दिन दूर नहीं है जब देहात और शहर के पुराने खँड़हर और टीले बड़ी लगन से खोदे जायँगे तथा उनमें पुराने चिह्नों की खोज करने के लिए बड़े-बड़े अन्वेषक तत्पर होंगे। उस समय ऐसी ही पत्रिकाओं की तलाश होगी, जो आज देश के लुप्तप्राय वैभव एवं समाधिस्थ गौरव का अनुसन्धान करने में तत्पर रहेंगी।

जहाँ कहीं हमने ऐसी पत्रिका देखी वहाँ हमने यही अनुभव किया और परामर्श भी दिया कि अपने आस-पास के कलाकारों, साहित्यिकों, पहलवानों, नायकों, कारीगरों और हुनरमन्दों का चित्र-चरित्र-संग्रह करके सुरक्षित रखिए, ताकि आगे चलकर देश के विविध क्षेत्रों का लेखा-जोखा तैयार करने में सुगमता हो, जिससे आगे की पीढ़ी यह अनुभव कर सके कि हमारे पूर्वजों की सांस्कृतिक चेतना प्रसुप्त नहीं, बल्कि प्रबुद्ध थी। केवल इतना ही नहीं, ऐसी पत्रिकाओं में सीमित क्षेत्रों के हर तरह के आर्थिक आँकड़े भी एकत्र किये जा सकते हैं। जनसंख्या, पशुधन, फल-फूल, उपज, मिट्टी, खनिज, जनता की आर्थिक स्थिति, सार्वजनिक संस्थाओं का इतिवृत्त आदि भी ऐसे प्रयोजनीय विषय हैं जिनका ब्योरा जुगाकर रखने से देश की आर्थिक जाँच-पड़ताल में बड़ी मदद मिल सकती है। इस तरह का काम भविष्य में आशातीत लाभ पहुँचा सकता है।

हर्ष का विषय है कि इस यन्त्रयुग में हस्त-लिखित पत्रिकाओं के द्वारा हस्त-लिपि-सौन्दर्य का बहुत-कुछ संरक्षण हो रहा है। यदि उनमें पुराने ढंग की पक्की स्याही और वैज्ञानिक ढंग से बने रंगों का प्रयोग होने लगे तो आज के शोध-में उपलब्ध हुई प्राचीन पाण्डुलिपियाँ जिस तरह अपने लिपिकारों के कलाप्रेम का परिचय देती हैं उसी तरह आज की हस्त-लिखित पत्रिकाएँ भी आने वाले युग में आज की कला-प्रवृत्तियों के प्रति लोगों का सम्मान-भाव जाग्रत करेंगी। इसलिए अपने-अपने जन्मस्थान में इन पत्रिकाओं के कला-मंडित अंकों का सुरक्षित रहना परमावश्यक है।

इन पत्रिकाओं से एक लाभ और होता है। जिन कलाकारों की कृतियाँ किसी कारण से मुद्रित पत्रिकाओं में प्रकाशित नहीं हो पातीं, उनका उत्साह-भंग होने नहीं पाता। उनके हृदयोद्गारों को इन पत्रिकाओं में शरण मिल जाती है और इतने से ही सन्तोष

करके वे अपने साहित्यानुराग को चरितार्थ समझते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि इन पत्रिकाओं की सेवा में संलग्न बहुत-से कलाकार भविष्य के साहित्यक्षेत्र में प्रकाश्य रूप से आगे आवेंगे और अपनी बहुदिनलालित लालसा की पूर्त्ति के साथ-साथ साहित्य-संवर्द्धन भी करेंगे। एवमस्तु।

—शिव०

हिन्दी-उपन्यास का उद्भव

"सोता संसार, जागता परवरदिगार, कहानी ऐसी झूठी, बातें ऐसी मीठी, कहने वाला झूठा, सुनने वाला सच्चा, भाई, कान की सुनी कहते हैं, आँख की देखी नहीं कहते, मुल्क-मुल्क के बीच में एक·····।"

कालिदास के शब्दों में, किन्तु उनके बहुत-बहुत बाद और हिन्दी के लिखित उपन्यासों के पहले, हिन्दी के "कथा-कोविद-ग्राम-वृद्ध" इसी प्रकार अपने मौखिक उपन्यासों का प्रारंभ करते थे। शाम के वक्त, दिन के थके-माँदे लोग, खाने-पीने के बाद, किस्सागो को घेर कर बैठ जाते और उस जमाने का धारावाहिक उपन्यास शुरू होता, जो पत्रिकाओं में "क्रमशः" छपने के बदले, दिन के बाद दिन, क्रमशः, चलता रहता। कालिदास ने लिखा है, उज्जयिनी के गाँवों के बड़े-बूढ़े लोग उदयन की प्रेम-कथाएँ सुनाने में दक्ष होते थे। उज्जयिनी ही क्यों, देश के प्रत्येक ग्राम और नगर में "कथा-कोविद" होते थे—उनके चरित-नायक उदयन के बदले गोपीचंद या हीर ही क्यों न हों। जिस युग में छापेखाने नहीं खुले थे और बहुत मूल्यवान् साहित्यिक ग्रन्थ ही बड़े परिश्रम से हाथ से लिखे जाते थे उस युग में भी उपन्यासों का अस्तित्व था, किन्तु इसी मौखिक रूप में। जहाँ और जब संस्कृत का प्रभाव था वहाँ संस्कृत की "वेतालपंचविंशति" और "सिंहासनद्वात्रिंशिका" जैसे यथार्थवादी उपन्यास "बैताल पच्चीसी" और सिंहासन बत्तीसी" के रूप में बोलचाल की हिन्दी में प्रचलित थे; जब मुसलमानों से संपर्क बढ़ा तो "तिलस्म-इ-होशरुबा" और "दास्तान-इ-अमीर हम्ज़ा" भी जनप्रिय बने।

बात ऐसी है कि भारतेन्दु के समय से तो हिन्दी उपन्यास का लिखित, मुद्रित और साहित्यिक रूप शुरू हुआ किन्तु हिन्दी उपन्यास की परंपरा उतनी पुरानी है जितनी हिन्दी काव्य की। अन्तर इतना ही है कि हिन्दी के प्राचीन काव्य का पर्याप्त अंश हस्त-लिखित पोथियों में सुरक्षित रह गया जब कि उसका गल्प-साहित्य मौखिक ही बना रहा।

हिन्दी उपन्यास की इस परंपरा का कोई निश्चित प्रमाण नहीं दिया जा सकता क्योंकि यह मौखिक परंपरा थी। ऐसी हालत में, पूछा जा सकता है, हमने इसकी इतने विस्तार से क्यों चर्चा की। इसके सम्बन्ध में हमें कहना यह है कि हिन्दी के नाटक और उपन्यास की परंपरा पर विचार करते समय एक विकट प्रश्न उठ खड़ा होता है। उसका उत्तर हिन्दी के विद्वानों ने नहीं दिया है। पर इस समस्या के समाधान के बिना हिन्दी के इन साहित्यिक रूपों का अध्ययन शुरू भी कैसे किया जाय? प्रश्न है, वासवदत्ताकार

सुबंधु, दशकुमारचरितकार दण्डी, हर्षचरित और कादम्बरीकार बाणभट्ट जैसे संस्कृत के महान् उपन्यासकारों का उत्तराधिकार शताब्दियों के अन्तराय के बाद भारतेन्दु युग को ही क्यों, उसके पूर्व के युगों को क्यों नहीं मिला ?

नाट्य-परंपरा के विच्छिन्न होने के जो कारण विद्वानों ने बतलाए हैं उनसे दूसरों को क्या स्वयं उन्हें ही संतोष नहीं होता। फिर भी इसके सम्बन्ध में कुछ चलते कारण तो बता ही दिए जाते हैं ; किन्तु गल्प की खंडित परंपरा के विषय में विद्वान मूक रह जाते हैं।

इस सम्बन्ध में मेरा निवेदन है कि यह मान लेना कि संस्कृत और हिन्दी के आधुनिक काल के बीच गल्प की परंपरा खंडित हो गई थी, एक भ्रांत धारणा है। किस्सा-कहानी या उपन्यास की परंपरा के सदैव दो रूप रहे हैं—एक, लिखित तथा साहित्यिक और दूसरा, मौखिक। दूसरे रूप की अविच्छिन्नता हम दिखा चुके हैं। हम यहाँ पहले रूप की सत्यता पर भी विचार कर लें। असल में संस्कृत साहित्य का विकास हिन्दी के आविर्भाव के साथ तो बन्द नहीं हो गया कि हमें मानना पड़ता कि भारत की साहित्यिक गल्प की धारा कुछ समय के लिए लुप्त हो गई। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी साहित्य को तत्कालीन परिस्थितियों के प्रकाश में देखने की चेष्टा की, किन्तु हिन्दी के समानान्तर रचित होने वाले संस्कृत साहित्य को वे पूर्णतः भूल गए। इसी का परिणाम है कि हम हिन्दी के आविर्भाव काल में जब काव्य के अतिरिक्त दूसरे साहित्यिक रूप ढूँढ़ने लगते हैं और हमें निराश होना पड़ता है तो हम यह समझ लेते हैं कि संस्कृत साहित्य की ये धाराएँ हिन्दी में रूपान्तरित और स्वीकृत होने के पहले ही लुप्त हो गईं। किन्तु बात कुछ दूसरी ही है। हिन्दी में प्रारंभिक युगों में पद्य के अतिरिक्त साहित्य का कोई भी दूसरा रूप स्वतन्त्र रीति से अपना विकास नहीं कर सका। यह स्वाभाविक ही था क्योंकि किसी भी नई भाषा में पहले पद्य की ही रचना होती है और बाद में ही गद्य तथा साहित्य के दूसरे रूपों का प्रादुर्भाव होता है। हिन्दी जैसे-जैसे परिपुष्ट और परिपक्व होती गई वैसे-वैसे वह संस्कृत से, काव्य से भिन्न, अन्य साहित्यिक रूपों को, पाती गई और आज जा कर शायद वह भी समय आया है जब संस्कृत निश्चिन्त हो कर अपने सारे अधिकार हिन्दी को सौंप दे। जब हिन्दी में बड़े परिमाण में काव्य-रचना हो रही थी तब संस्कृत में नाटक, उपन्यास, आलोचना आदि के सैकड़ों नए-नए ग्रन्थों का निर्मण हो रहा था। हाँ, भारतेन्दु के समय से हिन्दी का सर्वांगीण विकास होने लगा और संस्कृत के सृजनात्मक साहित्य की व्यर्थता सिद्ध होती गई। इसे संस्कृत और संस्कृत-प्रेमियों ने समझा है और उन्होंने हिन्दी को, उसकी वयः-प्राप्ति के बाद, उसका उत्तराधिकार सहर्ष सौंप दिया है। माता बहू को तिजोरी की ताली देती है, पर तभी जब बहू को वह अपने परिवार के संस्कारों में पगी हुई देख लेती है।

—न० वि० श०

———०———

भोजपुरी का विकास

डा० विश्वनाथ प्रसाद

जिस भाषा का विवरण मैं यहाँ प्रस्तुत कर रहा हूँ, वह एक विस्तीर्ण क्षेत्र और एक विस्तीर्ण जन-समुदाय की भाषा है। बिहार और उत्तर-प्रदेश--इन दो-दो प्रान्तों का कुल मिला कर लगभग पचास हजार वर्गमील भू-भाग उसकी परिधि के अन्तर्गत है और उसके बोलने वालों की संख्या इस समय तीन करोड़ से कम नहीं है। मैथिली-भाषा-भाषियों की संख्या भोजपुरी भाषा-भाषियों की अपेक्षा आधी है और मगही की तो उससे भी कम है। बिहार की अन्य भाषाओं से ही नहीं, मराठी-जैसी कई अन्य समृद्ध साहित्यिक भाषाओं से भी भोजपुरी-भाषा-भाषियों की संख्या बढ़ी हुई है। विस्तार तथा संख्या की दृष्टि से भारत की आठ प्रमुख भाषाओं में भोजपुरी का स्थान है।

बोलचाल के रूपों की दृष्टि से भोजपुरी के पाँच विभाग किये जा सकते हैं--उत्तरी भोजपुरी, दक्षिणी भोजपुरी, पश्चिमी भोजपुरी,नागपुरिया और थारू। पश्चिमी भोजपुरी फैजाबाद, आजमगढ़, जौनपुर, बनारस, पश्चिमी गाजीपुर और मिर्जापुर में बोली जाती है। नागपुरिया छोटानागपुर के पलामू और राँची जिलों में बोली जाती है। इसमें मुंडा-भाषावर्ग के बहुतेरे रूप पाये जाते हैं। इसे 'सदानी' या 'सदरी' भी कहते हैं और मुंडा लोग इसे 'दिक्कूकाजी' अर्थात् 'दिक करने वालों की भाषा' कहते हैं। चम्पारन, गोरखपुर और नेपाल की सीमा के पास बोली जाने वाली उत्तरी भोजपुरी को क्रमशः मधेसी, गोरखपुरी और थारू कहते हैं। दक्षिणी भोजपुरी गंगा के दक्षिण शाहाबाद और गंगा के उत्तर सारन के गंगा तट-स्थित दक्खिनी हिस्सों में तथा बलिया और गाजीपुर के पूर्वी भाग में बोली जाती है। भोजपुरी का यही रूप उसका स्टैंडर्ड या शुद्ध रूप समझा जाता है।

भोजपुर परगना, जिससे इस भाषा का नाम पड़ा है, शाहाबाद जिले के बक्सर सब-डिवीजन में गंगा के दक्षिणी किनारे पर बसा हुआ है। वहाँ 'नयका' और 'पुरनका' भोजपुर नामक दो गाँव अब भी मौजूद हैं। इस स्थान के महत्त्व का कारण धार के प्रसिद्ध महाराज भोज के वंशज पम्मार या परमार राजपूतों से इसका ऐतिहासिक संबंध है। ११वीं से १४वीं शताब्दी के बीच के समय में वे उज्जैन और धार से इस स्थान में आकर बस गये और मुंडा जाति के 'चेरो' लोगों को परास्त करके यहाँ अपनी सल्तनत कायम की। इसका उल्लेख डॉ० बुचनन* ने किया है, जो १८१२ ई० में भोजपुर देखने आये थे।

---

*Buchanan's Journal, Patna, 1926

देश के मध्यकाल के इतिहास में उज्जैन के राजपूतों का बड़ा महत्वपूर्ण भाग है। दिल्ली के शक्तिशाली मुगल बादशाहों से वे बहादुरी के साथ बराबर लोहा लेते रहे। हेनरिच फर्डिनैंड ब्लाकमैन+के विवरणों से पता चलता है कि अकबरके शासनकाल में भोजपुरके राजा दलपत, बक्सर के निकट, पराजित हुए और बन्दी बना लिये गये। जब बहुत नजराना लेकर अकबर ने उन्हें छुटकारा दिया तब उन्होंने फिर सैन्य-संघटन करके विद्रोह कर दिया और जहाँगीर के समय तक लड़ते रहे। अंत में भोजपुर के ऊपर आक्रमण हुआ और उनके उत्तराधिकारी प्रताप को शाहजहाँ ने फाँसी दिलवा दी। फिर भी भोजपुर प्रदेश के ये वीर योद्धा कभी दबे नहीं।

सन् १८५७ ई० के विद्रोह के प्रसिद्ध नेता कुँवर सिंह के समय तक उनका पराक्रम तथा प्रताप अक्षुण्ण बना रहा। इसमें सन्देह नहीं कि इस प्रदेश और यहाँ की बोली का नामकरण भोजराज के इन्हीं वीर वंशधरों के संपर्क से हुआ है।

सन् १७८१ ई० में रेनिल ने बंगाल का जो मानचित्र तैयार किया था (**Rennell's Bengal's Atlas of 1781**) उससे पता चलता है कि १८वीं शताब्दी में भोजपुर एक जिला बन चुका था, जिसके अंतर्गत शाहाबाद जिले का समस्त उत्तरी भाग आ गया था। धीरे-धीरे करके इस शब्द से इस प्रदेश के उत्तर, दक्खिन और पश्चिम के प्रदेशों का भी बोध होने लगा, क्योंकि यहाँ की बोली का प्रचार उन स्थानों में भी था। इस प्रकार वर्त्तमान भोजपुरी प्रदेश के अंतर्गत प्राचीन काशिका तथा मल्ल जनपदीय देश तथा पश्चिमी मगध और झाड़खंड, जो अब छोटानागपुर के नाम से विख्यात है—ये सभी सन्निविष्ट हैं। राहुल जी* ने भोजपुरी के लिये मल्लिका नाम के प्रयोग का जो प्रस्ताव किया था, उसका आधार इस प्रदेश के कुछ अंशों के साथ प्राचीन मल्लों का संसर्ग ही था। परंतु बौद्ध ग्रन्थों से पता चलता है कि मल्लों का विशेष संसर्ग गोरखपुर जिले से ही था। ऐसी दशा में लगभग तीन सौ वर्षों की परंपरा और प्रचलन से अनुप्राणित अर्थ-गर्भित भोजपुरी शब्द को छोड़कर इस भाषा के लिए एक नया और अव्याप्ति-दोषग्रस्त मल्लिका शब्द ग्रहण करना अनावश्यक और अनुचित प्रतीत होता है।

भोजपुरी-भाषा-भाषी जन-समुदाय अपनी वीरता और पराक्रम के लिए प्रसिद्ध है। प्रसिद्ध वीर आल्हा और ऊदल का मूल जन्मस्थान यही प्रदेश है। सन् १८५७ के विद्रोह के पहले तक हिन्दुस्तानी पल्टन में भोजपुरी भाषा-भाषियों की संख्या बहुत अधिक थी। भोजपुरी जनता की युद्धप्रियता और उग्रता के संबंध में अनेक कहावतें प्रचलित हैं :—

× Blochmann, Notes from Mohammadan Historians on Chota Nagpur Pachat and Palaman, J.A S.B., 1 871, pp. III—129 and Ain-i-Akbari of Abul–Fazl., vol 1, (Calcutta, 1875)

*विशाल भारत, १९४३ ई०

शाहाबाद जिले में होली का पहला ताल इसी गान से ठोका जाता है :—

'बाबू कुँअर सिंह तोहरे राज बिनु हम ना रँगइबो केसरिया।'

कृष्ण की श्रृंगारिक लीलाओं की अपेक्षा भोजपुरी जनता को उनका वीर चरित्र ही अधिक आकर्षित करता है :—

'लरिका हो गोपाल कूदि पड़े जमुना में।'

यह होली भोजपुर में बहुत प्रचलित है।

भागलपुर के भगोलिया कहलगाँव के ठग।
पटना के देवालिया तीनों नामजद॥
सुनि पावे भोजपुरिया तो तीनों के तूरे रग।‡

डा० ग्रियर्सन ने ठीक ही कहा है कि हिन्दुस्तान में नव-जागरण का श्रेय मुख्यतः बंगालियों और भोजपुरियों को ही प्राप्त है। बंगालियों ने जो काम अपनी कलम से किया वही काम भोजपुरियों ने अपनी लाठी से किया। इसीलिये लाठी की प्रशंसा में गिरिधर की जो प्रसिद्ध कुंडलिया भोजपुरी प्रदेश में प्रचलित है—'सब हथियारन छोड़ि हाथ में रखिहऽलाठी,' उसी से उन्होंने अपने (Linguistic Survey of India) म भोजपुरी के अध्याय का श्रीगणेश किया है।

भोजपुरी-भाषा-भाषियों की वीर-प्रकृति के अनुरूप ही उनकी भाषा भी एक चलती टकसाली भाषा है जो व्याकरण की अनावश्यक उलझनों से उन्मुक्त है। इस ओजस्वी और प्रभावशाली भाषा का भोजपुरी जनता को स्वभावतः अभिमान है। दो या ो से अधिक भोजपुरी-भाषा-भाषी, चाहे वे कितने भी ऊँचे या नीचे ओहदे पर हों, कहीं भी, कभी भी, जब एक दूसरे से मिलते हैं तो अपनी मातृभाषा भोजपुरी को छोड़कर अन्य किसी भाषा में बातचीत नहीं करते।

वस्तुतः पूर्वी भाषावर्ग में भोजपुरी का एक विशिष्ट स्थान है। ग्रियर्सन साहब ने भोजपुरी को मैथिली और मगही के साथ रखकर उन्हें एक सामान्य नाम 'बिहारी' के द्वारा सूचित किया है और बंगाली, उड़िया, आसामी तथा अन्य बिहारी भाषाओं के समान भोजपुरी को भी मागधी अपभ्रंश से व्युत्पन्न माना है। किन्तु साथ ही उन्हें यह भी स्वीकार करना पड़ा है कि मैथिली और मगही का पारस्परिक संबंध जितना घनिष्ठ है उतना उनमें से किसी का भी भोजपुरी के साथ नहीं है। एक ओर मैथिली-मगही और दूसरी ओर भोजपुरी के धातु रूपों में जो स्पष्ट भेद है उसको ध्यान में रखते हुए डॉ० सुनीति कुमार चटर्जी† ने भोजपुरी को मैथिली-मगही से भिन्न एक पृथक् वर्ग—'पश्चिमी मागधन्'—के

‡ऐसा प्रतीत होता है कि जिस समय यह कहावत प्रचलित हुई उस समय इन स्थानों में ऐसे लोगों की अधिकता हो गई होगी।—सं०

†Dr. S. K. Chatterji, O.D.B.L, p. 92

अंतर्गत रखा है। इसके विपरीत डा० श्यामसुन्दर दास,[१] डा० धीरेन्द्र वर्मा[२] आदि हिन्दी के भाषा-शास्त्री विद्वान अवधी आदि के समान भोजपुरी को भी हिन्दी से संबद्ध उपभाषाओं की श्रेणी में रखने के पक्ष में हैं। मेरी समझ में भोजपुरी का बहुत-कुछ संबंध अर्द्धमागधी से जान पड़ता है। प्राकृत वैयाकरणों ने मागधी में दन्त्य, मूर्द्धन्य और तालव्य 'श' के स्थान में केवल तालव्य 'श' तथा 'र' के स्थान में 'ल' के प्रयोग का जो एक मुख्य लक्षण बताया है वह भोजपुरी में नहीं पाया जाता। भोजपुरी के उच्चारण में अवधी के समान तालव्य 'श' के स्थान में भी दन्त्य 'स' का ही प्रयोग होता है और ऐसे रूपों की प्रचुरता है, जिनमें पश्चिमी हिन्दी में भी जहाँ 'ल' है वहाँ भोजपुरी में 'र' का ही प्रयोग होता है—जैसे :—

हिन्दी	भोजपुरी
थाली (सं० स्थाली)	थारी
केला	केरा
काजल	काजर
तलवार	तरवार
फल	फर

भोजपुरी के अस्-प्रत्ययान्त देखस, देखलस, देखतस—जैसे क्रियापदों में अर्द्ध-मागधी से व्युत्पन्न अवधी से बहुत-कुछ समानता है। यह ठीक है कि भाषा-विज्ञान की दृष्टि से भोजपुरी में बहुत-से ऐसे लक्षण हैं, जो उसकी बहनों—मगही, मैथिली और बंगला भाषाओं—से मिलते हैं; पर साथ ही शब्द-कोष, विभक्ति, सर्वनाम और उच्चारण, इन कई विषयों में उसका अवधी तथा पूर्वी हिन्दी की अन्य उप-भाषाओं से अधिक साम्य है। तुलसीदास के 'रामचरित मानस' की कई पंक्तियाँ उतने ही अंश में भोजपुरी की रचनायें कही जा सकती हैं, जितने अंश में अवधी या बैसवारी की। इसी प्रकार कबीर आदि संतों की रचनायें, जो मुख्यतः भोजपुरी में थीं, अवधी की रचनायें समझी गईं।

सच पूछें तो आज भारतवर्ष की किसी भी आधुनिक भाषा को किसी भी विशेष प्राकृत या अपभ्रंश के साथ हम निश्चयात्मक रूप से सम्बद्ध नहीं कर सकते ; क्योंकि जैसा टर्नर[३] या ब्लाक[४] महोदय ने कहा है। प्राचीन प्राकृत या अपभ्रंश-काल में किसी

१ श्याम सुदंर दास, हिन्दी भाषा और साहित्य
२ डा० धीरेन्द्र वर्मा, हिन्दी भाषा का इतिहास, पृष्ठ ३१-३२ और ग्रामीण हिन्दी, पृष्ठ २५-२६

३ **R.L. Turner, Gujarati Phonology (J. R. A. S. 1925, p, 529)**

४ **Bloch, La formation de Langue Marathe, p p 1-37.**

विशेष जनवर्ग द्वारा वास्तविक रूप में बोली जाने वाली भाषा का कोई प्रामाणिक लिखित उदाहरण आज हमें उपलब्ध नहीं है और दूसरी ओर वर्त्तमान देशी भाषाओं में तीर्थयात्रा, सांस्कृतिक एकता, शादी-ब्याह के संबंध, देश-प्रदेश के यातायात तथा भाषागत समान परिवर्त्तनों के कारण परस्पर बहुत-कुछ मिश्रण हो चुका है।

प्राकृत वैयाकरणों की शब्दावली का आश्रय ग्रहण करके हम निश्चयात्मक रूप से अधिक-से-अधिक यही कह सकते हैं कि भोजपुरी प्राच्य-भाषावर्ग के अंतर्गत आती है, जिसके पश्चिमी रूप अर्द्ध मागधी और पूर्वी रूप मागधी—इन दोनों के बीच के प्रदेश से सम्बद्ध होने के कारण, उसमें कुछ-कुछ अंशों में दोनों के लक्षण पाये जाते हैं।

भोजपुरी-भाषा-भाषियों का हिन्दी प्रदेश से इतना अधिक ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक संबंध रहता आया है कि उसमें कभी हिन्दी से पृथक् स्वतंत्र साहित्य की परंपरा विकसित करने की आवश्यकता का बोध ही नहीं हुआ। शिक्षित भोजपुरी भाषा-भाषी अब तक मध्यदेश की भाषा को ही साहित्य तथा संस्कृत की भाषा मानते आये हैं और उसी को अपनी प्रतिभा की भेंट चढ़ाई है। खड़ी बोली के प्रसिद्ध गद्यकार सदल मिश्र, आधुनिक गद्यशैली के जन्मदाता भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ उपन्यासकार प्रेमचंद और इस युग के श्रेष्ठ कवि 'प्रसाद' भोजपुरी-प्रदेश के ही थे और अपने घरों में भोजपुरी का ही प्रयोग करते थे। इसके अतिरिक्त भोजपुरी में स्वतंत्र साहित्य-परंपरा के अभाव का एक दूसरा कारण यह भी है कि मध्यकालीन भक्तों और संतों ने साहित्य-सृष्टि के लिए किसी एक भाषा का आश्रय लेते हुए भी उसमें 'समान मिश्रित भाषा' के आदर्श को ही अपनाना उचित समझा था, जिससे उनकी भाषा में सब का प्रतिबिम्ब उतर आवे और वह सब के लिए समान रूप से ग्राह्य हो सके। मैं तो समझता हूँ कि कृष्ण-भक्ति-शाखा की मुख्य भाषा जैसे ब्रजभाषा थी, रामभक्ति-शाखा तथा प्रेम-मार्गी भक्ति-शाखा की मुख्य भाषा जैसे अवधी थी, वैसे ही कबीर आदि संतों की ज्ञानमार्गी भक्ति-शाखा की मुख्य भाषा भोजपुरी थी। उसी में उन्होंने स्वयं या उनके बाद उनके अनुयायियों ने दूसरी भाषाओं के रूपों का मिश्रण किया। अपनी भाषा के संबंध में तो कबीर ने स्पष्ट कहा है कि :—

"बोली हमरी पूरबी, हमको लखे न कोय।
हमको तो सोई लखे, जो पूरब का होय॥"

अनेक मिश्रणों के रहते हुए भी कबीर की रचनाओं में भोजपुरी के ठेठ अविकृत रूप भरे पड़े हैं। कबीर के अतिरिक्त धर्मदास, धरनीदास, शाहाबाद के दरिया साहब तथा चम्पारन के शरभंग-सम्प्रदाय के अनेक ग्रंथ भोजपुरी में ही हैं।

भोजपुरी का लोक-साहित्य भी बहुत ही समृद्ध है। सोहर, झूमर आदि भोजपुरी गीतों की कई धुनें बहुत ही मनोहर हैं। सोहर में रचना करने के लोभ का स्वयं तुलसीदास जी भी संवरण नहीं कर सके और अपने 'रामलला नहछू' में उसी छन्द का प्रयोग किया। योरोपीय भाषाओं में स्पैनिश भाषा जैसे कहावतों के लिए प्रसिद्ध है वैसे ही भोजपुरी भाषा

में भी कहावतों की अद्वितीय संपत्ति है। भोजपुरी का शब्द-कोष भी बहुत ही समृद्ध है। उसके कई शब्द तो इतने अर्थपूर्ण हैं कि उन्हें ग्रहण करके हिन्दी के आधुनिक साहित्यिक स्वरूप की भी श्रीवृद्धि की जा सकती है। भोजपुरी की ध्वनियों में भी कई ऐसी रागात्मक विशेषताएँ हैं जो अन्यत्र दुर्लभ हैं।

यह सब होते हुए भी अब तक भोजपुरी-भाषा-भाषी उस बहुसंख्यक जनसमूह का--जिसके लिए आधुनिक हिन्दी पहुँच के बाहर की चीज है--मनोरंजन कलकत्ता और बनारस की कचौड़ी गली की छपी हुई उन सस्ती पुस्तकों से होता रहा है, जो इधर-उधर सड़कों पर बिका करती हैं। पर अब इधर उसमें सुन्दर साहित्य की भी सृष्टि होने लगी है। बाबू रघुवीर नारायण का 'बटोहिया' नामक राष्ट्रीय गीत भोजपुरी में बहुत लोकप्रिय है। राहुल जी ने भोजपुरी में कई छोटे-छोटे नाटक लिखे हैं। कविवर मनोरंजन जी ने भोजपुरी में कई सुन्दर रचनायें की हैं। इनके अतिरिक्त और भी कई सफल कवि भोजपुरी में ललित रचनायें करने लगे हैं।

ग्रामीण जनता में भिखारी ठाकुर के नाट्यगीत और स्वर्गीय महेन्दर मिसिर के गाने सर्वत्र प्रचलित हैं। लोक-भाषा के साहित्य के प्रति स्थानीय जन-मंडली का उत्साह उत्तरोत्तर बढ़ता जा रहा है। भोजपुरी के प्रतिभाशाली कलाकारों से अब स्थानीय लोक-भाषा की ओर से भी कुछ माँग है। जनहित की दृष्टि से इस माँग की पूर्त्ति करना उनका कर्त्तव्य है।

—ऑल इन्डिया रेडियो के सौजन्य से

समझाता ही जाऊँगा

किसी ने शंकराचार्य से पूछा—'आपका विचार हमने नहीं समझा, तो आप क्या करेंगें ?'—शंकराचार्य ने कहा--'मैं आपको समझाऊँगा।'—'समझाने पर भी हम नहीं समझ सकें तो फिर आप क्या करेंगे ?'—'मैं फिर से समझाऊँगा और इस तरह समझाता ही रहूँगा। प्रकाश के सामने अन्धकार नहीं टिकता, अन्धकार की कोई सत्ता नहीं है। सत्ता प्रकाश की है।' एक बार ईसा से पूछा गया—'अगर तुम्हें कोई सताये तो तुम क्या करोगे ?' ईसा ने जवाब दिया—'क्षमा करूँगा?' फिर पूछा गया—'अगर वह तकलीफ देता रहे तो क्या करोगे ?' जवाब मिला--'फिर क्षमा करूँगा, इस तरह क्षमा ही करूँगा। क्षमा के विरोध में क्रोध टिक नहीं सकता।'

—आचार्य विनोवा भावे (विशाल भारत, कलकत्ता मार्च १९५१)

———

'प्रसाद' जी की कुछ प्रारम्भिक कविताएँ

संकलन-कर्त्ता श्रीचन्द्रदीप प्रसाद

(हमें विश्वास है, प्रसाद-साहित्य के प्रेमियों और शोध-कर्त्ताओं के लिए यह संकलित सामग्री रोचक और उपादेय सिद्ध होगी ; क्योंकि 'प्रसाद' के कवि-जीवन के प्रारंभ पर इससे प्रकाश पड़ता है ।--सं० ।)

'प्रसाद' जी की प्रेरणा से प्रकाशित होने वाले 'इन्दु' के सम्पादक और प्रकाशक श्री अम्बिका प्रसाद गुप्त कान्यकुब्ज–वैश्य–संरक्षक नामक एक जातीय पत्र भी निकालते थे। गुप्त जी के आग्रह से 'प्रसाद' जी 'संरक्षक' में भी, यदा-कदा, प्रारम्भिक काल में, लिखा करते थे । प्रस्तुत संग्रह इसी 'संरक्षक' की पुरानी फाइल से किया गया है। हमारी समझ में ये कविताएँ अब तक प्रकाश में नहीं आई है । इस प्रकार की और भी प्रारंभिक रचनायें 'संरक्षक' के अंकों में मिल सकती हैं ।

नमस्कार

जिस मन्दिर का द्वार सदा उन्मुक्त रहा है ।
जिस मन्दिर में रंक नरेश समान रहा है ॥
जिसके हैं आराम प्रकृति कानन ही सारे ।
जिस मन्दिर के दीप इन्दु दिनकर औ तारे ॥
उस मन्दिर के नाथ को, निरुपम निरमम स्वास्थ्य को ।
नमस्कार मेरा सदा, पूरे विश्व गृहस्थ को ॥ --सन् १९१४ ई० ।

विनय

जयति प्रेमनिधि जिसकी करुणा नौका पार लगाती है ।
जयति महा संगीत विश्व वीणा जिसकी ध्वनि गाती है ॥
कादम्बिनी कृपा की जिसकी सुधा नीर बरसाती है ।
भव कानन की धारा हरित हो जिससे शोभा पाती है ॥
निर्विकार लीलामय ! तेरी शक्ति न जानी जाती है ।
ओत प्रोत हो तो भी सब की वाणी गुण गण गाती है ॥
गद्‌गद हृदय निःसृता यह भी वाणी दौड़ी जाती है ।
प्रभु, तेरे चरणों में पुलकित होकर प्रणति जनाति है ॥

सन् १९१४ ई० ।

शंकर किरात-वेश में और अर्जुन

अजय किरातहिं देखि चकित ह्वै कै निज मन में ।
पूजन लाग्यो करन सुमन चुनि सुन्दर घन में ।।
लखि किरात के गले सोइ कुसुमन की माला ।
अर्जुन तव कर जोरि कह्यो अस कौन दयाला ।।
गुन गहत जौन शठता किये, सो क्षमहु नाथ वितरहु विजय ।
इमि प्रमुदित पूजित विजय सों, जय शंकर जय जयति जय ।।

—फरवरी, १९१५।

नमस्कार

तप्त हृदय को जिस उशीर-गृह का मलयानिल ।
शीतल करता शीघ्र, दान कर शांति को अखिल ।।
जिसका हृदय पुजारी है रखता न लोभ को ।
स्वयं प्रकाशानुभव मूर्त्ति देती न क्षोभ जो ।।
प्रकृति सुप्रांगण में सदा, मधु क्रीड़ा कूटस्थ को ।
नमस्कार मेरा सदा, पूरे विश्व गृहस्थ को ।।

—मार्च, १९१५।

परमेश-वन्दना

जयति सच्चिदानन्द जगत है जिसकी लीला ।
जय शिव परमानंद वृत्ति अति करुणा शीला ।।
जयति हृदय नभचन्द विमल आलोक सहित है ।
जय जय जय सुखकन्द दोष से सदा रहित है ।।
जिसके पद अरविन्द में सब ही की है नित्य नति ।
जग नायक आनन्दमय वह लीलामय प्रभु जयति ।।

—मई, १९१५।

कामना

जय जय विश्व के आधार ।
अगम महिमा सिन्धु सी है कौन पावै पार ।।
जो प्रसव करता जगत को, तेज का आकार ।
उसी के (?) शुभ ज्योति से हो सत्य पथ निर्धार ।।
छुटे सब यह विश्व बन्धन हो प्रसन्न उदार ।
विश्व प्राणी प्राण में हो व्याप्त विगत विकार ।।

—१९१९ ई०।

संस्कृत के महाकाव्य

श्री चन्द्रसेन कुमार जैन, एम्० ए०

सुरम्य वनस्थली । हरीतिमा के बीच नव प्रस्फुटित कोंपलों की अरुणिमा । लिपटी हुई लोनी लतिकाओं में कुसुमित रंग-विरंग पुष्पों की इन्द्रधनुषी आभा । सुन्दर और सुस्वादु फलों के भार से अवनत डालियों पर विभिन्न पक्षियों का समवेत स्वर । परागें से बोझिल मन्दगति पवन द्वारा आन्दोलित निकटस्थ सरिता की लोल लहरों की रुनझुन के साथ मत्त भ्रमरावली का गुनगुन शब्द । संगीत से विह्वल मृगछौनों का मुक्त नृत्य । सघन वृक्षों की छाया में विश्राम करने वाले पशुओं की क्रीड़ा । प्रकृति के इस रंगमंच का सिंहावलोकन करते हुए महर्षि वाल्मीकि रसमग्न हो रहे थे ।

उनकी दृष्टि एक क्रौञ्च युगल पर पड़ी, जिन्हें वातावरण की मादकता ने मदनोन्मत्त कर दिया था । निर्निमेष दृष्टि से उन सुन्दर पक्षियों की क्रीड़ा देखते हुए ऋषि आनन्द-विभोर हो रहे थे । अकस्मात् काल की भयानक गति के साथ एक बाण सनसनाता हुआ पहुँचा । उनमें से एक को अन्तिम साँस लेने के लिए भूलुण्ठित होना पड़ा । ऋषि के कोमल हृदय पर तीव्र आघात पहुँचा । व्याध की इस कठोर हृदयहीनता के विरोध में अपनी समस्त करुण अनुभूति के साथ उनकी सजल रागिनी उबल पड़ी । कलकंठ से वाणी की अजस्र धारा फूट निकली --

"मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वती समाः ।
यत् क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काम-मोहितम् ॥"

इन शब्दों में है हृदय की मुक्तावस्था की अभिव्यक्ति, रसात्मक घटना-चित्रण और संगीत का तरल प्रवाह । एक नई काव्यशैली का आविष्कार हुआ । कवि की उत्कट इच्छा हुई--इसी शैली में युगपुरुष राम की पवित्र गाथा का वर्णन प्रस्तुत करने की । यही है भारतीय-साहित्य के प्रथम महाकाव्य के उद्भव की करुण-कथा ।

कवि की रचना को व्यापक आदर प्राप्त हुआ--उसमें कला की दृष्टि से पाठक और श्रोता को रसमग्न कर देने की असीम शक्ति जो भरी थी ! ग्रन्थ को इतना महत्व हुआ कि इसी के आधार पर काव्य-शास्त्रियों ने महाकाव्य के लक्षणों का निर्माण किया । कवियों ने इसी शैली में अपनी प्रतिभा का प्रकाशन करने में गौरव का अनुभव किया । आज तक विश्व-साहित्य में कोई भी आदर्श, मनोभावना, कल्पना, अनुभूति या अभिव्यक्ति की प्रणाली इस आदि कवि के गौरव को धूमिल नहीं कर सकी । शैली की सरलता, भावों

की स्वच्छता, वर्णन की चित्रमयता और अन्तर्द्वन्द्व की गंभीरता की दृष्टि से यह ग्रन्थ आज भी संसार के वाङ्मय में प्रथम स्थान रखता है।

भारतीय साहित्य का दूसरा प्रसिद्ध ग्रन्थ है महाभारत। परन्तु, यह ग्रन्थ विभिन्न रचनाओं द्वारा संपादित अनेक कथाओं का संग्रह मात्र है। इसमें हृदयानुभूति की अपेक्षा विभिन्न ज्ञान-विज्ञान के संकलन को अधिक महत्व मिला है। रचना-शैली की दृष्टि से भी इसमें महाकाव्य के गुण वर्त्तमान नहीं हैं। यद्यपि इसके अनेक स्थल, कल्पना, रस और वर्णन-सौष्ठव के सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करते हैं, तथापि इतिवृत्त की एकात्मकता और एक रस की प्रधानता का इस पर प्रभाव है। इसीलिए इसे पुराणों की श्रेणी में रखना श्रेयस्कर समझा गया।

रामायण का रचना-काल ईसा-पूर्व २,००० वर्ष के लगभग माना गया है। इसके बाद एक सहस्र वर्षों तक हमें किसी भी महाकाव्य की रचना के प्रमाण नहीं मिलते। यद्यपि महर्षि पाणिनि, वररुचि, पतंजलि इत्यादि वैयाकरणों तथा भरतमुनि के नाट्य-शास्त्र और राजशेखर की काव्यमीमांसा के उल्लेखों से इतना सिद्ध होता है कि रामायण के बाद संस्कृत-महाकाव्यों की एक परंपरा-सी चल पड़ी। परन्तु, किसी ग्रन्थ के अभाव में यह विषय अप्रमाणित ही रह जाता है। राजशेखर ने तो कुछ कवियों की एक लम्बी सूची भी दी है।[१] स्वयं पाणिनि 'जाम्बवतीजयम्' नामक महाकाव्य के रचयिता माने जाते हैं। भोज के 'सरस्वती-कंठाभरणं' में पाणिनि के कुछ छन्द उद्धृत हैं। परन्तु यह निश्चित नहीं किया जा सकता कि वे किसी महाकाव्य के अंश हैं, अथवा नहीं। पाणिनी का समय ईसा-पूर्व १,००० से ३५० के बीच माना गया है।

पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि ईसा-पूर्व ३५० वर्ष से भारत पर विदेशी शक्तियों के लगातार आक्रमण प्रारंभ हो गये थे। इस राष्ट्रीय संकट की अवस्था में काव्य-रचना अथवा कवियों का यथोचित सम्मान संभव नहीं था। इसीलिए छठी ईसवी सदी तक हमें किसी महाकाव्य का परिचय नहीं मिलता। यदि कुछ रचे भी गये हों तो राजनैतिक विप्लव में नष्ट हो गये होंगे। परन्तु इतिहास के द्वारा सिद्ध हो चुका है कि ये विदेशी जातियाँ सभ्यता में भारत के पीछे थीं। भारतीय संस्कृति और साहित्य का इन पर पूरा प्रभाव पड़ा और भारतीय कवि पर्याप्त सम्मान पाते थे। अतः इस काल में महाकाव्य की रचना में किसी राजनैतिक विघ्न-बाधा की आशंका निर्मूल है। महाकाव्यों के अभाव का कारण बौद्ध अध्यात्म और उससे प्रभावित जातक-कथाओं का प्रचार भी समझा जाता है। परन्तु ये कथाएँ महाकाव्य का स्थान ग्रहण कर सकती थीं।

मथुरा, नासिक, गिरिनार, भारहुत इत्यादि में ऐसे अनेक प्रशस्ति-काव्यों के अंश शिला-पट्टों पर खुदे मिलते हैं जिनमें महाकाव्य की शैली का पूर्णरूपेण पालन किया गया है। इससे प्रमाणित होता है कि महाकाव्यों की परंपरा कभी रुकी नहीं; प्रत्युत

[१] काव्यमीमांसा, अध्याय १

विभिन्न राजदरबारों में सम्मान मिलने के कारण राजकवियों को अपने आश्रयदाता के पराक्रम का वर्णन करने के लिए महाकाव्यों की रचना की प्रेरणा मिली। इसके अतिरिक्त, अपूर्ण प्रमाणों के आधार पर निर्धारित कवियों का रचना-काल भी सन्दिग्ध ही है और इनमें से अधिकांश के ईसा से पूर्व वर्त्तमान होने के छिटपुट प्रमाण मिल जाते हैं। हाँ, यह अवश्य कहा जा सकता है कि युग की भावना, भाषा-विकास तथा प्रचलित अभिव्यक्ति-शैली के अनुसार इनमें आन्तरिक परिवर्त्तन होते रहे। आदि–कवि की सरलता और स्वच्छता का धीरे-धीरे लोप होने लगा और शास्त्रीय पद्धति का अन्धानुकरण बढ़ने लगा।

'रघुवंश' और 'कुमार संभव'—जैसे अमर ग्रन्थों के रचनाकार यशस्वी महाकवि कालिदास ने महाकाव्य की अन्तःसरिता को नवीन गति प्रदान की। सर्व-विदित है कि कालिदास विक्रमादित्य-उपाधिधारी किसी पराक्रमी सम्राट् के राजकवि और मित्र थे, जिसने विदेशियों पर विजय प्राप्त कर एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की थी। इन दोनों को अपने युग में इतनी प्रसिद्धि प्राप्त हुई कि परवर्ती युग में जिस राजा ने भी विदेशियों पर विजय-प्राप्त की उसने विक्रमादित्य की उपाधि धारण कर ली और उसका राजकवि कालिदास के नाम से प्रसिद्ध हो गया। अब तक कम-से-कम नौ ऐसे कालिदास का परिचय मिल चुका है। उपर्युक्त दोनों महाकाव्यों का रचनाकार, मालवराज विक्रमादित्य के दरबार में रहता था। विवादास्पद होने पर भी उसका समय ईसा-पूर्व ५७ वर्ष माना जाता है।

यद्यपि कालिदास ने आदि-कवि द्वारा प्रयुक्त महाकाव्य के लक्षणों का अनुसरण किया है तथापि शैली में महान् परिवर्त्तन दृष्टिगोचर होता है। भावपक्ष में तो युग के अनुकूल भावना, विचार, घटना और वस्तुओं के वर्णन में अन्तर होना स्वाभाविक ही है। कवि तपोवनों के मुक्त वातावरण को त्याग कर राजमहलों के ऐश्वर्य का भागी बन गया था। कल्पना का उन्मुक्त विलास काल्पनिक आदर्श की अपेक्षा वैभव का यथार्थ-चित्रण महत्वपूर्ण हो गया था। कल्पना का उन्मुक्त विलास प्राकृतिक चित्रांकन के हिस्से पड़ गया। भावनाओं के उत्थान-पतन के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण में अधिक सफलता मिली। शृंगार अन्य सभी रसों को आच्छादित करने लगा। उपमा की लड़ियाँ सजाने में कवि ने बुद्धि को अधिक अपनाया, हृदय को कम। 'रघुवंश' में दिलीप से लेकर अग्निवर्ण तक सूर्यवंशी राजाओं का क्रमिक वर्णन है। रामकथा को प्रधानता मिली है; परन्तु वह रामायण से भिन्न है। 'कुमार संभव' में देवताओं की रक्षा के लिए कार्त्तिकेय-जन्म की कथा का विवरण है। दोनों ही महाकाव्य वस्तुसंगठन, रस-निष्पत्ति और प्रकृति-वर्णन के लिए अमर हैं।

कला-पक्ष में शब्द-चयन की सतर्कता, लम्बे समास-पदों की बहुलता, वाक्य-संगठन में अद्भुत वक्रता और कल्पना का आधिक्य, इनकी ऐसी विशेषताएँ हैं जो आदि-कवि में प्रायः नहीं मिलतीं। इस समय तक भाषा व्याकरण-बद्ध हो चुकी थी, और

काव्यांगों का विवेचन प्रारंभ हो गया था, अतः भाषा, शब्द–शक्ति, रस-निष्पत्ति तथा अलंकार-योजना के शास्त्रीय बन्धन में पड़ कर इनका काव्य आदि-कवि की स्वच्छन्द सरलता को खो चुका था। वाग्विदग्धता राज–सभा की देन थी, परन्तु अर्थ-गूढ़ता, अस्पष्टता अथवा प्रवाह-बाधा के उदाहरण नहीं मिलते। कवि ने अपने को निरंकुश रखने की चेष्टा की है।

कालिदास के साथ संस्कृत-महाकाव्य का एक नवीन युग प्रारंभ हुआ। परवर्त्ती सभी कवियों ने उनकी शैली को अपना आदर्श माना। अनेक प्रसिद्ध कवियों ने भी उनके भावों को रूपान्तरित कर अपने काव्य में स्थान देने की चेष्टा की है।

अश्वघोष के 'बुद्धचरित' का संस्कृत-महाकाव्यों में अपना एक विशिष्ट स्थान है। यद्यपि इनकी शैली पर कर्कशता और दुर्बोधता का दोष लगाया जाता है, तथापि सौन्दर्य-वर्णन की स्वाभाविकता, उपमा की प्रभूत कल्पना और शब्द-भंडार की दृष्टि से ये कालिदास से भी आगे बढ़ गये हैं। इनका दूसरा ग्रन्थ 'सौन्दरानन्द' भी इन विशेषताओं से रिक्त नहीं।

भगवान बुद्ध के जीवन से सम्बद्ध दूसरा महाकाव्य बुद्धघोष कृत 'पद्याकुदमनि' है। इसकी कथा 'बुद्धचरित' से कुछ भिन्न है। यह कवि कालिदास और अश्वघोष की शैलियों से अत्यन्त प्रभावित है। अतः इसमें सरलता के साथ स्वाभाविकता का सुन्दर मिश्रण हो गया है। लम्बे रूपकों और काल्पनिक प्रसंगों की उद्भावना में कवि की विशेष रुचि नहीं है।

सिंहल का राजकुमार कुमारदास, कालिदास का मित्र माना जाता है; परन्तु, उसका समय पाँचवीं शताब्दी के लगभग सिद्ध होता है। इनके महाकाव्य 'जानकी हरण' की प्रत्येक पंक्ति में कालिदास की स्पष्ट छाया मिलती है।

वाणभट्ट ने अपने 'हषचरित' में भट्टारक हरिश्चन्द्र नामक एक जैन कवि का उल्लेख किया है। अतः इनका समय छठीं शताब्दी रहा होगा। इनके द्वारा प्रस्तुत महाकाव्य 'धर्मशर्माभ्युदयम्' में पन्द्रहवें जैन तीर्थङ्कर धर्मनाथ की कथा वर्णित है। अपनी मधुर संगीतात्मकता, और अभिव्यंजना-प्रवाह की दृष्टि से यह रचना अपूर्व है।

कांची-नृपति महेन्द्रविक्रम के राजकवि भारवि द्वारा प्रस्तुत 'किरातार्जुनीयम्' महाकाव्य संस्कृत के मर्मज्ञों की कसौटी है। इसमें अर्जुन और किरात-वेशी शिव के युद्ध का वर्णन है। चुने हुए गंभीर शब्दों में भाव कसे हुए हैं। चिन्तनपक्ष की चरमावस्था और अनुप्रास-प्रियता इसकी प्रधान विशेषताएँ हैं। अर्थ-वैचित्र्य और क्लिष्टता के कारण इसके प्रथम तीन सर्ग संस्कृत के विद्यार्थियों में पाषाणत्रयी के नाम से प्रसिद्ध है। भारवि का समय भी छठी शताब्दी है।

सर्वप्रमुख महाकवियों में 'माघ' का नाम आदर से लिया जाता है। ये धार-राज भोज के राजकवि थे। कालिदास के बाद नवीन-कल्पना-चित्रों का दर्शन सर्वप्रथम इनके

प्रसिद्ध ग्रन्थ 'शिशुपाल वध' में मिलता है। भारवि की शैली का अनुसरण किया गया है। परन्तु प्रसाद-गुण और वर्णन-सौष्ठव में उनसे अधिक आकर्षण है। कवि के व्यक्तित्व का संकेत इस रचना की प्रमुख विशेषता है। इसका समय सातवीं शताब्दी माना जाता है।

इस समय तक महाकाव्यों का इतना प्रचार हो गया था कि प्रत्येक राजसभा में एक महाकवि का होना आवश्यक-सा था। पँचवीं से नवीं शताब्दी के बीच सैकड़ों छोटे-बड़े महाकाव्य रचे गये। परन्तु इनमें से किसी में भी शैलीगत नवीनता, अथवा प्रणाली से पृथक् किसी नवीन प्रयोग की चेष्टा नहीं मिलती। सभी कवियों ने उपर्युक्त महाकाव्यों में से एकाधिक को अपना आदर्श माना। हाँ, व्यक्तिगत रुचि के अनुसार किसी में कलापक्ष प्रधान रहा तो किसी में भावपक्ष। रूढ़िगत वर्णनों की भरमार मिलती है। शब्द-चमत्कार की ओर अधिक झुकाव पाया जाता है; क्योंकि प्रतिभा-प्रदर्शन के लिए यही क्षेत्र बच गया था। जिनसेन का 'हरिवंश पुराण' और 'आदि पुराण', रत्नाकर का 'हरि-विजय', अभिनन्द का 'रामचरित', पद्मगुप्त का 'नवशशांक चरित' तथा वसुदेव का 'युधिष्ठिर-विजय' इस काल के प्रसिद्ध महाकाव्य हैं।

पूर्ववर्ती महाकाव्यों में कुछ ऐसे उदाहरण मिलते हैं, जहाँ कवि ने एक ही छन्द में अनेकार्थक शब्दों का प्रयोग कर एकाधिक अर्थों के समावेश की चेष्टा की है। ऐसे श्लिष्ट प्रयोगों में कवि के विस्तृत शब्द-भंडार, व्यापक अर्थज्ञान, शब्द-संस्थान तथा भाव-साम्य की योग्यता का परिचय मिलता है। भारवि और माघ ने ऐसे प्रयोगों में अधिक रुचि दिखलाई है। धीरे-धीरे नवीन कल्पना के अभाव में कवि इस प्रकार की रचना कर अपनी प्रतिभा का परिचय देने में विशेष उत्सुक देखे जाते हैं। दसवीं शताब्दी में जैन-कवि धनञ्जय ने इसी शैली के द्वारा एक ही महाकाव्य में रामायण और महाभारत की कथाओं का वर्णन एकत्र कर दिया है। उसका 'द्विसंधान' महाकाव्य व्यंग्यात्मक श्लिष्ट पदावलियों का सुन्दर उदाहरण है। आगे भी यह प्रणाली अनेक कवियों द्वारा अपनाई गई। छन्दों और अलंकारों के उदाहरण के साथ तीन-तीन कथाओं का वर्णन करने वाले महाकाव्य रचे गये। संसार की कोई भी भाषा इतना लचीलापन नहीं दिखला सकी है।

दसवीं शताब्दी के बाद उत्तर-भारत की राजनैतिक अवस्था अत्यन्त शोचनीय हो गई। देश पारस्परिक युद्ध में संलग्न सैकड़ों छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त हो गया। युद्धभूमि ही राजपुरुषों के जीवन का केन्द्र बन गई। बादलों के महल के समान नये राज्य बनते थे और देखते-देखते विलीन हो जाते थे। मुसलमानों के आक्रमण भी प्रारंभ हो गये। इस अस्त-व्यस्त अवस्था में कवियों को योग्य और स्थायी संरक्षण मिलना कठिन था। एक राजसभा से दूसरी राजसभा में दौड़ना पड़ता था। साहित्य की भाषा में भी महान् परिवर्त्तन उपस्थित हो चुका था। वैयाकरणों से आबद्ध संस्कृत जन-साधारण के योग्य नहीं रह गई थी। जनभाषा निरन्तर विकसित होती रही। उस समय तक अपभ्रंश-प्राकृत ने साहित्य

पर भी अधिकार कर लिया था। अब अधिकांश कवि इसी भाषा में काव्य रचने लगे, क्योंकि संरक्षक नृपति भी अब पहले जैसे संस्कृतज्ञ कम होते थे ! यद्यपि राजसभा में संस्कृत के विद्वानों को पर्याप्त सम्मान प्राप्त था, तथापि अपभ्रंश-भाषा ही सर्वश्रेष्ठ बन रही थी। हेमचन्द्र ने तो 'कुमारपाल रचित' के बीस सर्ग संस्कृत में लिख कर शेष आठ प्राकृत में लिखे हैं।

इससे यह समझना चाहिये कि इस काल म संस्कृत-महाकाव्य कम संख्या में रचे गये अथवा कला की दृष्टि से उनका स्तर गिर गया। इतना अवश्य हुआ कि उनका कलात्मक विकास रुक गया। प्राचीन लक्षणों की ठठरी को कुछ रूढ़िगत शब्द-विन्यास की सजावट से आच्छादित कर एक चरित्र की रूपरेखा अंकित कर देना ही महाकवियों का सबसे बड़ा गौरव रह गया। वही भाव-भंगी, वही वेशभूषा और वही आकार-प्रकार। केवल अन्तर था तो वाह्य रेखा-चित्रों में। वस्तु-वर्णन में देश-काल का ध्यान नहीं रखा जाता था। कवि-प्रसिद्धियों का प्रयोग एक आवश्यकता बन गया। इसीलिए इस काल के महाकाव्यों में कोई नया आकर्षण नहीं था। इसीलिए इस काल के वह आश्रयदाता का यशवर्णन करने अथवा काव्य-शक्ति का परिचय देने का एक साधन मात्र था। इस काल के प्रसिद्ध महाकाव्यों में मंखक का 'श्रीकान्त-चरित', श्री हर्ष का 'नैषध चरित', विद्यामाधव का 'पार्वती-रुक्मिणीय' और वस्तुपाल का 'नरनारायणानन्द' प्रसिद्ध हैं।

'नैषध' महाकाव्य विशेष उल्लेखनीय है। काव्यकला के अव्यावहारिक प्राचीन नियमों का उल्लंघन कर हर्ष ने एक नई दिशा का संकेत किया। दर्शन और तर्कशास्त्र के प्रयोग ने काव्य में नवीन भावनाओं और विचारों को स्थान दिया। परन्तु, कहीं-कहीं, बुद्धि का अत्यधिक प्रदर्शन करने के कारण अर्थ में खींच-तान करनी पड़ती है। शब्द-भंडार विस्तृत होने पर भी समयोचित चयन-प्रतिभा के अभाव ने प्रवाह में बाधा उत्पन्न कर दी है। असीम कल्पना और नवीन दृश्य-चित्रण के लिए यह ग्रन्थ प्रसिद्ध है। कहा जाता है, 'नैषधं-विद्वदौषधम्'।

इस काल में धनंजय की पद्धति में आशातीत विकास हुआ। महा विजयाग्नि नामक जैन मुनि ने 'सप्त संधान' में एक ही साथ सात कथाओं का वर्णन बड़ी ललित भाषा में किया है। सोम-प्रभाचार्य ने तो 'शतार्थ काव्य' में सौ अर्थों का अभिधान कर इस कला को पराकाष्ठा तक पहुँचा दिया। इसी प्रणाली से मिलती-जुलती एक नई प्रणाली का प्रयोग 'नल हरिश्चन्द्रीय' महाकाव्य में मिलता है। इसके छन्दों का साधारण अन्वय तो नल की कथा व्यक्त करता है, और उलटा अन्वय हरिश्चन्द्र की कथा। 'कंकण-वन्ध रामायण' की रचना और भी विचित्र है। यह बत्तीस अक्षरों का एक ही छन्द है। किसी भी अक्षर से दायें या बायें पढ़ने पर एक छन्द बन जाता है। इस प्रकार के बासठ छन्दों का निर्माण कर समस्त रामायण की कथा का अर्थ लगाया जा सकता है। इस तरह की

रचनाओं में न तो महाकाव्य के लक्षणों का ही पालन संभव है और न इनमें भावों की तीव्रता और वर्णन-सौष्ठव ही लाया जा सकता है। अतः यह कवियों का क्रीड़ा-विलास कहा जा सकता है। परन्तु, भाषा के अर्थ-विस्तार की दृष्टि से इन ग्रन्थों का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

चौदहवीं शताब्दी तक गुजरात और सौराष्ट्र के जैन कवियों ने महाकाव्य रचना की परंपरा को जीवित रखा। उन्होंने भावपक्ष और कलापक्ष दोनों ही क्षेत्र में कुछ नये प्रयोग भी किये। परन्तु, साम्प्रदायिक उपदेशों के फेर में पड़ कर कहीं-कहीं उनका काव्यत्व नष्ट हो गया है। कुछ जैन कवियों की रचनाएँ तो महाकाव्य के उस सुवर्ण-युग के टक्कर की हैं।

पन्द्रहवीं शताब्दी के बाद उत्तर-भारत में किसी उल्लेखनीय संस्कृत-महाकाव्य की रचना नहीं हुई। परन्तु इस परंपरा का सर्वथा लोप भी नहीं हुआ। दक्षिण में विजय-नगर-साम्राज्य की उन्नति के साथ महाकाव्य-रचना को भी नव-जीवन मिला। इनमें 'अप्पयदीक्षित' का दशकुमार चरित संग्रह प्रसिद्ध है। महरठा नरेशों ने भी संस्कृत के पंडितों का समुचित आदर किया और उनके संरक्षण में भी कई महाकाव्य रचे गये। दक्षिण में संस्कृत-महाकाव्यों की परंपरा का अब भी सर्वथा लोप नहीं हुआ है। अब भी वहाँ महाकाव्य रचने वाले कवि मिल जाते हैं, परन्तु इन ग्रन्थों में अधिकतर प्राचीन ग्रन्थों का ही पिष्टपेषण मात्र है।

४,००० वर्षों से भी अधिक समय से संस्कृत-महाकाव्यों की रचनायें होती चली आ रही हैं। इस विस्तृत काल में इस साहित्य का भण्डार इतना परिपूर्ण हो गया है कि संख्या की दृष्टि से अथवा रचना-चमत्कार, वर्णन-विस्तार या भाव-वहन की दृष्टि से समस्त संसार का शेष महाकाव्य-साहित्य भी इसकी तुलना में टिक नहीं सकता। इन महाकाव्यों में हमारे देश का भौगोलिक चित्रण, सहस्रों वर्ष के राजनीतिक उत्थान-पतन का इतिहास, पूर्वजों की चिन्ताधारा का क्रमिक-विकास, देश की स्वाभाविक भावधारा का संकेत, प्राचीन ऐश्वर्य और वैभव का प्रमाण तथा हमारे साहित्य का चरम-सौन्दर्य, ये सभी, पत्रावलियों की झुरमुट से झाँकते हुए रंगीन फूलों के समान विहँस रहे हैं। ये हमारी सभ्यता और संस्कृति के दर्पण हैं, हमारे देश की जीवित अन्तरात्मा हैं, हमारी अर्जित पूंजी हैं, भविष्य के निर्माण के लिए प्रधान साधन हैं। हमारे राष्ट्रीय विकास में इनका महत्वपूर्ण स्थान है। खेद है कि आज हम हिन्दी-साहित्य के निर्माण-काल में अपनी इस पैतृक निधि के अमूल्य रत्नों का उपयोग नहीं कर रहे हैं।

————

नागरी-लिपि में सुधार

श्री कैलाश बिहारी

नागरी-लिपि संसार की सर्वोत्तम लिपि है। मन के भाव को लिख कर प्रकट करने की जैसी सरल व्यवस्था नागरी-लिपि में है वैसी संसार की और किसी लिपि में नहीं पाई जाती। नागरी ही ऐसी लिपि है जिसमें हम जैसा उच्चारण करते हैं, ीक वैसा ही लिखते हैं ; और जैसा लिखते हैं ; ठीक वैसा ही पढ़ते हैं। उदाहरण के लिए एक छोटा-सा शब्द 'कम' ले लीजिये। रोमन लिपि में इसे "सी+ओ+एम+ई (C+O+M+E) मिलाकर लिखेंगे, पर पढ़ने के समय इसे "सी–ओ–एम–ई" न पढ़कर "कम" पढ़ेंगे। नागरी-लिपि में इसे उच्चारण के अनुसार ही "क+म" मिलाकर लिखेंगे और पढ़ने के समय "कम" ही पढ़ेंगे। लिखने और पढ़ने (उच्चारण) में नागरी में कोई भेद नहीं होता। यही नागरी की सब से बड़ी विशेषता है।

आरम्भ से अन्त तक नागरी में एक जैसी व्यवस्था बनी रहती है ; अन्य लिपियों में ऐसी बात नहीं है। उदाहरणार्थ 'Come='कम"; 'Rome'='रोम'; 'But="बट"; 'Put="पुट' !

एक ही अक्षर का उच्चारण कभी कुछ होता है, कभी कुछ। जैसे 'Candle' में 'C' का उच्चारण 'क' होता है और 'Centre' में 'C' का 'स' होता है। 'Get' में 'जी' से 'ग' का बोध होता है और Urgent में 'जी' से 'ज' का। एक ही उच्चारण के लिए कभी किसी अक्षर का प्रयोग किया जाता है, कभी किसी अक्षर का प्रयोग किया जाता है, जैसे––'क' के लिए कहीं 'C' का प्रयोग, कहीं 'K' का और कहीं 'Ch' का। Can में 'क' के लिए 'C' लिखा जाता है, पर 'kill' में 'क' के लिए 'K' और 'Chord' में 'क' के लिए 'ch' ! अनेक ऐसे शब्द हैं जिन्हें लिखने के लिए अनावश्यक अक्षर प्रयुक्त होते हैं, जिन्हें पढ़ने के समय लुप्त मान लेना पड़ता है। जैसे––Calm='काम' शब्द में 'l' फालतू है। एक और गड़बड़ी होती है ; बिल्कुल भिन्न ढंग से लिखे जाने वाले दो-तीन शब्दों का उच्चारण एक-जैसा होता है। देखिए––Not, Knot और naught—ये तीनों शब्द यद्यपि तीन तरह से लिखे जाते हैं तथापि पढ़ने में इन तीनों का उच्चारण साम्य होता हीहै। ऐसे एक-दो नहीं, अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। अन्य लिपियों में इससे भी अधिक उलझन और गड़बड़ी है। लिखने और पढ़ने में ऐसे अनियमित ढंग उलझन पैदा करते ही हैं। हर शब्द का विवरण रट कर याद करना पड़ता है और उसे सदैव याद भी रखना पड़ता है। सैकड़ों बार लिख-पढ़ चुकने के बाद भी किसी

शब्द का विवरण ध्यान से उतर जाता है तो उस शब्द को सही-सही लिखने में दुविधा होने लगती है और बिना शब्द-कोष देखे संदेह दूर नहीं होता । किसी अपरिचित शब्द को सहसा सुनकर ठीक-ठीक लिखने में विद्वान भी सन्देह या भ्रम में पड़ जाते हैं। किसी लिखित या मुद्रित अपरिचित शब्द को ठीक-ठीक पढ़ने के समय अच्छे-अच्छे विद्वान् भी अटकल से काम लेने लगते हैं ।

नागरी-लिपि इन सारे दोषों से मुक्त है। इसकी प्रणाली ऐसी है कि सारे साहित्य में :—

(१) एक अक्षर का उच्चारण सदैव एक ही रहता है, कभी बदलने नहीं पाता,
(२) एक उच्चारण के लिए सदैव एक ही अक्षर लिखा जाता है,
(३) कहीं कोई अक्षर व्यर्थ नहीं लिखा जाता,
(४) किन्हीं दो शब्दों का उच्चारण एक-सा नहीं होता; और
(५) एक-समान लिखे जाने वाले शब्दों के उच्चारण में सदैव समानता बनी रहती है। 'बट', और 'पट' या 'कंघी' और 'संघी' लिखने में जैसी समानता है, पढ़ने के समय उनके उच्चारण में भी वैसी ही समानता रहती है।

चूँकि नागरी-लिपि इन दोषों से सर्वथा मुक्त है, अतः न तो किसी शब्द के लिखने पढ़ने में कभी भ्रम होता है, न कोई उलझन। किसी शब्द की हिज्जे करने की आवश्यकता नहीं होती। अन्य किसी भाषा के सीखने में एक-एक शब्द की हिज्जे और उच्चारण याद करने में जितना समय लगता और परिश्रम पड़ता है, हिन्दी सीखने वाले का उतना समय और परिश्रम बच जाता है ।

नागरी में वर्णमाला के अक्षर का जो नाम है वही उसका उच्चारण है। 'क' अक्षर का नाद है और वही उसका उच्चारण भी है । अक्षर का नाद 'K' (के) और उसका उच्चारण 'क' रहने के कारण एकबार अक्षरों का नाद और रूप याद करना पड़ता है, फिर उनका प्रयोग सीखना पड़ता है । नागरी में केवल अक्षर याद कर लेने की आवश्यकता है, उसका प्रयोग सीखने के लिए किसी विशेष प्रयत्न की आवश्यकता नहीं पड़ती। हर अक्षर का उच्चारण-स्थान भी निश्चित है। उच्चारण-स्थान का ठीक-ठीक पता रहने से हिन्दी सीखने-सिखाने में सुभीता होता है। अंग्रेजी और उर्दू के किसी-किसी अक्षर का उच्चारण सीखने, सिखाने के लिए शिक्षक और शिष्य में प्रायः दर्शनीय द्वन्द्व होता है।

किसी भी लिपि के विशेषज्ञ यदि निष्पक्ष होकर विचार करें तो नागरी-लिपि की सर्वोत्कृष्टता उन्हें साफ दिखाई देगी ।

यंत्रों की आवश्यकता

हमारी लिपि सर्वोत्तम तो है, पर इतना ही यथेष्ट नहीं, कागज, कलम, रोशनाई

यदि न रहे तो सर्वोत्तम लिपि लिये हम बैठे रह जायँ। इनके अभाव में लिपि का उपयोग करना सम्भव नहीं। आजकल कागज पर कलम से हम जितना लिखते हैं, उससे कई हजार-गुना अधिक हम छापे की मशीनों से काम लेते हैं। टाइप-राइटर, टेलीप्रिंटर, लीनोटाइप, मोनो टाइप आदि अनेक छापे के यन्त्र व्यवहार में लाये जाते हैं; तब कहीं हमारी आवश्यकता पूरी होती है। इन मशीनों के बिना आज हमारा काम नहीं चल सकता।

लिपि में सुधार की आवश्यकता

अभी तक सरकार में, व्यापार में या दैनिक व्यवहार में हमारा अधिकतर काम अंग्रेजी भाषा और रोमन-लिपि में होता आ रहा है। इन सारे कामों को पूरा करने के लिए रोमन लिपि के टाइप-राइटर, टेली प्रिंटर, लीनो टाइप, मोनो टाइप आदि अनेक प्रकार के यन्त्रों से काम लिया जाता है। पर अब हमें रोमन-लिपि के बदले नागरी-लिपि का प्रयोग करना है। इसके लिए यह नितान्त आवश्यक है कि रोमन-लिपि में छापे के जितने प्रकार के यन्त्रों का व्यवहार हम जितनी सुगमता और शीघ्रता से करते रहे हैं, नागरी लिपि में भी उस प्रकार के यन्त्रों का व्यवहार हम उतनी ही सरलता और शीघ्रता से कर सकें।

अभी तक नागरी लिपि में काम करने के लिए जो यन्त्र बन सके हैं, वे अंग्रेजी की तुलना में निम्नकोटि के हैं। टेली प्रिंटर तो शायद अभी बना ही नहीं*—इन यन्त्रों को बनाने में लोगों को सफलता नहीं मिली है। इसका प्रधान कारण यह है कि नागरी-लिपि में बहुत अधिक अक्षर-चिह्नों की आवश्यकता पड़ती है। चिह्नों के लिए यन्त्रों में बहुत अधिक कलपुर्जों की झंझट होती है। अंग्रेजी टाइप-राइटर में आज कम-से-कम ४२ और अधिक-से-अधिक ४६ बटन रहते हैं। हर एक बटन दबाकर दो अक्षर छापे जाते हैं। चालीस वर्ष पहले के टाइप-राइटर में ४२ की जगह लगभग ८४ बटन रहते थे; क्योंकि एक बटन दबाने से केवल एक ही अक्षर छापा जा सकता था। उस यन्त्र पर प्रति मिनट २०–२५ शब्द से अधिक छापना सम्भव नहीं था। आज अब ८४ से घट कर ४२ बटन हो गये हैं, तो प्रति मिनट ६०–७० शब्द छाप लेना साधारण काम हो गया है। संसार के सब से तेज छापने वाले की गति १४८ शब्द प्रति मिनट है। जब यन्त्र के बटनों की संख्या घटकर आधी हो गई तब मशीन पर काम करने की गति दुगुनी-तिगुनी बढ़ गई।

जिस लिपि में अक्षरों की संख्या बहुत अधिक होगी, उस लिपि में यन्त्रों से छापने में बहुत अधिक कठिनाई होगी और बहुत अधिक समय भी लगेगा। यदि इस कठिनाई और समय की बरबादी से हम बचना चाहते हैं तो हमें नागरी-लिपि के अक्षरों की संख्या यथासम्भव कम करने की पूरी चेष्टा करनी चाहिए।

---

*अभी-अभी समाचार-पत्रों में प्रकाशित हुआ है कि अविलंब हिन्दी के टेलिप्रिंटर भारत के प्रमुख नगरों में लग जाएँगे।—सं०

अभी नागरी के अक्षरों की संख्या रोमन के अक्षरों की संख्या से तिगुनी है। छापाखानों में अंग्रेजी-केस में करीब १५० अक्षर रहते हैं। और हिन्दी-केस में करीब ४५० उत्तम यन्त्र बन सकें, इसके लिए यह परमावश्यक है कि नागरी-लिपि में हम ऐसा सुधार करें जिससे अक्षरों की संख्या उतनी अधिक न रहने पावे जितनी आज है।

आश्चर्य यह होता है कि नागरी-लिपि में ४५० अक्षर आये कहाँ से। ३६ व्यञ्जन, १२ या १३ स्वर, १२ मात्रा और १० अंक, सब मिलाकर ७० या ७५ से अधिक अक्षर तो हैं नहीं ; फिर इनकी संख्या ४५० तक कैसे पहुँच जाती है ?

वास्तव में हमारे लिखने का ढंग कुछ ऐसा है, जिससे इन्हीं ७०–७५ अक्षरों के संयोग को लिखने के लिए इतने अधिक चिह्नों की आवश्यकता पड़ती है। यदि विचारकर लिपि में थोड़ा सुधार करना हम स्वीकार कर लें, तो इन अक्षर-चिह्नों की संख्या बहुत-कुछ कम हो जायगी।

व्यञ्जनों में सुधार

(१) जिस समय नागरी-लिपि का निर्माण हुआ था उस समय मुद्रण-यन्त्रों का पता न था। उस समय यह बात सोची भी नहीं जा सकती थी कि लिपि का निर्माण ऐसा हो जिससे यन्त्रों से छापने में सुभीता हो। इस पर विचार करने का समय तो अब आया है। उस समय हाथ में कलम पकड़ी और 'क' के नीचे ऊकार लगाकर 'कू' लिखा या 'र' के बीच में ऊकार लगाकर 'रू' लिखा, दोनों के लिखने में कोई दिक्कत न थी। पर अब यन्त्र से छापने में ऐसा लिखने के कारण कुछ दिक्कत होती है। 'र' के बीच में ऊकार और उकार लगाकर छापने के लिए अलग व्यवस्था करनी पड़ती है और यन्त्र में अधिक पुर्जे लगाने पड़ते हैं। यदि हम 'र' में भी उकार और ऊकार उसी भाँति लगावें जिस भाँति कुछ अंगों में लगाया गया है तो यह दिक्कत नहीं होती।

(२) बहुत-कुछ ऐसी ही बात 'त्र' के सम्बन्ध में भी है। 'त्र' में 'त्' और 'र' का उच्चारण वैसे ही होता है जैसे 'क्र' में 'क्' और 'र' का। तब 'त्र' का एक अलग रूप निश्चित करने की क्या आवश्यकता है ? यद्यपि 'क्' और 'ष' के संयुक्त होने से 'क्ष' बनता है तथापि इसका उच्चारण 'क' और 'ष' दोनों से भिन्न होता है। उच्चारण भिन्न होने के कारण लिखने के लिए भी 'क्ष' का एक भिन्न रूप निश्चित कर दिया गया है। इसी तरह 'ज' और 'ञ' के उच्चारण से बिलकुल भिन्न होने के कारण 'ज्ञ' का एक भिन्न रूप निश्चित है। 'त्र' का उच्चारण 'त्' और 'र' से भिन्न नहीं होता, इसलिए 'त्र' के एक भिन्न रूप की आवश्यकता नहीं ? 'त्र' के स्थान पर बिना किसी हानि के 'त्र' लिखा जा सकता है। यह रूप तो प्रचलित-प्राय भी है।

(३) कुछ अक्षर ऐसे भी हैं जिनका प्रयोग करीब-करीब नहीं के बराबर होता है। 'ङ' और 'ञ' की क्या आवश्यकता है ? कितने शब्द हैं जिनमें इन अक्षरों का प्रयोग होता

है ? जहाँ इनका प्रयोग होना चाहिए, वहाँ अनुस्वार से भी काम चल जाता है। 'गङ्गा' के स्थान पर 'गंगा' लिखा जा सकता है और लोग लिखते भी हैं। 'गङ्गा' और 'गंगा' के उच्चारण में कुछ भी भेद नहीं। 'अञ्चल' के स्थान पर 'अंचल' लोग लिखते ही हैं। 'रञ्ज' शायद ही कोई लिखता है, सब लोग 'रंज' ही लिखते हैं। सारे साहित्य में दो-चार ही शब्द ऐसे हैं जिनमें 'ङ' या 'ञ' के बदले अनुस्वार का प्रयोग अब तक न हुआ हो— जैसे वाङ्मय, दिङ्नाग, दिङ्मण्डल, दिङ्नारि, पराङ्मुख इत्यादि। इन शब्दों को भी यदि वांग्मय, दिंग्नाग, दिंग्मण्डल, दिंग्नारि, परांग्मुख आदि लिखा जाय तो इनके उच्चारण में कोई विशेष परिवर्त्तन न होगा। जब अनुस्वार से काम चलता ही है तब तो 'ङ' और 'ञ' बिल्कुल अनावश्यक ही हैं। दो प्रकार से लिखे शब्दों का उच्चारण एक हो, यह लिपि का एक दोष भी है। इसलिए वर्णमाला से 'ङ' और 'ञ' हटाने से कोई हानि नहीं होती, लिपि में दोष नहीं रहने पाता और दो अक्षरों की कमी भी हो जाती है।

(४) कुछ अक्षरों के दो रूप हैं। कोई 'अ' लिखता है, कोई 'अ्र'। कोई 'ण' लिखता है, कोई 'ण'। 'झ' 'भ' 'ल' आदि अक्षर भी दो ढंग से लिखे जाते हैं। इन सभी अक्षरों का केवल एक ही रूप स्थिर कर देना चाहिए। 'ण' के विषय में एक बात ध्यान देने की है। ('र' आकार) 'रा' और अर्ध 'ण' के लिखने में इतनी समानता है कि हिन्दी सीखने वालों को आरम्भ में इन्हें पहचानने में कठिनाई होती है। इसलिए 'ण' न लिखकर 'ण' लिखना श्रेयस्कर होगा।

(५) 'ख' और 'र+व' के लिखने में बहुत थोड़ा अंतर होता है। 'र वा ना' को 'खाना' भी पढ़ा जा सकता है। यह बात ठीक है कि पूरे वाक्य के अर्थ से इन दोनों शब्दों को प्रसंगानुकूल समझने में कोई भ्रम नहीं होता, पर लिपि तो ऐसी होनी चाहिए कि शब्दों को केवल अक्षर पहचान कर ही बिना भ्रम के ठीक-ठीक पढ़ा जा सके, न कि शब्दार्थ समझ कर उनको पढ़ा जाय। इसलिए 'ख' के रूप में थोड़ा सुधार होना चाहिए। 'ख' में 'र' और 'व' के बीच जो अलगाव रहता है, यदि वह न रखा जाय और 'र' से बिल्कुल सट कर 'व' लिखा जाय तो 'ख' और 'र व' का भ्रम मिट जायगा।

संयुक्ताक्षरों की व्यवस्था

(६) संयुक्ताक्षरों के लिखने की व्यवस्था को और भी अधिक नियमित बनाने की आवश्यकता है 'श्य' में अर्ध 'श' का जो रूप है, 'श्र' में वह सर्वथा भिन्न होता है। 'क्य' में अर्ध 'क' का जो रूप है, 'क्त' में वह बिल्कुल बदल जाता है। इस तरह के अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। एक ही अक्षर का अर्ध रूप कभी कुछ रहता है, कभी कुछ। इस तरह की गड़बड़ी को दूर करने के लिए हर अक्षर का केवल एक अर्धरूप निश्चित कर देना चाहिए।

अक्षरों के मिलाने की भी कोई एक व्यवस्था होनी चाहिए। 'ल' के नीचे 'ल' लगाकर कोई 'हल्ला' लिखता है, तो कोई ल् के बाद 'ल' मिलाकर 'पल्ला' छुड़ाता है। 'द'

के नीचे बाईं ओर 'व' लगाकर 'द्व' लिखते हैं, तो 'द' के नीचे दाईं ओर 'य' मिलाकर 'द्य' लिखते हैं। अर्ध 'न्' में 'ध' मिलाकर 'न्ध' लिखा जाता है, और पूर्ण 'द' में संकुचित 'ध' लगाकर 'द्ध' लिखा जाता है। अक्षरों को संयुक्त करने का कोई निश्चित नियम न रहने के कारण कभी नीचे, कभी दायें, कभी बायें, जब जैसा मन में आया, मिला-जुला कर संयुक्ताक्षर बना लिया जाता है। छापाखानों को इन सभी तरह के संयुक्ताक्षरों के लिए तैयार रहना पड़ता है। यही कारण है कि छापाखानों के केस में ४५० से भी अधिक अक्षरों के टाइप रखने पड़ते हैं। इस मुसीबत से बचने के लिए हर अक्षर का केवल एक अर्धरूप निश्चित कर देने के साथ-साथ अक्षरों के मिलाने की भी कोई एक व्यवस्था निश्चित कर देनी चाहिए। यदि अक्षर के नीचे अक्षर मिलाकर लिखने का नियम निर्धारित हो तो सदैव इसी नियम से संयुक्ताक्षर लिखे जायँ। यदि अक्षर के नीचे बायीं ओर संयुक्ताक्षर करने का नियम बने, तो सदैव बायीं ओर ही संयुक्त किये जायँ—कभी बायीं और कभी दायीं ओर नहीं। अधिकतर, अक्षर की बगल में अक्षर मिलाकर संयुक्त किया जाता है और यन्त्र से इसी तरह छापने में सुभीता होता है या होगा, इसलिए यही नियम निश्चित करना सर्वोत्तम होगा।

संयुक्ताक्षरों के लिए यदि उपर्युक्त दोनों नियम निश्चित कर दिये जायँ, तो नागरी के अक्षरों की संख्या ४५० से आधी कम हो जायगी। एक उदाहरणार्थ 'द' का कोई अर्ध रूप निश्चित न रहने के कारण, तथा अक्षरों को संयुक्त करने का कोई एक नियम न होने के कारण, अभी द्व, द्य, द्भ, द्म, द्ध, द्‌ध आदि संयुक्ताक्षरों का अलग-अलग प्रबन्ध करना पड़ता है। यदि 'द' का एक अर्ध रूप निश्चित कर दिया जाय तो इन संयुक्ताक्षरों के बदले केवल एक अर्ध 'द्' से काम चल जायगा। इसी अर्ध 'द्' के साथ व, ध, भ, य, म संयुक्ताक्षर छापे जा सकेंगे। ऐसा करने से नागरी-लिपि की व्यवस्था सुधर कर सुन्दर, उपयोगी और प्रिय बन जायगी।

स्वरों में सुधार

(७) 'ऋ' और ऋकार की मात्रा (ृ) दोनों अनावश्यक है अब वास्तव में 'रि' के लिए ही 'ऋ' का प्रयोग किया जाता है। 'ऋ' के स्थान पर 'रि' लिखने में कोई दोष नहीं। इसी प्रकार 'तृ' के बदले 'त्रि' भी लिखा जा सकता है।

मात्रा में कमी

(८) चन्द्र-बिन्दु का बखेड़ा केवल परम्परा के कारण चला आ रहा है। 'न' का अर्ध अंश अनुस्वार और अनुस्वार का अर्ध अंश चन्द्र-बिन्दु है। अक्षर के अर्धांश का उच्चारण शुद्ध होता है, पर चतुर्थांश का शुद्ध उच्चारण होना यदि असम्भव नहीं, तो बहुत कठिन अवश्य है। मुँह, कल-काँटें की तरह काम नहीं कर सकता। और, अंदाज से अक्षर का

ठीक चतुर्थांश, बोलचाल की साधारण गति में, उच्चरित करना बिल्कुल असम्भव है। इसलिए इस झमेले का अंत कर देना ही ठीक होगा।*

सुधार के वे सुझाव जो पहले प्रकाशित हो चुके हैं।

लिपि में सुधार करने की चर्चा वर्षों पहले से हो रही है। इस सम्बन्ध में अनेक सुझाव समय-समय पर उपस्थित किये जा चुके हैं। स्वरों के लिखने के ढंग में परिवर्त्तन करने का एक सुझाव है। जिस तरह 'अ' में आकार, ओकार, और औकार की मात्रा लगाकर 'आ', 'ओ' और 'औ' लिखा जाता है, उसी तरह 'अ' में मात्रायें लगा कर लिखा जाय। इससे लाभ यह होगा कि छापाखानों या छापने के दूसरे यन्त्रों में इ, ई, उ, ऊ, ए और ऐ—इन छः स्वरों के लिए छः तरह के टाइपों की व्यवस्था करने की आवश्यकता नहीं रहती। 'अ' में ही मात्रा लगाकर ये स्वर छापे जा सकेंगे। यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि स्वरों की संख्या में कोई कमी नहीं होती, वे बारह के बारह ही रहते हैं, बारह से ग्यारह नहीं होते। 'इ' का जहाँ व्यवहार होता है वहाँ उसका व्यवहार होगा ही, उसमें कोई हेर-फेर न होगा। सुधार होगा 'इ' छापने में। अभी 'इ' छापने के लिए एक टाइप रहता है; पर इस सुधार के अनुसार 'अ' छापने के लिए दो टाइप 'अ' और 'ि' की आवश्यकता होगी। एक टाइप बैठाने में जितना समय और परिश्रम लगता है, दो टाइप बैठाने में उसका दुगुना समय और परिश्रम लगेगा। टाइपों की संख्या में छः की कमी हो जाने से टाइप चुनने में कुछ समय और परिश्रम कम लगेगा; पर एक की जगह दो टाइप लगाने के कारण समय और परिश्रम कुछ अधिक भी लगेगा। जिस अक्षर का व्यवहार कम होता हो, उस अक्षर के लिए एक के बदले दो टाइप रखने में लाभ अधिक हो सकता है और हानि कम। लेकिन जिस अक्षर का व्यवहार अधिक होता हो उस के लिए एक के बदले दो टाइप रखने से लाभ कम और हानि अधिक होने की सम्भावना है। इन छः स्वरों के लिए दो टाइप रखने से लाभ अधिक होगा या हानि, यह केवल अनुमान से ठीक नहीं कहा जा सकता। कुछ दिन वास्तव में काम करके जाँच-पड़ताल करने पर ही इसका ठीक निर्णय किया जा सकता है। और, यह सुधार कुछ भ्रमोत्पादक भी है। 'अ', 'इ' और 'उ' तीनों मूल स्वर हैं। 'अ' में इकार लगाकर 'अि' लखने से लोगों को यह भ्रम हो सकता है कि जो सम्बन्ध 'कि' का 'क' के साथ है या 'थि' का 'थ' के साथ, वही सम्बन्ध 'अि' का 'अ' के साथ होगा। पर वास्तव में 'इ' का 'अ' के साथ वह सम्बन्ध नहीं है जो 'कि' का 'क' के साथ है, बल्कि 'इ' स्वयं एक स्वतंत्र मूल स्वर है। इसलिए 'इ' और 'उ' का रूप 'अ' से सर्वथा भिन्न रखना श्रेयस्कर होगा। हाँ, 'ऊ' के रूप में कुछ सुधार करना अच्छा होगा। जिस तरह 'इ' में 'ˆ' लगाकर

*तब नागरी की वह बहुत बड़ी विशेषता, जिस पर लेखक को गर्व है, नष्ट हो जाएगी। अहिन्दी भाषी नागरी जानने वाला 'मांग' को 'माङ्ग' कहेगा तो हम क्या कहेंगे।—सं०

दीर्घ 'ई' लिखा जाता है, उसी तरह 'उ' में भी 'ˆ' लगाकर 'उँ' लिखा जाय तो 'ऊ' का रूप कुछ और सुन्दर हो जायगा, हिन्दी सीखने तथा छापने में भी कुछ और अधिक सरलता एवं सुविधा हो जायगी। यंत्र में 'ई' और 'उँ' दोनों के लिए अलग व्यवस्था करने में यदि कठिनाई हुई तो केवल एक 'ˆ' बना देने से काम चल जायगा; क्योंकि 'इ' और 'उ' में 'ˆ' मिलाकर 'ई' और 'उँ' छापा जा सकेगा।

एक और सुझाव, मात्रा लगाने के सम्बन्ध में, है। अभी अक्षर के दायें—बायें या ऊपर-नीचे मात्रा लगाई जाती है। मुद्रण-सम्बन्धी सुविधा के लिए सुझाव यह है कि मात्रा सदैव अक्षर के आगे दायीं ओर लगाई जाय। पर पहले तो यह विचार करना चाहिए कि इस सुधार के कारण क्या असुविधा होती है। सके साथ ही यह भी विचार करना चाहिए कि इस सुधार के कारण कितनी सुविधा होती है और कितनी कठिनाई।

असुविधा यह है कि नागरी की व्यवस्था अंग्रेजी से भिन्न होने के कारण, अंग्रेजी यंत्रों में जो व्यवस्था है उससे, हिन्दी का काम नहीं चलता। अंग्रेजी में व्यञ्जन के आगे स्वर लिखा जाता है, और यही स्वर मात्रा का भी काम देता है। अंग्रेजी में जैसा लिखा जाता है, अंग्रेजी यं ों में छापने का वैसा ही प्रबन्ध है। अतः नागरी में जैसे मात्रा लगाई जाती है वैसे ही छापने की व्यवस्था नागरी के यंत्रों में भी होनी चाहिए। इसके लिए यंत्रों की व्यवस्था बदलने की आवश्यकता है, लिपि की व्यवस्था बदलने की जरूरत नहीं। यंत्रों की दिशा में अब तक जो प्रयत्न किये गये हैं उनकी प्रगति देखकर ऐसा विश्वास होता है कि अंग्रेजी यंत्रों की तरह हिन्दी यंत्रों से भी सुविधापूर्वक मात्रायें ऊपर-नीचे और आगे-पीछे छापी जा सकेंगी। इसलिए यह असुविधा कोई स्थायी असुविधा नहीं और इसके कारण लिपि में परिवर्त्तन करने की आवश्यकता भी नहीं।

एक सुझाव यह है कि 'ष' को हटा दिया जाय। इस विचार के लोगों के मतानुसार 'श' और 'स' ही यथेष्ट हैं। किन्तु 'ष' का उच्चारण 'श' और 'स' दोनों से स्पष्ट भिन्न होता है, इसलिए 'श' और 'स' से भिन्न 'ष' का होना उचित एवं आवश्यक है। विशेष, शिष्य, शिष्टाचार, सृष्टि, शुष्क, शेष आदि शब्दों में 'श' या 'स' से सर्वथा भिन्न उच्चारण 'ष' का है या नहीं? 'ष' यदि हटा दिया जाय तो उक्त शब्दों में 'ष' के स्थान की पूर्त्ति कैसे होगी? अक्षरों की संख्या में कमी अवश्य होनी चाहिए, पर ऐसी नहीं कि उससे कोई स्थान सदैव खाली रह जाय।

इन सारी बातों को ध्यान में रखते हुए सारांश-रूप में, यह कहने का साहस होता है कि लिपि में यदि निम्नलिखित सुधार कर दिये जायँ, तो सभी समस्याओं का समाधान पूर्णरूपेण हो सकता है :—

(१) 'र' में उकार और ऊकार उसी भाँति लगाये जायँ जिस भाँति और सभी अक्षरों में लगाये जाते हैं। अर्थात् 'रु' और 'रू' के बदले 'रु' और 'रू' लिखा जाय।

(२) ' ' का एक अलग रूप न हो। उसके स्थान पर 'त' में '्' मिलाकर 'त्' लिखा जाय।

(३) पाँच अनुनासिक व्यञ्जनों से 'ङ' और 'ञ' निकाल दिये जायँ और इनके स्थान पर अनुस्वार का प्रयोग किया जाय।

(४) जिन अक्षरों का एक से अधिक रूप हो, उनका केवल एक ही रूप निश्चित कर देना चाहिए।

(५) 'ण' का यह रूप त्याग देना चाहिए, इसके स्थान पर 'ण' लिखना सुन्दर होगा।

(६) 'ख' के रूप में थोड़ा सुधार होना चाहिये। 'र' और 'व' के बीच जो अलगाव या अवकाश रहता है वह न रखा जाय।

(७) संयुक्ताक्षर लिखने के लिए हर व्यञ्जन का केवल एक अर्ध रूप निश्चित कर दिया जाय।

(८) अक्षरों के संयुक्त करने का एक नियम निर्धारित कर दिया जाय। सर्वत्र अर्ध अक्षर के बाद पूर्ण अक्षर मिलाकर संयुक्त करने का नियम ठीक होगा।

(९) 'ऋ' और ऋकार की मात्रा दोनों हटा दिये जायँ। जैसे--'ऋषि' और 'कृषि' के बदले 'रिषि' और 'क्रिषि' लिखना चाहिए।

(१०) चन्द्र-बिन्दु का झमेला हटा दिया जाय।

(११) 'ऊ' के स्थान पर 'उं' लिखा जाय।

यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि इन सुधारों से न तो हिन्दी के स्वरूप में कोई विशेष परिवर्तन होता है, न नागरी-लिपि के सिद्धान्त में कोई हेर-फेर--बल्कि लिपि में जो थोड़ी-बहुत अव्यवस्था है वह नियमबद्ध होकर सुव्यवस्थित बन जाती है। साथ ही ये सुधार हिन्दी की प्रकृति के इतने अनुकूल हैं कि इस तरह सुधरी लिखावट को पढ़ने के लिए किसी को कोई नई बात सीखने की आवश्यकता नहीं पड़ती।

सुन्दर झूठ की अपेक्षा कटु सत्य कहीं अधिक सुन्दर है। पीड़ा वांछनीय है, क्योंकि वह मनुष्य की भावनाओं में गहराई से पैठती है।

--जोला, (प्रवाह, अप्रैल, ५१ ई०)।

---o---

समीक्षा और समीक्षक

श्री केदारनाथ मिश्र 'प्रभात', एम० ए०

सिद्धान्त-निरूपण के नाम पर प्रचारात्मक विचारों के प्रकटीकरण को जिस प्रकार समीक्षा की संज्ञा नहीं दी जा सकती, उसी प्रकार मात्र सिद्धान्त-निरूपण को समीक्षा नहीं कहा जा सकता। सिद्धान्त-संगत होना समीक्षा की पूर्णता का मुख्य लक्षण है, सिद्धान्तों से प्रेरित होना भी ; क्योंकि सिद्धान्तों के आधार पर ही साहित्यकार के कर्तृत्व का वज्ञानिक पद्धति से किया हुआ विशद विवेचन उपस्थित किया जा सकता है और इसी विवेचन एवं तज्जनित संतुलन का दूसरा नाम समीक्षा है। कहना नहीं होगा कि मान्यताओं और परम्पराओं का समीक्षा के सिद्धान्तों से अटूट सम्बन्ध है और यही कारण है कि न्याय-संगत समीक्षा वैयक्तिक धाराणाओं से भिन्न, प्रत्युत उनके धरातल से बहुत ऊपर उठकर, विशालता और समग्रता के बीच खड़ी मान्यताओं और परंपराओं को साथ लेकर चलती है। इसका यह अर्थ नहीं कि मैं विचार-स्वातंत्र्य का विरोधी हूँ। वस्तुतः विचार-स्वातंत्र्य एक दायित्वपूर्ण अधिकार है, एक दृष्टि से बन्धन का पर्याय, परन्तु किसी भी अवस्था में निरंकुशता का द्योतक नहीं। धारणाओं और विचारों का निर्माण अनुभव-अध्ययन, अनुशीलन-परिशीलन तथा मनन-चिन्तन का परिणाम है। जो इससे भिन्न है, वह स्वेच्छाचारिता के ही नाम से पुकारा जायगा। स्वेच्छाचारिता से विचार-स्वातंत्र्य अपवित्र एवं कलंकित होता है ; मर्यादा की रक्षा से उसका गौरव बढ़ता है। वैयक्तिक विचारों और धारणाओं के प्रति दुर्निवार आग्रह ह वाद का रूप धारण कर उस आदर्श की हत्या कर डालता है, जो साहित्य का जीवन है और प्राण भी। समीक्षा साहित्य का एक प्रमुख अंग है। फलतः वह व्यक्तिवाद का तूर्यनाद नहीं बन सकती। समष्टि के कल्याण के लिये, जो सत्साहित्य का सर्वोच्च उद्देश्य माना जाता है, सिद्धान्ततः ऐसा होना भी चाहिये।

मान्यताएँ और परंपराएँ मिटाई-बनाई जा सकती हैं। ऐसा बराबर हुआ है। स्वस्थ वातावरण के अधिकाधिक विकास के लिये ऐसा होना आवश्यक भी है। इस दिशा में गत्यवरोध न केवल विकास के लिए अमंगल-सूचक माना जायगा बल्कि वह साहित्यिक विचारकों और चिन्तकों के मानसिक शून्यवाद का द्योतक भी होगा। विचार और धारणाएँ जब व्यक्ति को छोड़कर समष्टि के प्राणों की झंकार बन जाती हैं, उनके प्रति जब लोक का आग्रह बढ़ जाता है तब वे मान्यता और परंपरा की संज्ञा से अभिहित होती हैं। हिन्दी साहित्य में, विशेषतया आलोचना के क्षेत्र में, जो मान्यताएँ और परंपराएँ युग-युग से चली आ रही हैं उनके प्रति आज अविश्वास अधिक है, श्रद्धा कम। इसका कारण

राजनीति बता सकेगी, साहित्य नहीं, हालाँकि समस्या साहित्य की है। पुरातन के प्रति आज का अमर्थ, रोष और अविश्वास नई चेतना का वरदान पाकर नवीन विचारों और धारणाओं का सृजन कर रहा है। आज के नवीन विचार और धारणाएँ मान्यताओं और परं.राओं का गौरव प्राप्त कर सकेंगी, यह तो कोई ज्योतिषी ही बता सकता है—यह बात दूसरी है कि उनके प्रतिपादक बेतरह 'चिल्ल-पों' मचाये हुए हैं। चूँकि अभी सिद्धान्त-निरूपण ही हो रहा है, इसलिए हिन्दी-समीक्षा के वर्त्तमान को प्रस्तावना-काल मानना ही तर्क-सम्मत होगा, यों प्रयोगवादी अपने को प्रसन्न करने के लिये चाहे जो कहें।

प्रस्तावना-काल आडम्बर से पूर्ण होता ही है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि समीक्षक असंयत भाषा का व्यवहार करे। संयम का साथ छोड़ देने से समीक्षक का रूप विकृत हो जाता है; उसके मस्तिष्क में कृतसापत्निका का क्रोध उत्पन्न होता है, जिससे उसकी बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है और उसके विचार समीक्षा के उद्देश्य की पवित्रता को अपने काले आवरण से ढक लेते हैं। इस दायित्व-रहित आचरण से जिस विचित्र परिस्थिति का प्रादुर्भाव होता है उसमें समीक्षक, कृतिकार को सामने खड़ा कर, अभिधा और लक्षणा से अपने को 'आदमखोर' समझने लगता है। अपने इस रूप का ज्ञान उसकी हिंसा को जगाता है, उसके रोष की आग को भड़काता है और उसकी लेखनी बेलगाम घोड़े की तरह दौड़ने लगती है। मन और मस्तिष्क की इस अवस्था को मनोविज्ञान उन्माद के नाम से पुकारता है। उन्माद को वरदान की संज्ञा मिल ही नहीं सकती; विशेषकर समीक्षक के लिये तो यह घोर कलंक है।

कुछ अमेद्ययुक्त समीक्षक जब यह कहते हैं, कि आज तक कृतिकार प्रशंसात्मक विवेचना से ही परिचित थे, अलोचना के सिद्धान्त से अपरिचित——तब एक साथ ही कई प्रश्न सामने आ जाते हैं। क्या प्रशंसात्मक विवेचना समीक्षा नहीं कही जा सकती? क्या मिश्रबन्धु, आचार्य शुक्ल, पद्म सिंह शर्मा आदि पूर्ववर्त्ती समीक्षक असत्य के प्रवर्त्तक थे? क्या समीक्षा की उपाधि प्राप्त करने के लिये उसका ध्वंसात्मक होना अनिवार्य है? क्या प्रतिकूल समीक्षा के कारण के अभाव में भी समीक्षक को ध्वंस-लीला करनी ही चाहिये? क्या समीक्षक कोणकण है, रक्त पीना ही उसका स्वभाव है? क्या समीक्षा के भविष्य का यही रूप है?

इन प्रश्नों का चाहे जो उत्तर मिले, परन्तु एक बात स्पष्ट है। साहित्य के प्रति अन्ध-विश्वास की जड़ को सुदृढ़ बनाने का व्यर्थ प्रयत्न करनेवाला समीक्षक अपने को "हौआ" बनाना चाहता है; वह चाहता है कि उसीके दिये हुए प्रमाण-पत्र के आधार पर कृतिकार की सेवाओं का मूल्यांकन हो। उसकी दृष्टि में कृतिकार के निजी विचारों का कोई महत्व नहीं। यही नहीं, कृतिकार का सम्पूर्ण अस्तित्व ही समीक्षक की कृपा पर अवलम्बित है। परन्तु वस्तुस्थिति पर गम्भीरतापूर्वक विचार किया जाय तो बात उल्टी मालूम पड़ेगी। कृतिकार अक्षय वैभव का स्वामी होता है; उसके कोष में भाँति-भाँति के रत्न पाये जाते

हैं। वह लुटाने के लिये ही जन्म लेता है ; जब तक जीवित रहता है, रत्न-राशि लुटाता रहता है; और प्रचारवादी समीक्षक होता है परपिण्डादप्रकृति का पोषक।

कुछ समीक्षक यह भी कहते हैं कि यदि निराला जैसा कवि हिन्दी में नहीं लिखता होता तो हिन्दी राष्ट्रभाषा के सम्मानित पद की अधिकारिणी नहीं हो सकती थी। यहाँ निराला के प्रति आदर्श आदर का भाव प्रदर्शित किया गया है ; परन्तु इसके मूल में वह आग्रह नहीं, जिससे सत्य का परिचय मिलता है ; प्रत्युत विरोध की तीव्रता को कम करने का प्रयास मात्र ही परिलक्षित होता है। वस्तुतः लक्ष्य है भारतीय संस्कृति के मूल पर कुठाराघात। मेरे कहने का यह तात्पर्य नहीं कि निराला अभारतीय संस्कृति के पोषक और प्रचारक हैं, बल्कि यह कि निराला के पहले तुलसी, सूर आदि ऐसे महाकवि हो चुके हैं जिनकी अमर रचनाओं के आधार पर ही हिन्दी साहित्य टिका हुआ है, ठीक उसी प्रकार जैसे शिव के त्रिशूल पर पुण्य-नगरी काशी। यदि गत ३०–४० वर्षों का ही इतिहास लिया जाय तो भी हरिऔध, मैथिली शरण गुप्त, प्रसाद आदि ऐसे श्रेष्ठ कवि मिलेंगे, जिन्होंने हमारी सांस्कृतिक चेतना को जगाया है और राष्ट्र–भारती का गौरव-वर्द्धन किया है। सुनते हैं इंगलैण्ड में कभी यह प्रश्न पूछा गया था कि शेक्सपियर और बृटिश साम्राज्य इन दोनों में से अंग्रेज जाति किसे पसन्द करती है। उत्तर मिला था कि शेक्सपियर के सामने बृटिश साम्राज्य नगण्य है। यदि ऐसा ही कोई प्रश्न भारतीय स्वतंत्रता और सन्त शिरोमणि तुलसीदास के विषय में पूछा जाय तो बहुमत आवेगा तुलसीदास, सूरदास के पक्ष में ही, ऐसा मेरा विश्वास है। परन्तु भारतीय संस्कृति के प्रति जिसका घोर अविश्वास हो, वह निश्चय ही इन कवियों को वह स्थान नहीं दे सकता, जो अंग्रेजों के द्वारा शेक्सपियर को मिल चुका है। तुलसीदास को "तुलसीआ" कहने वाले अर्थलोभी पाखण्डवादियों की संख्या, बढ़ने को होगी तो बढ़ेगी ही। परन्तु यह आशा अनुचित नहीं कही जायगी कि समीक्षक सम्पूर्ण भारतीय संस्कृति और उसके प्रतिनिधि कवियों की समस्त साधना को एक वाक्य में ही समाप्त न कर दे प्रत्युत स-तर्क सिद्ध करे कि वे उस सम्मान के अधिकारी नहीं हैं जो उन्हें मिल चुका है अथवा जो प्रतिदिन मिल रहा है।

माना कि समीक्षक कृतिकार-सा कोई कवि-धातु नहीं। तो क्या वह परशुराम है ? नहीं, यह कल्पना से परे है। फिर वह बार-बार चिल्लाता क्यों है—मेरे समानधर्मा समीक्षको ! तुम्हारे पूर्वज मूर्ख और बेईमान थे, तुम ज्यादा बुद्धिमान और चतुर हो। अपनी अपार शक्ति का अनुभव करो और कठोर बनो। विश्वदहन के लिये तैयार हो जाओ ! यह तो साहित्यिक सन्निपात का लक्षण है। साहित्य के मंगल की प्रार्थना है कि यह रोग यहीं रुक जाय, आगे न बढ़ने पावे। यदि कृतिकार भी लक्ष्मण की वाणी का प्रयोग करने लगे तो साहित्य-निर्माण हो चुका। कृतिकार लिखे, शक्ति भर लिखे, मस्त होकर लिखे, समीक्षक भी अपने धर्म का पालन करता चले। गर्जन-तर्जन की कोई आवश्यकता नहीं ; कहीं भी नहीं। इसी में साहित्य का कल्याण है।

समीक्षा में निष्पक्षता वांछनीय है और स्पष्टता श्लाघ्य। परन्तु इन दोनों के ऊपर समीभूत तर्क को बैठाना पड़ेगा। और जहाँ तक कर्त्तृत्व का सम्बन्ध है, यह तर्क सावर्ण होगा तभी समीक्षक निष्पक्षता और स्पष्टता की रक्षा कर सकता है।

सावर्ण्य लक्ष्य से शून्य समीक्षा कृतिकार का उपहास होगी, एक दृष्टि से घोर अन्याय भी। उसका रूप अमेध्यलिप्त तो होगा ही। इसीलिये इस बात की अपेक्षा होती है कि समीक्षक कृतिकार के साथ चले। वह कृतिकार की मनोदशाओं का अध्ययन और विश्लेषण करे ; अपने निजी विचारों का नहीं। समीक्षक में इस संवेदनशीलता का होना उतना ही आवश्यक है, जितना शरीर में प्राण का होना। अन्यथा उसकी लिपिबद्ध विचारमाला अविनिगम ही कही जायगी। निश्चय ही न्याय की यह माँग घृण्य नहीं कही जायगी। चाँदी के टुकड़ों पर बिकने वाली समीक्षा की बात अलग है। स्वस्थ समीक्षा के इस महत्त्वपूर्ण तत्त्व को यदि समीक्षक से सहानुभूतिशीलता की याचना माना जाय तो स्पष्ट है कि समीक्षक अपने को सर्वशक्ति-सम्पन्न अधिनायक ही समझता है। अधिनायकतंत्र राजनीति का पाणिग्रहण कर सकता है ; परन्तु उसे याद रखना चाहिये कि वह स्वयम्वरा कला की छाया भी नहीं छू सकता।

काव्य में युग-दर्शन

विश्व-विख्यात कवि और आलोचक टी० एस० इलियट के अनुसार महाकवि आत्माभिव्यक्ति करते हुए अपने युग को भी अभिव्यक्त कर देते हैं। अपने प्रसिद्ध लेख (Tradition and Individual talent: परम्परा तथा व्यक्तिगत प्रतिभा) में वे लिखते हैं—"कला की अनुभूतियाँ निर्वैयक्तिक (Impersonal) होती हैं।" कवि का सर्वप्रधान कर्त्तव्य है, उसके जीवन का मुख्य संघर्ष है अपनी निजी तथा व्यक्तिगत वेदनाओं को विस्मय-विमुग्धकारी सौन्दर्य में परिणत करना एवं उन्हें सार्वजनिक तथा निर्वैयक्तिक रूप देना। महाकवि की स्वानुभूति में तत्कालीन युगानुभूति प्रतिबिम्बित होती है। अपनी अनुभूतियों के प्रति सच्चा होकर ही महाकवि अपने युग की अनुभूतियों की सफल अभिव्यक्ति कर सकता है। अपने युग की अनुभूतियों के प्रति जागरूक रह कर ही वह युग-युग की अनुभूतियों को——मानवता के चिरन्तन जीवनानुभवों एवं भावनाओं को——पूर्णतः नहीं तो अंशतः ही——रूप और वाणी दे सकता है।

——विशाल भारत, मार्च १९५१।

——०——

औपनिषदिक तत्त्व-चिंतन

डा० विश्वनाथ प्रसाद सिंह वर्मा

जागतिक प्रहेलिका की शब्द-राशि का प्रयोग अद्वैत तत्त्व के बारे में नहीं किया जा सकता क्योंकि वह शब्दागोचर है। अतएव उपनिषद् के ऋषि निषेधात्मक पद्धति का अवलम्बन करते हैं। डायोनिसियस, एकहार्ट, बोहमे (Boehme) ने भी इस पद्धति का अवलम्बन किया है।[1] ईसाई रहस्यवादियों की बहुत सी बातें कबीर के समान हैं। इन सभी का अध्ययन उपनिषद् की पृष्ठभूमि से करना अच्छा होगा।

उपनिषद् की विचारधारा का ही समन्वयात्मक, संगठित रूप वेदान्तशास्त्र में है। बादरायण के अनुसार समस्त श्रुतियों का प्रतिपाद्य शास्त्रयोनि ब्रह्म है। आजकल पश्चिम में शांकर अद्वैतवाद के विरुद्ध आवाज उठी है। तैत्तिरीयोपनिषद् में जो पञ्चकोशों का वर्णन पाया जाता है उसमें प्रकृति तथा प्रकृति में अनुस्यूत और अतीत ब्रह्म का यथातथ्य निरूपण है। इससे मालूम होता है कि उपनिषदों में शांकर मायावाद के लिये स्थान नहीं है। परन्तु लोकमान्य तिलक और डायसन के मतानुसार मायावाद उपनिषद् सम्मत है। ऋग्वेद में कहा है कि—इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते—यहाँ अनेक रूप-धारण माया-शक्ति के द्वारा सम्भव है। श्वेताश्वतरोपनिषद् में कहा है कि प्रकृति माया है और परमेश्वर मायी (Controller of Maya) है। गीता में कहा है :—

दैवी येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥

यह दैवी माया उपनिषद् सम्मत है। ईशोपनिषद् में मंत्र है

हिरण्मयेनपात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वम्पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये॥

यहाँ सत्य (पारमर्थिक सत्ता) को आवृत कहा है। हिरण्मयपात्र का साधारण अर्थ सुवर्ण आदि सम्भव है किन्तु उसका विशिष्ट तात्पर्य माया भी सम्भव है और इस प्रकार गीता का ऊपर लिखा श्लोक उपनिषद् का रूपान्तर प्रतीत होता है।

थिबो, याकोबी और कीथ का विचार है कि उपनिषद् से रामानुज-परि-गृहीत अभिप्राय ही विशिष्ट प्रकार से सिद्ध होता है। योगी अरविंद ने कहा है कि यद्यपि शंकर की अलौकिक तत्त्वशक्ति और साधुचरित्र के कारण अद्वैतवाद ही उपनिषद और वेदान्त का अन्तिम निष्कर्ष प्रतीत होता है तथापि उपनिषदों का अधिक व्यापक तात्पर्य

---

[1] राधाकृष्णन्—Hindu View of life.

निर्णय भी सम्भव है। परमहंस रामकृष्ण और विवेकानन्द ने तन्त्रप्रोक्त विश्वव्यापक मातृशक्ति को स्वीकार कर शांकर मायावाद का विरोध किया। विवेकानन्द के मतानुसार उपनिषद् में एक निश्चित विचारधारा नहीं है—द्वैत, विशिष्टताद्वैत और अद्वैत के समर्थक वाक्य उसमें मिलते हैं और क्रमिक आध्यात्मिक अनुभूति के वे परिणाम हैं। जिसकी अनुभूति कुछ स्थूलता का आश्रय लिए रहती है उसे द्वैतवाद ही ठीक मालूम पड़ता है। अनन्तर विशिष्ट-द्वैत का बोध होता है और अन्तिम स्थिति अद्वैत की अनुभूति है। निर्विकल्प असम्प्रज्ञात निदिध्यासन की अवस्था में ही 'अयमात्मा ब्रह्म', 'तत्वमसि', 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' का बोध होता है। इसी अनुभूति को प्राप्त करना उपनिषद् का अन्तिम लक्ष्य है। इस अनुभूति को प्राप्त कर जीवनमुक्त होकर लोककल्याणार्थ कर्मयोग का आचरण सच्चा पुरुषार्थ है। विशिष्टाद्वैत-सिद्धान्तानुयायियों को एक बड़ा लाभ है कि प्रकृतिवादी उनके सिद्धान्त का इतना तीव्र विरोध नहीं करते जितना अद्वैतवाद का। रामानुज के अनुसार जगत् और जीव ब्रह्म के शरीर-भूत हैं। अशेष कल्याण-गुणों से युक्त सगुण ब्रह्म ही अन्तिम सत्य है और उसीकी भक्ति से मुक्ति मिलती है (रामानुज निदिध्यासन का अर्थ भक्ति से करते हैं)। कीथ का कहना है कि उपनिषद् के दर्शन का निरूपण करने में रामानुज को एक स्पष्ट सुविधा है कि व्यावहारिक और पारमार्थिक ज्ञान का विभेद कृत्रिम है और उपनिषदों में इस प्रकार के विभेद का कहीं पोषण नहीं है। किन्तु यदि कीथ महोदय ने प्लेटो और प्लोटिनस तथा बौद्ध विज्ञानवाद का अध्ययन किया होता तो व्यवहारिक और पारमार्थिक के विभेद को वे कृत्रिम नहीं कहते। उपनिषदों के विभिन्न स्थलों में आए दार्शनिक सिद्धान्तों की संगति लगाने के लिये इस प्रकार का भेद करना आवश्यक है। कहीं-कहीं तो स्पष्ट ही इस प्रकार के भेदसूचक वाक्य मिलते हैं। मुण्डकोपनिषद् में परा और अपरा विद्या का उल्लेख है। जगत् के सम्बन्ध में तत्त्वज्ञान बतलाने वाले वेद और वेदान्त अपरा विद्या के अन्तर्गत हैं। शास्त्रीय ज्ञान को छांदोग्योपनिषद् में सनतकुमार ने "नाम एव" कहा है। इस शास्त्रानुशीलन के अनन्तर परा विद्या से अक्षर ब्रह्म का बोध होता है। यहाँ पर विद्या ही समस्त अभ्यास का विकास करने वाली लोकोत्तरपारमार्थिक दृष्टि को प्रदान करने वाली है और इसलिये यही पारमार्थिक ज्ञान है। वैशेषिक दर्शन में भी कहा है :—

> अपुष्टं विद्या (९।२।१२)।
>
> आर्षं सिद्धदर्शनं च धर्मेभ्यः : (९।२।१४)।

इन्द्रिय दोष और संस्कार दोष का पूर्णतम नाश होने पर विद्या प्राप्त होती है। इसी विद्या को प्रज्ञा, प्रतिभा, आर्षज्ञान और, स्वामी रामतीर्थ तथा प्लेटो की भाषा में, दैवी पागलपन कहते हैं।

धर्म का विवेचनपूर्ण और दार्शनिक ढंग से अध्ययन करने का प्रयास हेगेल ने किया था। धार्मिक विकास की तीन अवस्थाएँ उन्होंने मानी हैं —

(१) Objective Religion--बाह्यप्रकृति से सम्बद्ध धर्म ।
(२) Subjective Religion--आत्मा से सम्बद्ध धर्म ।
(३) Absolute Religion--पूर्णधर्म ।

हेगेल के अनुसार जग ् के अन्य धर्म, प्रथम दो श्रेणियों में आते हैं । ईसाई धर्म ही पूर्ण धर्म है । इसी धर्म में आत्मिक सत्ता का पूर्ण रूप में वर्णन है । यह उस अवस्था का स्वरूप है जिसमें अपने सम्बन्ध में ही धर्म व्यक्तबाह्य रूप धारण करता है । उपर्युक्त विकास-क्रप को हेगेल और उसके अनुयायियों ने ईसायियत के पूर्ण समर्थन में लगाया है । ईसा का व्यक्तित्व या अवतार–भावना ईश्वरत्व (Spirit) और मानवत्व (Matter) का सामञ्जस्य है । इस विकास–परम्परा को भारतीय धर्म के विकास पर लगाने का प्रयत्न एडवर्ड केयर्ड ने "धर्म का विकास" नामक ग्रन्थ के प्रथम भाग में किया है । उसके अनुसार वेदसंहिता में वर्णित धर्म विषयगत (objective) है जब बाह्य देवताओं की ऋचाओं द्वारा स्तुति की जाती थी । उपनिषद् का धर्म विषयीगत (Subjective) है । भगवान् बुद्ध का धर्म विषयीगत धर्म का उग्र उदाहरण है क्योंकि आत्मा को इस धर्म में नामरूपस्कंधो में विभक्त करके पूर्ण अवज्ञान (Total annihilation) का मार्ग मनुष्य के सामने रखा गया । प्राचीन बाइबल के पैगम्बरों का धर्म और स्ताइकों का दार्शनिक धर्म इसी विषयीगत धर्म के उदाहरण हैं ।

कहने की आवश्यकता नहीं कि केयर्ड का यह विवेचन पक्षपातपूर्ण है । हेगेल के इस विचार पर, कि बाह्यानुभूति के अनन्तर अन्तरानुभूति का दृश्य है और फिर दोनों के विभेदों का परिहार कर पूर्ण अनुभूति का उदय होता है, मनोवैज्ञानिक दृष्टि से मत-भेद सम्भव है । केयर्ड के मस्तिष्क में यह बात समाई ही नहीं कि भारत के ऋषि और तत्त्व–चिन्तक भी पूर्ण धर्म का विकास कर सकते थे ।

यह स्पष्ट है कि ऋग्वेद के नासदीयसूक्त में उद्घोषित ब्रह्म की विचारणा को ही पर्यवसित रूप में उपनिषद् की विचारधारा ग्रहण करती है । इस अद्वैत का पूर्णतम आनु-भूतिक तादात्म्यावबोध ही हेगेल का पूर्ण धर्म है । भारतवर्ष में अद्वैत का महान् तत्त्व केवल शुष्क दार्शनिक चिन्तन का विषय नहीं था । जब इस अद्वैत ब्रह्म का व्यावहारिक दृष्टि से उपासनात्मक अनुचिंतन किया जाता है तब यह अद्वैत ही एकेश्वर (Monotheistic Godhead) का रूप धारण करता है । डायसन का कहना है कि फिलीस्तीन और मिस्र देश में एकेश्वरवाद का विचार अन्य सम्प्रदायों के देवताओं को दबाकर उत्थापित हुआ । भारत में एकेश्वरवाद की दार्शनिक उपपत्ति मिलती है । भारतवर्ष में सर्वदा दार्शनिक सत्यों की क्रियात्मक धार्मिक अनुभूति पर बल दिया जाता था, यहाँ तक कि कपिल के द्वैतवाद का चिंतन करने वाले कापिल भिक्षु भी इस देश में थे । अतएव अद्वैत-तत्त्व दर्शन का विषय होते हुए भी धार्मिक प्रयत्न का सर्वश्रेष्ठ साध्यभूत वस्तु था । हेगेल के सगुण ब्रह्म से भी उच्च स्तर के तात्त्विक सत्य सच्चिदानन्द निर्गुण ब्रह्म की धार्मिक

अनुभूति का स्पष्ट उल्लेख उपनिषद् में, तथा निर्देश वेद में है। ऐसी अवस्था में पूर्ण धर्म को केवल ईसाइयत के लिये सुरक्षित रखना या तो अज्ञान है या द्वेष है। उपनिषद् प्रोक्त धर्म को मात्र विषयगत (Subjective) कहना ठीक नहीं है। उपनिषद् का आत्मा पश्चिमी दर्शन का ग्राहक चेता (Subject) नहीं है। कांट के अनुसार व्यावहारिक आत्मा (ego) का पूर्ण शुद्ध आत्मा में समावेश होता है। पश्चिमी दर्शन का विज्ञाता (Subject or ego) ही भारतीय दर्शन में बुद्धि है। अद्वैत के इस विवेचन से स्पष्ट है कि वेदसंहिता के धर्म को मात्र (objective : विषयीगत) कहना ठीक नहीं है क्योंकि आत्मविषयक और अद्वैत ब्रह्म विषयक अनेकश: निर्देश वेद में प्राप्त हैं। उपनिषद् में उपासना के समय विश्व की सृजनात्मिका, पालनात्मिका और संहारात्मिका शक्तियों की अभ्यर्थना की गई है और इस अवस्था में प्रकृति का गौण स्थान रहता ही है। जब प्रतीकों के द्वारा उपासना की जाती है तब भी सूक्ष्म रूप में प्रकृति का सम्बन्ध रहता है। अतएव उपासना के समय प्रकृति और आत्मा का सूक्ष्म सम्बन्ध रहता है। निर्विकल्प समाधि के समय इस द्वैत का अवसान होकर ब्रह्माकारवृत्ति का अजस्र प्रवाह रहता है।

उपनिषद् का अद्वैत "सत्यम् ज्ञानमनन्तम् ब्रह्म" या ऋग्वेद का "आनीद वात स्वधया तदेकम्" देशकालकार्यकारणभावातीत बृहत् सत्ता है। हेगेल के अनुसार दर्शनशास्त्र का इतिहास ही दर्शन है। (Philosophy is the history of philosophy)। देशकाल का प्रभाव दर्शन की अनुचिंतनपद्धति पर हेगेल स्वीकार करता था। उसका विचार है कि थेलिस से लेकर शेलिंग तक के दार्शनिकों के द्वारा प्राप्त सिद्धान्तों की पूर्णता उसके दर्शन में हुई है। परन्तु अद्वैततत्त्व में समयनिरपेक्ष व्यापक दार्शनिक सत्य है। इस अद्वैत तत्त्व का नीति-नियमों से क्या सम्बन्ध हो सकता है? नीति-नियमों को वर्गसंघर्ष से उत्पन्न नहीं माना जा सकता। नीति-नियमों का सामाजिक और वैयक्तिक उभयविध प्रभाव है। जहाँ तक सामाजिक अवस्थाओं के प्रभाव का प्रश्न है वहाँ, ऐतिहासिक कालक्रम के अनुसार, तीसरी सदी के मेक्सिको निवासी के नीति नियम आज के मंगोलिया निवासी से विभिन्न हो सकते हैं। परन्तु यह वैभिन्न्य बाह्याचार, भोजन आदि तक सीमित है। व्यक्तिगत जीवन की शुचिता और पवित्रता में जो धर्म के प्राण हैं काल और देश का प्रभाव नहीं माना जा सकता। इसी व्यापक दृष्टि का अनुसरण कर वेद म कहा गया है कि साधु पुरुष ऋत का अनुसरण करता है और ऋत या वरुण को जानता हुआ सत्यमार्ग से विचलित नहीं होता है। भगवद्गीता में श्री कृष्ण ने कहा है कि धर्म का नाश और अधर्म का अभ्युदय उनके मानव–देह–धारण का कारण है। इससे प्रतीत होता है कि वेदान्त के तत्त्वज्ञान का अनुसरण करने वाली भगवद्गीता को भी सत्य, असत्य आदि नीति-नियमों के अतिशय महत्त्वपूर्ण होने का विचार पूर्ण सम्मत है। ईसाई आलोचकों का कहना है कि अद्वैत दर्शन का व्यावहारिक पवित्र जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं क्योंकि ब्रह्म की प्राप्ति तो ज्ञानसाध्य है और जागतिक पुण्य और पाप मायिक

है। ह्यूम (लेखक : Thirteen Principal Upanishads) ने तो यहाँ तक कह डाला है कि अद्वैत तत्त्व का विद्वान् कोई भी दुष्कर्म करने की छुट्टी पा लेता है। कीथ महोदय ने भी कुछ इसी प्रकार का विचार प्रकट किया है। ऐसे आलोचकों के लिये लोकमान्य तिलक का कहना है :—

"यह कहने में कोई हानि नहीं है कि अफ्रीका का कोई काला-कलूटा जंगली मनुष्य सुधरे हुए राष्ट्र के नीति-तत्त्वों का आकलन करने में जिस प्रकार अपात्र और असमर्थ होता है उसी प्रकार इन पादड़ी भलेमानसों की बुद्धि वैदिक धर्म के स्थितप्रज्ञ की आध्यात्मिक पूर्णावस्था का निरा आकलन करने में भी, स्वधर्म के व्यर्थ दुराग्रह अथवा और कुछ ओछे एवं दुष्ट मनोविकारों से, असमर्थ हो गई है।" *

परन्तु कुछ लोग अपवादस्वरूप भी हैं : डायसन का कहना है कि अपने अविकृतरूप में वेदान्त शुद्धतम नैतिक आचरण का प्रबल आधार है† ।

वेदान्त शास्त्र में ज्ञान का महत्त्व सर्वोत्कृष्ट है। यह ज्ञान बौद्धिक वाग्विलास नहीं, यह जीवन-निर्माण का प्रमुख सूत्र है। इस ज्ञान की प्राप्ति के लिये जितने साधन अपेक्षित हैं, उनका संग्रह अवश्यमेव कर्त्तव्य है। भगवद्गीता में स्थितप्रज्ञ (२। ५५-७२), भक्त (१२।१३–१९) और गुणातीत (१४। २२–२५) के लक्षण बताए गए हैं। ब्रह्मभूत, जीवन्मुक्त, ब्राह्मीस्थिति-प्राप्त, ब्रह्मनिर्वाणस्थ पुरुष किस प्रकार का जीवनयापन करते हैं इसका पूरा उदाहरण और लक्षण गीता में वर्णित है। सांसारिक जीवन से क्रमशः उत्थान करते-करते विशुद्ध सत्त्व गुण का जैसे-जैसे उत्कर्ष होता है वैसे-वैसे दिव्य जीवन की प्राप्ति होती है। इस सत्त्व गुण का प्रभूत केन्द्रीकरण ही नीति मार्ग का सर्वश्रेष्ठ लक्ष्य है। धम्मपद और सुत्तनिपात में भी नीति-नियमों का लक्षण दिया गया है। इस भव्य स्थिति को प्राप्त मनुष्य के लिये बाह्य नियम अनपेक्षित हैं। सदाचारपूर्ण जीवन तो उसका स्वभाव ही है। पाश्चात्य तत्त्वज्ञानी कांट का कहना है कि सच्चे नैतिक जीवन का उद्भव मनुष्य की परिष्कृत आत्मा से होना चाहिये। बाह्य बंधन अथवा दण्ड के कारण जिस नियम का पालन होता है वह तो अपेक्षाकृत असंस्कृत समाज के लिये है। समाजवादी विचारकों की भी धारणा है कि कम्यूनिस्ट समाज के द्वारा मनुष्यों की भावनाओं की परिशुद्धि होगी और अन्ततोगत्वा 'स्टेट' नष्ट हो जायगा। जिस प्रकार कम्यूनिस्ट विचारक यह नहीं सोचते कि मानव समाज का उत्कृष्ट रूप–वर्गहीन समाज–बंधनहीन होने से हौब्स वर्णित प्राकृतिक अवस्था का रूप धारण कर लेगा, क्योंकि सदियों तक इस अवस्था का अन्त करने के लिये प्रयत्न किए गए हैं, उसी प्रकार की युक्ति

*गीता रहस्य पृ० ३८२।

†(Elements of Metaphysics p. 337)

वेदान्त वर्णित जीवन्मुक्त के लिये भी हमें लगानी चाहिए। वेदान्तोक्त जीवन्मुक्त के लिये यह आलंकारिक वर्णन है कि वह पुण्य-पाप से व्यतिरिक्त है। वस्तुतः नीतियुक्त पथका अनुसरण करना उसकी आत्माका सहज धर्म है। व्यर्थ के आडम्बर अथवा लौकिक भावनाओं से आक्रान्त होकर वह धर्म का अनुष्ठान नहीं करता। हाँ, यदि कुछ अधकचरे गँजेड़ी, चरस का दम लगाने वाले तथाकथित साधु अपने दुराचार को छिपाने के लिये कहें कि "निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतां को विधिः को निषेधः" तो उसका विरोध अवश्य करना चाहिये। समाज के नीति-नियमों का अन्तिम रक्षक जनता की सुसंस्कृत बुद्धि ही है। वेद में सत्य ही कहा है :—

विजानीह्यार्यान् ये च दस्यवो ।
बर्हिष्मते रन्धया शासदव्रतान् ।।

जो अधर्म का अनुशीलन करता है वह अपने स्वधर्म को छोड़ कर पापाचारी हो कर अवश्य ही वधार्ह है। अतएव वेदान्त की नीति के आधार को सम्यक् रूप से समझना चाहिये। आचार्य शंकर ने कहा है कि वेदान्त के जिज्ञासु को निम्न-लिखित नीति-नियमों का पालन करना चाहिये।

(१) नित्यानित्यवस्तुविवेक ।
(२) इहामुत्रफलभोगविराग ।
(३) शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा, समाधान ।
(४) मोक्षप्राप्ति की आत्यन्तिक अभिलाषा ।

यदि वेदान्त के प्रारम्भिक अध्ययन के लिये इन नियमों के पालन की इतनी आवश्यकता है तो किस प्रकार से यह शंका की जा सकती है कि वेदान्तनिष्ठ होकर इनका परित्याग किया जा सकता है।

यदि वेदान्त अद्वैत तत्त्व को जागतिक प्रत्ययों से ऊपर की वस्तु स्वीकार करेगा तो अवश्य ही मानव-संसार-व्यापी नियमों से उसे अतीत कहना पड़ेगा। समस्त जगत् और जगत्कर्त्ता को केवल मानव बुद्धि से देखना ठीक नहीं है। मनुष्य के लिये जो हिंसा है वही व्याघ्र के लिये अहिंसा। मनुष्य नीति और नियम को अपने साँचे में ढालता है (anthropomorphic conception)। इसीलिये एक यूनानी आलोचक ने कहा था कि यदि घोड़ों को देवताओं की कल्पना करनी पड़ती तो वे अपने रूप में करते। यदि असंस्कृत बुद्धि का कोई मनुष्य यह कहे कि ब्रह्म नीति-नियमों से परे है, अतएव मैं अधर्म करके ब्रह्म-रूप बनूँगा तो ब्रह्म भोजन और जल-पान नहीं करता, तो क्या वह भी खाना-पीना छोड़ देने को तैयार हो जाएगा ! इसी प्रकार वेदान्तोक्त समाज की स्थापना हो सकती है। जर्मन दार्शनिक हेगेल के अनुसार भी नीति-शास्त्र, राजनीति और इतिहास, ब्रह्म के बाह्याकार (objective spirit) का वर्णन करते हैं। ब्रह्म की पूर्ण अभिव्यक्ति का अध्ययन करने के लिये कला, धर्म और दर्शन का अध्ययन आवश्यक है।

वेदान्त और बौद्ध धर्म के नीति-शास्त्र पर यह आक्षेप है कि इनसे व्यक्ति का पूर्ण समुत्थान सम्भव है, समाज का नहीं। अवश्य ही वेदान्त का परम उद्देश्य मुक्त जीवन प्राप्त करना है। इसकी प्राप्ति के निमित्त जितने साधन अपेक्षित हैं, उनको प्राप्त करने की साधना एक सारा समाज नहीं कर सकता। बौद्ध धर्मोक्त निर्वाण के लिये भी यही कहा जा सकता है। तथापि एक जीवन्मुक्त और एक निर्वाण-प्राप्त मनुष्य जगत् का अनन्त उपकार कर सकता है। यदि समाज में एक मनुष्य भी अपना पूर्ण उत्थान करता है तो उसका अनुसरण कर अन्य लोग अपना जीवन सुधार सकते हैं। वेद और उपनिषद् में वर्णाश्रम का नियम पाया जाता है जिसमें सामूहिक उत्थान का प्रमाण मिलता है। आधुनिक युग में भी स्वामी दयानन्द, अरविंद बाबू, भगवान दास, राधाकृष्णन् ने गुण-कर्म-स्वभाव का अनुसरण करने वाले वर्णाश्रम धर्म का मंडन किया है। बौद्ध धर्म में बोधिसत्व की भावना आती है। बोधिसत्व अपनी मुक्ति को तब तक ठुकराता है जब तक जगत् में एक भी दुखी प्राणी है। समस्त जगत् के कल्याण का बीड़ा बोधिसत्व अपने ऊपर लेता है। श्री अरविंद ने कहा है कि आध्यामिक अनुभूति की ऐसी अवस्था है जब मनुष्य आत्मज्ञान प्राप्त करके जगत्कल्याणार्थ अतुल कर्म करने में समर्थ हो सकता है। अतएव उपनिषद् और बौद्ध धर्म के नीतिशास्त्र को केवल वैयक्तिक नहीं कहा जा सकता। स्पायनोजा के अनुसार नैतिक प्रयत्नों का लक्ष्य व्यक्ति का सन्तोष और पूर्ण विकास है। हेगल कहता था कि व्यक्ति की पूर्णता समाज के लिये है। हेगल की इस विचारधारा का प्रभाव फासिस्ट और कम्यूनिस्ट विचारकों पर पड़ा है और ये लोग भी समाज के उत्थान के लिये व्यक्ति की अवहेलना करते हैं। किन्तु उपनिषद् का वैशिष्टय इस रूप में है कि इसमें व्यक्ति और समाज का पूर्ण संतुलन और समन्वय है। व्यक्तिगत उत्थान के लिये पूरी स्वतंत्रता अपेक्षित है। यदि समाज का ही पूरा जोर रहता, जैसा जर्मनी में था और रूस में है, तो गेलेलियो, दयानन्द और मार्क्स जैसे स्वाधीनचेता मनुष्य जगत् में नहीं हो सकते थे। दुनिया की अधिकांश उन्नति समाज के विरोध में, पक्ष-समर्थन में नहीं, हुई है।

ज्ञान ही परम शांति और सुख का कारण है ऐसा विचार उपनिषद्, बौद्ध धर्म और हेगल में पाया जाता है। सुकरात ने भी कहा था कि ज्ञान ही पुण्य कर्म है। गीता के अनुसार बड़े से बड़ा पापी ज्ञान रूपी नौका का आश्रय लेकर जगत् से उद्धार पा सकता है। कठोपनिषद् में कहा है—

> एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपम्बहुधा यः करोति।
> तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वन्नेतरेषाम्।
> नित्योऽनित्यानांश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्।
> तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम्॥

हेगल के अनुसार भी परमार्थ ब्रह्मानुचिंतन से ही साध्य है। उपनिषद् में कहा है—जो भूमा है वही परमसुख का कारण है, अल्प में सुख नहीं है। व्यापक एकत्व का दर्शन

होने पर ही शोक और मोह का अवसान होता है। जब तक मनुष्य देहात्मवादी होकर अपने क्षुद्र स्वार्थों की सिद्धि में लगा रहता है तब तक वह नीतिमान नहीं है क्योंकि मानव, जीवन के अप्रतिम कर्त्तव्य सत्यानुसन्धान से विमुख होकर, केवल बाह्यकेन्द्राभिमुखी जीवन व्यतीत करता है। इस प्रकार का जीवन ही मायावादी जीवन है।

जगत् में जीवन है, प्रकाश है, पाप और दुःख भी है, किन्तु उनका अपहरण सम्भव है। स्पायनोजा और हेगल के विचार में पाप, बाह्य दृष्टि से (Objectively) मायात्मक है, यद्यपि अन्तः दृष्टि से (Subjectively) यह प्रयोजनशील हो सकता है। ब्रह्म सच्चिदानन्द है, इसका तात्पर्य है कि जगत् में अधर्म स्थायी नहीं हो सकता। "सत्यमेव जयते नानृतं सत्येन पन्था विततो देवयानः"। सत्यानुसार जीवन बिताना ही परम लक्ष्य है।

उपनिषद् के तत्त्वज्ञान और नीतिशास्त्र की आलोचना में हम प्रवृत्त हुए हैं। यूरोपीय दर्शन में कोरा तत्त्वज्ञान अधिक है। सुकरात का प्रभाव तत्कालीन यूनानी समाज पर था। हेगेल के दर्शन का प्रभाव यूरोप पर बहुत पड़ा, विशेषतः उसके द्वन्द्व नियम (Dialectic) का। पिथागोरस, सुकरात, अफलातूँ, स्ताइक, एपिक्युरियन, कांट आदि का भी शिक्षित वर्गों की विचारधारा पर कुछ प्रभाव पड़ा। किन्तु ये दार्शनिक जन-आन्दोलन नहीं कर सके। भारत में जब-जब शाश्वत आर्य धर्म का पुनरुत्थान हुआ है तब-तब उपनिषद् के तत्त्वज्ञान का अभ्युत्थान करना पड़ा है। इसका कारण है कि यहाँ दर्शन का अध्ययन कर्म की दृष्टि से किया जाता था। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि दर्शन यहाँ कर्म का उसी रूप में सहकारी था जिस रूप में मध्ययुगीन यूरोप में (Scholastic Period में)। यदि ऐसा रहता तो मीमांसा, सांख्य, और जैन दर्शन नास्तिक नहीं रह सकते (स्वामी दयानंन्द के अतिरिक्त अन्य दार्शनिकों का विचार है कि मीमांसा और सांख्य नास्तिक-अनीश्वरवादी हैं)। उपनिषद् युग में सम्राट् आदि धार्मिक संघठनों में भाग लेते थे। सम्राट् जनक, प्रवाहण जावालि, काशिराज अजातशत्रु और केकयाधिपति अश्वपति उदाहरण-स्वरूप हैं। उपनिषद् और बौद्धकाल में विद्वानों और दार्शनिकों के सतत भ्रमण और प्रचार से बड़े-बड़े सिद्धान्त जनता की सम्पत्ति बन जाते थे। भारतवर्ष में दर्शन की ऊँची-से-ऊँची उड़ान भी जनसम्पर्क से अलग न रही। भारत की इसी सांस्कृतिक परम्परा का अनुसरण करते हुए स्वामी रामतीर्थ और विवेकानन्द जी ने भौतिकवादी अमेरिका और इंग्लैंड में भी उपनिषद् और वेदान्त का डंका बजाया।

मनुष्य के भीतर वर्त्तमान शक्तियों का आविष्कार और जागरण ही उपनिषद् का लक्ष्य है। अतएव उसमें अप्रमादयुक्त होकर निष्काम कर्म करने का तीव्र सन्देश वर्त्तमान है। कठोपनिषद् और श्वेताश्वतर तथा पिछले वैष्णव धर्म में ईश्वरकृपा की आवश्यकता ज्ञानप्राप्ति के निमित्त मानी गई है। प्राचीन उपनिषदों में मनुष्य के प्रयत्न

पर बड़ा जोर दिया गया है। ईशोपनिषद् में मनुष्य को अन्त समय में अपने कर्मों का स्मरण करने को कहा है। अन्यत्र कहा है कि मनुष्य कामनामय है। जैसा उसका संकल्प होता है वैसा ही वह करता है और अपने कर्मानुसार उसका जीवन-निर्माण हो जाता है। गीता में भी कहा है कि मनुष्य जिस विषय में श्रद्धावान् होता है तदनुकूल उसके व्यक्तित्व का रूपान्तर हो जाता है। अत्यन्त उदात्त शब्दों में गीता का सन्देश है :—

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैवह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥
बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः ।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्त्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥

भगवान बुद्ध ने धम्मपद में भी ऐसा संदेश दिया है। उपनिषद् के तत्त्वज्ञानी का आश्रयण करके ही ऐसा शुद्ध कर्त्तव्य-मार्ग प्रदर्शित किया जा सकता है। मानव जीवन के निमित्त शक्ति की प्रबल आवश्यकता है। व्यक्तिगत और राष्ट्रीय जीवन में शक्ति अत्यन्त अपेक्षित है। इसीलिये वेद में भगवान को वीर्यस्वरूप और ओजस्वरूप कहा है। केनोपनिषद् में आख्यायिका है कि जातवेदा अग्नि और मातरिश्वा वायु ब्रह्म की शक्ति के बिना कोई कार्य नहीं कर सकते।

भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः ।
भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः ॥

हेराक्लिटस ने भी कहा है कि शक्ति ही जगत् की धारणा और इसका विध्वंस करती है और नित्यशः इसकी रचना करती है। शक्ति पर बल देने से स्पष्ट है कि उपनिषद् का तत्त्वज्ञान कमजोर और जीवन से थके हुए लोगों की रचना नहीं है। यह उन लोगों के पुरुषार्थ का फल है जो जीवन में सर्वत्र विजय देखते हैं। याज्ञवल्क्य एक ओर आत्मा संबंधी संवित् शास्त्र का निर्माण करते हैं, दूसरी ओर प्रतिपक्षियों को शास्त्रार्थ में पराजित करने का उन्हें बड़ा लोभ है और इसीलिये शाकल्य, जारत्कारव, कौशीतकेय आदि उनसे हार मानते हैं। अतएव ओल्डनबर्ग और कीथ आदि विचारकों के, जिनका कहना है कि पंजाब और मध्यदेश के सुन्दर जलवायु से बिहार के कमजोर जलवायु में आने के कारण आर्यों का मस्तिष्क कमजोर हो गया और उनके निराशापूर्ण हृदय से उपनिषद् के विज्ञानवाद और अध्यात्मवाद की सृष्टि हुई, निराधार मंतव्यों पर पुनः विचार होना चाहिये।

उपनिषद्प्रोक्त अद्वैत सत्य का सिद्धान्त इतर देश में भी आया है। स्वामी अभेदानन्द (Contemporary Indian philorophy में) ने एमर्सन के ओवरसोल, प्लेटो के शिव (Good) स्पायनोजा के सब्सटांसिया, कांट के वस्तुतत्त्व, शापनहावर के 'विल' (संकल्पनात्मिका पूर्ण शक्ति) स्पेन्सर के अज्ञाततत्त्व, और हैकल के सब्सटेंस से ब्रह्म की तुलना की है।

मैं उपनिषद् के विज्ञानवाद के सम्बन्ध में कुछ विचार प्रकट कर इस निबन्ध को समाप्त करूँगा। विज्ञानवादी, विशेषतः हेगेल का अनुसरण करने वाले, ग्राह्य वस्तुओं की सत्ता स्वीकृत करते हैं किन्तु उनकी विज्ञानमयी व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। कर्म केवल इन्द्रियों के द्वारा होते हैं, ऐसा उनका विचार नहीं है। इन्द्रियकरणीय कर्मों की सत्ता भी वे नहीं मानते हैं, इसके बदले मन की विचार-प्रक्रिया को वे निर्दिष्ट करते हैं। विज्ञानवाद के अनुसार प्रकृति मौलिक सत्ता नहीं है। हेगेल के अनुसार प्रकृति पूर्ण विज्ञान का द्विधाकरण या अन्यीकरण (Heterisation या Alienation) ह। वेदान्त में प्रकृति का स्वरूप ऐसा नहीं है कि वह ब्रह्म के आत्मदर्शन के निमित्त आवश्यक हो। विज्ञानवाद (Idealism) का असली मतलब है विषय (object) का विषयी (Subject) से आक्रान्त होना। उपनिषद् का विज्ञानवाद हेगेल या फिक्ट या मैकहागर्ट के विज्ञानवाद से इस अर्थ में भिन्न है कि इन पश्चिमी दार्शनिकों के विचार की आधार-भूमि मानव बुद्धि (Ego) या पूर्ण बुद्धि (Absolute Idea) है। उपनिषद् में अतीन्द्रिय विज्ञानवाद की स्थापना है। हेगेल या ब्रैडले ने कहीं पर ऐसा विचार नहीं रखा है कि 'तत् त्वं असि।' उपनिषद् के विज्ञानवाद में अध्यात्म का उत्कर्ष है।

ईरान के राजकुमार और उसके सहपाठी गड़रिये की कथा याद आती है। जब दोनों बड़े हो गये, तो एक बार अकस्मात् एक दूसरे से मिले और एक दूसरे का हाल पूछने लगे। दोनों ने एक दूसरे के पिता का हाल पूछा। गड़रिये ने बताया कि उसके पिता का देहांत हो गया और उसने कब्रिस्तान में एक छोटी-सी कब्र उनके लिए बनवा कर उन्हें दफन कर दिया। राजकुमार ने बताया कि अपने पिता की मृत्यु पर उसने उनके लिए बहुत आलीशान कब्र बनवाई और उस पर बढ़िया पत्थर जड़वाये। गड़रिया रो पड़ा। राजकुमार ने (जो अब राजा हो चुका था) कहा—"रोने की क्या बात है, दुखी मत हो, मैं तुम्हारे पिता की भी बहुत अच्छी शानदार कब्र बनवा दूँगा।" गड़रिये ने कहा—"मैं अपने पिता के लिए नहीं, तुम्हारे पिता के लिए रो रहा हूँ। मैं सोचता हूँ कि कयामत के दिन मेरे पिता तो जरा-सी मिहनत करने पर धूल झाड़ कर उठ खड़े होंगे, पर तुम्हारे पिता उन ईंटों और पत्थरों के अंबार के बीच से कैसे निकल पायेंगे ?"

—प्रवाह, अकोला, फरवरी, '५१)।

——o——

काव्य के प्रतीक

श्रीनरेश

युग और काव्य में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध रहता है, ऐसा कहना आज कोई चौंकाने वाली बात कहना नहीं होगा। इस सर्वमान्य सत्य से ऐसा निष्कर्ष निकालना कि युग-विशेष की भाव और विचार-धारा (Process of sensibility and thought) में जिस प्रकार के परिवर्त्तन होंगे उसी प्रकार के परिवर्त्तन काव्य में भी होंगे, असंगत नहीं होगा। लेकिन केवल इतना भर कहने से एक दोष आ जाता है; तब काव्य और युग के अन्योन्याश्रय का पूर्ण रूप हम नहीं कह रहे होंगे। सच तो यह है कि युग की भाव-धारा और विचार-धारा के अनुसार काव्य में अभिव्यक्ति तो होगी ही, उन धाराओं के परिवर्त्तन की अभिव्यक्ति भी होगी। इस दूसरे अर्थ में, प्रत्येक युग परिवर्त्तन की गति का युग होता है; वह प्रतिपल बदलने वाला होता है। यद्यपि उपमाएँ कभी-कभी उलझन में डाल देती हैं, फिर भी एक उपमा यदि हम यहाँ लें तो यह बात स्पष्ट हो जायगी। युग एक समुद्र की तरह है। अन्दर, बहुत गहरे में, धाराएँ क्षिप्र गति से चलती रहती हैं और ऊपर होता है शांत और ऊर्मिल समुद्र का फैला पानी। गति ऊपर परिलक्षित नहीं होती; चाहिये तो ऊपर को आप स्थिति की अवस्था में भी कह लीजिए। लेकिन गर्भ में निरंतर गति है, परिवर्त्तन है। अतः काव्य भी दो प्रकार का देखा-पाया जा सकता है। एक तो ऊपरी सतह का काव्य होता है, जो वस्तु को, युग को, स्थिति की अवस्था में देखता है और उसकी अभिव्यक्ति करता है। दूसरा गहराई का काव्य होता है जो गहराई की, गति की, तीव्रता की, परिवर्त्तन की अभिव्यक्ति करता है।

इन दोनों अवस्थाओं की पारस्परिक भिन्नता के अनुरूप दोनों की अभिव्यक्ति के प्रतीक में अंतर होता है। स्थिति की अभिव्यक्ति करने वाले काव्य के प्रतीक वे ही नहीं होंगे जो गति की अभिव्यक्ति करने वाले काव्य के होंगे। और न दोनों अवस्थाओं की अभिव्यक्ति के प्रतीकों की एक रूढ़ि-सी (Convention) बनती रहती है। हिन्दी साहित्य के चारण-काव्य में तलवार, वीर, बहादुर, युद्ध, रण आदि भावों के प्रतीक ये शब्द काव्य के प्रतीक थे। फिर रीतिकालीन काव्य में प्रतीक बदल गये और कामिनी-कंचन-कुच-केश-कटि के-से प्रतीक आये। ये प्रतीक निरंतर एक रूढ़ि को भी जन्म देते रहे। इन प्रतीकों के व्यवहार से ही कोई कवि अथवा उसकी रचना उस युग की धाराओं से प्रभावित मानी जा सकेगी। और फिर उल्टी साँस लेता हुआ छायावाद! वीणा, उस पार, देव, प्रिय, इन्द्र-धनुष, बादल, सूना, नभ आदि प्रतीक आये और रूढ़ि भी बनी। ये शब्द मनमाने ढंग से नहीं आ गये। यदि युग के परिदृश्य (perspective)

में उन्हें देखा जाय तो आरंभ में कही गई बात स्पष्ट हो जाती है। ये काव्य-युग सामाजिक-युगों की ऊपरी सतह की स्थिति के साहित्य-युग हैं। हम बिना डर इन प्रतीकों के आधार पर यह कह सकेंगे कि युग का जीवन, ऊपरी सतह का जीवन, ऐसा ही था। क्यों था, यह एक अलग बात होगी।

मैं यहाँ यह स्पष्ट कर दूँ कि प्रतीक से मेरा क्या तात्पर्य है। काव्य की भावना और आवेश की अभिव्यक्ति के माध्यम शब्द हैं। लेकिन ये शब्द अपने आप में, अपनी इकाई में निरर्थक हैं। शब्द के अर्थ नहीं होते। शब्दों की उत्पत्ति पर यदि ध्यान दें तो यह बात साफ हो जाती है। शब्द गुणों के निचोड़ (abstraction) हैं। अतः वे प्रतीक (symbol) हैं। लेकिन हम शब्दों का अर्थ सीखते हैं और इसीलिये शब्द की पंक्तियों के सौंदर्य और रस के आस्वादन के हेतु पहली शर्त 'अर्थ' को मानते रहे हैं। यदि अर्थ स्पष्ट न हो तो रसास्वादन में कठिनाई होती है, और कभी-कभी तो एकदम रसास्वादन नहीं कर पाते हम।

मैंने ऊपर कहा है कि शब्द अपनी इकाई में कोई अर्थ नहीं रखते। इस बात पर थोड़ा और विचार कर लेना यहाँ अप्रासंगिक नहीं होगा ; इसलिये कि आगे जो बात कही जायगी वह इसकी रोशनी में। तो शब्द के अर्थ नहीं होते। शब्दों को हम अर्थ के सहारे इस तरह देखते आये हैं जैसे किसी चीज में किसी दूसरी चीज का होना, जैसे एक कटोरे में दूध। यही कठिनाई, और इसी प्रकार की विचार-प्रक्रिया हमें ब्रह्मांड की उत्पत्ति के रहस्योद्घाटन के लिये विवश करती है। हम जानना चाहते हैं कि ब्रह्मांड की जब स्थिति है तो किसी चीज में उसका होना अनिवार्य है। इसीलिये हम स्थान (space) की परिकल्पना करते हैं और स्थानहीन अस्तित्व (non-spatial existence) की कल्पना करने में असमर्थ होते हैं। शब्दों के साथ भी हम इसी प्रकार की कठिनाई अनुभव करते हैं। एक शब्द में हम अर्थ खोजते हैं, जैसे शब्द के भीतर कहीं अर्थ बैठा हो, और हम उसे खींच कर, निचोड़ कर बाहर निकाल लेंगे। लेकिन बात ऐसी नहीं। शब्द वस्तु अथवा भाव के प्रतीक हैं और ये प्रतीक भी लोगों के मेल-जोल से, जो मनुष्य के सामाजिक प्राणी होने के कारण अनिवार्य-सा हो उठता है, रूढ़ि के रूप में बनते-बदलते रहते हैं। जरा किसी भी हिन्दी शब्दकोष को उलट जाइये और 'लपटचूस' जैसे एक शब्द का अर्थ ढूंढिये। कोष में ऐसे शब्द आप को नहीं मिलेंगे, क्योंकि ऐसे शब्द इस भाषा में पहले से नहीं आ रहे हैं, नये बने हैं। विदेशी भाषा में ऐसे शब्दों को पहले तो 'स्लैंग' (slang) कहते हैं, लेकिन धीरे-धीरे भाषा इन्हें पचा लेती है और ये साहित्यिक भाषा के शब्द बन जाते हैं।

दूसरी बात है, शब्दों का अर्थ आप तब तक नहीं समझ सकते, जब तक उनसे सम्बद्ध वस्तु अथवा भाव की अनभूति आप को नहीं हो चुकी रही हो। एक बच्चे को

लीजिए। वह 'मा' से मा का भाव तब समझता है जब पैदा होने के बाद से वह अपनी माता से संबद्ध इस संज्ञा-सूचक शब्द को 'माता'-वस्तु से संबद्ध कर लेता है। इसके पश्चात् ही वह धीरे-धीरे इस शब्द के धारणात्मक भाव, अर्थात् अपने स्तनों का पान कराकर पालन करने वाली, को ग्रहण करता है। इसी तरह उसकी बुद्धि के विकास के साथ-साथ इस शब्द का भाव भी विस्तृत होता जाता है। वह तब 'मा' का अर्थ जननी के रूप में ग्रहण करने लगता है। और तब यदि उसे 'मदर' का अर्थ मा बतलाया जाता है तो वह इस नये शब्द का पूर्ण अर्थ ग्रहण कर पाता है।

ऊपर कही गई बात का कदापि इतना ही अर्थ नहीं कि शब्द वस्तु के प्रतीक हैं, वे वस्तुगत गुण के भी प्रतीक हैं। जैसे एक शब्द ले लिया जाय 'केला'। केला जहाँ केला के रूप का प्रतीक है वहाँ वह उसके गुण का भी प्रतीक है। लेकिन केला का अर्थ यदि बतलाया जाय 'मीठा' तो? केले में मिठास तो होती है? या, केला का अर्थ यदि बतलाया जाय पीला, तो? लेकिन केला हरा भी होता है, पकने पर पीला भी, कच्चे केले की फली कड़ी होती है, पके की मीठी, मुलायम, रसीली आदि। स्पष्ट है कि एक शब्द केला अपने में इतने विभिन्न प्रकार के गुणों की समीपता (approximation) को लिये हुए है। गद्य में इसीलिये जहाँ 'यथातथ्यता' (precision) को गुण माना गया है वहाँ पद्य में अस्पष्टता (vagueness) को कला के नाम पर खपा दिया जाता रहा है। निष्कर्ष स्पष्ट है कि काव्य में शब्दों के अर्थ से रसोपलब्धि नहीं होती; शब्दों की व्यंजना से होती है। 'इस पार', 'उस पार' आदि से प्रतीक का गद्य अर्थ जो होगा उससे आवेशात्मक रसोपलब्धि नहीं हो सकती। उसकी अस्पष्टता से जिस रोमांस का सृजन होता है, रस की उत्पत्ति वहीं से होती है। लेकिन इस प्रकार की रसोत्पत्ति हृदय में हो, इसके लिये यह भी आवश्यक हो उठता है कि पाठक उन अस्पष्ट आवेशों से पूर्ण परिचित हो। एक पंच-वर्षीय बालक को यदि कहा जाय कि बच्चन की कविता 'इस पार, प्रिये, मधु है, तुम हो' बड़ी अच्छी है तो उसमें किसी प्रकार की आवेशात्मक प्रतिक्रिया नहीं होगी, कारण, वहाँ पूर्वानुभूति अथवा सहानुभूति के गुण का अभाव है।

स्पष्ट है कि जो पाठक एक विशिष्ट अनुभूति-योजना की रूप-रेखा से बहुत अवगत हो चुका रहेगा वह प्रारंभ की तरह आवेशात्मक प्रतिक्रिया नहीं दे सकेगा। और फिर अवस्था-विशेष की भावुकता और आवेश बराबर कायम रहेंगे, इसकी माँग भी अस्वाभाविक होगी। इसलिये छायावादी प्रतीक वयः संधि (मानसिक दृष्टि से) से पार कर गये व्यक्ति में रसोद्रेक कर सकने में असमर्थ हो जाते हैं।

यहाँ से दो बातें कहने की आवश्यकता होती है। पहली यह कि परंपरागत काव्य-रचना से अलग हो कर रचे जाने वाले काव्यों का रसास्वादन औसत पाठक के लिये इसलिये मुश्किल नहीं होता कि वहाँ शब्दों का गद्य अर्थ नहीं, बल्कि इसलिये होता है कि

उस प्रकार की अनुभूतियों से उनका पूर्व-परिचय नहीं। प्रयोगवादी शब्द को ही लें। वहाँ औसत पाठक बराबर इसकी शिकायत करता है कि कुछ समझ में नहीं आता। इससे यदि ऐसा माना जाय कि काव्य के रसास्वादन की दो शर्त्तें वे मानते हैं—पहली, कि समझ में आये ; दूसरी कि तब वह रसोद्रेक करे—तो गलत नहीं होगा। लेकिन अंतिम विश्लेषण में समझ में आने के गुण का आग्रह निरर्थक सिद्ध होता है। रसोद्रेक समझ में आने पर ही होता है, ऐसा नहीं। रसोद्रेक शब्दों की योजना अर्थात् प्रतीकों की अपनी व्यंजनात्मकता (Suggestiveness) है, जिसकी बात ऊपर साफ कर दी जा चुकी है, और वह पारस्परिकता और सान्निध्य के कारण उत्पन्न व्यंजनाओं (Suggestions) पर ही निर्भर करता है। अतः काव्य को शब्दों के अर्थ के रूप में ग्रहण न करें प्रतीकों के स्थापत्य के रूप में ग्रहण करना होगा ; तभी काव्य का, चाहे वह किसी भी युग का हो, सम्यक् मूल्यांकन संभव हो सकेगा।

———०———

एक व्यक्ति ने दूसरे से कहा—"एक बार जब समुद्र में ज्वार आया था, मैंने अपनी छड़ी की नोक से तट की रेत पर एक पंक्ति लिख दी थी। उसे पढ़ने के लिए लोग आज भी ठहर जाते हैं और इस बात की सावधानी रखते हैं कि कहीं वह मिट न जाय।" तब दूसरा बोला—"मैंने भी रेत पर एक पंक्ति लिखी थी ; किन्तु उस समय समुद्र उतार पर था। बाद में महासागर की लहरों ने उसे धोकर बहा दिया। हाँ, यह तो बताओ, तुमने लिखा क्या था ?" पहला व्यक्ति बोला—"मैंने लिखा था—'सोहमस्मि'—मैं 'वह' हूँ ; पर तुमने क्या लिखा था ?" दूसरे ने कहा—"मैंने तो लिखा था—'मैं इस महासागर की केवल एक बूँद हूँ'।"

—खलील जिब्रान (प्रवाह, अकोला, अप्रैल, '५१)।

———०———

हिन्दी साहित्य-सम्मेलन का अड़तीसवाँ नाटक

एक बात सभी हिन्दी-प्रेमी अच्छी तरह समझ लें कि अहिन्दी-भाषी प्रान्तों की ओर से गुजरात के जेठालाल जी जोशी और सिन्ध के दौलतराम जी शर्मा ने स्पष्ट संकेत किया था कि हम अहिन्दी-भाषी हिन्दी-प्रेमी लोग हिन्दी-भाषियों के इन झगड़ों से दूर ही रहना चाहते हैं। हम तो राष्ट्र-भाषा के रूप में हिन्दी की सदैव उपासना करते रहेंगे। आप यदि अपने झगड़ों से मुक्त होना नहीं चाहते हैं तो आपकी मर्जी। परन्तु पन्द्रह वर्ष के भीतर या बाद यदि अंग्रेजी का स्थान हिन्दी को नहीं दिया जायगा तो उसमें जितना दोष सरकार का या अहिन्दी-भाषी प्रान्तों का होगा, उससे कहीं अधिक दोष स्वयं हिन्दी-भाषियों का होगा।

—जयेन्द्र त्रिवेदी (विशाल भारत, मार्च, ५१)।

———०———

जैनेन्द्र के उपन्यास

श्री सिद्धेश्वर प्रसाद

जैनेन्द्र विश्लेषण-प्रिय कलाकार हैं। वे प्रेमचन्द्र की तरह न तो व्यापक चित्रपट सामने लाते हैं और न उस विस्तार की आवश्यकता ही समझते हैं, बल्कि उनका विश्वास है—"इस विश्व के छोटे-से-छोटे खण्ड को लेकर हम अपना चित्र बना सकते हैं और उसमें सत्य के दर्शन पा सकते हैं" ('सुनीता' की प्रस्तावना)। समस्या–नाटकों की तरह उनके उपन्यास समस्या-उपन्यास हैं। उनके मन में समस्या के रूप में कोई चीज गुत्थी बन कर अटक जाती है और वे पात्रों के माध्यम से उसका विश्लेषण करते हैं।

जैनेन्द्र के उपन्यासों की समस्या एक ही है—नारी का सतीत्व! नारी की और भी समस्याएँ हैं; परन्तु उनकी ओर जैनेन्द्र का ध्यान नहीं गया है। सुनीता, मृणाल और कल्याणी—तीनों एक ही व्यक्तित्व के तीन रूप हैं, तीनों की एक ही समस्या है।

जैनेन्द्र की यह समस्या क्या है? आज हमारे समाज में पुरुष और स्त्री दोनों के लिये पृथक्-पृथक् नैतिक मापदण्ड प्रचलित हैं। पुरुष वेदान्त का पुरुष है—सर्वथा मुक्त। नारी माया है, जिसके लिये शाश्वत बन्धन-विधान के सिवा समाज के पास और कुछ नहीं है। पुरुष जिस भूल के लिये शाबासी पाता है, नारी उसी के लिये ताड़न। इस समस्या के समाधान—पश्चिम के नारी-स्वातंत्र्य—को भी जैनेन्द्र अस्वीकार करते हैं; क्योंकि उसका आधार प्रेम और सहयोग नहीं, अधिकार-भावना की होड़ है। जैनेन्द्र मानते हैं कि व्यक्ति त्याग और कष्ट-सहन के द्वारा दूसरों को सही मार्ग पर ला सकता है—इसके लिये किसी प्रकार की हिंसक क्रान्ति को वे अस्वीकार करते हैं। इसीलिये उनके विचार से इस नैतिक समस्या का समाधान नारी के अनैतिक होने में नहीं, बल्कि कष्ट-सहन और त्याग के द्वारा अनैतिक पुरुष को नैतिक बनाने में है। इसे जैनेन्द्र की अतिनैतिकता माना जा सकता है। इसकी व्यावहारिकता में किसी को सन्देह हो सकता है; पर वैसे अवसर पर जैनेन्द्र तर्क का नहीं—विश्वास का आश्रय लेंगे; क्योंकि विश्वास ही पुनर्निर्माण की शक्ति दे सकता है।

लोगों ने जैनेन्द्र पर शरत् का प्रभाव देखा है; पर कहाँ और किस अंश में—यह स्पष्ट नहीं किया गया है। वास्तव में कोई ऐसी बात है ही नहीं। शरत् की समस्या सामाजिक अधिक है, जैनेन्द्र की समस्या नैतिक अधिक। जिस तर्क के आधार पर शरत् को प्रेमचन्द से अधिक गहराई में उतरने वाला कलाकार कहा जाता है, उसी तर्क के अनुसार जैनेन्द्र शरत् से अधिक गहराई तक जाने वाले कलाकार हैं।

बहुत कुछ समानता वाले दो चरित्रों को लीजिए। 'श्रीकान्त' की राजलक्ष्मी और 'त्याग-पत्र' की मृणाल---दोनों ही सामाजिक दृष्टि से पतित हैं। लेकिन राजलक्ष्मी को पतित हो कर भी जो सुख और अधिकार प्राप्त है वह मृणाल को गृहिणी हो कर भी नहीं। मृणाल गृहिणी हो कर भी लांछित है, राजलक्ष्मी पतित होकर भी प्रिय का प्रेमपात्र। राजलक्ष्मी बचपन के साथी को पाकर वेश्या-वृत्ति से मुक्त होती है, मृणाल अपने बचपन की बात अपने पति से कहकर ताड़न पाती है। लेकिन मूल में एक ही बात है। जिस ईमानदारी के कारण राजलक्ष्मी सभी कुछ पाती है, उसी के कारण मृणाल सब तरह के दुःख उठाती है। तो क्या, जीवन में---दाम्पत्य जीवन में भी---ईमानदारी अपराध है? जैनेन्द्र के सामने यह नैतिक समस्या है। जैनेन्द्र इसे नैतिक स्तर पर सुलझाने का प्रयत्न करते हैं। शरत् इसी को सामाजिक पार्श्वभूमि में देखते हैं।

इस कथन का एक ज़बरदस्त प्रमाण यह है कि जैनेन्द्र की नारी की जागरूकता और शक्ति शरत् की नारी में नहीं है। शरत् की नारी निरीह है, अबला है; इसीलिये वह कुछ कहने-करने से लाचार है---इसीलिये वह निरुद्देश्य भीतर ही-भीतर घुलती रहती है। लेकिन जैनेन्द्र की नारी में शक्ति भी है और वह उस शक्ति से परिचित भी है। अनैतिकता के विरुद्ध प्रतिक्रिया-स्वरूप वह अनैतिक भी हो सकती थी, जैसा मृणाल ने किया; पर यह समस्या का समाधान नहीं है; क्योंकि इससे कुछ भी रचनात्मक कार्य संभव नहीं है। दूसरी ओर रचनात्मक दृष्टि लेकर चलने वाली सुनीता सब कुछ सहती जाती है, तथाकथित अश्लील आचरण भी करती है। पर साथ ही साथ अपने प्रतिपक्षी को किसी न किसी तरह यह संकेत करना भी नहीं भूलती कि वह गलती कर रहा है और इस प्रकार उसकी सोई मनुष्यता को जगाने में सफल होती है। जैनेन्द्र की नारी कर्त्तव्य किये जाती है और कर्त्तव्य पालन में ही एक रोज समाप्त हो जाती है।

तब, कहाँ है जैनेन्द्र पर शरत् का प्रभाव? जैनेन्द्र की यह मानवीय आधार से युक्त मनोवैज्ञानिक नैतिकता तो गांधी जी की देन है, जिसे उनके स्वानुभूत अनुभवों ने तीव्रता दी है। तो क्या, कला के क्षेत्र में, जैनेन्द्र शरत् के ऋणी हैं? अवश्य ही कला के क्षेत्र में जैनेन्द्र ने शरत् से कुछ लिया है। कला के क्षेत्र का यह ऋण मनोविश्लेषणात्मक चित्रण का नहीं (यह जैनेन्द्र की एकदम अपनी चीज है), बल्कि कथन के अनायासपन का है। कथन का यह अनायासपन शरत् की उपन्यास-कला की सबसे बड़ी विशेषता है। कला का यह अनायासपन स्वाभाविकता से भिन्न वस्तु है। स्वाभाविकता का सम्बन्ध वस्तु से है, अनायासपन का अभिव्यक्ति से। 'चरित्रहीन' और 'श्रीकान्त' जैसे लम्बे उपन्यासों में भी शरत् इस सहज भाव से कहते हैं, मानों सब कुछ अनायास ही कहा जा रहा है, निर्माण-कौशल का तनिक भी प्रयास नहीं मिलता। जैनेन्द्र में भी यह बात अपने सहज स्वाभाविक रूप में मिलती है। पुस्तक समाप्त कर लेने के बाद भले ही जैनेन्द्र

की रहस्यमयता की ओर ध्यान जाय, लेकिन बगैर समाप्त किये कहीं किसी प्रकार की रुकावट का अनुभव नहीं होता। यह अद्भुत गुण जैनेन्द्र की विषय-वस्तु में नहीं, उनकी वर्णन-शैली में है। प्रेमचन्द का आकर्षण वर्णन-शैली से अधिक सामयिक विषय का है। एक अन्तर और भी है। शरत् और जैनेन्द्र भावक्षेत्र के कलाकार हैं ; प्रेमचन्द अपेक्षाकृत घटनाक्षेत्र के।

लेकिन दो बातों को लेकर जैनेन्द्र की कला शरत् से आगे की चीज कही जायगी। वर्णन-शैली को सफल बनाने के लिये शरत् को जिस विस्तार की आवश्यकता पड़ती है जैनेन्द्र की उससे बहुत थोड़े में ही, शायद उससे अधिक, अभीष्ट-सिद्धि हो जाती है। जिन थोड़े-से पात्रों को लेकर जैनेन्द्र सफल कथा-सृष्टि कर पाते हैं, वह उनकी अपनी विशेषता है।

जैनेन्द्र की यह सफलता और भी अधिक ऊँचाई पा जाती है जब हम देखते हैं कि नैतिकता-जैसे सर्वथा अछूते विषय को लेकर भी वे इस सफलता के पाने में समर्थ हैं। कला की मौलिकता, विषय की मौलिकता--और उसके बाद भी उपन्यास की सरसता में कमी न आने देना, यह कोई साधारण बात नहीं है।

(२)

जैनेन्द्र को प्रभावित करने वाले जिन स्रोतों की ओर ऊपर संकेत किया गया है उन्हें ध्यान में न रखने के कारण ही आलोचकों ने परस्पर-विरुद्ध बातें कही हैं। एक ओर श्री नन्ददुलारे वाजपेयी कहते हैं--"जैनेन्द्र जी एक भावुक कथाकार हैं।" (आधुनिक साहित्य, पृ० १५६) ; दूसरी ओर डाक्टर नगेन्द्र का मत है--"जैनेन्द्र जी में बुद्धि की तीव्रता है।" (विचार और अनुभूति, पृ० १४४) ; फिर डाक्टर देवराज कहते हैं--"कहीं-कहीं जैनेन्द्र के वाक्य पेशेवर फिलासफरों को भी लजा दे सकते हैं।" (साहित्य-चिन्ता, पृ० १८०), "दार्शनिकता जैनेन्द्र का स्वभाव ही है।" (वही, पृ० १७९)।

ऐसी अटकलें क्यों ? क्या हिन्दी आलोचना अब भी भावुकता में पल रही है ? भावुक भला बुद्धिवादी और दार्शनिक क्यों होने लगा ? या, स्वभाव से ही चिन्तन-प्रिय दार्शनिक का भावुकता से क्या सम्बन्ध ? जिन्हें जैनेन्द्र के प्रति एक प्रकार की अस्पष्टता की शिकायत थी, वे भावुकता की बात को ले उड़े ! जिनके सामने जैनेन्द्र की सूक्तियाँ थीं उन्होंने उनकी दार्शनिकता को तो देखा, पर उनकी कला का मूल्य न आँक सके ! एक ही साँस में जैनेन्द्र पर 'व्यक्तिवादी', 'मौजूदा स्थिति' अथवा स्वीकृत मर्यादाओं के पक्के समर्थक' (साहित्य-चिन्ता, पृ० १८६), 'स्पष्ट लक्ष्य का अभाव' (वही, पृ १८२) आदि आरोप करने के बाद भी जब डा० देवराज उन्हें 'एक असाधारण लेखक' (वही, पृ० १८८) कहते हैं तब सचमुच आश्चर्य होता है। स्वभाव से जैनेन्द्र को 'पेशेवर फिलासफरों को लजाने वाले दार्शनिक' मान कर उनके चिन्तन को प्रभविष्णु (वही, पृ०

१८३) न मानना और फिर उन्हें 'विश्व के थोड़े-से विचारोत्तेजक लेखकों में स्थान देना (वही, पृ० १८८) कुछ अर्थ नहीं रखता।

जैनेन्द्र में न तो तथाकथित बदनाम भावुकता है, न वे 'मौजूदा स्थिति' अथवा स्वीकृत मर्यादाओं के पक्के समर्थक हैं, और न उनमें 'स्पष्ट लक्ष्य का अभाव' ही है। सच बात तो यह है कि कोई भी व्यक्तिवादी, यदि उसमें 'बौद्धिक गहनता' है (साहित्य-चिन्ता, पृ०१८८), 'मौजूदा स्थिति का समर्थक' नहीं हो सकता। व्यक्तिवाद का जिन्होंने थोड़ा भी अध्ययन किया है वे यह अच्छी तरह जानते हैं कि सच्चा व्यक्तिवादी अराजकतावादी (Anarchist) होता है। यह तो सामाजिक विकास की चरम परिणति है, जिसका स्वप्न सदा से संसार के महानतम व्यक्ति देखते आये हैं। यह स्थिति जहाँ व्यक्ति को अबाध अधिकार (पूर्ण स्वतंत्रता) देती है, वहीं वह व्यक्ति से इस बात की भी आशा रखती है कि वह किसी भी अवस्था में दूसरे के अधिकार का अनादर न करेगा। जैनेन्द्र के व्यक्तिवाद को, जो कभी निकट न आने वाले क्षितिज की तरह मानव-विकास की मंजिलों को चुनौती देता रहा है, डा० देवराज 'मर्यादाओं के समर्थक' की जंजीरों में जकड़ना चाहते हैं।

मैं मानता हूँ कि जैनेन्द्र इसी अर्थ में व्यक्तिवादी हैं और ऐसा व्यक्ति 'मौजूदा स्थिति' का कभी समर्थक नहीं हो सकता। 'त्याग-पत्र' में एक स्थान पर जैनेन्द्र कहते हैं—"कहीं क्यों, सब गड़बड़ ही गड़बड़ है। जीवन ही हमारा गलत है। सारा चक्कर यह ऊटपटाँग है। इसमें तर्क नहीं है, संगति नहीं है, कुछ नहीं है।" ऊपर जैनेन्द्र इतना ही कह कर चुप रह जाते तो यह निराशावादी और निषेधात्मक (Negative) दृष्टिकोण होता। पर आगे वे और भी कुछ कहते हैं जो कम महत्त्वपूर्ण नहीं—"इससे कुछ होना होगा, जरूर कुछ करना होगा।" 'कुछ नहीं है' कह कर बहुत कुछ को अस्वीकार करने की जो शक्ति जैनेन्द्र में है, वह उन्हें कभी 'मौजूदा स्थिति' का समर्थक नहीं होने दे सकती है। मौजूदा सिथिति से उत्पन्न घोर असन्तोष ही तो जैनेन्द्र को हमारे विशृंखल नैतिक जीवन का चित्र देने को प्रेरित करता है।

जैनेन्द्र कहते हैं—'कुछ करना होगा'। इस 'कुछ' का समाधान ही वे अपने साहित्य में ढूँढ़ते रहे हैं। जैसा ऊपर के उद्धरण से स्पष्ट है, जैनेन्द्र यह मानते हैं कि हमारे जीवन में आमूल परिवर्त्तन की आवश्यकता है। इसलिये नये आधार पर हमें अपने जीवन का पुनर्निर्माण करना होगा। यह पुनर्निर्माण नैतिक आधार पर होगा। सामाजिक और आर्थिक परिवर्त्तन से अधिक महत्त्वपूर्ण है मनुष्य का भीतरी परिवर्त्तन। जब तक मनुष्य की चेतना का संस्कार नहीं होता, बाहरी विधि-विधानों से नियंत्रित उसकी पशुता चाहे जब कभी उभड़ कर प्रलय का दृश्य उपस्थित कर सकती है।

जैनेन्द्र ने जिन समस्याओं को उठाया है, यशपाल ने 'दादा कॉमरेड' में समाजवादी दृष्टिकोण से उनका समाधान प्रस्तुत किया है। "दादा कॉमरेड' के 'दो शब्द' में वे कहते हैं—"प्रकृति की दूसरी शक्तियों की भाँति मनुष्य की सृजन-वृत्ति भी एक शक्ति है। प्रकृति की दुर्दमनीय शक्तियों—जलवायु और बिजली—को मनुष्य ने उपयोग के वश में कर लिया है तो क्या, वह अपनी सृजन-शक्ति को स्वाभाविक मार्ग दे अपने जीवन के आनन्द के स्रोत को संकट का कारण होने से नहीं बचा सकता ? प्रश्न है, केवल परिस्थितियों के अनुसार नैतिक धारणा का मार्ग बदलने का !" यद्यपि अपने इस उपन्यास में यशपाल ने यह दिखाया है कि कोई व्यक्ति सृजन-वृत्ति से परे नहीं हो सकता, फिर भी इससे सम्बद्ध नैतिकता के प्रति उनका क्या दृष्टिकोण है, यह स्पष्ट नहीं हो सका है। क्या शैल का मार्ग सामाजिक जीवन के लिये हितकर है ? क्या यही सृजन-वृत्ति का स्वाभाविक मार्ग है ? स्पष्ट है, परिस्थितियों के अनुसार नैतिक धारणा को बदलने की बात यह नहीं हुई। यशपाल अपनी स्थापना में स्वयं उलझ गये हैं। जैनेन्द्र ने समाज की वर्त्तमान स्थिति एवं उसके आधार और उसकी नैतिक धारणा के जिस वैषम्य की ओर संकेत किया है, यशपाल उससे कुछ भी अधिक नहीं कर पाये हैं।

वक्तव्य को और भी अधिक स्पष्ट करने के लिये जैनेन्द्र के किसी पात्र का विश्लेषणात्मक अध्ययन कीजिए। मृणाल को ही लीजिए। लेखक के प्रति किसी प्रकार का अन्याय न हो, इसके लिये यह आवश्यक है कि सारी परिस्थिति ध्यान में रखी जाय।

मृणाल को पति के यहाँ हर प्रकार की यातनाएँ मिलती हैं। कारण—

(क) उसने शीला के भाई से केवल मानसिक प्रेम किया।

(ख) पर यह कोई अपराध नहीं था, यदि वह चुप रह जाती। इसीलिये उसका असल अपराध था—पति पर इस रहस्य को प्रकट करना। यहाँ जैनेन्द्र इस बात की ओर संकेत करना चाहते हैं कि हमारे समाज में ईमानदारी के लिये स्थान नहीं। अपनी इस बात को छिपा कर मृणाल स्त्री-शिरोमणि हो सकती थी।

(ग) दूसरी ओर जैनेन्द्र यह दिखलाते हैं कि मृणाल का पति स्वयं शराबी और दुश्चरित्र है। लेकिन वह पुरुष जो है, नियमों से परे, नियमों का विधायक। इसी असंतुलित नैतिक आधार के कारण तो घर के घर नष्ट हो रहे हैं। एक ओर जहाँ नारी से मानवोत्तर नैतिकता की माँग की जाती है, वहीं, दूसरी ओर, पुरुष नैतिकता की सर्वथा उपेक्षा करते हुए पाये जाते हैं।

(घ) पति के घर से निष्कासन के पश्चात् मृणाल के लिये मायके में कोई स्थान न था! वहाँ भी उसका स्वागत बेतों से किया जा चुका था। इन सारी परिस्थितियों के पीछे मानों जैनेन्द्र व्यंग्य करते हों—"मन की मानव धर्मशास्त्री व्याख्या के बाद से हमारा

समाज देवी के सामने सिर झुका सकता है, रमणी के प्रति आवेश और आकुलता दिखला सकता है, लेकिन मानवी के प्रति मानवोचित व्यवहार नहीं कर सकता !"

(ङ) तब मृणाल कोयले वाले के यहाँ जाती है। विज्ञ पाठकों और बहुज्ञ आलोचकों का आरोप है कि यह स्वाभाविक नहीं हुआ। उसे कोठे वाले के यहाँ जाना चाहिये था, उसे कोठे पर जाना चाहिये था--(आधुनिक साहित्य--नन्ददुलारे वाजपेयी)।

लेकिन एक तो यह कि कोठे वालों के यहाँ उसके लिये रास्ता बन्द हो गया था, दूसरे यह कि कोठेवाले की महानता (!) का भी उसे परिचय मिल ही चुका था। कोठे वाले मृणाल के पति और कोयले वाले के चरित्र में पैसे की ऊँची दीवार के सिवा और कौन-सा अन्तर है? प्रेम नाम की चीज न तो कोठे वाले के पास है और न कोयले वाले के--दोनों ही के लिये मृणाल केवल भोग की वस्तु है। मृणाल के इस आचरण के द्वारा लेखक ने यही दिखलाया है। आर्थिक दृष्टि से चाहे समाज के विभिन्न स्तर बन गये हों, परन्तु मनुष्य की दृष्टि से यह विकास अभी अपने शैशव में ही है।

प्रश्न उठता है, यह सब क्यों? कब तक? क्या यह सब नारी की आर्थिक परतंत्रता के कारण है? इसके लिए जैनेन्द्र ने कल्याणी का सृजन किया है, जो आर्थिक दृष्टि से स्वयं स्वतंत्र ही नहीं, बल्कि अपनी कमाई पर अपने पति को भी निर्भर रखने वाली है। ('दादा कॉमरेड' की शैल आर्थिक दृष्टि से स्वतंत्र रह कर भी कितनी यातनाएँ सहती है। उसके जीवन को मात्र उच्चवर्गीय अभिशाप कह कर नहीं टाला जा सकता। शैल उदारता चाहती है। सब कुछ संभव है; पर यही संभव नहीं है। लेकिन इससे कल्याणी को कम यातनाएँ नहीं सहनी पड़ती हैं। उसका पति उसे रुपये कमाने के लिये स्वतंत्रता देना चाहता है। नारी की स्थिति आज के समाज में बड़ी ही विषम है! किसी भी हालत में पुरुष की अधिकार-भावना कम नहीं होती दीखती। जैवी (Biological) सुविधा और शक्ति तो उसे प्राप्त है ही, इसके सहारे उसने अपने लिये सुरक्षित परम्परा का भी निर्माण कर लिया है, जिसकी आज बात-बात पर दुहाई दी जाती है। जैनेन्द्र मानते हैं कि जब तक सहयोग के मानवीय धरातल पर हमारी चेतना का परिष्कार नहीं होता, जीवन की गाड़ी सहज और स्वाभाविक रीति से नहीं चल सकती। यह सब नारी के प्रति रूढ़ दृष्टिकोण में परिवर्त्तन से ही संभव है। दृष्टिकोण में परिवर्त्तन की यह समस्या नैतिक और मनोवैज्ञानिक नहीं तो क्या है?

मानवी प्रेम की भूखी है, पैसे की नहीं। इसलिये मृणाल का यह कहना कि वह पैसे के लिये अपना शरीर नहीं बेचेगी, निरर्थक नहीं है। जहाँ भी थोड़ा प्रेम मिलता है, वह आकृष्ट होती है। चाहें तो आप इसे दुर्बलता भी कह सकते हैं।

कुछ वर्षों से जैनेन्द्र मौन-से हैं। इधर उनका कोई नया उपन्यास नहीं प्रकाशित हुआ है। फिर भी वे हमारे इतने निकट हैं कि अभी अन्तिम रूप से उनके बारे में कुछ कहना मुश्किल है।

जैनेन्द्र––प्रेमचन्द और अत्याधुनिक 'वादी' (मनोविज्ञानवादी यथार्थवादी, समाजवादी आदि) औपन्यासिकों के–बीच की महत्त्वपूर्ण कड़ी हैं। प्रेमचन्द जैसा जीवन से गहरा सम्पर्क तो जैनेन्द्र में है ही, अत्याधुनिक औपन्यासिकों की विश्लेषणात्मक गहराई और तटस्थता भी उनमें है। अत्याधुनिक औपन्यासिकों को अनुभूति से अधिक पुस्तकीय ज्ञान का सहारा है, मनुष्य से अधिक सूत्रों और सिद्धान्तों में विश्वास है। लेकिन जैनेन्द्र इनके इन गुणों को नहीं ग्रहण कर सके हैं। जैनेन्द्र की प्रेरणा का आधार वैचित्र्य और वैविध्य से पूर्ण जीवन ही रहा है, आर्ट पेपर पर छपी हुई सुनहली जिल्दवाली पुस्तकों का मोह उन्हें कभी न रहा। यह चीज उन्हें प्रेमचन्द से विरासत में मिली है। 'गोदान' तक आते-आते प्रेमचन्द की दृष्टि सिद्धान्त से हटकर पूर्णतया मनुष्य पर जा टिकी थी। प्रेमचन्द की व्यापकता और विस्तार जैनेन्द्र में आ कर घना और गहरा हो गया है।

प्रथम श्रेणी की प्रतिभा सदा जीवन से सीधे प्रेरणा ग्रहण करती आई है। निर्मित वस्तु से निर्माण के लिये ली गई प्रेरणा से मध्यम श्रेणी की वस्तु का ही निर्माण संभव है। इसका यह अर्थ नहीं कि ऐसे व्यक्ति पुस्तकीय दान से से लाभ नहीं उठाते। पर ऐसों के लिये पुस्तकें जब-तब व्यवहार में आने वाले शब्दकोष का काम करती हैं, आधार-ग्रन्थ का नहीं। कुछ आश्चर्य नहीं यदि सस्ते 'नोटों' के इस युग में मूल ग्रन्थों की माँग कम गई हो, अनुभूति की अपेक्षा कल्पना (fancy) को प्रमाणपत्र मिल रहा हो!

जैनेन्द्र ने समाज को सिर्फ देखने और उसमें पैठने का ही प्रयत्न नहीं किया है, बल्कि अनुभूत सत्य के सार को ग्रहण कर उस पर चिन्तन भी किया है, सामने आई समस्याओं के मूल की भी खोज की है। यही जैनेन्द्र की मौलिकता है। यह मौलिकता ही उन्हें दुर्बोध (जैसा कुछ आलोचकों का आक्षेप है) बना देती है, क्योंकि मौलिकता हमारे आलोचकों की नजर में सबसे बड़ा अपराध है! यदि जैनेन्द्र जी कोई घोषणापत्र प्रकाशित कर दें, तो ऐसे आलोचकों को सन्तोष होगा।

जैनेन्द्र की ये लब्धियाँ साधारण नहीं हैं। उनकी उल्लेखनीय त्रुटि एक ही है–– जिसे किसी अधिक उपयुक्त शब्द के अभाव में मैं 'हिचक' कहता हूँ। जैनेन्द्र ने जिन समस्याओं को अपने हाथ में लिया है, वे यद्यपि नैतिक हैं, फिर भी नीतिवादी प्रकटरूप से अपने को उनसे बचाते रहे हैं। नैतिक वातावरण में पले जैनेन्द्र को भी थोड़ा संकोच है ही ––यद्यपि उनका कलाकार उन्हें चुप बैठने नहीं देता। संकोच की क्षीण छाया उनके चिन्तन और उनकी कला––दोनों पर है। इसीलिये उनकी कला का पूर्ण और निखरा हुआ रूप शायद भविष्य के गर्भ में है।

क्या जैनेन्द्र मौन भंग करेंगे ? रहस्यमयता को प्रश्रय देने के लिये नहीं, उसके आवरण को हटा कर प्रकाश की किरणें बिखेरने के लिये ।

——०——

पूर्ण सत्य पर किसी राजनीतिक दल-विशेष का मौरूसी हक नहीं है। क्या समाजवाद, क्या साम्यवाद और क्या गांधीवाद--सभी में सत्य आंशिक रूप में ही पाया जाता है—किसी में थोड़ा, किसी में बहुत ; और कोई भी सजीव बुद्धिवादी 'तन-मन-धन, गूँसाई जी के अर्पन' की नीति को नहीं अपना सकता। हमें अपने मस्तिष्क के कपाट खुले रहने देने चाहिए और प्रकाश जहाँ से भी आवे उसे स्वीकार करना चाहिए। हाँ, हमारा एक सामाजिक दृष्टिकोण अवश्य हो और भविष्य के विषय में हमारी कुछ कल्पना भी। जो जगत्-गति से अपने को अछूता रखते हैं, उन्हें 'विमूढ़' कहा गया है --"सबसे भले विमूढ़, जिन्हें न व्यापै जगत-गति ।"

--बनारसीदास चतुर्वेदी (विशाल भारत, मार्च '५१ ई०)।

——०——

समानशील व्यक्तियों का सहयोग हमें (पत्रकारों को) भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में लेना ही चाहिए। साहित्य, संगीत, कला, कविता, खेल-कूद इत्यादि अपनी-अपनी रुचि की बीसियों प्रवृत्तियों में हमें भाग लेना है। समाज-व्यवस्था को बदलने के लिए जो लड़ाई हमें लड़नी है वह बड़ी लंबी है। अपने को अत्यधिक गम्भीर बना लेने और मुँह लटका कर बैठ जाने से काम नहीं चलेगा। जिसमें हास्य की प्रवृत्ति नहीं उसे तो बे-उम्र बुड्ढा समझ लेना चाहिए। --"सच्चे हैं मर्द वही, जो हर हाल में खुश हैं।" प्रत्येक दशा में हमें सजीव रहना है--बिजली के जिन्दा तार की तरह सजीव। किसी निर्जीव पत्रकार के मन में तो स्वतंत्र विचारों का उदय ही नहीं हो सकता, फिर विचार-स्वातंत्र्य की रक्षा करने की बात तो बहुत दूर है !

--बनारसीदास चतुर्वेदी (विशाल भारत, मार्च, '५१ ई०)।

मंखलि–पुत्र गोशाल

श्री रंजन सूरिदेव, साहित्याचार्य

श्रावस्ती नगर के सन्निकटवर्त्ती क्षेत्र "शरवण" सन्निवेश में मंखलिपुत्र गोशाल ने शुभ जन्म ग्रहण किया था। गोशाल के पिता का नाम था "मंखलि" क्योंकि वे "मंखावृत्ति" से अपना जीवन-निर्वाह किया करते थे। अर्थात् वे एक चित्र हाथ में ले कर पर्यटन करते तथा नागरिकों के सम्मुख उस चित्र का प्रदर्शन कर जीविका चलाते थे।

गोशाल की माता का नाम था—"भद्रा"। एक समय सपत्नीक मंखलि पर्यटन-क्रम में "शरवण" सन्निवेश के सन्निकट जा पहुँचे। वहाँ "गोबहुल" नाम के एक धनी ब्राह्मण निवास करते थे। वर्षा-काल था। मंखलि ने अपनी पत्नी के साथ "गोबहुल" ब्राह्मण की गोशाला में ही डेरा डाल दिया। कुछ समय बाद मंखलि-पत्नी भद्रा ने वहाँ एक सुमन-सुकुमार शिशु को जन्म दिया। गोशाला में पुण्य जन्म हण करने के कारण शिशु का नाम "गोशाल" रखा गया। शिशु जब वयस्क हुआ तब उसने भी "मंखावृत्ति" अपनाई।

लगभग उसी समय, तीस वर्षों की प्रौढ़ उम्र वाले महावीर ने संन्यासी जीवन स्वीकार कर लिया था और वे संन्यास का दूसरा वर्ष राजगृह (बिहार प्रान्त) नगर के आसपास स्थित नालन्दा के "बाहिरिया" गाँव के एक जुलाहे के घर में बिता रहे थे। एक दिन, संयोगवश, मंखलिपुत्र गोशाल घूमते-फिरते उसी गाँव में पहुँच कर ठहर गये।

"बाहिरिया" गाँव में धनी वर्ग के एक विशिष्ट व्यक्ति "विजय" द्वारा महावीर का अभूतपूर्व तथा असाधारण सम्मान होते गोशाल ने देखा। जब महावीर सुसम्मान पाकर महाधनी विजय के घर से बाहर निकल रहे थे उसी समय मंखलिपुत्र गोशाल उनके निकट जा पहुँचा तथा महावीर से अपने को शिष्य बना लेने के लिये सविनय अनुरोध किया। परन्तु महावीर ने उसे अपना शिष्य बनाने से इन्कार कर दिया। पुनः वही परिस्थिति उनके सामने दो बार आयी, जब महावीर "आनन्द" और "सुदंशन" के घर से असाधारण सम्मान पा कर वापस आ रहे थे।

फिर एक दिन, जब महावीर नालन्दा के "कोल्लाक" सन्निवेश-वासी "बहुल" नामक ब्राह्मण द्वारा सुसम्मानित हो रहे थे, गोशाल, महावीर को राजगृह वापस गये हुए सोच कर, वहाँ चला गया और राजगृह नगर में तथा उसके आसपास के गाँवों में उन्हें ढूँढ़ना शुरू किया। परन्तु वह असफल रहा। महावीर का पता न पा कर वह उसी जुलाहे के घर लौट आया जिसके यहाँ महावीर के संन्यास का दूसरा वर्ष बीत रहा था।

जुलाहे के घर लौट कर विरक्त-से मंखलिपुत्र ने अपने कपड़े, जूते, बर्त्तन और चित्र एक ब्राह्मण को समर्पित कर दिया और अपनी दाढ़ी-मूछ तथा केश मुड़वा डाला और वहाँ से पूर्ण निराश और वैराग्य-भावापन्न हो कर चल पड़ा। रास्ते में ही उसे "कोल्लाक" सन्निवेश मिला। "कोल्लाक" सन्निवेश में गोशाल ने ठीक ऐसे समय प्रवेश किया जब वहाँ एक विशाल जन-समूह एकत्र था और ब्राह्मण "बहुल" द्वारा महावीर का समुचित सम्मान और जनता द्वारा उनका सामूहिक गुण-गान हो रहा था।

मंखलिपुत्र गोशाल ने वहाँ पुनः महावीर की खोज शुरू की। अंत में एक जगह पण्यभूमि में गोशाल को महावीर के चिरप्रत्याशित पवित्र दर्शन हुए। दर्शनोपरान्त गोशाल ने अत्यधिक विनम्र हो कर महावीर से शिष्य बनाने की प्रार्थना की। दयालु महावीर ने गोशाल की प्रार्थना सुन ली और उसे अपना शिष्य बना लिया।

तदुपरान्त दोनों, शास्ता और शिष्य, संन्यास-व्रत का पालन करते हुए लगातार छः वर्षों तक एक साथ उस पण्यभूमि में रहे। उन्हीं दिनों एक समय वे दोनों एक बार सिद्धार्थ ग्राम और कूर्म ग्राम के भ्रमणार्थ निकले। रास्ते में उन दोनों को बहुत बड़ी शीशम की एक सुन्दर लहलहाती घनी झाड़ी दीख पड़ी।

झाड़ी देख कर कौतुकान्वित हो जिज्ञासु गोशाल ने महावीर से प्रश्न किया—"भंते, यह झाड़ी नाशवान् है या नहीं? इसके बीज पुनः किस क्षेत्र में उत्पन्न होंगे?"

महावीर ने मुस्कराते हुए उत्तर दिया—"श्रमणोपासक, झाड़ी नष्ट हो जायगी, परन्तु बीज अविकल रूप से सुरक्षित रहेंगे। कालान्तर में वे ही बीज पुनः उसी थाले में झाड़ी के रूप में पनपेंगे।"

महावीर के उस गूढ़ कथन पर चंचल-चित्त गोशाल को सहसा महान् अविश्वास हो गया। महावीर के कथन को मिथ्या प्रमाणित करने के लिये उसने उस झाड़ी को उखाड़ कर फेंक दिया।

किन्तु अचानक ऐसा अवसर आ गया कि उस समय पूरी वर्षा हो गई। फलस्वरूप झाड़ी फिर हरी-भरी हो उठी। इस तरह झाड़ी के हेतुभूत बीज नष्ट होने से बच गये।

इस बीच महावीर और गोशाल कूर्म ग्राम से बाहर निकल चुके थे। नगर से बाहर उन दोनों को "वैश्यायन" नामक एक विचित्र हठयोगी सन्यासी से भेंट हुई, जो अपना मुँह और हाथ ऊपर उठा कर तीक्ष्ण आतप में बैठा तपस्या कर रहा था। उसका सर्वांग जुओं से व्याप्त था।

आश्चर्यान्वित हो गोशाल ने धीरे से संन्यासी के पीछे जा कर पूछा—"भाई, तुम कोई साधु हो या साक्षात् जुओं के अवतार?"

वैश्यायन सन्यासी नीरव, निरुत्तर और निस्पन्द बना रहा।

कुछ उत्तर न पा कर गोशाल ने प्रश्न दुहराया। इस बार वैश्यायन क्षुब्ध हो उठा और उसने अपनी तंत्र-शक्ति द्वारा गोशाल को आहत करने की चेष्टा की। लेकिन गोशाल की विपन्नावस्था पर करुणावतार महावीर को दया आ गयी और उन्होंने अपनी तंत्र-शक्ति ारा उसे बचाने के लिये हस्तक्षेप किया। महावीर की तंत्र-शक्ति पर चकित होकर वैश्यायन ने कहा––"बिल्कुल ठीक है महाशय, बस अब रहने दीजिए।"

तब हतप्रभ गोशाल ने महावीर से प्रश्न किया––"भन्ते, उसने ऐसा क्यों कहा ?"

महामना महावीर ने सस्मित उत्तर दिया––"वैश्यायन ने अपने ऊपर विपति आते देख कर ऐसा कहा। मेरी तंत्र-शक्ति से उसकी रक्षा असंभव थी।"

यह सुन कर गोशाल के मन में एक भय-मिश्रित जिज्ञासा जागृत हुई। गोशाल ने उक्त शक्ति को प्राप्त करने की इच्छा प्रकट की। महावीर ने बतलाया कि अविरत कठोर सन्यास-व्रत के निरन्तर अनुशासन–पालन द्वारा यह शक्ति प्राप्त होती है।

कुछ दिनों के बाद जब दोनों, शास्ता और शिष्य, सिद्धार्थ ग्राम और कूर्म ग्राम से वापस आ रहे थे तब उन दोनों को वही रास्ता अपनाना पड़ा, जिधर वह शीशम की झाड़ी खड़ी थी और जो कि फिर से लग कर लहलहा उठी थी।

लहलहाती झाड़ी को देखकर मंखलिपुत्र ने महावीर को, उनकी अपनी भविष्य-वाणी का स्मरण दिलाते हुए कहा––"भन्ते, आपने कहा था कि बीज पुनः थाले में जमकर पनपेंगे, परन्तु यह तो वही झाड़ी ज्यों-की-त्यों लग गयी है।"

महान् महावीर ने गंभीर भाव से कहा––"प्रिय, मेरी भविष्यवाणी तो सही है ही। तुमने तो इस झाड़ी को समूल उखाड़ फेंका था। किन्तु भाग्यवश वर्षा हो गयी और झाड़ी लग गयी। फिर भी, तुम यह निश्चय जानो कि हर पौधे में पुनः पनपने की शक्ति बीज-रूप में सन्निहित है।"

वर्द्धमान महावीर के निगूढ़ वचन पर अस्थिर-हृदय गोशाल का विश्वास जम न सका। वह पौधे के थाले के निरीक्षणार्थ उसके सन्निकट जा कर एक पौधे को उठाया और अच्छी तरह बहिरन्तर निरीक्षण किया तो महावीर का कथन सत्य सिद्ध पाया। तब गोशाल इस परिणाम पर पहुँचा कि केवल पौधों में ही नहीं वरन् सांसारिक सभी जीवों में पुनर्जीवन की शक्ति सन्निहित है।

उसके बाद बाह्यतः पुनर्जीवन के सिद्धान्त के विश्लेषण को पाने के लिए गोशाल ने मान्यवर महावीर से उन पर विश्वस्त हो कर सनम्र अनुनय किया। कृपालु महावीर के निर्देशानुसार संन्यास-व्रत की साधना करते हुए गोशाल को छः महीनों के बाद वह तंत्र-शक्ति उपलब्ध हो गयी।

तंत्र-शक्ति को प्राप्त कर लेने पर गोशाल ने अपने को आवश्यकता से अधिक सफलक्रिय मान तो लिया ही और फिर अपने को "जिन" के रूप में उद्घोषित किया तथा आजीविक (कुम्हार) जाति का सिरमौर बन बै ा।

गोशाल के आदेशानुसार "श्रावस्ती" नगर के निकट आजीविकों ने मिल कर एक उपनगर बसा लिया। उपनगर बस जाने पर गोशाल ने "हालाहला" स्त्री की दूकान में अपना वासस्थान नियत किया। "हालाहला" जाति की कुम्हारिन और गोशाल की शिष्या थी।

जब आजीविकों के बीच गोशाल संन्यास जीवन के चौबीसवें वर्ष को बिता रहा था उसी समय वहाँ एक सन्यासियों का दल पहुँचा जो कि "षड्विंशाचर" के नाम से विदित था। गोशाल ने उन लोगों के साथ उनके अलग-अलग सिद्धान्तों पर शास्त्रार्थ किया। गोशाल का अपना सिद्धान्त "अष्टमहामित्र" के "पूर्व" के एक अंश से उद्धृत था।

मंखलिपुत्र गोशाल ने निम्नलिखित तीन सिद्धान्तों को अपनाया था—अर्जन-अनार्जन, सुख-दुःख तथा जीवन-मरण।

मधुराक्षर महावीर को गोशाल की इन सब स्थितियों का तब पता चल गया जब वे स्वयं अपने एक नये शिष्य "इन्द्रभूति" के साथ श्रावस्ति नगर पधारे हुए थे। महावीर ने सामूहिक रूप से लोगों को अवगत करा दिया कि गोशाल जैन-धर्मावलम्बी नहीं है। इसके बाद उन्होंने गोशाल के वर्त्तमान जीवन, विचार और उसके चरित्र की चर्चा की।

गोशाल के "जिन" न होने का समाचार सारे नगर में फैल गया। अब गोशाल के समक्ष एक विषाक्त और व्याकुलता-पूर्ण वातावरण उपस्थित हो गया।

उक्त घटना के कुछ दिनों बाद महावीर के "आनन्द" नाम का एक शिष्य आजीविकों के उपनगर में कुम्हार की दूकान पर भिक्षाटन के क्रम में जा पहुँचा। एक महावीर-शिष्य के आ पहुँचने का समाचार पाकर गोशाल ने उसे दूकान के भीतर बुलवाया और उसे एक व्यापारियों के दल की कथा सुनायी कि किस तरह एक व्यापारियों का दल पानी की खोज में मरणासन्न हो गया था। वह (गोशाल) भी उस दल के साथ था। पानी की खोज में व्यापारियों का दल एक चींटी के पहाड़ (वल्मीक) के समीप जा पहुँचा और उसे तोड़ने की चेष्टा की। उसने (गोशाल) व्यापारियों को बहुत मना किया परन्तु उन लोगों ने न माना और वल्मीक को तोड़ डाला। तोड़ने के साथ ही उससे एक भयंकर भुजंग निकला और वह उसके (गोशाल के) अतिरिक्त सब को निगल गया।

कथा समाप्त करने के बाद गोशाल ने आनंद से फिर कहा—"आनंद, तुम

महावीर से जा कर कहो कि यदि वे मेरा विरोध करेंगे तो उनकी वही दुर्गति होगी जो दुर्गति उन अभागे व्यापारियों के दुर्भाग्य में लिखी थी। परन्तु तुम बच जाओगे।"

गोशाल की मायावी बात से आनंद बहुत भयभीत हुआ और वह वहाँ से "कोट्टाक" चैत्यस्थित महावीर के निकट चल दिया। पहुँच कर उसने मनस्वी महावीर से गोशाल की बात यथाश्रुत रूप में कह सुनायी और आगे कहा—"गोशाल में एक ऐसी तंत्र-शक्ति है जिससे वह लोगों का विनाश कर सकता है।"

आनंद द्वारा वर्णित गोशाल की तथाकथित शक्ति को स्वाभिमानी महावीर ने स्वीकार तो कर लिया, परन्तु उन्होंने बतलाया कि गोशाल की तंत्र-शक्ति का एक अर्हत् (श्रमणोपासक) पर कोई प्रभाव न पड़ सकेगा। कारण, अर्हत की शक्ति उससे कहीं अधिक है।

आगे उन्होंने आनंद और आनंद के अनुयायियों को यह शुभ आदेश दिया कि आप लोग उग्र-स्वभाव गोशाल के वार्त्तालाप से अपने को बचाए रखें और उससे किसी तरह की बात-चीत सर्वथा बन्द कर दें।

जब इस तरह का आदेश आनंद तथा अन्य निर्ग्रंथ संन्यासियों को दिया जा रहा था उसी समय गोशाल कुछ आजीविकों के साथ "कोट्टाक" सन्निवेश में आया और महावीर से अपने विषय में कहने लगा—"आप मुझे अपना शिष्य कहते हैं, लेकिन आप का वह शिष्य मंखलिपुत्र गोशाल बहुत दिन पहले दिवंगत हो चुका है और अब उसने देवलोक में पुनर्जन्म भी ग्रहण कर लिया है। अब मैं वास्तव में "उदयी–कुण्डिकाकणिक" के रूप में आपके समक्ष वर्त्तमान हूँ। मेरा सात बार देह-परिवर्त्तन हो चुका।" तंत्र-शक्ति-सम्पन्न गोशाल ने ऐसा कहा और आगे उसने सातो जन्म के रूपों का वर्णन इस प्रकार ब्योरेवार उपस्थित किया—

मेरे प्रथम जन्म के २२ वर्ष "ऐणेयक" के रूप में व्यतीत हुए। द्वितीय जन्म के २१ वर्ष "मल्ल राम" के रूप में, तृतीय जन्म के २० वर्ष "माण्डीक" के रूप में, चतुर्थ जन्म के १९ वर्ष "रोह" के रूप में, पंचम जन्म के १८ वर्ष "माराद्रि" के रूप में, षष्ठ जन्म के १७ वर्ष "अर्जुन गौतम पुत्र" के रूप में तथा सप्तम जन्म के १६ वर्ष मंखलिपुत्र गोशाल के रूप में व्यतीत हुए। अथ च अब मेरा अन्तिम देह-परिवर्त्तन श्रावस्ती नगर के—जहाँ आजीविकों ने अपना उपनगर बसाया है—"हालाहला" कुम्हारिन की दूकान में हुआ है।

गोशाल के उपर्युक्त अनर्गल प्रलाप को सुन कर महावीर ने उससे सगर्व कहा—"तुम्हारा व्यर्थ बकवाद मुझे पसंद नहीं। तुम अब तक एक चोर की तरह काम कर रहे थे। तुम्हारे आचरण और विचार से क्षुब्ध हो कर नागरिकों ने तुम्हारा निवारण किया। परन्तु तुमने अपना वेष बदल कर अपने वास्तविक रूप को छिपा लिया ताकि तुम्हें कोई पहचान न सके।"

महावीर के इस तरह के कटु तथ्य वचन को सुन कर मंखलिपु गोशाल क्रोध-कंपित हो उठा और महावीर को कटु अपशब्द कहना प्रारंभ किया।

शास्ता के अपमान को सहने में असमर्थ, महावीर के प्रिय शिष्य "सर्वानुभूति" ने उस प्रकार के लज्जापूर्ण व्यहवहार के लिये गोशाल की कठोर भर्त्सना की।

भर्त्सना से क्रुद्ध कृतान्त—से गोशाल ने अपनी तंत्र-शक्ति द्वारा "सर्वानुभूति" को निहत कर दिया।

तब महावीर का द्वितीय निर्भय शिष्य "सुनक्षत्र" ने गोशाल की प्रतारणा की। प्रतारित गोशाल ने सुनक्षत्र को भी सर्वानुभूति के पथ का पथिक बना दिया।

उसके बाद स्वयं महावीर ने उस तरह की अनीति की तीव्र निंदा करते हुए गोशाल की भर्त्सना की। फिर भी अबंध्यकोप गोशाल ने कुछ पीछे हट कर तेजस्वी महावीर ही के प्रति अपनी तंत्र-शक्ति का निक्षेप किया। परन्तु, निक्षिप्त तंत्र-शक्ति महामहिम महावीर से टकरा कर वापस चली गयी और गोशाल को ही संदग्ध करने लगी।

अपनी ही दुरुपयुक्त तंत्र-शक्ति की ज्वाला में झुलसते हुए गोशाल ने महावीर से कहा—"छः महीने के अंदर तुम भीषण (आंत्रिक) ज्वर से पीड़ित होकर मृत्यु के मुख में पड़ोगे।"

मृत्युंजय महावीर ने सस्मित कहा—"अभी तो मैं १६ (सोलह) वर्षों तक और जीऊँगा, परन्तु तुम्हारा दुखद अंत सप्ताह के अभ्यन्तर ही होगा।"

इस शाप-प्रतिशाप के समाचार से समस्त नगर एक आतंकपूर्ण प्रत्याशा में साकांक्ष हो उठा कि किसकी धमकी सच्ची निकलेगी ? फिर भी महावीर के शाप की सत्यता पर नागरिकों का विश्वास दृढ़ हो गया।

उसके बाद स्वयं महावीर ने निर्ग्रंथ संन्यासियों से साभिमान कहा—"तंत्र-शक्ति से प्रभावित गोशाल को अपने सिद्धान्तों के प्रश्नों और शास्त्रार्थ द्वारा परास्त कर दो।"

निर्ग्रंथ संन्यासियों ने आदेश पाते ही प्रश्नों के साथ-साथ शास्त्रार्थ करना प्रारंभ कर दिया। गोशाल पराजित बुद्धि होकर परास्त–सिद्धान्त हो गया। गोशाल के सिद्धान्तों की पराजय देख उसके अनुयायी आजीविकों ने उसके (गोशाल के) सिद्धान्तों का परित्याग कर दिया और वे महावीर के सिद्धान्तों के अनुयायी बन गये। फिर भी कुछ आजीविक गोशाल के सिद्धान्तों को मानते रहे और उसके अनुयायी बने रहे।

शापाभिभूत गोशाल भय से भाग कर "हालाहला" की दूकान में चला गया और वहाँ भयानक ज्वराक्रान्त अवस्था में प्रमत्त-सा वह हाथ में एक आम लेकर नाचने, गाने तथा पीने लगा और पतीले से (बर्त्तन गढ़ने के समय कुम्हार जिस में अपनी हथेली पोछता है) कीच निकाल कर उसे इधर-उधर उछालने लगा।

महावीर भी गोशाल के पीछे-पीछे "हालाहला" की दूकान तक चले आये थे। गोशाल की उस दुरवस्था को देख उन्होंने उदास स्वर में कहा—"जिस तंत्र-शक्ति ने गोशाल का सर्वनाश किया उस तंत्र-शक्ति में इतनी अधिक संहारक शक्ति भरी थी कि वह सोलह (अंग, वंग, मगध, मलय, मालवा, अच्छ, वच्छ, कच्छ, पाढ्व, लाढ्व, बृजि, मौली, काशी, कोशल, अवध और शम्भूत्तर) देशों के निवासियों का विनाश कर सकती थी।"

उसके बाद महावीर ने आगे कहा—"गोशाल की प्रस्तुत उन्मादकरी प्रमादावस्था ने ही आजीविक के सिद्धान्तों को पनपने और पल्लवित होने का अवसर दिया। मंखलिपुत्र गोशाल के इस तरह की पान, नृत्य, और गीतमयी प्रलपित दशा ने ही "अष्टाचारमयी" के सिद्धान्तों को जन्म दिया।"

ये आठों सिद्धान्त निम्नलिखित हैं—

(१) अंतिम गान, (२) अंतिम पान, (३) अंतिम नृत्य, (४) अंतिम प्रलाप, (५) अंतिम अनुचित प्रार्थना, (६) अंतिम उत्पात, (७) अंतिम हस्तिवत् अभिषिंचन और (८) अंतिम प्रस्तराघात।

अथ च उक्त सिद्धान्तों में प्रथम चार सिद्धान्त अन्तिम तीर्थंकर मंखलिपुत्र गोशाल के वैयक्तिक सिद्धान्त हैं। ये चारों सिद्धान्त कुम्हार के पतीले के पंकिल जल (Muddy water) से सम्बन्धित तथा उद्भूत हैं, जिनमें गोशाल ने अंतिम पान का विचित्र विश्लेषण इस प्रकार रखा कि—

जो व्रत-निष्ठ व्यक्ति विविध शीतल पेय का परित्याग कर आम्र या आम्रातक (अमड़ा) या तिन्दुक फल को मुँह में केवल दबा कर रखता न कि उसका रस चूसता है, अथवा असिद्ध कलाय या मूंग या माष या सेम के बीज के रस को ही केवल मुँह में रखता न कि सचमुच पी जाता है, एवं प्रकार का उसका यह भोजन-क्रम जब छः महीने तक अभंग रूप से चलता रहता है तथा दो महीने तक उसका पृथ्वी या दूर्वा घास पर शयन-क्रम अखंड रूप से निभ जाता है तब उसके सामने दो प्रसन्न देवता पुण्यभद्र तथा मणिभद्र उस (व्रती) के सामने प्रकट होकर उसके अंग को कस कर पकड़ लेते हैं। देवता के समक्ष जो व्रती आत्मसमर्पण कर देता है वह कुटिल सर्प बन जाता है और जो व्रती उद्दंडता का प्रदर्शन करता है उसके शरीर से एक आग प्रज्वलित होकर उसे भस्मावशेष कर देती है और उस (व्रती) को पूर्णता की प्राप्ति हो जाती है। यही "अंतिम पान" है।

जब गोशाल शाप की ग्रह दशा से पीड़ित था उसी समय श्रावस्ती नगर-निवासी आजीविक-जातीय "अकामफल" नामक एक गृहस्थ उससे मिलने की इच्छा से आया। "हालाहला" की दूकान में जाकर उसने देखा कि मंखलिपुत्र गोशाल उन्मत्त-सा पड़ा हुआ निरर्थक प्रलाप कर रहा है। उसकी इस प्रकार की दशा देख गृहस्थ के मन में

घोर विरक्ति जाग्रत हो उठी। वह वापस चले जाने की व्याकुल अनाहूत इच्छा से अभिभूत हो उठा और वह लौट चलने को तैयार-सा होने लगा।

गृहस्थ को संकल्प–विकल्प में पड़ा हुआ देख एक स्थविर ने उससे कहा––"भद्र, भीतर चले जाओ और गोशाल से उसके अपने सिद्धान्तों के नये-नये विषयों पर प्रश्न करो। अकामफल ने स्थविर का कहना मान लिया और गोशाल से जाकर अपना प्रश्न किया।

परन्तु गोशाल ने कुछ प्रत्युत्तर न देकर चुपचाप कुछ अक्ष ों को लिख दिया और उस आम को–जिसे उसने बहुत देर से अपने हाथ में ले रखा था––दूर फेंक दिया। अगत-संदेह "अकामफल" ने पुनः प्रश्न किया। इस बार गोशाल ने प्रत्युत्तर किया– "जिसे आप सतृष्ण देख रहे हैं वह वास्तविक आम नहीं वरन् आम का छिलका मात्र है, आप इसे जानना चाहते हैं, क्यों छिलका मात्र रहते हुए भी यह सचमुच आम-सा दिखायी पड़ता है? समझिये यह कि बाँस की पोर (बंशपर्व) की तरह है, ऊपर से गोल और भीतर से पोल।"

उसके बाद गोशाल ने अप्रासंगिक-सा पुनः कहा––"मैं सम्प्रति हल्ला अधिक पसंद करता हूँ, इसलिये सारंगी बजाओ भाई, सारंगी बजाओ।"

अकामफल गृहस्थ विगत-संदेह होकर ससंतोष वापस चला गया।

उसके बाद गोशाल ने निकट भविष्य में अवश्यंभावी अपनी मृत्यु का अनुभव कर स्थविर से कहा–"मरणोपरांत मुझे यहीं पर ससम्मान समाधिस्थ कर देना। अथ च यह घोषणा प्रचारित कर देना कि अंतिम तीर्थंकर इस दुनिया से बहुत दूर चले गये।"

पुनः अंत में अपने अपकर्मों के स्मरण से क्षुब्ध होकर गोशाल ने कहा––"नहीं–नहीं, इस विश्व में महावीर ही एक सच्चे तीर्थंकर हैं। मैं केवल दुष्ट मानव मंखलिपुत्र गोशाल हूँ। मेरी दुष्टता तथा मेरे अपकर्मों को सब के समक्ष उद्घोषित कर देना।"

इस तरह मंखलिपुत्र गोशाल अंतिम पश्चात्ताप से अपने अंतिम समय को समुज्ज्वल करता हुआ चिरमौन हो गया।

स्थविर ने असम्मानित ढंग से उसकी समाधि बनाने तथा उसके लज्जास्पद व्यवहारों को प्रचारित करने की इच्छा करते हुए भी वैसा नहीं किया, प्रत्युत उसने शोक-दिवस के अवसर पर दूकान के द्वार को बन्द कर दिया। तदनन्तर गोशाल के पूर्वकथनानुसार उसके मृत शरीर को ससम्मान समाधिस्थ कर दिया।

गोशाल के दिवंगत होने के बाद महावीर ने श्रावस्ती नगर का निवास छोड़कर "सालकोट्ठक" चैत्य में पर्यटन प्रारंभ किया। महावीर को सहसा एक दिन गोशाल की भविष्यवाणी के सत्य होने का लक्षण दिखाई पड़ने लगा। एक दिन जब कि महावीर "मिढ्ढिक ग्राम" पर्यटन के क्रम में गये हुए थे, अचानक उन्हें भीषण (आंत्रिक) ज्वर का

दौरा आया। उस दिन ठीक छठा महीना बीत रहा था। नागरिकों ने सोचा कि गोशाल की भविष्यवाणी सत्य होकर रहेगी।

महावीर की विपन्नावस्था देखकर उनका प्रिय शिष्य "सिद्ध" रोने लगा। महावीर "मिढ्किक" ग्राम की 'रेवती' नाम की एक नागरिका की 'मालुका' लता के निकट साधना के ख्याल से सुखासीन हो गये। तदनन्तर उन्होंने अपने निर्ग्रंथों को भेज कर शिष्य सिद्ध को बुलवाया और आश्वासन प्रदान किया––"तुम्हें घबराने की आवश्यकता नहीं। अभी मैं एक जैनी की तरह और सोलह वर्षों तक जीवन धारण कर सकूँगा।"

उसके बाद पुनः सिद्ध से कहा––"तुम सुरमणी रेवती के पास जाओ और उससे कहो, दो कबूतरों के मांस बनाने की आवश्यकता नहीं है। कल बिड़ाल ने जिस मुर्गे को मार डाला है उसी का मांस पका कर वह मुझे भेज दे।"

सिद्ध रेवती के समीप जाकर वहाँ से मुर्गे का माँस ले आया और उसे शास्ता के सामने रख दिया। महावीर ने उस मांस को ग्रहण किया। उनकी समस्त यन्त्रणा दूर हो गई। मानव–समुदाय तथा देवगण महावीर की स्वस्थावस्था से अत्यधिक प्रसन्न हुए।

कुछ काल के बाद महावीर के दो शिष्य 'सर्वानुभूति" तथा "सुनक्षत्र" ने अच्युत लोक में एक देवता के समान पुनर्जन्म ग्रहण किया, जहाँ श्रमणोपासक जम्बु के लिए किसी समय २२ "सागरोपम" (देवलोक-विशेष) सुरक्षित थे।

मरणोपरान्त गोशाल की भविष्य दशा यह होगी!

"पुण्यद" लोक–स्थित "भारत" देश के विन्ध्य पर्वत की तराई में बसे शतद्वार नगर में "सुमति" नाम का एक राजा होगा। उसकी रानी भद्रा के गर्भ से पुत्र रूप में मंखलि पुत्र गोशाल पुनर्जन्म ग्रहण करेगा। जन्म दिवस के अवसर पर कमलों की वर्षा होगी जिससे उसका नाम महापद्म रखा जायगा।

आठ वर्ष की आयु में ही महापद्म (गोशाल) राजा बन बैठेगा। मणिभद्र और पुण्यभद्र उसके सेनापति होंगे, जिससे उसकी सेना देवसेना की उपाधि को प्राप्त होगी। महापद्मवेशी गोशाल एक श्वेत हाथी पर चढ़ कर नगरभ्रमण को निकलेगा जिससे उसे "विमलवाहन" विशेषण उपलब्ध होगा।

राजसत्ता के मद में आकर वह निर्ग्रन्थ श्रमण सन्यासियों के साथ शास्त्रार्थ करेगा तथा उनका तिरस्कार भी। वहाँ के (शतद्वार के) नागरिक महापद्म (गोशाल) की दुश्चरित्रता से क्षुब्ध होकर उसे परास्त कर देंगे। परन्तु वह प्रजा की एक भी न सुनेगा।

एक दिन अपने भ्रमण के क्रम में महापद्म (गोशाल) शतद्वार नगर के निकटवर्त्ती "सुभूमिभाग" कुंज में रहने वालों, अर्हत विमल––जिसने आश्चर्यजनक संहारक-शक्ति पाई थी और जिसे सन्यास का अखंड और अगाध ज्ञान था––के उत्तराधिकारी साधनस्थित "सुमंगल" सन्यासी को पकड़ मँगवायेगा। बर्दाश्त के बाहर की बात रहते हुए भी सुमंगल

आयेगा, परन्तु अपनी साधना को न छोड़ेगा, बल्कि साधना की दृढ़ता के लिए हाथ ऊपर उठा लेगा। महापद्म (गोशाल) उसे धक्का देगा। सुमंगल साधना के बल से मन में समझ लेगा कि यह वही तीन वर्ष पहले का दुष्टचेता गोशाल है और फिर वह अपने मन में अपने आप निश्चय करेगा कि यह दुष्ट गोशाल सबसे तो बचता आया है, परन्तु यह सुमंगल तपस्वी सपरिवार इसको विनष्ट करके ही छोड़ेगा।

तीसरी बार धक्का देने पर सुमंगल सपरिवार महापद्म (गोशाल) को नष्ट कर देगा। एवं मरणोपरान्त वह (गोशाल) सातवीं पृथ्वी के तमप्रभ नरक में चिरकाल तक सड़ता रहेगा। बाद मछली के रूप में पुनर्जन्म लेकर फिर मार डाला जायगा।

तब वह छठी पृथ्वी के तमप्रभ नरक में पड़ेगा और स्त्री के रूप में पुनर्जन्म लेकर मारा जायगा।

उसके बाद पाँचवीं पृथ्वी के दमप्रभ नरक में सड़ने के बाद साँप के रूप में पुनर्जन्म लेकर मारा जायगा।

उसके बाद चौथी पृथ्वी के पंकप्रभ नरक में पचने के बाद सिंह के रूप म पुनर्जन्म लेकर मारा जायगा।

उसके बाद तीसरी पृथ्वी के बालुक-प्रभ नरक में जलने के बाद पक्षी के रूप में पुनर्जन्म लेकर मार डाला जायगा।

उसके बाद दूसरी पृथ्वी के शक्रप्रभ नरक में सड़ने के बाद भुजंग के रूप में पुनर्जन्म ग्रहण कर मारा जायगा।

उसके बाद पहली पृथ्वी के रत्नप्रभ नरक में गलने के बाद अचेतन जीव के रूप में पुनर्जन्म लेकर मारा जायगा।

तदनन्तर वह इस पृथ्वी के दूसरे नरक में सड़ेगा। बाद "पल्योपम" (स्वर्गलोक विशेष) में उसे स्थान मिलेगा। यथाभाग भोगोपरान्त वहाँ से च्युत होकर पुनर्जन्म ग्रहण करेगा और मृत्यु को प्राप्त होगा।

इस प्रकार मंखलिपुत्र गोशाल लाखों बार नाना योनियों—जैसे : अन्धापन, गूंगापन, लँगड़ापन आदि वैगुण्य-विशिष्ट मनुष्य, दो ज्ञानेन्द्रिय तथा तीन ज्ञानेन्द्रिय वाले जीव तथा हवा, पानी, मिट्टी, पेड़ आदि प्राकृतिक तत्वों में रहने वाले जन्तु आदि—में पुनर्जन्म ग्रहण कर मृत्यु को प्राप्त करेगा। उसके बाद दो बार राजगृह (बिहार) में मनुष्य-योनि में पुनर्जन्म लेकर मारा जायगा।

अन्त में, जम्बुद्वीप में, भारत देश के विन्ध्य-पर्वत की तराई में स्थित 'विमेल' नामक ग्राम में एक ब्राह्मण की कन्या के रूप में पुनर्जन्म ग्रहण करेगा, जिसका विवाह एक योग्य पति के साथ सम्पन्न होगा। अथ च वह वैवाहिक जीवन को प्रसन्नता-पूर्वक व्यतीत करेगी। एक दिन श्वशुर-गृह से लौटने के समय राह में गर्भवती वह दावानल से झुलस कर मृत्यु को प्राप्त होगी।

उसके बाद गोशाल पुन: "दक्षिण अग्नि कुमार" देव के रूप में जन्म लेगा और मरेगा। उसके बाद फिर वह मानव-रूप में जन्म लेकर सन्यास-ज्ञान प्राप्त करते हुए मृत्यु प्राप्त होगा। पुन: क्रमश: दक्षिण असुर कुमार, दक्षिण नागकुमार, द० विद्युत कुमार, द० स्थानीय कुमार एवं ज्योतिषिक देव के रूप में पुनर्जन्म लेगा। पूर्ववत् वह एक देव-योनि के बाद एक मानव-योनि में पुनर्जन्म ग्रहण करता जायगा। प्रत्येक जन्म में वह सन्यास-धर्म और यौगिक क्रिया का पूर्ण गंभीर अध्ययन करता चला जायगा और मृत्यु को प्राप्त होगा। मरणोपरान्त वह 'स्वर्गस्थित" सौधर्म, सनत्कुमार, ब्रह्म, महाशक्र, अनन्त और आरण्य लोक में वास करेगा। यथाभाग भोगोपरान्त क्षीणपुण्य होकर फिर वह महाविदेह देश में "सर्वार्थसिद्ध" नामक एक धनी गृहस्थ के घर पुनर्जन्म ग्रहण करेगा जहाँ उसका नाम "दग्धप्रतिज्ञ" पड़ेगा।

दग्धप्रतिज्ञ नामधारी गोशाल एक दृढ़ केवली (मुक्तिकामी) बन जायगा और साधना-शक्ति द्वारा वह पुनर्जन्मों की रोमांचकारी घटनाओं का ज्ञान प्राप्त कर लेगा।

उसके बाद वह निर्ग्रन्थ सन्यासियों को बुलवा कर उनसे अपनी दुर्धर्षिता की कहानी कहेगा और बतलायेगा कि मैं किस तरह दुःखपूर्ण नाना योनियों में भ्रमण करता रहा।

उसके बाद वह अपने भुक्त दुःखानुभव के आधार पर निर्ग्रन्थों को तथाकथित दौरात्म्यपूर्ण कर्मों को न करने की कड़ी चेतावनी देगा। निर्ग्रन्थ लोग उसकी चेतावनी से भयभीत होकर वैसा न करने की धारणा बना लेंगे।

तदनन्तर दग्धप्रतिज्ञ नामधारी मंखलिपुत्र गोशाल बहुत वर्षों तक केवली जीवन का यापन करेगा। अन्त में निर्वाणप्राप्ति के लिए वह कठोर अनशन द्वारा शांतिपूर्ण और सुखमय मृत्यु की शीतल गोद में चिरनिद्रित हो जायगा।*

---

*जैनियों के अन्तिम (किसी के मत से २९ वें) तीर्थंकर महामना महावीर के सिद्धान्त का प्रतिद्वन्द्वी मंखलिपुत्र गोशाल की प्रस्तुत सांगोपांग जीवनी—बंगाल एशियाटिक सुसाइटी के (भूतपूर्व) आनरेरी फिलॉलौजिकल सेक्रेटरी डा० श्री ए० एफ० रुडोल्फ हार्नले द्वारा सम्पादित तथा जे० बी० थामस द्वारा बपतिस्तमिशन प्रेस, कलकत्ता (१८८५) में मुद्रित—जैनों का सप्तम अंग "उपासक दशासूत्रम" के परिशिष्ट में लिखित "हिस्ट्रि ऑफ गोशाल मंखलिपुत्र" शीर्षक लेख पर आधारित। ले०

विलायती बाजार तथा भारतीय आर्थिक उन्नति की एक योजना

श्री विपिन बिहारी (इङ्गलैन्ड-प्रवासी)

देहाती दुनिया की सीमा भारतवर्ष की चहारदिवारी में सीमित नहीं है। विलायत में भी इसकी रूप-रेखा दृष्टि-गोचर होती है। यदि आर्थिक संस्थाओं को समाज का दर्पण मान लें, तब विलायती जीवन की झलक इनके बाजारों में स्पष्ट हो जाती है। भारतवर्ष की साधारण जनता यह उम्मीद करती है कि विलायती जनता सर्वदा कपड़े-लत्ते से लैस रहती है और यंत्र-युग के आदर्शों का ही पालन करती है। पर वास्तव में बात कुछ दूसरी ही है।

यह सत्य है कि यंत्र-युग का आविर्भाव विलायत में आज से तीन शताब्दी पहले हुआ था, फिर भी यहाँ के नागरिकों में ग्रामीण जीवन की झलक मिलती रहती है। भारतवर्ष के बहुतेरे गाँवों में फेरीवाले और सिन्दूर बेचने वाले के टट्टू प्रसिद्ध हैं। विलायत में भी फेरीवालों की न्यूनता नहीं है। परन्तु अन्तर इन फेरीवालों की सवारी में हो जाता है। भारतीय फेरीवाले टट्टू का सहारा लेते हैं, पर विलायती फेरीवाले साइकिल का! प्याज बेचनेवाले यहाँ घर-घर घूमते दिखाई देते हैं। प्याजों की डंठलें कतरी रहती हैं और एक प्याज दूसरे प्याज से मजबूत रस्सियों द्वारा सम्बन्धित रहता है। माला की तरह एक रस्सी में प्रायः एक सौ (या एक सौ-ग्यारह) प्याज लटकते रहते हैं। ये मालाएँ साइकिल के हैण्डल एवं फ्रेम पर लटकती रहती हैं। प्रायः एक-डेढ़ दर्जन मालाओं से पूरी साइकिल लदी रहती है। फेरीवाले अपनी साइकिल पर स्वयं नहीं चढ़ते वरन् यह प्याज ढोने का साधन रहती है।

इन फेरीवालों का वस्त्र भी समान्य भारतीय फेरीवालों से बहुत भिन्न नहीं रहता। इनके सिर पर एक पिचकी हुई टोपी रहती है। यह टोपी न तो वर्षा से इन्हें बचा सकती है न वर्फ से ही; मुखाकृति में पैसे की कमी का, वस्त्र में सफाई की कमी का प्रमाण रहता है। कोट मैला, फटा एवं शरीर ढकने का वहाना मात्र होता है। पैण्ट और जूते की भी ऐसी ही दशा रहती है। ऐसी परिस्थिति में हमें अपने परिश्रमी व्यापारियों की हँसी उड़ाना सुहाता नहीं। फेरीवाले, चाहे वे विलायती हों, या भारतीय हों एक आर्थिक संस्था के एक प्रतीक हैं; आर्थिक समस्याओं का विश्लेषण ही इनकी समस्याओं के समाधान के लिए सहायक हो सकती हैं।

आर्थिक संस्थाओं की नींव समाज की सामूहिक माँग पर निर्भर करती है। यदि समाज की माँगें शक्तिशाली हैं तब स्थापित बाजार का आविर्भाव होगा, यदि इनकी माँगें अस्थिर हैं तो फेरीवालों, हाट-बाजार, मेले इत्यादि का आरम्भ होगा। जब हम किसी संस्था की उत्पत्ति किसी समाज में उचित समझते हैं, तब समाज की रूपरेखा का परिवर्तन आवश्यक होता है। विलायती सामाजिक सुव्यवस्था प्रत्येक देश के लिए विभिन्न क्षेत्रों में आज भी आदर्श है।

भारतवर्ष में विगत पच्चीस वर्षों से औद्योगीकरण की चेष्टा हो रही है। महात्मा गांधी का खादीसंघ केवल भारतीयता की जागृति का ही साधन नहीं था, वरन् यह भारतीय ग्रामीण आर्थिक स्थिति की उन्नति का भी एक प्रमुख साधन था। दुर्भाग्यवश अभी तक हम इस दिशा में पूर्णतः सफल नहीं हो सके हैं। इस असफलता का प्रधान कारण गाँवों की असम्बद्ध स्थिति है। भारतवर्ष की आर्थिक उन्नति का एक साधन प्रत्येक गाँव की आर्थिक उन्नति तथा उनका अन्तः-सम्बन्ध भी है। इस समस्या के सुलझाव के लिए विलायती बाजार का नमूना बहुत लाभप्रद हो सकता है।

विलायती बाजार को तीन प्रमुख भागों में विभाजित किया जा सकता है—(१) स्थायी बाजार, (२) अस्थायी बाजार एवं (३) व्यक्तिगत बाजार। स्थायी बाजार उसे कहेंगे, जहाँ क्रय-विक्रय की क्रिया निरन्तर चलती रहती है। उदाहणार्थ, नगर के मध्य में बाजार का अस्तित्व निरन्तर क्रय-विक्रय की क्रिया का द्योतक है। जहाँ कहीं भी किसी वस्तु विशेष की मांग स्थायी रहेगी वहाँ स्थायी बाजार की उत्पत्ति स्वाभाविक रहेगी। विलायत में बाजारों की श्रृंखला इस तरह अविछिन्न और अन्तःसम्बद्ध है कि एक ही स्थान पर स्थायी बाजार, अस्थायी बाजार एवं व्यक्तिकगत बाजार वर्त्तमान रहते हैं।

जब हम किसी विलायती नगर में प्रवेश करते हैं तब एक दो बातों की छाप हमारे मस्तिष्क पर विशेषरूप से पड़ती है। नगर की सीमा पर यह लिखा मिलता है कि "अब आप अमूक नगर में प्रवेश कर रहें हैं।" नगर का किनारा प्रायः खुला मैदान, या जंगल-झाड़ रहता है। ज्यों-ज्यों हम नगर के मध्य में अग्रसर होते है त्यों-त्यों आबादी घनी होती जाती है। नगर के मध्य में दूकानों की संख्या अधिक हो जाती हैं और नागरिको के मकानों की संख्या बहुत कम। फिर भी नगर के मध्य की दूकानें स्थायी होती हैं। इन दूकानों का उद्देश्य भी उल्लेखनीय होता है। स्थायी दूकानों का समुचित भाग दूकानों की सजावट एवं मूल्यप्रकाशन में व्यवहृत होता है। लोगों की आदत-सी हो गई है कि जिस वस्तु को खरीदना हो उसका वर्णन आप और मूल्य पहले सोंच-समझ लेते हैं तब दूकान के अन्दर केवल चीज खरीदते जाते हैं।

भारतीय अभ्यास कि बिना दस दूकानों से मूल्य मालूम किए हुए कोई चीज नहीं खरीदेंगे, यहाँ भी प्रचलित है। यहाँ तो लोग महीने का महीना मूल्य, बनावट आदि की

तुलना में व्यतीत कर देते हैं। पर यहाँ के व्यवसायी खरीदारों की मनोवैज्ञानिक आदतों को अच्छी तरह पहचानते हैं, और उनकी सन्तुष्टी की पूरी चेष्टा करते हैं। साधारणतः यह पाया जाता है कि एक चीज की विभिन्न दूकानें समीप-समीप ही रहती हैं और ग्राहकों को मूल्य-तुलना की पूरी स्वतन्त्रता रहती है।

स्थायी बाजारों की दूसरी विशेषता यह भी है कि प्रत्येक ग्राहक का विभिन्न माँगों की तृष्ति के साधन एक ही दूकान में वर्त्तमान रहते हैं। इस प्रकार की दूकानें बहुत हैं, पर 'उलवर्थ' नामक एक दूकान का वर्णन हमारे कथन की स्पष्टता में सहायक होगा। 'उलवर्थ' की दूकानें विलायत के प्रत्येक प्रसिद्ध नगर में हैं। लन्दन में इसकी इतनी शाखाएँ हैं कि प्रत्येक प्रसिद्ध चौराहे पर 'उलवर्थ' की दूकानें वर्त्तमान मिलेंगी। प्रत्येक स्थान पर इनके 'साइनबोर्ड' लाल रंग पर पीले अक्षरों में लिखे मिलेंगे। इनमें आने-जाने के अनेक दरवाजे हैं। इन दरवाजों से घुसने पर वजन करने का यंत्र मिलेगा। आप यदि चाहें तो एक पेनी इस यंत्र के छेद में गिरावें और उस यंत्र पर खड़े हों। तब आपका वजन एक कागज पर छपा हुआ आपको तुरन्त मिल जायगा। दूकानों की सजावट भिन्न-भिन्न तरह की रहती है।

ऐसी किसी दूकान में घुसने पर अनेक छोटे-छोटे भागों में सजी चीजें मिलेंगी। छत से लटकते बड़े-बड़े अक्षरों में प्रत्येक खण्ड के लिए एक-एक अंक दृष्टिगोचर होगा। प्रत्येक खण्डों का उत्तरदायित्व दो या तीन लड़कियों पर निर्भर करता है। चीजें आपके सामने फैली रहती है। पर इन चीजों की व्यवस्था एक तरह की होती है। आपके दाईं ओर यदि बेल-बूटे के काम की चीजें हैं, तो उसके बाद बिजली श्रृङ्गार की चीजें मिलेंगी। पढ़ने-लिखने की चीजों के बाद बिजली की बत्तियाँ, मरम्मत की चीजें, जैसे जूते का तल्ला, किवाड़ के कब्जे, कपड़े की चिप्पी, चकला-बेलना तथा खाने-पीने की प्रस्तुत मिलेंगी। आप यहाँ बैठकर खाना भी खा सकते हैं, चाय भी पी सकते हैं, अपनी सभी चीजें यहाँ कमीज की मरम्मत के लिए केवल एक बटन भी खरीद सकते हैं या अपनी स्त्री के लिए एक नया वस्त्र भी खरीद सकते हैं। ऐसी दूकानों में आपके पैसे अधिक व्यय नहीं होते हैं। "उलवर्थ" अपने सस्तेपन के लिए प्रमुख है।

कहीं-कहीं तो नगर के मध्य में ही अस्थायी बाजार दृष्टिगत होते हैं। अस्थायी बाजारों की रूपरेखा बहुत रोचक है। ऐसे बाजार प्रायः सप्ताह में एक दिन लगते हैं। शनिवार यहाँ के लोगों के लिए बहुत उपयुक्त होता है। फैक्टरी या ऑफिस में काम करने वालों के लिए शनिवार प्रायः छुट्टी का दिन है। लोग शनिवार को बाजार करने की आदत-सी बना लेते हैं। पर इस दिन विशेषकर उन चीजों के अस्थायी बाजार लगते हैं जिनकी माँग ग्राहकों की रुचि पर निर्भर करती है। गरीब लोगों के पास यदि एक टूटा ग्रामोफोन होगा तो वे उस टूटे ग्रामोफोन से भी कुछ पैसे निकालने की चेष्टा करेंगे। वैसे ग्रामोफोन

की बिक्री के लिये शनिवार का बाजार हितकर है। इस बाजार में लोग अपनी छोटी-बड़ी चीजें बेचने के लिये लाते हैं, और संभवतः कुछ पैसे निकल भी आते हैं।

व्यक्तिगत बाजार का प्याज वाला उदाहरण पहले बतलाया जा चुका है। इन सभी तरह के बाजारों के सम्बन्ध में विचार करने पर एक बात स्पष्ट हो जाती है। ग्राहकों की माँगों की तृप्ति ही बाजारों का मुख्य उद्देश्य है। यदि ग्राहकों की माँग स्थायी है तब स्थायी दूकानों की श्रृंखलायें मिलेंगी ; यदि माँग अस्थायी है तब दूकानें भी स्थायी होंगी। फेरीवालों की उत्पत्ति वैसी परिस्थिति में होती है जब माँग अस्पष्ट है, और फेरी-वाले की प्रेरणा से चीजों का क्रय-विक्रय होता है। यदि ग्राहकों की माँग की वृद्धि होगी तब बाजार की सीमा भी बढ़ेगी ; और ग्राहकों की माँग में परिवर्त्तन होगा तो बाजार की रूपरेखा में भी परिवर्त्तन होगा।

विलायती व्यवसायियों को माँग के मूल तत्त्वों का ज्ञान पूर्णरूपेण हो गया है; इसीलिये यहाँ के व्यापारी निर्भीक हो कर बड़ी और नई योजनाओं से हिचकते नहीं। फलस्वरूप विलायत का प्रत्येक घर व्यापार की मजबूत श्रृंखला से सम्बद्ध है।

एक बार हम लोग घूमने एक सुदूर गाँव में गए थे, जहाँ केवल एक ही घर था जिसमें चार प्राणी रहते थे। घरवालों ने हम लोगों को बतलाया कि सन् '४६ के शिशिर में उनके लिये वायुयान से खाने की चीजें पहुँचायी जाती थीं। यदि यह सत्य है तो भारतवर्ष के लिये यह अनुकरणीय बात होगी।

भारतवर्ष आज छोटे-छोटे गाँवों में विभाजित है। एक गाँव से दूसरे गाँव में जाने में अनेकानेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। वर्षा ऋतु में आयात एवं निर्यात रुक-से जाते हैं। इस समय जितनी भोजन की सामग्री या आराम के साधन गाँव में सुलभ हों उन्हीं पर ग्रामीणों को निर्वाह करना पड़ता है। प्रत्येक गाँव के अपने साधन इतने सीमित रहते हैं कि लोगों के जीवन के स्तर में वृद्धि की कोई आशा नहीं रहती। अतः भारतवर्ष के गाँवों में अन्तः-सम्बन्ध स्थापित करना आवश्यक है। यदि गाँवों से इनका अकेलापन हट जायगा तब सम्पूर्ण भारतवर्ष की आर्थिक स्थिति में सामञ्जस्य स्थापित हो जायगा और उद्योग-धन्धों की वृद्धि होगी।

यह विचार कि विलायती ढंग का औद्योगी-करण जिसमें फैक्टरियों के केन्द्रीकरण की अधिक विशेषता है, भ्रमात्मक है। यदि भारतीय कला एवं व्यवसाय की माँग में वृद्धि हो तो भारतवर्ष की आर्थिक उन्नति हो सकती है। माँग की वृद्धि के फलस्वरूप प्रत्येक गाँव के मजदूर—जैसे लोहार, बढ़ई, राज, गाड़ीवान, खेतिहर—की हालत अच्छी हो सकती है। अतः यदि वर्त्तमान भारतीय समाज की रक्षा करते हुए इसकी आर्थिक स्थिति की उन्नति करनी है, तो उन साधनों को अपनाना हितकर है, जिनके कारण गाँवों की स्थिरता एवं

ग्रामीणों की उत्पादन-शक्ति की वृद्धि होगी । इस दृष्टि से यदि हम विलायती बाजारों का निरीक्षण करें, तो हमलोगों के लिये उनका उदाहरण लाभप्रद हो सकता है ।

यहाँ यह स्पष्ट कर देना अनुपयुक्त नहीं होगा कि विलायत सघन मकानों की श्रृंखला नहीं है। यहाँ भी छोटे-छोटे गाँव हैं। उदाहरणार्थ स्कॉटलैण्ड में डण्डी से पच्चीस मील के अन्दर ही एक गाँव है जहाँ की आबादी केवल छः घर हैं। इनमें एक पोस्ट ऑफिस और दूसरा एक होटल है। फिर भी इस गाँव में जीवन-यापन के प्रत्येक साधन सुलभ हैं। इस सुव्यवस्थित समाज की नींव प्रत्येक मानव निवास के अन्तः-सम्बन्ध पर है । यदि भारतीय गाँवों में मैत्री स्थापित हो जाय, तो प्रत्येक लोहार के लिये उसकी बनाई चीजों की माँग वहाँ तक बढ़ सकती है जहाँ तक उनका स्थानान्तर किया जा सके। ग्रामीण जुलाहों का उत्पादन केवल मोटे और भद्दे कपड़ों (जिनके लिये विदेशों में माँग नहीं है) तक सीमित नहीं होगा, वरन् बारीक मलमल और अद्धी (जिनके लिये आज भी फ्रांस और विलायत में माँग है) के उत्पादन में वृद्धि होगी ।

भारतीय गाँवों के अन्तः-सम्बन्धके फलस्वरूप अकाल की समस्या का भी, सन्तोष-जनक रूप में, समाधान सुलभ हो जायगा। श्री गोरखनाथ सिंह ने जब बिहार में भोजन की जाँच-पड़ताल (Bihar Food Survey) सन् १९४७ में की थी, तब उन्होंने यह बतलाया था कि बिहार में खाद्य की कमी जितनी नहीं है उतनी तो उसके विरतण की समस्या कठिन है। यह निष्कर्ष बिहार एवं भारतवर्ष दोनों के लिये ही सत्य है।

वितरण की समस्या ही भारतवर्ष में प्रधान है। पाश्चात्य विद्वान इस बात पर जोर देते हैं कि यदि माँग शक्तिशाली है तो वितरण के साधन माँग की पूर्त्ति में स्वयं सहायक होंगे। पर भारतीय परिस्थिति में यदि वितरण की समस्या सुलभ हो जाय तो माँग की वृद्धि स्वयं हो जायगी। वितरण की समस्या को केवल अकाल के समय ही नहीं वरन् सर्वदा के लिये सुलझना चाहिये । इस के लिये 'मोटर वॉन' की पद्धति विचारणीय है ।

'मोटर वॉन' की पद्धति विलायत में बहुत प्रचलित है। यह इस लिये लाभप्रद है, क्योंकि यह चलती-फिरती दूकान बन सकती है । यदि एक 'मोटर वॉन' रोज एक बार, या कम-से-कम सप्ताह में एक बार, जिला के एक नगर से दूसरे नगर तक के गाँवों में जाय तो हमारी समस्या बहुत सुलझ जा सकती है। प्रत्येक गाँव में यह कुछ देर के लिये ठहरेगा। ड्राइवर का काम प्रत्येक गाँव वालों की माँग की पूर्त्ति करना होगा। प्रत्येक गाँव के लोग उसे भावी सप्ताह की माँग बतलावेंगे। दूसरे सप्ताह जब 'मोटर' वॉन उस गाँव में आवेगा तब पहले सप्ताह की माँगों की पूर्त्ति करेगा। कुछ चीजों की माँग को, जो सर्वदा वर्त्तमान रहती है 'मोटर वॉन' नियमित रूप से पूर्ण करने की चेष्टा करेगा। इस 'मोटर वॉन' के ड्राइवर का दूसरा काम प्रत्येक गाँव के लोगों की चीजों के लिये माँग करना होगा। लोहार, बढ़ई, जुलाहा इत्यादि लोगों की चीजों को यह खरीदेगी। एक गाँव की चीजों की बिक्री दूर के

गाँवों में भी आसानी से हो सकती है। इसके अतिरिक्त दूसरे गाँवों के उत्पादन का नमूना देखने से प्रत्येक गाँव के लोगों में जागरण और स्पर्द्धा की वृद्धि होगी। फलस्वरूप भारतीय उत्पादन-शक्ति बढ़ेगी।

इस तरीके को अपनाने के पहले दो बातों का विचार उचित है :-(१) केन्द्रीय समिति की स्थापना, (२) व्यक्तिगत अथवा सरकारी आधिपत्य। उपर्युक्त साधन को काम में लाने के लिये सर्वप्रथम एक केन्द्रीय समिति की स्थापना आवश्यक है। इस समिति की स्थापना इसलिये जरूरी है कि इस पद्धति के सुचारु रूप से चलने के बाद जिले भर का उत्पादन इस समिति के निर्देश पर निर्भर करेगा। यदि समिति किसी वस्तु के उत्पादन की योजना प्रस्तुत करेगी तो पूरा जिला उस योजना में साथ देगा। क्रय-विक्रय का सामञ्जस्य केन्द्रीय समिति द्वारा स्थापित होगा। यदि यह पद्धति अनेक संस्थाओं के अधीन रहेगी तो योजनाओं की सफलता जल्दी नहीं होगी – संभवतः असफलता की आशंका ही अधिक रहेगी। इस कारण केन्द्रीकरण की आवश्यकता है।

विलायत में जहाँ भी यह तरीका अपनाया गया है वहाँ जनता के आधिपत्य की ही विशेष चेष्टा की गई है। छल-प्रपंच की सम्भावना सामाजिक आधिपत्य में कम हो जाती है। पर जब तक लोगों में जागृति नहीं हो जाती है, सरकार के लिये उचित है कि व्यक्तिगत नेतृत्व को प्रोत्साहन दे। सरकार के लिये यह भी उचित है कि वह आर्थिक सहयोग दे। यदि व्यक्ति-विशेष उपर्युक्त प्रणाली को कार्यान्वित करने की चेष्टा कर रहा है और उसके साधन अर्थ की कमी के कारण सीमत हैं तो वैसी परिस्थिति में सरकारी सहयोग हितकर होगा। यदि सरकार स्वयं इस योजना को आरम्भ नहीं कर सकती तो वह योग्य व्यवसायियों की एक समिति बुला कर उसे इस विषय में राय दे सकती है। सरकार के लिये ऐसी योजना तत्काल तो बहुत लाभप्रद नहीं हो सकती पर अन्ततः ऐसी योजनाओं से ही भारतवर्ष की आर्थिक वृद्धि हो सकती है।

-----०-----

दीर्घजीवी अमीर खुसरो

अमीर खुसरो ने नीचे लिखे ग्यारह बादशाहों का समय देखा था--(१) गयासुद्दीन बलबन १२६६--१२८६; (२) मुईजुद्दीन कैकोबाद १२८६--१२९०; (३) शमसुद्दीन १२९०; (४) जलालुद्दीन फीरोजशाह खिलजी १२९०--१२९५; (५) रुक्मुद्दीन इब्राहीमशाह १२९५; (६) अलाउद्दीन खिलजी १२९५--१३१५; (७) शाहबुद्दीन १३१५; (८) कुतुबुद्दीन मुबारक १३१६--१३२०; (९) खुसरो खाँ १३२०; (१०) गयासुद्दीन तुगलक १३२१--१३२५; (११) मुहम्मद तुगलक १३२५--१३२१।

--मक्तबा जामिया (दिल्ली) की पुस्तक से।

कविवर श्री रघुवीर नारायण

श्रीबजरंग वर्मा, बी० ए०

भारतेन्दु-युग हिन्दी काव्य के परिवर्त्तन का युग था और द्विवेदी-युग भाषा के परिवर्त्तन का। भाषा-परिवर्त्तन के इस युग में स्वयं द्विवेदी जी के प्रयास अत्यन्त श्लाघनीय थे। किन्तु द्विवेदी जी के ये प्रयास उत्तर प्रदेश तक ही सीमित थे। वहाँ उनका एक मंडल तैयार हो गया था जिसमें कुछ चुने कवि थे जो द्विवेदी जी के नेतृत्व में काव्य-रचना कर रहे थे। द्विवेदी जी के इस प्रयास के सीमित होने का सबसे बड़ा प्रमाण तो यह है कि उत्तर प्रदेश में ही खड़ी बोली का आन्दोलन अधिक जोर पकड़ रहा था। आप को यह जान कर तो और आश्चर्य होगा कि खड़ी बोली आन्दोलन के जन्म देने वाले अयोध्या प्रसाद खत्री बिहार के ही थे फिर भी बिहार इस आन्दोलन से काव्य-क्षेत्र में अछूता-सा ही रहा। कारण यह था कि बिहार में उस समय न कोई महावीर प्रसाद द्विवेदी जैसा व्यक्ति था और न सरस्वती जैसी पत्रिका।

"बिहार बन्धु" तथा "तरुण भारत" के पश्चात् सन् १८९७ से खड़गविलास प्रेस, पटना, से म० म० सकल नारायण शर्मा, काव्यतीर्थ के सम्पादन में प्रकाशित "शिक्षा" एक ऐसी पत्रिका थी जिसके प्रकाशन से खड़ी बोली आन्दोलन को बिहार में कुछ बल मिला था। इसी पत्रिका के सम्पादक के रूप में म० म० सकल नारायण शर्मा ने बहुत कुछ वही कार्य बिहार में करने का प्रयास किया था जो उत्तर प्रदेश में द्विवेदी जी कर रहे थे। द्विवेदी जी के समान ही इनका भी अपना एक मंडल तैयार हो गया था। यह मंडल प्रायः दस वर्षों तक व्यवस्थित रूप से कार्य करता रहा। तीस वर्ष तक चल कर करीब सन् १९३६ में इसका प्रकाशन बन्द हो गया। म० म० सकल नारायण शर्मा के मंडल में अधिक संख्या में कॉलेज में पढ़ने वाले तरुण कलाकार थे जिनकी कविताओं का संशोधन कर वे "शिक्षा" में प्रकाशित किया करते थे। यही कारण था कि 'शिक्षा" विद्यार्थी वर्ग में ही विशेष रूप से आदृत था।

श्री रघुवीर नारायण इसी मंडल के एक यशस्वी तरुण कवि थे। शर्मा जी से ही उन्हें खड़ी बोली हिन्दी में कविता रचने की प्रेरणा मिला करती थी। उन्हें ब्रजभाषा में रचना करने की प्रेरणा प्रदान करने का श्रेय बा० शिवनन्दन सहाय एवं श्री सीताराम भगवान प्रसाद जी "रूपकला" को है। "रूपकला" जी के वैष्णव ग्रन्थ, विशेषतः श्री भक्तमाल, से इन्हें अधिक प्रेरणा मिली थी। इसके अतिरिक्त केशवराम भट्ट, रामदीन सिंह, ब्रजनन्दन सहाय "ब्रजबल्लभ" ईश्वरी प्रसाद शर्मा, विजयानन्द त्रिपाठी, अक्षयवट

मिश्र, शिवनन्दन प्रसाद पाण्डेय 'सुमति', गोकुलानन्द वर्मा आदि अनेक तत्कालीन प्रसिद्ध-विद्वान आपके मित्र तथा समकालीन साहित्यिक थे। बाबू साहब की साहित्य-लता इस लिये भी अधिक शीघ्र पनपी क्योंकि उन्हें एक उच्चकोटि का साहित्यिक राज्याश्रय प्राप्त था। वे बनैली नरेश राजा कीर्त्यानिन्द सिंह के प्रधान तथा विश्वस्त पार्षद और राज्य के प्रवीण दीवान थे। वे स्वयं साहित्य-मर्मज्ञ थे ; उनके वंश में भी राजा कमलानन्द सिंह, पद्मानन्द सिंह, वेदानन्द सिंह आदि हिन्दी, उर्दू और फारसी के कई प्रसिद्ध साहित्य-सेवी हो चुके थे।

स्वयं रघुवीर बाबू को भी ऐसी वंश-परम्परा मिली थी जिसमें अकबर के राज्यकाल से आज तक उच्चकोटि के कवि होते आये हैं। मैंने स्वयं उनके घर बहुत-सी हस्तलिखित पुस्तकें देखी हैं जिनसे यह स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि उनके पूर्वज भी उर्दू, फारसी एवं हिन्दी के उच्चकोटि के पंडित थे, और इतना ही नहीं, उनके पूर्वजों में मुंशी कृपानारायण एवं बाबू रामबिहारी सहाय आदि की फारसी एवं उर्दू कविताओं का सभ्य समाज में बड़ा आदर था। राजा कीर्त्यानिन्द सिंह ने बिहार हिन्दी साहित्य सम्मेलन के षष्ठ अधिवेशन में सभापति-मंच से उनके पूर्वजों की हिन्दी कविताओं का सुन्दर उदाहरण उपस्थित कर यह सिद्ध कर दिया था कि उनके पूर्वजों में हिन्दी का कम आदर नहीं था।

रघुवीर बाबू ने अपना साहित्यिक जीवन "कलकत्ता इन्स्टिटयूट मैगजिन", "यंग बिहार" आदि पत्रिकाओं में लिख कर अंग्रेजी कवि के रूप में प्रारंभ किया था। अंग्रेजी में आप की पहली पुस्तक "ए टेल ऑफ बिहार" (१९०५) थी जिसका स्वागत तत्कालीन अंग्रेजी पढ़ने वाली जनता ने बड़े जोर-शोर के साथ किया था। तत्पश्चात् "वे साइड ब्लासम", "सीताहरण" आदि का स्वागत तो अपने आप हुआ। विदेशी भाषा पर आपका चमत्कार पूर्ण अधिकार ही देखकर टेनिसन के पश्चात इंगलैण्ड के राजकवि अल्फ्रेड ऑस्टिन ने इनके पास लिखा था—"अंग्रेजी साहित्य का आपका ज्ञान पूर्ण हो गया है ··· मैं अपने देश के साहित्यिकों से अनेक कविताएं प्राप्त करता हूँ, किन्तु वे भावव्यंजना में आपकी कविता की समता नहीं कर सकतीं।" (१६ जनवरी, १९०६ ई० के एक पत्र से) इनके अतिरिक्त भारत में गाडबोले, ली, हषेक, हियकाट, ऐनी बेसेन्ट, गेट आदि ने भी तो मुक्त कंठ से इनकी कवित्व-शक्ति की प्रशंसा की थी। विदेश के अन्य प्रमुख कवि तथा आलोचकों ने, जैसे, लेविस मौरिस (२६ फरवरी, १९०६ के एक पत्र से) डब्ल्यू वेडवर्न (१८ अक्तूबर १९०६ के एक पत्र से) आदि ने, भी अनेक प्रशंसा पत्र इनके पास भेजे थे।

अंग्रेजी में आपकी बहुत-सी राजभक्ति की भी कविताएँ पायी जाती हैं। इस प्रकार की कविताएं विभिन्न अवसरों पर लिखी गई थीं। अंग्रेजी में ही नहीं, हिन्दी में भी जिन कविताओं को लेकर इनका प्रवेश साहित्य-क्षेत्र में हुआ, और इनकी प्रसिद्धि बढ़ी, वे उच्च कोटि की राष्ट्रीय कविताएं ही थीं। "रघुवीर पत्र पुष्प" की बहुत-सी क्या; सारी कविताएं

राष्ट्रीय हैं। उनमें राष्ट्र के लिये नवोत्थान के सन्देश एवं उद्बोधन हैं। "बटोहिया" तथा "भारत वाणी" आदि का प्रचार तो असहयोग आन्दोलन के काल में इतना बढ़ा कि उन्हें जेल के कैदी बेड़ियाँ बजा-बजाकर जेल में झूमते हुए गाया करते थे। "भारत भवा ी" की ये पंक्तियाँ तो कैदियों द्वारा बार-बार दुहराई जाती थीं :—

"तेरे पुत्र विजयी अडोल हनुमान जाकी
धौलागिरि अब लौं निशानी मेरी जननी
विक्रम, अशोक, भीम, बाँकुरा प्रताप, शिव
पृथु जाकी दिल्ली राजधानी मेरी जननी
तेरे पुत्र वेद भाखे नभ होके हाँके रथ
तेरी आज शक्ति क्यों थिरानी मेरी जननी ।।"

"भारत भवानी", जिससे ये पंक्तियाँ उद्धृत हैं, अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के मुजफ्फरपुर वाले वार्षिकोत्सव में भी गायी जा चुकी है। उत्तरी भारत में ये "राष्ट्रीय संगीत" छपवाकर साहित्य प्रेमियों द्वारा बँटवा दिये गये थे। अन्य भोजपुरी जनगीतों के अतिरिक्त केवल "बटोहिया" का ही १९१२ तक इतना अधिक प्रचार हो गया था जिसे देख कर आश्चर्य होने लगता है। यह वह काल था जब गुप्त जी की "भारत-भारती" का प्रकाशन होने जा रहा था और जनता एकदम निश्चेष्ट होकर अपने देश की महत्ता भूल कर अंग्रेजी अमलदारी की गोद में सो गई थी। भारतीयता का विनाश तो हो ही चुका था, लोग अंग्रेजी-राज का गुणगान करते नहीं थकते थे। इस काल में ही श्री रघुवीर नारायण जी ने "भारत भवानी" और "बटोहिया" की रचना कर जन-जागृति का प्रथम प्रयास किया था।

उनका यह कार्य डा० सर इकबाल से कुछ कम महत्व नहीं रखता। कदाचित् 'बटोहिया" की इसी महत्ता के कारण राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र प्रसाद, पं० रामावतार शर्मा, सर यदुनाथ सरकार, जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी, आदि ने इसकी प्रशंसा मुक्त कंठ से की थी। इतना ही नहीं, इस गीत का प्रचार भारत के बाहर नैटाल, फिजी द्वीप, मौरिशस टापू तक गूँज उठा था। भारतीयों का तो यह जातीय संगीत था ही। प्रान्त की बात तो जाने दीजिये, पं० ईश्वरी प्रसाद शर्मा ने "बटोहिया" की चर्चा करते एक बार लिखा था कि यह गीत इस प्रान्त के घर-घर में उतना ही प्रसिद्ध है जितना बंगाल में बंकिम बाबू का 'वन्देमातरम्'। राष्ट्रपति राजेन्द्र प्रसाद ने इसकी तुलना बंगाल के "आमार जन्मभूमि" शीर्षक जनप्रिय गीत से कर इसकी महत्ता और अधिक बढ़ा दी थी। रघुवीर बाबू की इस राष्ट्रीयता के साथ उनकी राजभक्ति का हिन्दी में भी वैसा ही संयोग मिलता है जैसा हम भारतेन्दु में पाते हैं। "युग-युग जागे तेरी ज्योति इंगलिसिया" तथा 'सम्राट् पंचम जार्ज' 'एडवर्ड नार्मन बेकर' आदि अनेक अंग्रेजी राज्य के अधिकारियों के नाम पर रची कविताएं इस कोटि

की कविताओं के उदाहरण-स्वरूप उपस्थित की जा सकती हैं। भारतेन्दु के समान ही इनमें भी राजभक्ति के साथ राष्ट्रीयता का मेल लोगों को कुछ भोंड़ा-सा लगे तो कोई आश्चर्य नहीं।

भारतेन्दुयुग की राजभक्ति की चर्चा करते हुए आलोचकों ने बताया है कि विक्टोरिया के हाथ में शासन-सूत्र आने के पश्चात आतंकित जनता में एक हर्षोल्लास छा गया था जिसके फलस्वरूप राजभक्ति की कविताओं की अभिव्यक्ति हुई थी। विक्टोरिया के पहले ही शासन-नीति अति कठोर थी और अपनी कठोरता के कारण ही वह 'ज़ुल्म का युग'' कहा गया था। हमारे रघुवीर बाबू उन्हीं कवियों की अंतिम कड़ी हैं जिनमें उस हर्षोल्लास के अंतिम स्वर सुनाई पड़ते हैं। इसके अतिरिक्त वे उन कवियों की भी अंतिम कड़ी हैं जिनका पालन-पोषण दरबारी संस्कृति एवं सामंतवादी प्रणाली में हुआ था। जिस बनैली राज दरबार में वे थे उसके राजा कीर्त्यानन्द सिंह भी कवियों को राज्याश्रय देने वाले अंतिम साहित्य-मर्मज्ञ राजा कहे जा सकते हैं। इस प्रकार रघुवीर बाबू उसके अंतिम कवि हैं जिनमें 'राजा' की सत्ता में रहने और उसकी सत्ता मानने की प्रवृत्ति का अंत नहीं हुआ था। भारतेन्दु से लेकर रघुवीर बाबू तक की राज-भक्ति का बीज मुसलमानों की उच्छृंखलता में भी था। मुसलमानों ने नारी, धर्म, एवं धन—तीनों का अपहरण किया था। इसकी तुलना में अंग्रेजों ने कुछ अधिक बुराई नहीं की थी। इसीलिये उनकी कूटनीति तथा शोषण की कटु आलोचना करते हुए भी कवियों ने उनके सुकर्मों की प्रशंसा मुक्त कंठ से की थी। सबसे बढ़कर, इन कवियों की राजभक्ति एक आड़ भी थी जिसके पीछे वे शिकार खेलना चाहते थे। निश्चय ही यह उन कवियों की दृष्टि की सूक्ष्मता ही कही जा सकती है। श्री रघुवीर नारायण की राजभक्तिपूर्ण रचनाएं भी इसी सूक्ष्मता का परिचय देती हैं।

श्री रघुवीर नारायण जी जिस काल में हिन्दी-क्षेत्र में आये थे वह युग हिन्दी-साहित्य के इतिहास में अस्तव्यस्तता का युग था। मोटे तौर से सन् १९०० से १९१० तक का युग हिन्दी साहित्य के इतिहास में अराजकता का युग कहा गया है। इस काल में प्रायः सभी कवि भाषा, विषय, शैली, छंद आदि में नये प्रयोग करने लगे थे। हिन्दी काव्यधारा का कोई व्यवस्थित मार्ग-निर्धारण न हो सका था। "रघुवीर-पत्र पुष्प" तथा अन्य संग्रहों में भी हम इसी प्रकार की अस्तव्यस्तता पाते हैं। इनके "निकुञ्ज कलाप" में ही उर्दू, अंग्रेजी तथा हिन्दी के अनेक प्रकार के छंदों के नये-नये सफल प्रयोग हैं। रघुवीर बाबू के ये प्रयोग उस काल के किसी भी उच्चकोटि के कवि की प्रयोगात्मक रचनाओं के सम्मुख उपस्थित की जा सकती हैं, इसमें सन्देह नहीं।

रघुवीर बाबू की साहित्यिक चर्चा करते समय हमें एक बात तो कदापि नहीं भूलनी चाहिये कि वे ही युक्तप्रान्त एवं बिहार में संकीर्त्तन-साहित्य के जन्मदाता हैं। ष० बिहार

हिन्दी साहित्य सम्मेलन (मुजफ्फरपुर), ता० १ नवम्बर, १९२४ ई०) के सभापति मंच से बनैली नरेश राजा कीर्त्यानन्द सिंह बहादुर ने माधुरी में तत्कालीन 'अखिल भारतीय कार्यक्रम'' शीर्षक लेख में बिहारी साहित्यिकों को उपेक्षित देखकर अधिकारियों से बहुत जोरदार प्रश्न करते हुए कहा था ––

"युक्त प्रान्त और बिहार में संकीर्त्तन साहित्य के जन्मदाता, "रघुवीर रसरंग' और "रघुवीर पत्र पुष्प' के रचयिता श्री रघुवीर नारायण जी का नाम क्यों न वहाँ रखा गया ?" (अभिभाषण पृ० १७) आपकी कुछ कविताओं में भक्ति तथा श्रृंगार रस का सुन्दर सामञ्जस्य है। कुछ स्थल ऐसे भी हैं जहाँ श्रृंगार भक्ति पर हावी हो गया है। फिर भी वे कविताएं भक्तिरस से रहित नहीं कही जा सकतीं। उनमें भक्ति की अंतर्धारा बराबर बनी रहती है। उनकी इस कोटि की कविताओं को पढ़ और सुनकर मैं तो इसी निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि तन्मयता एवं भावप्रवणता से पूर्ण भक्ति रस के वे अंतिम कवि हैं। काम-पिपासा की भावना के अभाव में उनमें एक विचित्र नैसर्गिक आकर्षण है। इस प्रकार की कविताओं का संग्रह आपको "रघुवीर रसरंग" में मिलेगा।

इन महत्वपूर्ण काव्यग्रंथों के रचयिता आदरणीय वयोवृद्ध कवि श्री रघुवीर नारायण अभी भी हमारे बीच उपस्थित हैं। किन्तु अब उन्होंने कवि-जीवन से अवकाश ग्रहण कर लिया है। उनका यह अवकाश ग्रहण हिन्दी साहित्य के लिये दुर्भाग्य का विषय है। यद्यपि आज श्री प्रकाशवती नारायण, श्रीहरेन्द्रदेव नारायण तथा श्री अवधेन्द्र नारायण आदि उनके परिवार में उनसे प्रेरणा पाकर हमारे बीच साहित्य की सृष्टि करने को प्रवृत्त हैं फिर भी हमारे हृदय में अपने वयोवृद्ध कवि के अवकाश ग्रहण से हार्दिक खेद है। यह तो और अधिक खेद की बात है कि हम उनका उचित सम्मान नहीं कर सके हैं। हमारा यह कर्त्तव्य है कि हम उनके अप्रकाशित ग्रन्थों को (जैसे "रम्भा" आदि) प्रकाशित कर तथा उन्हें अपेक्षित सम्मान देकर अपने प्रान्त एवं साहित्य के इतिहास का गौरव बढ़ावें।

––––०––––

धैर्य हो तो ऐसा !!

कारलाइल ने फ्रांस की राज्यक्रांति का इतिहास लिखा। उसका प्रथम भाग छपने को जानेवाला था कि एक मित्र ने उसे पढ़ने के लिए मांगा। उसने दे दिया। मित्र की भूल से वह कापी फर्श पर पड़ी रह गई और दासी ने उसे रद्दी कागज समझ कर आग जलाने का काम ले लिया। कितनी निराशा जनक बात थी ! परन्तु दृढ़व्रती कारलाइल ने हिम्मत न हारी। कई महीने तक सैकड़ों ग्रन्थों, अनेक हस्तलिखित पत्रों और विश्वसनीय घटनाओं से भरी दर्जनों रचनाओं का अध्ययन करने के बाद उसने फिर से उस ग्रन्थ को लिख डाला !

––'गुलदस्ता' (आगरा)

संकलन

हिन्दी में खोज का काम

सर्वसाधारण तथा अन्य विषयों के विद्वानों की भी प्रायः यह धारणा है कि हिन्दी में ऊँचे स्तर का खोज सम्बन्धी कार्य विशेष नहीं हुआ है। विश्वविद्यालयों के हिन्दी विभागों से विज्ञान, इतिहास, अर्थशास्त्र आदि उपयोगी विषयों से संबद्ध खोज की आशा तो नहीं की जा सकती किन्तु जहाँ तक हिन्दी भाषा और साहित्य का सम्बन्ध है हिन्दी में पर्याप्त काम हो चुका है और निरंतर हो रहा है। १९२२ से २४ ईसवी के बीच कलकत्ता, काशी तथा प्रयाग विश्वविद्यालयों में हिन्दी विभागों की स्थापना हुई थी। तभी से हिन्दी खोज का प्रारम्भ विश्वविद्यालयों में हुआ किन्तु यह प्रकाश में लगभग दस वर्ष बाद अर्थात् लगभग १९३१ से आया। हिन्दी भाषा के क्षेत्र से सम्बन्धित प्रथम थीसिस डा० बाबूराम-सक्सेना का "अवधी का विकास" शीर्षक था। यह प्रयाग विश्वविद्यालय द्वारा १९३१ में स्वीकृत हुआ था। दूसरा "हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय" शीर्षक था। यह काशी विश्वविद्यालय द्वारा १९३२ में स्वीकृत हुआ था। इसके बाद तो खोज सम्बन्धी निबन्धों का ताँता-सा बँध जाता है।

हिन्दी खोज सम्बन्धी कार्य दो मुख्य भागों में विभक्त किया जा सकता है (क) साहित्य सम्बन्धी तथा (ख) भाषा सम्बन्धी।

हिन्दी साहित्य की पृष्ठभूमि से सम्बन्ध रखने वाले कार्यों में "संस्कृत साहित्य का हिन्दी साहित्य पर प्रभाव" (सरनाम सिंह, जयपुर अप्रकाशित) तथा "प्राकृत तथा अपभ्रंश का हिन्दी साहित्य पर प्रभाव" (रामसिंह तोमर, प्रयाग अ०) उल्लेखनीय हैं। इस सिलसिले में "अंग्रेजी भाषा और साहित्य का हिन्दी पर प्रभाव" (विश्वनाथ मिश्र, प्रयाग अ०) शीर्षक विषय पर भी कार्य हो चुका है। फारसी तथा उर्दू भाषाओं और साहित्यों के हिन्दी पर प्रभावों की परीक्षा अभी होने को शेष है।

हिन्दी साहित्य के आदिकाल से सम्बन्धित चन्द तथा उनके पृथ्वीराजरासो का वैज्ञानिक अध्ययन किया जा चुका है। (विपिनविहारी त्रिवेदी, कलकत्ता, प्रकाशित)।

इसी सिलसिले में मध्यकालीन हिन्दी-वीरकाव्य का साहित्यिक तथा ऐतिहासिक अध्ययन भी हो चुका है (टीकमसिंह तोमर, प्रयाग अ०)। वीरकाव्य से सम्बन्धित व्यक्तिगत कवियों का विस्तृत अध्ययन अवश्य शेष है।

"नाथ सम्प्रदाय" (हजारी प्रसाद द्विवेदी, शांति निकेतन प्र०) तथा "गुरु गोरखनाथ और उनका समय" (टी० एन० वी० आचार्य--रांगेयराघव, आगरा अ०) पर इधर सौभाग्य से अच्छा प्रकाश पड़ चुका है।

श्री परशुराम चतुर्वेदी ने "उत्तरी भारत की संत परंपरा" शीर्षक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित किया है। यह एक प्रकार से हिन्दी-संत-परंपरा का विश्वकोष-सा है। चतुर्वेदी जी ने "संत साहित्य" तथा "संत मत" पर दो ग्रन्थ भविष्य में उपस्थित करने का वचन दिया है।

व्यक्तिगत संतों में "कबीर और उनके अनुयायी" (के, लंदन प्र०) तथा "बिहार वाले दरिया साहब" (धर्मेन्द्र, पटना अ०) का अध्ययन हो चुका है। दादू का अध्ययन श्री क्षितिमोहन सेन द्वारा पहले ही हो चुका था। इसी प्रकार शेष प्रमुख संतों के अध्ययन की भी आवश्यकता है। कुछ पर कार्य हो रहा है।

हिन्दी की कृष्ण-काव्य-धारा की ओर भी हिन्दी के विद्यार्थियों का ध्यान गया। "ब्रज से सम्बन्धित वैष्णव सम्प्रदाय और उनका हिन्दी साहित्य पर प्रभाव" (हरिमोहन दास टंडन, प्रयाग अ०) इस उपयोगी विषय पर अभी हाल में ही अध्ययन पूरा हुआ है। "अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय" '(दीनदयाल गुप्त, प्रयाग प्र०) की वैज्ञानिक परीक्षा पहले ही हो चुकी है।" "भारतीय साधना और सूर साहित्य" (मुंशीराम शर्मा, आगरा अ०) पर भी पृष्ठभूमि सम्बन्धी कार्य पूरा हो चुका है। अष्टछाप के प्रमुख कवि "सूरदास" पर भी कई अध्ययन उपस्थित गो चुके हैं (जनादन मिश्र, जर्मनी प्र० ; ब्रजेश्वर वर्मा, प्रयाग प्र०)। इस सम्बन्ध में नन्द दास, परमानन्द दास, नागरी दास आदि प्रमुख कृष्ण-भक्त कवियों का विस्तृत पृथक् अध्ययन और होना चाहिए।

हिन्दी की राम-साहित्य-धारा की ओर अनेक विद्वानों का ध्यान गया। "राम कथा की उत्पत्ति और विकास" (कामिल बुल्के, प्रयाग प्र०) पर हिन्दी में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अध्ययन प्रकाशित हो चुका है। इस ग्रन्थ में रामकथा के समस्त भारतीय तथा विदेशीय उद्गमों की परीक्षा की गई है और उसके फलस्वरूप परिणाम दिए गए हैं। अभी हाल में ही एक फ्रांसीसी महिला ने "रामचरितमानस के गठन तथा कथानकों के उद्गम" पर एक अत्यन्त वैज्ञानिक अध्ययन उपस्थित किया है (वोदवील, पेरिस अ०)। दुर्भाग्यवश यह फ्रेंच भाषा में है और अभी अप्रकाशित है अतः इसका पूर्ण उपयोग अपने देश में शीघ्र नहीं हो सकेगा। यों गोस्वामी तुलसीदास और उनके रामचरितमानस का

पर्याप्त अध्ययन हो चुका है और अभी चल भी रहा है। इस सिलसिले में निम्नलिखित कार्य विशेष उल्लेखनीय हैं:--"तुलसीदास--जीवनी तथा कृतियों का वैज्ञानिक अध्ययन" (माताप्रसाद गुप्त, प्रयाग प्र०), "तुलसी दर्शन" (बलदेव प्रसाद मिश्र, नागपुर प्र०), "तुलसीदास और उनका युग" (राजपति दीक्षित, काशी अ०) और "रामचरितमानस में तुलसीदास की कला का विश्लेषण" (हरिनाथ हुक्कू, आगरा अ०)।

"हिन्दी प्रेमाख्यान काव्य की धारा" की भी उपेक्षा नहीं हुई है (पृथ्वीनाथ कुलश्रेष्ठ, प्रयाग अ०)। इस सिलसिले में "जायसी और उनकी कला और दर्शन" का भी विशेष अध्ययन हुआ है (जे० डी० कुलश्रेष्ठ, आगरा प्र०)।

हिन्दी रीतिकाल के प्रसिद्ध कवियों के पृथक्-पृथक् पूर्ण अध्ययन तो अभी उपलब्ध नहीं हैं--कुछ के हो रहे हैं--किन्तु इससे सम्बद्ध हिन्दी काव्यशास्त्र के प्रमुख अंगों की परीक्षा अवश्य हो चुकी है। "हिन्दी अलंकारशास्त्र के विकास का अध्ययन" (रामशंकर शुक्ल, प्रयाग अ०) बहुत पहले हुआ था। "हिन्दी छन्दशास्त्र" का इतिहास भी समझा जा चुका है (जानकीनाथ सिंह, प्रयाग अ०)। "रस तथा आधुनिक मनोविज्ञान" का तुलनात्मक अध्ययन हुआ है (छैल बिहारी लाल गुप्त, प्रयाग प्र०)। इस सिलसिले में नायक-नायिका-भेद का वैज्ञानिक अध्ययन उपर्युक्त ग्रन्थ के लेखक द्वारा हो रहा है। "रीतिकाव्य की भूमिका" तथा रीतिकाल के एक प्रमुख कवि "देव और उनकी कविता" इन दोनों विषयों को सुलझाया जा चुका है (नगेन्द्र नगाइच, आगरा प्र०)। "हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास" (भगीरथ मिश्र, लखनऊ प्र०) भी लिखा जा चुका है।

आधुनिक काल का क्रमबद्ध विस्तृत वैज्ञानिक विवेचन निम्नलिखित अध्ययनों के रूप में उपस्थित किया जा चुका है--"हिन्दी साहित्य और उसकी सांस्कृतिक पृष्ठ-भूमि (१७५७--१८५१ ई०) (लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, प्रयाग अ०), "आधुनिक हिन्दी साहित्य (१८५०--१९००)" (लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, प्रयाग प्र०), "आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास (१०९९००--२५)" (श्रीकृष्ण लाल प्रयाग प्र०) तथा "आधुनिक हिन्दी साहित्य (१९२६--४७)", (भोलानाथ, प्रयाग अ०)। अन्तिम ग्रन्थ लगभग तैयार है। समस्त आधुनिक हिन्दी साहित्य का विहंगम पर्यवेक्षण भी हुआ है (इन्द्रनाथ मदान, लाहौर, प्र०)। "आधुनिक काव्यधारा" (केसरीनारायण शुक्ल, काशी प्र०) तथा "हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास" (सोमनाथ गुप्त, आगरा प्र०) शीर्षक विषयों पर भी लिखा जा चुका है। आधुनिक हिन्दी साहित्य से सम्बद्ध अन्य विशेष अध्ययनों में निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं--"प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन" (जगन्नाथ प्रसाद शर्मा, काशी प्र०), "आधुनिक हिन्दी काव्य नें नारी भावना" (१९००--४५) (शैलकुमारी, प्रयाग प्र०) तथा "हिन्दी समाचार पत्रों का इतिहास" (रामरतन भटनागर प्रयाग प्र०)। भारतेंदु, प्रसाद, प्रेमचंद, अयोध्या सिंह उपाध्याय, मैथिलीशरण गुप्त

आदि प्रसिद्ध आधुनिक लेखकों के पृथक्-पृथक् पूर्ण अध्ययनों की ओर हिन्दी विद्यार्थियों का ध्यान जा रहा है और इस प्रकार के निबन्ध शीघ्र ही बहुत बड़ी संख्या में उपलब्ध हो सकेंगे, इसकी पूर्ण आशा है।

नीचे कुछ फुटकर ढंग के विषयों का उल्लेख किया आ रहा है। "प्रकृति और हिन्दी काव्य" (रघुवंश सहाय वर्मा, प्रयाग प्र०) तथा "हिन्दी काव्य में प्रकृति" (किरण कुमारी गुप्त, आगरा प्र०) इस विषय का अध्ययन दो भिन्न पहलुओं से हो चुका है। "हिन्दी काव्य में रहस्यवादी प्रवृत्तियाँ" (ब्रजमोहन गुप्त, प्रयाग अ०), "हिन्दी साहित्य में आलोचना का उद्गम तथा विकास" (भगवत स्वरूप मिश्र, आगरा अ०) तथा "गीति-काव्य का उद्गम विकास और हिन्दी साहित्य में उसकी परंपरा" (शिवमंगल सिंह, काशी अ०) इन तीनों समस्याओं को समझा जा चुका हैं। "हिन्दी साहित्य में महाकाव्य-परम्परा" पर भी काम हो गया है (हरिश्चन्द्र राय, लंदन अ०)।

ऊपर हिन्दी के नागरिक साहित्य की चर्चा हुई। हिन्दी की जनपदीय बोलियों में सुरक्षित मौखिक साहित्यिक परंपरा की ओर भी ध्यान गया है। इस क्षेत्र में सर्वप्रथम उल्लेखनीय कार्य "ब्रजलोक साहित्य" (गौरीशंकर 'सत्येन्द्र' आगरा प्र०) पर है। इसी प्रकार "भोजपुरी लोकसाहित्य का अध्ययन" (कृष्णदेव उपाध्याय, लखनऊ अ०) भी पूरा हो चुका है। हिन्दी के शेष मुख जनपदीय लोकसाहित्य का अध्ययन भी शीघ्र हो सकेगा इसकी पूर्ण संभावना है।

साहित्य क्षेत्र के अतिरिक्त भाषा के क्षेत्र में भी कुछ महत्त्वपूर्ण अध्ययन प्रस्तुत किये गये हैं। नमें निम्नलिखित उल्लेखनीय है—"अवधी का विकास" (बाबूराम सक्सेना, प्रयाग, प्र०) "ब्रजभाषा" (धीरेन्द्र वर्मा, पेरिस प्र०), "भोजपुरी का विकास" (उदय नारायण तिवारी, प्रयाग प्र०), "भोजपुरी की ध्वनियों का अध्ययन" (विश्वनाथ प्रसाद, लंदन अ०), "बिहारी भाषाओं की उत्पत्ति तथा विकास" (नलिनीमोहन सान्याल, कलकत्ता), "सोलहवीं शताब्दी की अवधी का अध्ययन" (लक्ष्मीधर, लंदन), "परसर्गों के विकास का ऐतिहासिक अध्ययन" (रामचन्द्र, काशी अ०) तथा "हिन्दी शब्दार्थ विज्ञान" (हरदेव बाहरी, प्रयाग अ०)। भाषा-सम्बन्धी विशेष अध्ययनों में निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं :—"मुहावरा मीमांसा" (ओमप्रकाश गुप्त, काशी अ०) "भारतीय ग्रामोद्योगों की शब्दावली का अध्ययन" (हरिहर प्रसाद गुप्त, प्रयाग अ०) तथा "हिन्दी प्रदेश के हिन्दू पुरुषों के नामों का वैज्ञानिक विवेचन" (विद्याभूषण विभु, प्रयाग अ०)। यह आश्चर्यजनक है कि हिन्दी का प्रधान जनपदीय रूप खड़ी बोली वैज्ञानिक अध्ययन की दृष्टि से अभी तक उपेक्षित है। नामों के अध्ययन के सिलसिले में मोहल्ला, ग्राम, नगर, नदी, पहाड़ आदि से सम्बद्ध स्थानवाचक तथा अन्य हिन्दी नामों का भी शीघ्र अध्ययन होना चाहिए। प्रयोगशालाओं के अभाव में प्रयोगात्मक ध्वनि विज्ञान पर अपने देश में

काय अभी प्रारंभ भी नहीं हो सका है। अपने विद्वानों ने विदेश में अवधी तथा भोजपुरी पर कुछ कार्य अवश्य किया है।

प्राचीन कवियों के ग्रन्थों के वैज्ञानिक सम्पादन की ओर भी ध्यान गया है। इस दृष्टि से "बिहा ी सतसई" (जगन्नाथ दास रत्नाकर) तथा "सूरसागर" (रत्नाकर तथा वाजपेयी) पर सब से पहले कार्य हुआ था। इधर सेनापति का कवित्त-रत्नाकर (उमाशंकर शुक्ल, प्रयाग प्र०), नन्ददास-ग्रन्थावली (उमाशंकर शुक्ल, प्रयाग प्र०), जायसी ग्रन्थावली (माताप्रसाद गुप्त, प्रयाग प्र०) तथा रामचरितमानस (शंभुनारायण चौबे, काशी प्र० ; माता प्रसाद गुप्त, प्रयाग प्र०) के वैज्ञानिक संस्करण प्रकाशित हुए हैं। "केशव-ग्रन्थावली" (विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, काशी अ०) भी सम्पादित रूप में तैयार है। यह स्पष्ट है कि इस क्षे में अभी बहुत कार्य शेष है। इस सम्बन्ध में हस्त-लिखित पुस्तकों के केन्द्रयी संग्रहों का अभाव है।

खोज के कार्य में अच्छे पुस्तकालयों के अतिरिक्त "हिन्दी पुस्तक साहित्य" (१८६३–१९४२) (माता प्रसाद गुप्त, प्रयाग प्र०) जैसे ग्रन्थों से विशे सहायता मिलती है। सी ढंग की एक अन्य सहायक पुस्तक की भी अत्यन्त आवश्यकता है जिसमें हिन्दी पत्रिकाओं में प्रकाशित खोज सम्बन्धी लेखों की पूर्ण सूची मिल सके। हिन्दी भाषा और साहित्य विषयक खोज सम्बन्धी लेख यों तो अनेक मासिक पत्रिकाओं तथा कभी-कभी साप्ताहिक और दैनिक प ों तक में बिखरे पड़े हैं किन्तु इस प्रकार की विशेष वैज्ञानिक त्रैमासिक पत्रिकाओं में "नागरी प्रचारिणी पत्रिका" (काशी), "हिन्दुस्तानी" (प्रयाग), "हिन्दी अनुशीलन" (प्रयाग) विशेष उल्लेखनीय हैं।

हिन्दी ें गत बीस वर्षों में होने वाले का की जो संक्षिप्त रूपरेखा ऊपर ी गई है वह पूर्ण नहीं है। इसका उद्देश्य केवल यह विश्वास दिलाना मात्र है कि हि ी खोज के क्षेत्र में पर्याप्त कार्य हुआ है। इससे भी कई गुना अधिक कार्य हो रहा है जिसका उल्लेख नहीं किया गया है। स सम्बन्ध में कुछ बातें विचारणीय हैं। उपर्युक्त पुस्तकों में से एक महत्त्वपूर्ण अंश अंग्रेजी तथा फ्रेंच में होने वाले कार्य का है। इसके हिन्दी रूपान्तर के शीघ्र तैयार होने की आवश्यकता है। बहुत-सा कार्य अभी अप्रकाशित है। हिन्दी प्रदेश के विश्वविद्यालयों में खोज सम्बन्धी निबंधों तथा न्थों के प्रकाशन का कोई भी संतोषजनक प्रबन्ध अभी तक नहीं है यह अत्यन्त खेद का विषय है। इसके अभाव में स परिश्रम का स ुचित उपयोग नहीं हो पा रहा है।

प्रकाशित ग्रन्थों तथा हस्तलिखित ोथियों के पूर्ण संग्रहों का अभाव भी बहुत खटकता है। अन्वेषक विद्यार्थियों के लिए आर्थिक साधनों का भी अभाव है जिससे कि वे कम-से-कम दो-चार वर्ष निश्चित रूप से कार्य में संलग्न रह सकें।

अब समय आ गया है जब हिन्दी से सम्बन्धित खोज कार्य एक निश्चित आयोजन के अनुसार भिन्न-भिन्न केन्द्रों से होना चाहिए। प्रारम्भिक कार्य निपट आया है अतः अब विस्तार में जाने की आवश्यकता है। भारतीय हिन्दी परिषद् जैसी संस्थाओं के द्वारा यह कार्य शीघ्र सम्पन्न होना चाहिये नहीं तो पिष्टपेषण तथा पुनरावृत्ति की आशंका बनी रहेगी।

—भारतीय प्राच्य परिषद्, लखनऊ–अधिवेशन, (१९५१), हिन्दी-सेक्शन, के सभापति (डॉ० धीरेन्द्र वर्मा) के भाषण से

हास्य

हास्य में सबसे पहली बात शिष्टता है। जिस हास्य में शिष्टता नहीं, वह सभ्य समाज के लायक नहीं रहता। गन्दगी का हास्य से क्या सम्बन्ध ? मैं तो उसी हास्य को सफल हास्य समझता हूँ जिसको सुनकर वह भी हँस पड़े जिसको लक्ष्य करके हास्य लिखा जा रहा है और जो सबके सामने निःसंकोच भाव से पढ़ा जा सके। हास्य 'शुगर-कोटेड" गोलियाँ होना चाहिये—यानी जिस भाँति कुनैन की गोलियाँ शक्कर में पाग कर रोगी को दी जाती हैं, उसी तरह उपदेश की कड़वी कुटकी को हास्य की चाशनी में पाग देना चाहिए। सौ उपदेशों से जो काम नहीं होता, कभी-कभी वही काम हास्य की एक चुटकी से होता देखा गया है। हास्य-व्यंग्य में बड़ा बल है। जिस श्रेणी का हास्य होता है उसी श्रेणी के लोगों पर वह अपना जादू डालता है। जिस हास्य से अपढ़ और असंस्कृत ठहाका मार कर हँसते हैं वही सुशिक्षितों और सुसंस्कृतों के चेहरे पर मुसकान तक नहीं ला पाता। इसके विपरीत, जो हास्य-व्यंग्य सुशिक्षित समाज को मुग्ध कर देता है, उसी को सुनकर साधारण लोग मूक-मौन रह जाते हैं। उनके लिए वह व्यंग्य दर्शन, गणित या विज्ञान की समस्या बन जाता है। भड़ौआ और व्यंग्य-हास्य में यही अन्तर है। "भड़ौआ" में मुँहफटपन और कलाहीनता होती है, व्यंग्य-हास्य में गम्भीरता, मार्मिकता और शिष्टता निवास करती है।

—हरिशंकर शर्मा (गुलदस्ता, आगरा ; अगस्त १९५१)

श्रीगुरु नानक देव

सिक्खों के पहले गुरु श्री नानक देव का जन्म १४६९ ई० में लाहौर के पास रावी नदी के किनारे तलौंड़ी गाँव में हुआ था। उन दिनों दिल्ली सिंहासन पर बहलोल लोदी

था और पंजाब का गवर्नर दौलत खाँ लोदी। उसके राज में देश की हालत खराब थी। नानक देव के पिता का नाम श्रीकालू जी था। वे वेदी खत्री थे, गाँव में उनकी एक छोटी-सी दूकान थी। नानक जी ने अपने एक पड़ोसी सैयद हसन से फारसी पढ़ी और पाठशाला में हिन्दी। उन्हें बचपन से ही साधु-संतों और फकीरों की संगति पसन्द थी। तलौंड़ी के पास घने जंगलों में बहुत-से संत-फकीर ठहरा करते थे। नानक जी सब काम-काज छोड़ उन्हीं के पास जा बैठते। जब कुछ सयाने हुए, पिता ने गाय-भैंस चराने भेजा, खेतीबारी में लगाया, दूकान पर बिठाया, पर सब जगह उनका वही हाल रहा, सब कुछ छोड़ साधु-फकीरों के पास पहुँच जाते थे। तब हार कर १४ वर्ष की उम्र में जिला गुरुदासपुर-निवासी मूला जी की पुत्री बीवी सुल्कवनी के साथ उनका विवाह कर दिया गया। दो पुत्र वे भी पैदा हुए, परन्तु वे साधु-संतों में रमते ही रहे। इन्हें अन्त में उनके बहनोई जयराम जी के पास सुल्तानपुर भेज दिया गया। जयराम जी पंजाब-गवर्नर दौलत खाँ के तोशखाने के अफसर थे। उनके कहने से दौलत खाँ ने नानक जी को तोशखाने के हिसाब-किताब रखने का काम दिया। नानक जी को जो तनख्वाह मिलती, थोड़ा-सा अपने लिए रख, बाकी सब गरीबों को बाँट देते। एक दिन सुबह नदी में स्नान करते-करते ऐसी डुबकी लगाई कि बहुत ढूँढने पर भी पता न चला। तीन दिन बाद फिर सुल्तानपुर पहुँचे। इसी समय ब्रह्मज्ञान हुआ। अपना सब कुछ दीन-दुखियों को बाँट दिया। सरकारी तोशखाने की भी बहुत-सी चीजें गरीबों को बाँट दी। दौलत खाँ को पता लगा तो हिसाब माँगा। जाँचा गया तो एक दमड़ी भी कम न थी।

उनके ज्ञानोपदेश से सुल्तानपुर में हलचल मच गई। दौलत खाँ ने उन्हें बुलाया। नमाज का वक्त था। काजी और गवर्नर नमाज पढ़ चुके तो नानक जी ने कहा—"तुम दोनों में से किसी की नमाज खुदा ने स्वीकार नहीं की; क्योंकि तुममें से एक तो अपने बछड़े के विषय में यह सोच रहा था कि वह खुला है—कहीं कुएँ में न गिर जाय और दूसरा काबुल में नये घोड़े खरीदने के मनसूबे बाँध रहा था!" सुनने वाले दंग रह गये। दौलत खाँ का सिर श्रद्धा से झुक गया। उसने उनसे अपने बराबर बैठने का आग्रह किया। पर वे तो धन-दौलत को लात मार चुके थे। अपने गाँव के पुराने साथी मरदाना को, जो रदाद बजाने में चतुर थे, साथ लेकर चुपचाप वन की ओर चल दिये। उन्होंने उत्तर में काश्मीर तक, पूर्व में कामरूप (आसाम) और जगन्नाथपुरी तक, पश्चिम में ईरान और अरब तक, और दक्षिण में लंका तक यात्राएँ की थीं। घर छोड़ने के बाद एक बार अपने गाँव भी गये, मगर अन्दर न घुसे, माता-पिता आदि को बाहर ही बुलाकर मिले। अपनी यात्राओं में प्रसिद्ध पुरुषों और महात्माओं से ही मिले। पाकपटन में बाबा फ़रीद की दरगाह शरीफ पर गये और पानीपत में शेख शरफ से मिले तथा काश्मीर में पंडित ब्रह्मदास से भेंट की। यात्रा में बहुत-से डाकुओं, लुटेरों और बुरे आदमियों को अच्छी राह पर लगाया।

सफ़र में भोजन बहुत कम करते थे। कई-कई दिन तक समाधि लगाकर भगवान का ध्यान किया करते थे।

गुरु नानक जी बगदाद होते हुए मक्का-शरीफ पहुँचे थे। बगदाद में चहारदिवारी के बाहर एक कब्र के पास एक पत्थर लगा हुआ मिला है जिस पर लिखा है—"गुरु मुराद मर गये, नानक फकीर ने यह पत्थर गाड़ कर अपने गुरु की सेवा की है, सन् ९६७ हिजरी।" इससे पता लगता है कि उन्होंने शाह मुराद को अपना गुरु बनाया था। उन्होंने अपनी कविता में अपने गुरु का बहुत अधिक जिक्र किया है। कहते हैं कि जब वे मक्का पहुँचे तो काबे की तरफ पाँव करके लेट गये। लोगों ने कहा, खुदा के घर की तरफ पाँव न करो। उन्होंने उत्तर दिया, भाई, मेरे पाँव उधर ही कर दो जिधर खुदा न हो।

अरब से लौटते समय जब नानक जी सैयदपुर के पास पहुँचे तो बाबर के सनिकों ने कैद कर लिया। ज्योंही बाबर को उनके जीवन का हाल मालूम हुआ, फौरन रिहा कर दिया, बड़ा आदर-मान किया और कहा—"अगर मुझे पता होता कि यहाँ आप-जैसे महात्मा रहते हैं तो मैं कभी इस देश को बरबाद न करता।" वहाँ से वे मियाँ मिट्ठन शाह के पास मिट्ठनकोट (ज़िला डेरा गाजी खाँ) पहुँचे। दोनों ने एक दूसरे से बहुत-कुछ सीखा। वहाँ से करतारपुर आये। फिर गृहस्थ जीवन बिताने लगे। घरवाले उनके पास आ गये। यहाँ भी वे लोगों को उपदेश करते रहे। महात्मा कबीर के समान उनकी मूल शिक्षा भी यही थी—"न कोई हिन्दू है न मुसलमान, ईश्वर अनादि-अनन्त है, सिर्फ सच्चे दिल से उसका ध्यान करने वाला ही उसका दर्शन करता है।" सच्चे संत की पहचान उन्होंने यह बतलाई है—"जो क्रोध को सर्वथा त्याग दे, लोभ को छोड़ दे, अपने भीतर की पाँचों बुराइयों की अग्नि को शांत कर दे, ज्ञान-ध्यान के द्वारा अपने सिरजनहार की भक्ति करे, भले कामों के करने में कष्ट झेले, बुरी अभिलाषाओं को वश में कर ले, गुरु की शिक्षा पर चले।" एक जगह कहा है—"जो सब मनुष्यों को बराबर समझता है वही सच्चा धर्मात्मा है। संसार में रहते हुए अपने मनको पवित्र रखना ही सच्चा धर्म है। अगर कोई सत्य की खोज में है तो वह ईश्वर का ध्यान करे और उसकी राह में अपने-आपको मिटा दे।"

सन् १५३९ ई० में गुरु नानक ने अपना शरीर त्यागा। अन्तिम समय आया तो अपने एक चेले लहना को 'अंगद' नाम देकर अपना वारिस बनाया। अंगद जी सिक्खों के दूसरे गुरु थे। तीसरे गुरु अमरदास जी, चौथे गुरु रामदास जी, पाँचवें अर्जुन देव जी, छठे हरगोबिन्द जी, सातवें हरराय जी, आठवें हरकेश जी, नवें तेगबहादुर जी, दसवें गुरु गोविन्द सिंह जी। दोहा प्रसिद्ध है—"गुरु नानक शाह फकीर ; हिन्दू का गुरु, मुसलमान का पीर।"

—मक्तबा जामिया लिमिटेड (दिल्ली) की "गुरु नानक देव" पुस्तक से

भारतीय जनता की सांस्कृतिक एकता

पिछली शताब्दियों में इस विशाल देश के विभिन्न क्षेत्रों में राजनीतिक और सांस्कृतिक धाराएँ फूटीं और उनका जीवनदायी जल समस्त भारत में फैल गया। जिस प्रकार एक ही जीवनदायिनी जल-धारा अनेक प्रकार के फसल और पौधों, फलों और पुष्पों को रस और जल प्रदान करती है, उसी प्रकार प्रथाओं और पहनावों, भाषा और संस्कृति के बहुरंगी दृश्यों को, यह एक ही सामान्य धारा, चेतना और दीर्घ जीवन प्रदान करती है। इसने हमारे देश के विभिन्न प्रदेशों और जातियों को ऐसी एकता में बाँध दिया है जो यद्यपि हवा से भी अधिक पतली है तथापि इस्पात से भी अधिक मजबूत है। निःसन्देह मन और आत्मा की यह एकता कला और इमारतों, साहित्य और दर्शन, सामाजिक दृष्टि-कोण और नैतिक विश्वास––इन सब में विभिन्न रूपों में व्यक्त हुई है।

—राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र प्रसाद (विक्रम, उज्जैन, आश्विन, २००८)

------०------

जीवन की महत्ता

मेरा कर्ममय जीवन देख बहुत-से आदमियों ने मुझसे पूछा––"तुम इतनी किताबें लिखने का समय कब पाते हो ? संसार का इतना काम तुमसे कैसे होता है ?" मेरे जवाब को सुन कर वे आश्चर्य में पड़ गये। मैंने कहा––"मैं कभी कोई काम बहुत-सा नहीं करता इसी लिए इतना काम कर पाता हूँ।" यदि मनुष्य कोई काम करना चाहता है तो उसे थकावट से बचना चाहिये। यदि वह आज बहुत ज्यादा काम करेगा तो कल वह बहुत काम नहीं कर पायेगा। कॉलेज छोड़ने के बाद जब मैंने सच्चे दिल से अध्ययन करना शुरू किया तब से आज तक मैंने बहुत-से ग्रन्थों को पढ़ डाला, बहुत यात्रा की और बहुत कुछ देखा। राजनीति में भाग लिया और जीवन की अन्य बातों में भी योग दिया। इन सबके अतिरिक्त मैंने साठ ग्रन्थों की रचना की। कुछ के लिए विशेष अध्ययन करना पड़ा। क्या आप बतला सकते हैं कि लिखने और पढ़ने में मैंने कितना समय लगाया होगा ? तीन घंटे से अधिक मैंने कभी इसमें खर्च नहीं किये। जब पार्लमेंट का अधिवेशन होता रहता था, ये तीन घंटे भी नहीं मिलते थे ; परन्तु इन तीन घंटों में मेरा सारा ध्यान मेरे सामने के काम पर ही रहता था।

—एडवर्ड बुलवर लिटन (गुलदस्ता, आगरा, अक्तूबर १९५१, ई०)

------०------

नवीन....और....उल्लेख्य

दरवेश का बेटा
श्री भालचन्द्र ओझा,
ज्ञानपीठ, पटना, मूल्य एक १।।)

आलोचक—
नलिन विलोचन शर्मा

हिन्दी में साहित्यिक पुस्तकों का प्रकाशन इतनी तीव्रता से हो रहा है कि देख कर आश्चर्य होता है, तनिक ध्यान से उसे देखने पर चाहे असं ोष भी क्यों न हो।

एक बात तो निर्विवाद है। हिन्दी में नवीन प्रतिभा के अन्वेषण की अत्यधिक आवश्यकता है, जब कि साहित्य-रचना का दारोमदार ऐसे पुराने साहित्यकारों पर ही दीख रहा है जिनसे उनकी उपलब्धि की पुनरावृत्ति की आशा भर की जा सकती है।

'दरवेश का बेटा' छोटी कहानियों का एक बहुत छोटा-सा सद्यः प्रकाशित संग्रह है। यदि अच्छी कहानियों में दिलचस्पी रखने वाले पाठकों का ध्यान यह संग्रह आकृष्ट न कर पाये तो दोष संगृहीत कहानियों का नहीं, पुस्तक के मुद्रित रूप का ही होगा।

यों तो भालचन्द्र ओझा की कुछ कहानियाँ पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुकी हैं और उन्होंने पारखी आलोचकों का ध्यान भी अपनी ओर आकृष्ट किया है, किन्तु यह सच है कि ज्यादा लोगों के लिये इस कहानी-लेखक का नाम अपरिचित ही होगा। मुझे विश्वास है, 'दरवेश का बेटा' संग्रह की कहानियाँ पढ़कर यह मानना कठिन होगा कि उनका लेखक एक नवोदित कहानीकार है, पर यही उनकी विशेषता है।

हिन्दी के सृजनात्मक साहित्य की वस्तुस्थिति ऐसी है कि तथाकथित सिद्ध, अनुभवी और ढेर की ढेर रचनाओं का दावा कर सकने वाले लेखकों से अभाव-पूर्त्ति भले होती चले, उत्कर्ष और वैशिष्ट्य की आशा व्यर्थ है। इस असंतोषजनक परिस्थिति में प्रतिभा-सम्पन्न नवीन लेखकों का ही भरोसा किया जा सकता है।

एक ओर यह हिन्दी का सौभाग्य है कि उस में ऐसे लेखकों का अभाव नहीं है किन्तु, दूसरी ओर, उसका यह दुर्भाग्य है कि उसके पाठक, आलोचक और प्रकाशक उन्हें स्वीकृति और प्रोत्साहन प्रदान करने में संकीर्णता और अगुणग्राहकता का ही परिचय देते हैं। 'दरवेश का बेटा' ज्यादा खुशकिस्मत होगा इस आशा के साथ मैं उस पर तनिक विस्तार से आपके साथ बातचीत करने जा रहा हूँ।

'दरवेश का बेटा' में सात कहानियाँ संगृहीत हैं—दरवेश का बेटा, झूठ-सच, नया साहित्य, फरार, नहीं कही गई कहानी, साहित्य-सृजन और जागृत कुंडलिनी तथा

श्री जी और सादुल्ला साहब। सभी कहानियों की एक अत्यन्त उल्लेखनीय और सामान्य विशेषता है, घटनानुरूप और पात्रोचित वातावरण का कुशलतापूर्वक निर्माण। इस दृष्टि से पहली कहानी, जिसका शीर्षक पुस्तक का भी शीर्षक है, सर्वाधिक सफल है, किन्तु दूसरी कहानियों में भी वातावरण-निर्माण ही प्रधान तत्त्व है। अन्य दृष्टियों से कुछ कहानियाँ न्यूनाधिक मात्रा में सदोष भी हों, लेकिन वातावरण तैयार करने में भालचन्द्र को सर्वत्र प्रशंसनीय सफलता मिली है।

'दरवेश का बेटा' से एक उद्धरण दे रहा हूँ :—

'उसने समझदारी से सर हिलाया और झोपड़े के दरवाजे की ओर बढ़ा। झोपड़े की दीवार और दरवाजे की बीच की सेंध से झाँकती धीमी रोशनी की लकीर बतला रही थी कि बुड्ढा सोया नहीं है। दरवाजे पर हाथ रख कर उसने भरसक दर्द-भरी आवाज में पुकारा—"अब्बा"। अंदर से कोई आवाज नहीं आई। उसने दोबारा पुकारा, लेकिन इस बार भी जवाब नदारद। तब उसने मेरी ओर देखा। मैंने इशारे से दरवाजा थपकाने को कहा। दरवाजा पहले से ही खुला था। उसने दरवाजे पर थपकियाँ देने की बजाय उसे अपनी ओर जरा-सा खींचा तो पूरा दरवाजा खुल गया। दरवेश मुझे देख न ले, इस डर से मैं घबरा कर एक किनारे हट गया। लेकिन, तभी झोपड़े के अंदर से मोहांती की अचरज-भरी आवाज सुन पड़ी—'अरे यहाँ तो कोई है ही नहीं।'

'दरवेश का बेटा' का बुड्ढा दरवेश दुर्भाग्य के क्रूर आघात से विक्षिप्त किन्तु दयनीय मनुष्य है। उसके जीवन के लोमहर्षक रहस्य के अनुकूल वातावरण को बड़े धैर्य से और धीरे-धीरे लेखक ने तैयार किया है। इसी प्रकार दूसरी कहानियों में भी व्यंग्य और हास्य और मनुष्य की विवशताओं को तीव्रतर बनाने के लिये उपयुक्त वातावरण की सृष्टि लेखक ने की है।

भालचन्द्र की जो दूसरी विशेषता तत्काल प्रभावित करती है वह है उनकी कहानियों में अंतर्निहित व्यंग्यात्मकता। काँटेदार शब्दों की सहायता से या मौका ढूँढ़कर अपनी ओर से कड़वा-तीता कह कर लेखक व्यंग्य नहीं करता। कहानी का पात्र ही इस तरह चित्रित किया गया है, कथानक का संघटन ही इस प्रकार किया गया है कि वे, अपनी पूर्णता में, अमोघ व्यंग्य बन जाते हैं। इन व्यंग्यों की सफलता दुगनी इसलिये हो जाती है कि उन्हें परिहास-भावना (sense of humour) से प्रेरणा मिली है, किसी सैद्धान्तिक पूर्वग्रह से नहीं। कहानी लेखक ने व्यंग्य करने के लिये कहानियाँ नहीं लिखी हैं, कहानियाँ अपने आप में व्यंग्य बन गई हैं। उसका व्यंग्य उसकी परिहास-भावना से प्रेरित होने के कारण गंभीर घाव करने वाला होने पर भी असद्भावनापूर्ण नहीं है; इसी तरह उसकी परिहास-भावना व्यंग्य की गंभीरता के कारण सर्कस के विदूषक की जुगुप्सा और विस्मय उत्पन्न करने वाली हरकत भी नहीं बनती। 'दरवेश का बेटा' शीर्षक

कहानी में भी परिहास-भावना के कारण ही मनुष्यता की झाँकी हमें मिल जाती है। व्यंग्य और परिहास-भावना का, विषाद (tragedy) और चंचलता का यह समन्वय बड़े पैमाने वाली साहित्यिक रचनाओं में बहुत कठिन नहीं होता, किन्तु छोटी कहानी में सर्वथा दुष्कर है। भालचन्द्र की कहानियों में यह समन्वय इस प्रकार और इस अनुपात में हुआ है कि पढ़ कर ही विश्वास किया जा सकता है।

संगृहीत कहानियों के अजीबो-गरीब पात्र भालचन्द्र की तीसरी विशेषता हैं पर वह महत्त्वपूर्ण होने की बजाय ऐसी है जिससे कहानीकार को सतर्क रहना आवश्यक है। विलक्षणता, वह पात्रों की हो या घटनाओं की, बहुधा अति-नाटकीयता के धरातल पर उतर जाती है। कुछेक कहानियों में विलक्षणता-जनित इस अति-नाटकीयता का दोष प्रभाव की पूर्णता के लिए बाधक बन गया है। ऐसी कहानियों में 'फरार' का निर्देश किया जा सकता है। एक पेशेवर कहानी लेखक इस प्रकार की कहानियों के उपसंहार को अप्रत्याशित मोड़ देकर अपनी रचना को कम-से-कम मनोरंजक तो बना ही सकता है। भालचन्द्र ने ऐसा भी नहीं किया है। विलक्षणता से कहानी नहीं बनती। भालचन्द्र को विलक्षणता पर आवश्यकता से अधिक जोर देना ही नहीं चाहिये।

भालचन्द्र को कहने के लिये सामग्री की कमी नहीं, इसीलिये वे शब्दों का अपव्यय नहीं करते। फिर भी उन्हें सावधान रहना चाहिये कि उनका अपना ढंग कहीं आसान ढर्रा न बन जाय। 'गोया' शब्द का तो वे जितना कम इस्तेमाल करें अच्छा। इन बातों को छोड़ दें तो शैली में ऐसी स्वाभाविकता है, खास कर पात्रों की बातचीत में, कि हिन्दी के अभ्यस्त गल्पकार भी उस तरह लिख लें तो उनके लिये गर्व की बात है।

मन्वन्तर

श्री शंभुनाथ सिंह, काशी।

आलोचक—
नलिन विलोचन शर्मा

दूसरी आलोच्य पुस्तक श्री शंभुनाथ सिंह का नवीन काव्य-संग्रह 'मन्वंतर' है। 'मन्वंतर' के कवि का उद्देश्य है कविता के माध्यम से युग और समाज को बदलना तथा जीवन के मूल्यों में नवीन तत्त्वों को प्रतिष्ठित करना। कवि का विश्वास है कि परंपराओं के प्रतिकूल सोद्देश्य अभियान करना मनुष्य का कर्त्तव्य है।

कवि ने इस उद्देश्य से मानव का, जनता का उद्बोधन किया है। साहित्य प्रचार का साधन है, यह सिद्धान्त मान लिया जाय तो मन्वन्तर की कवितायें फलप्रद कही जा सकती हैं। यह दूसरी बात है कि इस प्रकार की कविताओं का अधिक प्रभाव पड़ता है या सीधी चोट करने वाले पर्चों का, इस संबंध में अलग-अलग धारणाएँ हैं।

शंभुनाथ की इस पुस्तक की मन्वन्तर शीर्षक पहली कविता की कुछ पंक्तियाँ सुनें :—

मानव, तुम करो अभियान ।
निर्झर शक्ति के तुम आज
कितने क्षीण, गति से हीन ।
कितने जन बने बलवान
गतिमय ज्योतिमय वैभव तुमसे छीन ।
सूखे स्रोत के इस क्षीण स्वर में भी
छिपा उस वज्र का निर्घोष
करता जो गगन का वक्ष भेदन
दिग्गजों का गर्व चकनाचूर ।

जन-पूजा (Demotheism) की यह भावना अपरिणत मस्तिष्क का ही परिचायक है—वह चाहे व्यक्तिगत पैमाने पर हो या सामूहिक पैमाने पर। जिन देशों में जन-पूजा स्वाभाविक समझी जा सकती है वहाँ के विचारकों ने भी दृढ़तापूर्वक इसका विरोध ही किया है क्योंकि जन-कल्याण की भावना की प्रशंसा तो की जा सकती है किंतु शाब्दिक जन-पूजा का महत्त्व तो सर्वथा अस्वीकार्य है। यह तो कुछ वैसी ही बात है कि आध्यात्म या भक्ति के वास्तविक रूप की उपेक्षा कर कोई मात्र प्रतीकोपासना को ही अपना ध्येय बना ले।

शंभुनाथ ने जिन कविताओं में अपनी स्मृतियों और भावनाओं के चित्र अंकित किये हैं उनमें उन्हें स्तुत्य सफलता मिली है, यद्यपि अतिशय भावुकता (sentimentalism) स्पृहणीय प्रभाव उत्पन्न करने में बाधक सिद्ध होती है। "मेरा गाँव" शीर्षक कविता की इन पंक्तियों से मेरे कथन का शायद पोषण हो सके :—

धन्य मेरा गाँव
मेरा गाँव है यह ।
मैं जहाँ पैदा हुआ
खेला-बढ़ा जिसकी धरा पर,
ी नयन से अमर छवि जिसकी
न में तृप्त हो पाया ;
खेत, बाग, नदी, तलैया, ताल, ऊसर
पोखरा, गड़हे, कुएँ
हैं एक-एक अनेक स्मृतियाँ ले पड़े ।

इस कविता में एक सरस चित्र खचित किया गया है। इसकी प्रभावोत्पादकता पर हम विचार कर चुके। एक भावनामूलक कविता के इस अंश को भी सुनें :—

उर के व्यथा सिन्धु का कूल
गया मैं भूल !
रहे जीवन के वे क्षण पास
न जिनमें अश्रु, न जिनमें हास,
प्यास के मेघ उमड़ कर नहीं
बरसने आते हैं रस धार।
प्यार की ज्वाला में चुपचाप
न जलना मन।

यहाँ भावुकता का आतिशय्य अभिव्यंजना को शिथिल बना देता है।

शंभुनाथ जी अनुभव या भावना या विचार का यदि पुटपाक नहीं कर सकते तो उन्हें वह सिद्धि नहीं मिल सकेगी जिसकी संभावनाएँ उनमें परिलक्षित होती हैं।

दिनकर और उनकी काव्य-प्रवृत्तियाँ **आलोचक—**
शिवचन्द्र शर्मा, **नलिन विलोचन शर्मा**
जनवाणी प्रेस, कलकत्ता, मूल्य ३।)

'दिनकर' की कविता को श्रोताओं की प्रशंसा ही नहीं मिली है, उसे अधिकारी विद्वानों और समालोचकों का ईर्ष्या के योग्य सम्मान भी मिलता रहा है। हिन्दी के इस लोकप्रिय और सम्मानित कवि की रचनाओं के सूक्ष्म और विस्तृत अध्ययन, इधर कुछ विद्वानों ने, निबंध-संग्रह या स्वतन्त्र पुस्तक के रूप में, प्रस्तुत किए हैं। पहली कोटि में प्रो० कपिल के द्वारा सम्पादित दिनकर के काव्य के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों के लिखे निबंधों का महत्त्वपूर्ण संग्रह आता है, दूसरी में एकाधिक कृतियाँ उपलब्ध हैं। इनमें शिवचन्द्र शर्मा की 'दिनकर और उनकी काव्य-प्रवृत्तियाँ' न केवल 'दिनकर' की काव्य-विषयक ही, अपितु हिन्दी आलोचना सम्बन्धी, उल्लेख्य कृति है। शिवचन्द्र प्रखर और निर्भीक आलोचनाओं के लिए प्रख्यात विद्वान हैं। अपनी इस नवीनतम आलोचना-पुस्तक में उन्होंने जो भी स्थापित या उद्भावित किया है उसमें 'अमूल' या 'अनपेक्षित' कुछ न रह जाय इसका पूरा ध्यान उन्होंने रखा है—यह दूसरी बात है कि उनके निर्णयों से किसी का मतभेद भी हो।

पुस्तक के प्रथम अध्याय में शिवचन्द्र ने काव्य के आधारभूत सिद्धांतों की मीमांसा की है। उनके मतानुसार कवि के लिए यह आवश्यक है कि कवि काव्य के लाक्षणिक विधान का सम्यक् ज्ञान रखता हो। इस दृष्टि से वे आलोच्य कवि 'दिनकर' की उपलब्धि से

सन्तुष्ट हैं। इसी प्रकार शिवचन्द्र यह भी मानते हैं कि वही कवि कविता को स्वतन्त्र मार्ग दे सकता है जो चिंतक भी हो, जो दिनकर हैं।

'काव्य में व्याकरण के बंधन' शीर्षक दूसरे अध्याय में शिवचन्द्र ने एक महत्त्वपूर्ण काव्यांग का शास्त्रीय विवेचन किया है। जहाँ वे मानते हैं कि कवि निरंकुश हो सकता है और इससे उसकी कला की श्रीवृद्धि भी हो सकती है, वहीं वे 'शिंजन-नाद' जैसे प्रयोगों की अवांछनीयता का भी निर्देश करते हैं। लेखक का यह निष्कर्ष युक्तियुक्त ही है कि दिनकर के काव्य में ऐसे चित्य प्रयोग हैं अवश्य किन्तु अपवाद स्वरूप ही।

पुस्तक का तीसरा अध्याय लेखक के विस्तृत और तुलनात्मक अध्ययन का प्रमाण है। इस अध्याय में उसने 'दिनकर' पर पड़ने वाले साहित्यिक प्रभावों की पड़ताल की है जिसके बिना कवि की कविताओं के, पाठक के द्वारा पुर्ननिर्माण में, कठिनता उपस्थित होती रहती है। शिवचन्द्र ने दिखाया है कि 'दिनकर' की काव्य-कला किन पाश्चात्य और भारतीय कवियों और विचारकों से प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित हुई है। लेखक के विचारानुसार शेक्सपियर, मिल्टन, शेली, क्रिश्चना रॉजेटी, इकबाल और नजरुल इस्लाम का और हिन्दी के समकालीन कवियों में माखनलाल चतुर्वेदी का 'दिनकर' पर प्रभाव है। स्वर्गीय काशी प्रसाद जायसवाल और राहुल सांकृत्यायन के इतिहास-चिंतन का गहरा प्रभाव भी उसे 'दिनकर' के काव्य में दीख पड़ता है। शिवचन्द्र ने अपने कथन को सर्वत्र उदाहृत किया है और निष्कर्ष को प्रमाणित।

चतुर्थ अध्याय में विवेच्य विषय है 'प्रगतिवाद और दिनकर'। 'दिनकर' में राष्ट्रीय भावना सामर्थ्य के साथ अभिव्यक्त हुई है किन्तु राजनीति-विशेष से परिचालित विचार-प्रणाली नहीं। 'हुंकार' की कविताओं में शिवचन्द्र वैसा सामाजिक दृष्टिकोण भी पाते हैं जो तथा-कथित प्रगतिवाद के भी अनुरूप है।

गांधीवाद का 'दिनकर' के काव्य पर किस हद तक प्रभाव पड़ा है, इस सम्बन्ध में शिवचन्द्र ने पाँचवें अध्याय में विचार किया है। वे 'दिनकर' को मुख्यतः क्रांति का कवि मानते हैं, पर इसके साथ ही साथ, वे अहिंसा के गांधीवादी सिद्धांतों का प्रभाव भी स्वीकार करते हैं और इसके प्रमाणस्वरूप 'बापू' शीर्षक कवि की प्रसिद्ध काव्य-कृति का उल्लेख करते हैं।

छठे अध्याय में शिवचन्द्र ने सामान्यतः हिन्दी कवियों की और विशेषतः 'दिनकर' की काव्यगत शब्द-योजना पर सविस्तर विचार किया है। इस क्षेत्र में वे 'दिनकर' को मैथिलीशरण गुप्त का समानधर्मा मानते हैं।

सातवें अध्याय में शैली और शब्द सम्बन्धी विशेषताओं का निरूपण करते हुए शिवचन्द्र ने दिखाया है कि प्रासादिकता और ओजस्विता 'दिनकर' की काव्य-शैली के मुख्य गुण हैं। 'दिनकर' ने अपने कुछ छन्दों को उर्दू बहरों के साँचों में ढाला है और इस

प्रकार मौलिक स्वरूप-विधान संभव कर दिखाया है––लेखक ने इसका भी प्रतिपादन किया है ।

आठवें अध्याय में शिवचन्द्र ने कुरुक्षेत्र के षष्ठ सर्ग का विश्लेषण किया है। प्रारंभ में जहाँ 'दिनकर' जी जीवन की क्षणभंगुरता पर आँसू बहाते थे वहीं कुरुक्षेत्र में वे जीवन को मरण से अधिक शक्तिशाली मानने लगे हैं। लेखक की दृष्टि में कुरुक्षेत्र का सर्वश्रेष्ठ सर्ग है षष्ठ सर्ग क्योंकि वह जीवन के प्रति आस्था का प्रतीक बन सका है।

अगले अध्यायों में रसवंती, सामधेनी आदि 'दिनकर' के काव्य-संग्रहों के सारगर्भित विवेचन हैं। अंतिम अध्याय में गद्य-लेखक 'दिनकर' के 'मिट्टी की ओर' में संकलित साहित्यिक निबन्धों की आलोचना प्रस्तुत की गयी है।

मैंने अभी-अभी शिवचन्द्र की पुस्तक का जो विवरण उपस्थित किया है उससे उसकी विशदता और प्रामाणिकता का पर्याप्त आभास मिल सका होगा। 'दिनकर' के काव्य के अध्ययन के लिये यह पुस्तक अनिवार्य सिद्ध होगी, ऐसी मेरी धारणा है।

(आल इंडिया रेडियो के सौजन्य से)

———०———

कला की परख

सौन्दर्य के जिन उपादानों से कला की सृष्टि होती है वे बाह्य-चर्म-चक्षुगम्य प्रकृति में भी हैं और मानव की अन्तः प्रकृति में भी। जब हृदयास्था सौन्दर्यानुभूति प्रकृति के बाहरी साधनों का आलम्बन लेकर बहिरुन्मुखी होती है तभी कला का जन्म होता है। कलाकार के अंतर का सौन्दर्य लोकोन्मुखी होता हुआ जब लौकिक उपकरणों की कुरूपता को नष्ट कर उन्हें हृद्य और अनवद्य-रूप में उपस्थित करने के लिए सचेष्ट होता है तभी विभिन्न प्रकार की कलाकृतियाँ अपने अस्तित्व में आती हैं। यह कला सहृदय-हृदयास्था आनन्दराशि की बाह्याभिव्यक्ति है। शुद्ध तथा सूक्ष्म सत्य का सुन्दर ढंग से प्रकटीकरण ही कला का लक्ष्य है। कला एक ओर जहाँ से सुन्दर को सुन्दरतम ढंग से उपस्थित करती है वहाँ असुन्दर को भी ऐसा रूप देती है जिससे वह भी उपेक्षणीय नहीं रह जाता। कलाकार की मर्म-भेदिनी दृष्टि केवल बाह्य तक ही अवरुद्ध नहीं रहती, अपितु वह वहाँ पैठती है जहाँ सत्य, शिव और सुन्दर के अतिरिक्त कुछ नहीं होता। अतः कला की मुख्य वस्तु सौन्दर्य है। लौकिक उपकरणों में समासीन कलाकार की वेगवती सौन्दर्यानुभूति ही कला है। इस प्रकार कला सौन्दर्योद्भवा है, सौन्दर्यमयी है। कला न कुरूप हो सकती है, न किसी प्रकार की कुरूपता का प्रचार कर सकती है। आचार्य मम्मट ने कवि भारती का जयजयकार करते हुए उसे 'ह्लादैकमयी' बताया है।

—श्री रत्नेश भट्ट (सम्मेलन-पत्रिका, प्रयाग; चैत्र, २००८ ई०)

साहित्य-सम्मेलन के अनुशीलन-विभाग का संग्रहालय

बिहार-हिन्दी-साहित्य सम्मेलन के अनुशीलन-विभाग में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं दुर्लभ ग्रन्थों का संग्रह किया गया है तथा यथाशक्ति किया जा रहा है। प्राचीन हस्तलिखित पोथियों के सिवा पुरानी छपी हुई अलभ्य पुस्तकों के संग्रह पर विशेष ध्यान रखा जाता है। यदि हिन्दीप्रेमी सज्जनों के पास ऐसी चीजें हों तो वे कृपया सम्मेलन-संग्रहालय में देने की कृपा करें। ऐसे उदारहृदय दाताओं की नामावली 'साहित्य' में क्रमशः प्रकाशित कर दी जायगी। उनके नाम से वह चीज सदा सुरक्षित रहेगी।

इस संग्रहालय में साहित्यिकों की चिट्ठियों और पाण्डुलिपियों का भी संग्रह किया गया है और वह संग्रह दिन-दिन बढ़ रहा है। उसमें साहित्यिकों के स्मृति-चिह्नों का भी संग्रह होता जा रहा है। बहुत-से स्वर्गीय साहित्यिकों के स्मृति-चिह्न संगृहीत हो चुके हैं। यथा--पं० जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी, पं० जनार्दन झा 'जनसीदन', राय साहब लक्ष्मीनारायण लाल, बाबू कमला प्रसाद मुख्तार, प्रोफेसर अक्षयवट मिश्र, बाबू रामधारी प्रसाद आदि। अभी अनेक स्वर्गीय साहित्यसेवियों के स्मृति-चिह्न नहीं प्राप्त हुए हैं। अतएव हिन्दीप्रेमियों से विशेष अनुरोध है कि वे अपने परिवार, गाँव या पड़ोस के प्रतिष्ठित स्वर्गीय साहित्यसेवियों के स्मृति-चिह्नों का संग्रह करके सम्मेलन-संग्रहालय में भेजने की कृपा करें। स्मृति--चिह्न के रूप में कोई भी ऐसी चीज भेजी जा सकती है जिससे स्वर्गीय साहित्यिक के शरीर और जीवन का घनिष्ठ सम्बन्ध रहा हो। यथा--- वस्त्र, लेख, पत्र, चश्मा, कलम, चित्र, नोट-बुक, डायरी आदि। भेजने वाले सज्जन भी जब चाहेंगे तब ऐसी चीजों को देख सकेंगे और उनसे यथोचित लाभ उठा सकेंगे।

आशा है कि हिन्दीप्रेमियों की सहायता से कुछ ही दिनों में सम्मेलन-संग्रहालय बिहार का एक गौरवपूर्ण दर्शनीय तीर्थस्थल बन जायगा तथा साहित्यिक अनुसन्धान के कार्यों में भी सहायता पहुँचा सकेगा।

उपर्युक्त सामग्रियाँ भेजने वाले महानुभावों के नाम सादर 'साहित्य' में प्रकाशित किये जायेंगे और संग्रहालय में भी यथास्थान उनका उल्लेख रहेगा।

--मंत्री, अनुशीलन-विभाग

बिहारी कलाकारों से अपील

बिहार के कवि, कथाकार, नाटककार, निबंधलेखक, चित्रकार, संगीतज्ञ, नृत्यकार आदि के परिचय तथा उनकी कृतियों के विवरण का कोई प्रामाणिक ग्रंथ अबतक नहीं तैयार किया गया है। अनन्तकाल से इस प्रान्त में कला-साधना की अविच्छिन्न धारा प्रवहमान रही है। किंतु कलाकारों की जीवनी लिखने की प्रथा न रहने के कारण दो-चार को छोड़कर सब विस्मृति के गर्भ में विलीन हो गये। यदि यही परिपाटी रही तो आज के कलाकारों की भी यही गति होगी। अतः हम लोगों ने "बिहार के नये कलाकार" के नाम से ग्रंथमाला निकालने का निश्चय किया है। ग्रंथमाला की पहली पुस्तक कवियों के सम्बन्ध में होगी। सीमित साधन होने के कारण हम लोग अपने ग्रंथ में उन्हीं कलाकारों को सम्मिलित कर सकेंगे जो आज हमारे बीच वर्त्तमान हैं। यदि इस कार्य में हम सफल रहे तो "अतीत के कलाकार," के नाम से एक और ग्रंथमाला प्रकाशित करेंगे, जिसमें सभी स्वर्गीय कलाकारों का परिचय रहेगा।

"बिहार के नये कलाकार" ग्रंथमाला के प्रथम पुष्प में कवियों के जीवन तथा ग्रंथों का परिचय रहेगा। यह पुस्तक तीन खण्डों में विभाजित रहेगी। पहले खंड में ऐसे कवि रहेंगे जो ब्रजभाषा या पुराने छंदों में रचना करते हैं। दूसरे खंड में नयी शैली के लब्ध-प्रतिष्ठ कवियों को रखा जायगा। अंतिम खंड में होनहार तथा प्रयोगवादी कवियों का स्थान रहेगा। प्रत्येक खंड में कवियों को अक्षरानुक्रम से रखा जायगा। यह प्रणाली इसलिए अपनायी गयी है कि कवियों की महत्ता के विषय में कोई विवाद न खड़ा हो। हमने जो काम ठाना है उसमें आलोचना, विशेषतः, निर्णयात्मक आलोचना की कोई गुंजाइश नहीं है।

हम लोगों ने इस कार्य का श्रीगणेश कर दिया है। पहले हम साहित्यिक संस्थाओं, गण्यमान्य साहित्यिकों और अध्यापकों के पास पत्र लिख रहे हैं। उनसे हम निवेदन करेंगे कि वे अपने क्षेत्र के कवियों को, अपने जीवन तथा अपनी कृतियों के विषय में विवरण भेजने के लिए, प्रेरित करें। इससे हमें कवियों की सूची तैयार करने में सहायता मिलेगी। जिन कवियों के नाम हमें मालूम हैं उनके पास हम अपनी ओर से प्रश्नावली भेज देंगे। प्रश्नावली भेजने का उद्देश्य यह है कि पुस्तक 'इंटरव्यू' शैली में तैयार हो सके। प्रश्नावली के विषय निम्नलिखित हैं:—(१) नाम, जन्म, जन्मस्थान, शिक्षा और वृत्ति; (२) रचना के प्रारंभ का समय, (३) कब और किन पत्रिकाओं में रचनाएँ प्रकाशित हुई हैं; (४) प्रकाशित, अप्रकाशित ग्रंथ, (५) ग्रंथों का भावात्मक विवरण, (६) (६) साहित्यिक प्रभाव जो कवि पर पड़े हैं, (७) पुस्तकों, व्यक्तिगत अथवा सामाजिक घटनाओं तथा व्यक्तित्वों का प्रभाव, (८) साहित्यिक सिद्धांत और मान्यताएँ, (९) रचना की प्रेरणा के स्रोत, (१०) अपनी रचनाओं की उन विशेषताओं का उल्लेख जिन्हें कवि उल्लेखनीय मानता है, (११) हिंदी-साहित्य की प्रगति के संबंध में कवि के विचार, (१२) कवि के साहित्यिक जीवन से संबद्ध मनोरंजक तथा अन्य महत्वपूर्ण घटनाएँ, (१३) आदतें, रुचि, लिखने के समय किसी प्रकार का वातावरण आवश्यक समझते हैं? आदि, (१४) भावी कार्यक्रम।

हमारे पास पत्र आने लगे हैं। कवि अपने विषय में जितना शीघ्र विवरण भेजेंगे, उतनी जल्द ग्रंथ प्रकाशित हो सकेगा। अतः जिन कवियों ने अपने विषय में अभीतक विवरण नहीं भेजा है, वे निम्नलिखित पते से शीघ्र पत्राचार करें:—

—सत्यदेव और दीनानाथ, मुहल्ला, पुरंदरपुर, पटना-४
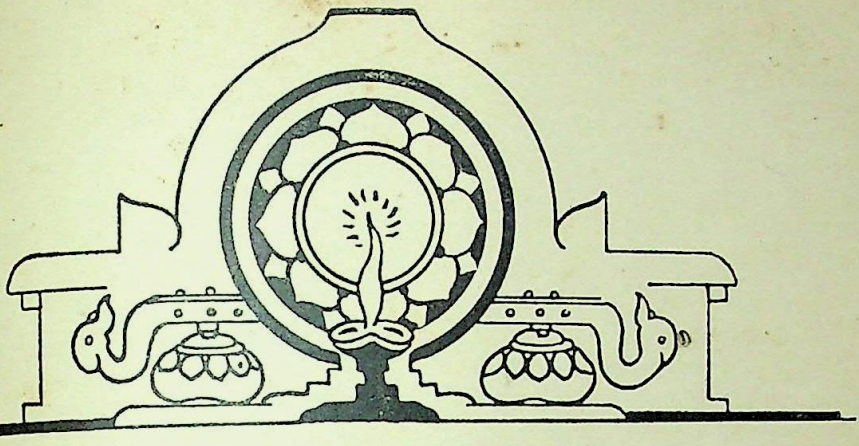
साहित्य

बिहार-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का त्रैमासिक मुखपत्र

वर्ष २ | पौष, संवत् २००८; जनवरी, १९५२ ई० | अंक ४

सम्पादक

शिवपूजन सहाय : नलिनविलोचन शर्मा

अनुक्रम

वार्षिक मूल्य ७)] [एक प्रति का २)

ग्राहकों और वाचकों से

यह 'साहित्य' का, दूसरे वर्ष का, चौथा अंक है। तीसरे वर्ष का पहला अंक प्रेस में है और दूसरे अंक की सामग्री भी तैयार है। हम प्रयत्न कर रहे हैं कि अगस्त में दोनों अंक आपकी सेवा में पहुँचा दें। बात असल यह है कि आर्थिक कठिनाइयों के कारण 'साहित्य' का प्रकाशन नियमित रूप से नहीं हो पाता। साथ ही, छपाई की शुद्धता पर विशेष ध्यान रखने के कारण उसके प्रकाशन में स्वभावतः विलम्ब हो जाता है। लेखों के संग्रह में भी काफी समय लगता है; क्योंकि सम्मेलन अभी तक 'साहित्य' के विद्वान् लेखकों को किसी प्रकार का पुरस्कार देने योग्य स्थिति में नहीं है। इतनी बाधाओं के रहते हुए भी हम 'साहित्य' के प्रकाशन के लिए कृतसंकल्प हैं। आशा है, आप हमारी कठिनाइयों पर ध्यान रखकर हमारी त्रुटियों के लिए क्षमा करेंगे।

जब से बिहार सरकार का शिक्षा-विभाग, बिहार के पुस्तकालयों के लिए, प्रतिवर्ष 'साहित्य' की पाँच सौ प्रतियाँ खरीदने लगा है, तब से 'साहित्य' के प्रकाशन में नियमितता और दृढ़ता आती जा रही है। बिहार राज्य की सरकार ने 'साहित्य' को अपनाकर यद्यपि अपने कर्त्तव्य का एक अंश ही पूरा किया है तथापि हम उसके कृतज्ञ हैं। हम आशा करते हैं कि अगले साल से हमारी सरकार इसकी कम-से-कम एक हजार प्रतियाँ खरीदेगी, जिससे सम्मेलन इसके प्रकाशन का व्यय-भार उठाने में समर्थ हो सकेगा।

हम अपने माननीय शिक्षा-मंत्री श्रद्धेय आचार्य बदरीनाथ वर्मा और श्रीमान् शिक्षा-सचिव श्री जगदीशचन्द्र माथुर की सहृदयता एवं उदारता में आस्था रखकर उनसे विशेष अनुरोध करते हैं कि जिस प्रकार वे सम्मेलन पर कृपादृष्टि रखते आये हैं उसी प्रकार वे 'साहित्य' पर भी बराबर कृपादृष्टि रखेंगे, जिससे हम इसके द्वारा साहित्यानुरागी पाठकों की सेवा बराबर कर सकें।

हमें बड़े खेद के साथ कहना पड़ता है कि सम्मेलन की स्थायी समिति के मान्य सदस्य 'साहित्य' पर यथोचित कृपादृष्टि नहीं रखते। उनमें से अधिकांश सज्जन इसके ग्राहक नहीं हैं। सम्मेलन से संबद्ध बहुत-सी संस्थाएँ और सम्मेलन के हितैषी अनेक साहित्यानुरागी सज्जन भी इसके ग्राहक नहीं हैं। यदि ये सभी महानुभाव 'साहित्य' के स्वयं भी ग्राहक बनकर दूसरों को भी ग्राहक बनाने की चेष्टा करते तो सम्मेलन का भार बहुत हल्का हो जाता। प्रत्येक ग्राहक और पाठक यदि एक-एक ग्राहक भी बनाने की कृपा कर दें तो 'साहित्य' का प्रकाशन सुविधा के साथ हो सकता है।

'साहित्य' में जो पाठ्य-सामग्री दी जाती है उसकी उत्कृष्टता और उपयोगिता से हमारा वाचकवृन्द भलीभाँति परिचित है। वास्तव में यदि आर्थिक संकट न होता तो हम 'साहित्य' को और भी सुन्दर तथा आकर्षक बनाने का प्रयत्न करते। किन्तु जिस तरह की ठोस सामग्री इसमें दी जाती है उसमें पाठकों की अरुचि और उनकी उदासीनता देखकर हम अधिकाधिक उत्साहित होते जाते हैं; क्योंकि सम्मेलन ने हिन्दी-पाठकों में सुरुचिपूर्ण गंभीर साहित्य के अध्ययन और मनन की प्रवृत्ति पैदा करने के लिए ही 'साहित्य' के प्रकाशन का संकल्प किया है और हमें विश्वास है कि इस संकल्प की पूर्ति में हमारे पाठक अवश्य सहायक होंगे।

ब्रजशंकर वर्मा
(प्रधान-मंत्री)
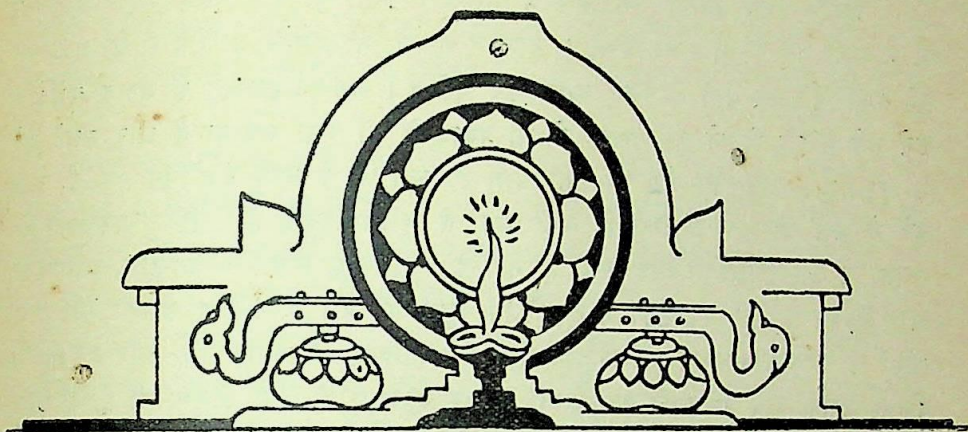
वर्ष २ | पौष, संवत् २००८; जनवरी, १९५२ ई० | अंक ४

संपादकीय

लेखक-प्रकाशक-सम्बन्ध

हिन्दी संसार में इस बात की आम शिकायत है कि लेखकों और प्रकाशकों का पारस्परिक सम्बन्ध अच्छा न रहने से हिन्दी-साहित्य की यथेष्ट प्रगति नहीं हो पाती। इस शिकायत में सचाई-झुठाई का अंश कितना-कितना है, इसका पता तो ठीक-ठीक तभी लग सकता है जब मुख्य-मुख्य लेखक और प्रकाशक अपने साहित्यिक संस्मरण लिख डालें। प्रकाशक तो शायद कोई लिखने पर राजी होगा ही नहीं; लेखक को भी हिचक और शंका होगी। कारण, इस युग में सत्य का मुँह सोने से बन्द कर दिया जाता है। लेखक अपनी विपता लिखेगा, प्रकाशक झट मानहानि का लक्ष्यवेधी बाण संधानेगा। हाँ, कवि और कथाकार चाहें तो इस विषय पर स्वाभाविक कविताएँ और कहानियाँ लिख सकते हैं। इस विषय के उपन्यास भी बड़े रोचक होंगे। ऐसी रचनाओं को प्रकाशित करनेवाले कुछ उदार प्रकाशक हिन्दी जगत् में हैं भी।

हिन्दी जगत् अथवा जगतीतल में भले-बुरे सर्वत्र ही हैं। लेखकों और प्रकाशकों में न सभी बुरे हैं, न सभी अच्छे। बहुत-से लेखक महानुभाव भी ऐसे हैं जो प्रकाशकों को मट्ठा फूँककर पीने के लिए बाध्य कर चुके हैं। अगर प्रकाशकों से लेखक चूसे और ठगे गये हैं तो कितने ही लेखकों ने भी प्रकाशकों को चूना लगाया है और उलटे छुरे से मूँड़ा है। कहीं-कहीं जैसे को तैसा मिला है, कहीं जौ के साथ घुन पिस गया है, कहीं बुरे ने भले की राह बिगाड़ी है, कहीं दोनों ने लुटिया डुबोई है। किन्तु प्रकाशकों की तुलना में तो लेखकों की कोई हस्ती ही नहीं है। अधिकांश लेखक साधन-हीन, अभावग्रस्त और निर्धन हैं, पर प्रकाशकों में टुटपुँजिया बहुत कम हैं। यदि आज लेखकों और प्रकाशकों में परस्पर सहयोग एवं सद्भाव होता तो साहित्य की प्रगति कुछ और ही होती। किन्तु लेखक यदि प्रकाशकों की सहानुभूति एवं सहायता के लिए उत्सुक भी हैं, तो अधिकांश प्रकाशकों के व्यवहार-बर्ताव में कोई आकर्षण नहीं दीख पड़ता। इससे साहित्य के विकासक्रम में बहुत बाधा पड़ रही है। साथ ही, लेखकों के असंतोष से प्रकाशकों की भी यथेष्ट उन्नति नहीं हो पाती।

रायल्टी की प्रथा को सुव्यवस्थित एवं विश्वसनीय ढंग से चलाने का श्रेय इने-गिने प्रकाशकों ने ही प्राप्त किया है। अधिकांश प्रकाशक इस प्रथा का पालन अथवा निर्वाह समुचित रीति से नहीं कर पाते। वे स्वेच्छानुसार एक मुश्त रकम चुकाकर कापी-राइट ही खरीद लेते हैं। इससे लेखकों को किसी प्रकार का स्थायी लाभ नहीं होता। कितने ही लेखकों की रचनाएँ सस्ते दाम में खरीदकर प्रकाशक काफी पैसे बना लेते हैं; पर वे फिर कभी लेखक की ओर फूटी निगाह से भी नहीं देखते। इस तरह न साहित्य पनप सकता है और न प्रकाशकों की बरकत हो सकती है। लेखक और प्रकाशक आपस की ईमानदारी से ही साहित्य को समृद्ध कर सकते हैं। लेखक यदि प्रकाशक को धोखा देंगे तो साहित्य से कमाया हुआ पैसा कभी न रसेगा। यही हाल धोखेबाज प्रकाशक का भी होगा। लेकिन दोनों की दयानतदारी कुछ ही दिनों में रंग लायेगी। सवाल सिर्फ अभ्यास का है। सचाई के व्यवहार का अभ्यास शुरू में कष्टकर भले ही प्रतीत हो, पर अन्त में वह जौहर दिखाती ही है। हमारे लेखक और प्रकाशक यदि अब भी चेतते और हार्दिक सहयोग के भाव से साहित्य के नवनिर्माण में जुट जाते तो इस समय हिन्दी के बहुत-से अभाव दूर हो जाते। जबतक दोनों परस्पर शंकित और संदिग्धचित्त रहेंगे तबतक अभीष्टसिद्धि की कोई आशा नहीं।

हमारे जो प्रतिनिधि कौंसिलों में हैं वे कभी कापी-राइट के कानून में कोई सुधार करना-कराना नहीं चाहते। उन्हें दुनिया-भर की समस्याएँ सूझती हैं, पर साहित्यकारों की समस्याओं के लिए उनके हृदय में किसी तरह की सहानुभूति नहीं। ऐसी शोचनीय स्थिति में राष्ट्रभाषा हिन्दी के साहित्य का नवनिर्माण जैसा चाहिए वैसा नहीं हो सकता। आज हिन्दी के राजभाषा हो जाने पर भी लेखकों की ऐसी दशा नहीं है कि वे स्वतंत्र या स्वावलम्बी जीवन बिता सकें। पत्र-सम्पादकों के हाथ में कोई आर्थिक अधिकार नहीं और पत्रसंचालकों के मन में लेखकों की वास्तविक दशा की अनुभूति नहीं। कुछ गिने-चुने

लब्धप्रतिष्ठ लेखक आर्थिक पुरस्कार पा जाते हैं, पर बहुतेरे उदीयमान लेखकों को यथोचित प्रोत्साहन नहीं मिलता। इससे उगती हुई पीढ़ी उत्साह के साथ आगे नहीं बढ़ रही। कई प्रतिभाशाली होनहारों को निराश एवं हतोत्साह होकर साहित्यसृष्टि से विरक्त हो जाना पड़ता है।

यद्यपि प्रकाशकों के द्वारा लेखकों के शोषण की और लेखकों से प्रकाशकों के धोखा खाने की कहानियाँ जग-जाहिर हैं तथापि लेखक-प्रकाशक के परस्पर-असहयोग से कभी साहित्य का कल्याण नहीं हो सकता। दोनों में परस्पर-सहयोग की भावना का उदय होना अत्यावश्यक है। किन्तु पहले प्रकाशकों को ही आगे बढ़ाना है, लेखकों का सहयोग उनकी सहृदयता पर ही निर्भर है। यदि प्रकाशक यह समझने लग जायँ कि लेखकों को सद्व्यवहार से अपनाये विना अथवा उन्हें सन्तुष्ट रखे विना हम सदा समृद्ध नहीं रह सकते, तो निश्चय ही लेखक निर्विकार चित्त से उनका साथ देंगे, और तब दोनों की सदाशयता से साहित्य का उत्तरोत्तर अभ्युदय होने लग जायगा। अब वह समय आ गया है कि ये दोनों ही मिलजुलकर हमारे साहित्य के अभावों की पूर्त्ति में सम्मिलित शक्ति से दत्तचित्त हों। तथास्तु।

—शिव०

बिहार के प्रकाशकों का साहस

बिहार-सरकार ने बिहार-राज्य के सार्वजनिक पुस्तकालयों को हर साल नई-नई हिन्दी-पुस्तकें और पत्रिकाएँ देने की योजना बनाई है। वह दो-ढाई साल से कार्यान्वित हो रही है। पुस्तकालयों को मनचाही पुस्तकें और पत्रिकाएँ मिल रही हैं। नये साहित्य से पाठकों का परिचय धीरे-धीरे बढ़ रहा है। प्रकाशक भी उत्साहित हो रहे हैं, वे पाठ्यपुस्तकों के साथ-साथ सब तरह की साहित्यिक पुस्तकें भी निकाल रहे हैं। कई समर्थ प्रकाशकों ने बहुत अधिक धन लगाकर अच्छी-अच्छी पुस्तकें प्रकाशित की हैं। सरकार से प्रोत्साहन पाने की आशा पर वे सराहनीय साहस का परिचय दे रहे हैं। बिहार के लेखकों और कलाकारों को विश्वास हो रहा है कि निकट भविष्य में वे भी कुछ लाभान्वित होंगे। इस अभाव और महँगी के युग में भी प्रकाशकों ने जितना आगे कदम बढ़ाया है उतना भी अगर हर साल बढ़ाते चलें तो हताश या हतोत्साह होने का कोई कारण न रहेगा। बिहार-सरकार को भी अपने राज्य में साहित्यनिर्माण की प्रगति पर ध्यान रखना चाहिए। इधर जो कुछ प्रगति हुई है उसका अधिकांश श्रेय बिहार-राज्य के शिक्षाविभाग को ही है। आशा है कि बिहार के प्रकाशकों का साहस बढ़ने से बिहार के लेखकों को भी प्रोत्साहन प्राप्त होगा।

—शिव०

बिहार के लेखकों का साहस

हिन्दी-संसार के बहुत-से लेखक, प्रकाशकों से असन्तुष्ट होकर, स्वयं ही प्रकाशन-कार्य करने लग गये हैं। देखादेखी बिहार के लेखक भी स्वतंत्र रूप से पुस्तक-प्रकाशन कर रहे हैं। किन्तु ऐसे साहसी लेखकों को बड़ी कठिनाइयाँ झेलनी पड़ती हैं। व्यापारिक

अनुभव न होने क कारण वे अपनी पुस्तकों का यथेष्ट प्रचार नहीं कर पाते। हिन्दी जगत् में, विशेषत: बिहार में, ऐसे विश्वसनीय पुस्तक-विक्रेता भी नहीं हैं जो लेखकों की सभी पुस्तकें अपनी दूकान में रखकर बेचें और तिमाही या छमाही हिसाब चुकाते चलें। लेखकों के पास इतनी पूँजी नहीं कि पुस्तकें छपवाने के खर्च के साथ-साथ विज्ञापन और प्रचार का खर्च भी उठा सकें। अब हिन्दी में कुछ ऐसी सेलिङ्ग एजेन्सियों की जरूरत है जो स्वावलम्बी लेखकों के साथ ईमानदारी से व्यवहार कर सकें। बिहार में या हिन्दी संसार में सभी पुस्तकविक्रेता स्वयं प्रकाशक बन गये हैं। पुस्तक-प्रचारिणी संस्थाएँ एक भी नहीं हैं। इससे लेखकों के स्वतंत्र प्रकाशन-कार्य में बड़ी बाधा पड़ रही है। यदि पुस्तकें बेचने में ही लेखक की शक्तियाँ नष्ट होती रहेंगी तो साहित्य के नवनिर्माण में भी विघ्न होगा। बुक-सेलिङ्ग एजेन्सी इस युग में एक अच्छा व्यवसाय है। इस व्यवसाय की ओर पैसे वालों का ध्यान जाना चाहिए। बिहार के कई उत्साही लेखकों ने बड़े धैर्य और साहस के साथ स्वावलम्बी प्रकाशन की ओर कदम बढ़ाया है, परन्तु अपनी छोटी पूँजी के फँस जाने से वे आर्थिक संकट में पड़कर साहित्य-निर्माण के उद्योग में शिथिल हो जाते हैं। यदि लेखकों में संगठन-बल होता तो वे भी सामूहिक शक्ति से अपनी पुस्तकों के प्रचार की व्यवस्था कर सकते थे। किन्तु उनमें ऐसी संघशक्ति नहीं दीख पड़ती और पुस्तक-विक्रेताओं के मन में लेखकों के प्रति थोड़ी भी सहानुभूति नहीं है। फिर भी हमारे कुछ साहित्यकारों ने बिहार-सरकार की लाइब्रेरी-स्कीम पर भरोसा करके सराहनीय साहस प्रदर्शित किया है। ऐसे अध्यवसायी लेखकों को आश्रय एवं उत्तेजन देने पर हमारी सरकार का भी ध्यान है। हाँ, जो लेखक लाभ-लोभ-वश प्रकाशक बनकर अपनी पूर्वावस्था भूल जाते हैं और अपने ही भाई-बन्धुओं के साथ दुर्व्यवहार करने लगते हैं उनके प्रति किसी की सहानुभूति नहीं रह सकती। —शिव०

हिंदी पर कृपा-भावना

हिंदी-प्रेमी भाषा संबंधी साम्राज्य-विस्तार की भावना मन में न रखें, यह नेक सलाह उन्हें अक्सर ही महनीय लोग देते रहते हैं और देते थकते नहीं। यदि किसी हिंदी-भाषी के मन में ऐसी भावना हो तो वह हिंदी का प्रेमी और हितैषी अवश्य नहीं कहा जा सकता। हम ऐसी भावना की निंदा करते हैं। साथ ही हमें विश्वास है कि ऐसी भावना रखने वाले अपवाद ही हैं, नियम नहीं। इने-गिने लोगों की दूषित मनोवृत्ति हिंदी-भाषा-भाषी मात्र की मनोवृत्ति नहीं मानी जानी चाहिए।

लेकिन हम उनसे भी कुछ निवेदन करना चाहेंगे जो हिंदी की राष्ट्र-भाषा के रूप में वैधानिक स्वीकृति का मौखिक समर्थन कर उस पर अपनी कृपा-भावना दरसाते हैं, उसके साहित्य के बारे में प्राय: कुछ न जानते हुए भी उसे अपने विकास के लिए प्रयास करने का बहुमूल्य सुझाव देते रहते हैं। कुछ दिनों पहले कलकत्ते में एक ऐसा भाषण एक महत्त्वपूर्ण व्यक्ति ने दिया था। उसका विवरण समाचार-पत्रों में प्रकाशित हुआ था। आप में से बहुतों का ध्यान उसने आकृष्ट किया होगा। यह और ऐसे-ऐसे भाषण आए-

दिन हिंदी की हीनता, उसके कर्त्तव्य और भाषण देने वालों की कृपा-भावना का स्मरण दिलाते रहते हैं। हिंदी के प्रेमी अवश्य ही नत-शिर हो कर उनका आभार स्वीकार करेंगे।

हमें उनके तथ्य-निरूपण के संबंध में कुछ भी नहीं कहना है। अंग्रेजी की तुलना में हिंदी भी, दूसरी भारतीय भाषाओं की तरह ही, हीन और अपूर्ण है। हिंदी के लेखक और बोलने वाले इसे सबसे पहले स्वीकार करते हैं, क्योंकि उन्हें अपनी भाषा और साहित्य के विषय में मिथ्या धारणाएँ नहीं हैं। किंतु इस आधार पर अब यह भी कहा जाने लगा है कि भावी दस वर्षों में हिंदी अंग्रेजी को अपदस्थ नहीं कर सकेगी, उसे अपने को इस योग्य बनाने में समय लगेगा, उसके हितैषियों को इसी के लिए सचेष्ट होना चाहिए!

अंग्रेज जब तक हमें हमारा अधिकार नहीं देना चाहते थे तब तक यही कहा करते थ कि भारत के निवासियों को अभी इसके योग्य बनना पड़ेगा। अयोग्यता की बात गलत भी नहीं थी। क्या हम आज भी अपने अधिकारों की वास्तविक योग्यता रखने का दावा कर सकते हैं? सकते हैं। पर, जैसा महात्मा गाँधी ने कहा था, हमें अपने कार्यों की व्यवस्था करने का हक था—व्यवस्था न कर सकें तो अव्यवस्था करने का! इसमें दुराग्रह नहीं था। व्यवस्था कर लेना एक दिन में कोई नहीं सीख सकता। अव्यवस्था करते-करते व्यवस्था करने का गुर हाथ लगता है। हम राजनीति के क्षेत्र में इसी प्रणाली से अपने को योग्य, योग्यतर बनाते जा रहे हैं; हम योग्य हैं, ऐसा कहना हमारा मिथ्याभिमान ही होगा।

यदि अंग्रेज शासक गए और हम-आप जैसे लोग शासन कर रहे हैं, अंग्रेज पदाधिकारी और विशेषज्ञ चले गए और हम गलतियाँ करते हैं, असफल होते हैं पर काम चला रहे हैं, और एक दिन कुशलतापूर्वक काम करने भी लगेंगे, तो अंग्रेजी के हट जाने से देश पर आफत का पहाड़ टूट पड़ेगा, शासन-कार्य बंद हो जाएगा इत्यादि कहने वाले क्या अपनी बातों में ही आस्था रखते हैं? कुछ विदेशी विशेषज्ञ, कुछेक सामरिक पदाधिकारी, थोड़ी विदेशी पूँजी आज भी देश के लिए अनिवार्य हैं। यदि उनसे हमारा लाभ हो सकता है और वे हम पर छा नहीं जाते तो किसी को क्या आपत्ति हो सकती है? इसी प्रकार हिंदी अंग्रेजी आदि दूसरी विदेशी भाषाओं से आवश्यकतानुसार और साधिकार बहुत कुछ लेती रहेगी और विकसित होती जाएगी। आज भी इस दिशा में वह सचेष्ट है, किंतु आज उसकी स्थिति वही है जो पराधीन भारत की राजनीति की स्थिति थी। पूर्ण अधिकार प्राप्त कर लेने के बाद उसकी हैसियत वह होगी जो स्वतंत्र भारत की राजनीति की है। तब वह केवल लेगी ही नहीं, तब वह दूसरों को अविलंब बहुत कुछ देने की स्थिति में भी अपने को पाएगी।

हम ऐसा मानने का कोई कारण नहीं देखते कि हमारी भाषा संबंधी योग्यता हमारी राजनीतिक योग्यता से किसी तरह कम है!

—न० वि० श०

भाषाभिमान

मनुष्य को अपने ऊपर अभिमान होना चाहिए ; पर फिर भी हम क्या कह सकते हैं कि उसे अभिमानी बनना चाहिए ? इसी प्रकार मनुष्य को अपने देश पर, अपनी संस्कृति और सभ्यता पर, अपने अतीत और वर्त्तमान पर, यदि वे सचमुच गौरवपूर्ण हों तब, अभिमान करना ही चाहिए। चूँकि कोई वस्तु अपनी है इसीलिए उस पर अभिमान भी करना चाहिए यह स्पृहणीय मनोवृत्ति नहीं कही जा सकती। हाँ, उसे हम इस लायक बनाने का प्रयास कर सकते हैं कि उस पर अभिमान किया जा सके।

व्यक्तिगत और सार्वजनिक उन्नति की प्रक्रिया कुछ है भी ऐसी कि हम अपनी चीजों पर अभिमान करना चाहते हैं अतः उन्हें इस लायक बनाने की कोशिश करते हैं, और चूँकि हमारी अपनी चीजें अभिमान के योग्य हैं इसलिए हम अपने को उनके लायक बनाते हैं। और इस तरह विकास की शृंखला अविच्छिन्न और दृढ़ बनी रहती है। इस प्रक्रिया में जहाँ बाधा पहुँची वहीं किसी देश का इतिहास, साहित्य, कला या राजनीति दलदल में फँस जाती है।

आधुनिक काल में हमारे देश के निवासियों में अपने अतीत के अनुरूप योग्यता का अभाव था। वे इसके लिए प्रयत्नशील नहीं रहे, जिसके फलस्वरूप देश का जीवन गतिहीन हो गया। अब यह आवश्यक नहीं कि हम अपने हृदय में अभिमान का भाव प्रदीप्त करें, जरूरत इस बात की है कि हम अपने को अपनी वस्तुओं और उपलब्धियों के योग्य बनाएँ। यदि हम अपनी हीनता का निवारण निराधार अभिमान से करना चाहेंगे तो हम जिस दलदल में फँसे हुए हैं उसमें धँसते ही चले जाएँगे।

यह मनोवृत्ति किस प्रकार पनप रही है और इसे किस तरह देश के बौद्धिक नेताओं का प्रोत्साहन प्राप्त हो रहा है, इसका, राष्ट्रीय जीवन के एक क्षेत्र से ही, उदाहरण देना पर्याप्त होगा।

हमारे देश के एक अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति-प्राप्त भाषा-शास्त्री का यह सिद्धान्त है कि जिस प्रदेश के निवासियों को, और बातों के अतिरिक्त, अपनी भाषा पर अभिमान भी हो, उनकी भाषा का स्वतंत्र अस्तित्व दूसरों को मानना ही पड़ेगा। अपनी भाषा से प्रेम करना और उस पर अभिमान करना स्वाभाविक और श्लाघनीय प्रवृत्ति है। यदि अपनी भाषा सचमुच अभिमान के योग्य है, और हम अपने को उसके अनुरूप पाते हैं, तब तो अभिमान स्वाभाविक ही नहीं उचित भी है। किन्तु इस सिद्धान्त और इस अभिमान की भावना को उत्तेजना देने वाली प्रेरणा का रूप क्या है?

कुछ लोगों के लिए यह आज भी असह्य हो रहा है कि हिंदी राजभाषा एवं राष्ट्र-भाषा के पद पर आसीन रहे। दूसरी प्रांतीय भाषाओं की तुलना में यदि हिन्दी अपनी कुछ हीनताएँ कुबूल करती है तो उसकी कुछ विशेषताएँ भी हैं जिन्हें अहिन्दी भाषी, यदि वे उदार दृष्टिकोण रखनेवाले हैं, मुक्त-कण्ठ से स्वीकार करते

हैं। इन्हीं विशेषताओं क कारण हिन्दी को वह सम्मान मिला भी है जिसके लिये वह दावेदार थी।

दुर्भाग्य से हिंदी की प्रतिवेशी भाषाओं के, और विशेष रूप से एक खास भाषा के, विद्वान् हिंदी का विरोध करते रहे हैं और आज भी, तनिक दूसरे ढंग से, कर रहे हैं। राजनीतिक दृष्टि से आज देश के भिन्न-भिन्न टुकड़े एक सुसंगठित राष्ट्र का दृढ़ रूप पा चुके हैं। कुछ लोगों को, और वे बिलकुल अपने ही हैं, यह अभिप्रेत नहीं और वे घोर संकीर्णतापूर्ण आचरण के द्वारा इस दुर्लभ राष्ट्रीय उपलब्धि को खतरे में डालने से हिचक नहीं रहे हैं। इसी प्रकार देश को वाणी की जो अमूल्य एकता मिली है, वह भी कुछ लोगों को खटक रही है। राजनीति में जो कुछ हो रहा है उसे हम समझ भी सकते हैं: राजनीति राजनीति ही ठहरी, इस क्षेत्र में अधिकार-लिप्सा से प्रेरित हो कर ऐसे बहुत से कार्य रोज ही किये जाते हैं जिनसे हम क्षुब्ध तो होते हैं पर जिन पर हमें आश्चर्य नहीं करना चाहिये। पर भाषा का क्षेत्र तो विद्वानों की संचरण-भूमि है, क्या यहाँ भी राजनीति की मलिनता संक्रमण करके ही रहेगी!

हाँ, तो हिन्दी का विरोध विधान-परिषद् में हुआ था पर उसका सर्व-स्वीकृत समाधान भी हो गया। राजनीतिज्ञों के सामने यह विवाद उपस्थित हुआ था तो भाषा-शास्त्र के एक अध्येता की हैसियत से हम आशंका के साथ परिस्थिति पर सोचा करते थे। किंतु हमें हर्ष-मिश्रित आश्चर्य हुआ जब हमने देखा कि जिन राजनीतिज्ञों के बारे में हम सदैव कुछ सहम कर ही विचार करते हैं, उन्होंने पर्याप्त उदारता और निष्पक्षता के साथ, सर्वसम्मति से एक न्यायोचित समाधान स्वीकार कर लिया। पर जो लोग ऐसा समझते हैं कि राजनीतिज्ञों की दृष्टि संकीर्ण होती है वे देखें कि विद्वान् किस प्रकार उन्हें इस बात में बहुत दूर पीछे छोड़ सकते हैं। मैं जिस ख्यातनामा भाषा-विशारद की चर्चा कर रहा हूँ, और जिनकी अगाध विद्वत्ता के प्रति मैं किसी दूसरे से अधिक नतमस्तक हूँ, वे ही हिन्दी का विरोध जिस प्रच्छन्न पर सुनिश्चित रीति से कर रहे हैं वह सर्वथा चिन्त्य और अवांछनीय है। इस भाषा-शास्त्री के पास यदि कोई जिज्ञासु हिन्दी में शोध कार्य के लिए जाता है तो उसे यह कह कर हतोत्साह कर दिया जाता है कि हिन्दी में करना ही क्या है। अमुक भाषा में करो और अमुक में, जो वस्तुतः स्वतंत्र अस्तित्व रखने वाली भाषाएँ हैं, भाषा-विज्ञान की दृष्टि से हिन्दी का अस्तित्व भी है! और शोध करनेवाले छात्र को जो भाषाएँ बताई जाती हैं वे साधारणतः ऐसी भाषाएँ हैं जिन्होंने हिंदी की महा-नदी में मिल कर अपने को कृतकृत्य समझा है और देशवासियों की व्यापक कृतज्ञता अर्जित की है।

और सचमुच हिंदी है ही क्या? राजस्थानी अपनी निधि लेकर अलग हो जाए—हिंदी का गौरव-युग, वीर-गाथा-काल समाप्त है। अवधी के अस्तित्व और हिंदी के विनाश के लिए एक रामचरित-मानस ही पर्याप्त है। ब्रज-भाषा के प्रेमी अपनी प्राचीन विभूतियाँ लेकर अलगौझा कर लें, हिंदी काजल-बिंदी पोंछकर बूढ़ी दादी बनी एक कोने में बैठ जायगी।

यह सौभाग्य की बात है कि अवधी या ब्रजभाषा के बड़े-से-बड़े प्रेमी ने ऐसी दुर्भावना नहीं दिखाई है। लेकिन राजस्थान के एक साप्ताहिक पत्र में मैंने कुछ इस तरह की माँग देखी है। भोजपुरी और मगही के अनुरागियों के तो नहीं, किंतु हमारे प्रदेश की एक दूसरी भाषा के कुछ विद्वानों को तो यह भी गवारा नहीं कि हिंदी वाले उनके साहित्य की अमर विभूतियों में दिलचस्पी भी दिखाएँ। इस भाषा के एक परम श्रद्धेय विद्वान् ने हाल में प्रकाशित एक पुस्तक की भूमिका में लिखा है–'यह सौभाग्य की बात है कि अभी तक हमारी भाषा के अमुक लेखक की ओर हिंदी के विद्वानों की दृष्टि नहीं गई है !

भाषा-शास्त्रियों और मनीषियों की इस मनोवृत्ति के बारे में हम क्या कहें ? इसी मनोवृत्ति को देख कर आज हिन्दी के उन विद्वानों को, जो कल तक जनपदीय भाषाओं की पीठ ठोंकने में ही अपनी बुद्धिमत्ता समझते थे, अपने विचारों में परिवर्त्तन करना पड़ा है।

हमें इस बात के लिए सावधान रहना चाहिए कि हम कुछ लोगों की संकीर्णता को वैज्ञानिक तथ्य न मान लें। संकीर्णता शास्त्र का जामा पहन कर भी बहुत दिनों तक सभी को धोखे में नहीं रख सकती।

इस विषय पर हमने यहाँ संकेत मात्र किया है। अन्यत्र विशद रूप से विचार करना सम्भव होगा।

——न० वि० श०

साहित्यिकों के संस्मरण

हिंदी में संस्मरण-साहित्य का अभाव है। इस दिशा में जो थोड़ा-बहुत कार्य हो रहा है उसे प्रोत्साहन मिलना चाहिए। दूसरी ओर, कुछ ऐसे संस्मरण भी प्रकाशित हुए हैं जिन से अच्छा तो यही था कि संस्मरण दिये ही नहीं जाते। 'प्रसाद' जी का ऐसा ही एक संस्मरण कुछ दिनों पूर्व प्रकाशित हुआ था ; इधर स्वर्गीय रामरख सिंह सहगल पर भी एक संस्मरणात्मक लेख निकला है। दोनों संस्मरणों को लेकर पर्याप्त वाद-विवाद हुआ है। हम विशेषतः उनके संबंध में कुछ भी कहना असमीचीन समझते हैं। किंतु हम सिद्धान्ततः ऐसे संस्मरणों को सुरुचिपूर्ण नहीं मान सकते। यदि वीर-पूजा की भावना अवांछनीय है, तो जो उत्तर देने के लिए रह नहीं गए ऐसे लोगों की तथा-कथित गोपनीय बातों का उद्घाटन गर्हित है।

——न० वि० श०

———

शिल्प के विषय में

श्री नलिनीकांत गुप्त

शिल्पी की प्रतिभा जीवन की सृष्टि में निहित है। शिल्पी ने जो वस्तु गढ़ी है वह जीवंत हुई है क्या? उसके रंग ने, उसकी ध्वनि ने, उसके वाक्य ने क्या ऐसी मूर्त्ति पाई है जिसे देख कर दर्शक को कुछ ऐसा लगता है कि यदि उस मूर्त्ति के अंग में छुरी चलाई गई तो रक्त का फव्वारा फूट पड़ेगा? क्या उसे देख कर ऐसा बोध होता है कि जो वस्तु उसने हमें प्रदान की है, वह गढ़ी हुई या बनाई हुई नहीं, वह मानों भगवान की सृष्टि है, विश्व-प्रकृति का अंग है, शिल्पी ने निमित्त मात्र बन कर उसे प्रकाशित भर किया है? जो यवनिका के अन्तराल में था उसे शिल्पी ने केवल घूँघट सरका कर सामने व्यक्त मात्र किया है?

तथापि यह जो जीवन है उसकी नाना धाराएँ हो सकती हैं: अन्तर की, बाहर की, स्थूल की, सूक्ष्म की, ऊपर की, नीचे की, देह-प्राण-मन अथवा अध्यात्म की, यहाँ तक कि देव-दानव-पिशाच-पशु की भी——शिल्पी की दृष्टि से इससे कुछ आता-जाता नहीं। शिल्पी अपने रंगमंच को जहाँ-तहाँ खड़ा कर सकता है, अपने उपकरणों को जहाँ-तहाँ से जुटा सकता है, इस मामले में वह निरंकुश होता है। प्रश्न यही है कि उनमें वह प्राण फूँक सका है कि नहीं? उसके हाथ में जादू की वह लकड़ी है कि नहीं जिसके स्पर्शमात्र से सब कुछ जी उठता है, जाग उठता है: मृतं कंचन बोधयन्ती? यदि है, तो शिल्पी का शिल्प सार्थक है। श्लील अथवा अश्लील, आध्यात्मिक अथवा लौकिक, तात्त्विक अथवा व्यावहारिक——सभी में जीवन रूप से जीवन्त हो कर, प्रस्फुटित हो सकता है।

उपनिषद् के 'तमेव भान्तमनुभाति सर्वं' अथवा कालिदास के 'वसुधालिङ्गितधूसरस्तनी' में दो विभिन्न लोकों की बात का उल्लेख है, तथापि दोनों समान रूप से जीवन्त हैं, प्राणवन्त हैं। कवि दांते जब तात्त्विक बात कहते हैं: In la sua volonta e nostra Pace—'उन्हीं की इच्छा में मेरी शान्ति निहित है', या भेड़िये का भयावह रूप अंकित करके दिखाते हैं:

di tutte brame
Sembiara cerca nella sua magrezza.

'उसकी शीर्णता में मानों संसार भर की क्षुधा पुंजीभूत है'—तो दोनों स्थलों में हम कवि दांते के अपने प्राणसार का संस्पर्श अनुभव कर पाते हैं।

जीवन का अर्थ केवल वास्तविक जीवन, इन्द्रिय-प्रत्यक्ष जीवन ही हो यह आवश्यक

नहीं। शिल्पी ने अपनी चेतना, अपने प्राण की संजीवनी शक्ति दे कर जिस वस्तु को जितना ही सचेतन-सजीव किया होगा, वह उतनी ही सत्य, उतनी ही वास्तविक हो उठेगी, चाहे स्थूल, भौतिक सत्य अथवा वास्तव के साथ उसका कुछ भी संबंध, संयोग, यहाँ तक कि सादृश्य भी न हो। शिल्पी की मायावी शक्ति ही होती है सृष्टि-शक्ति। इस विश्व-जीवन को भी अद्वितीय सत्पुरुष की माया-शक्ति की लीला कहा जाता है, जिस शक्ति के द्वारा असत्य सत्य जैसा जान पड़ता है और जिसे अघटन-घटना-पटीयसी कहा जाता है। शिल्पी अपने अन्तर से, बाहर से, इस लोक अथवा उस लोक से अपनी दुनिया उतार सकता है : अपनी मायावी शक्ति की मर्जी के मुताबिक। इसीलिए कवि कह उठा था : क्या आता-जाता है इससे कि तुम कहाँ से आये हो हे सुन्दर, स्वर्ग से अथवा नरक से ?

(Que tuviennes du ciel ou de I'enfet, qu'imorte, o Beaute ! —Baudelaire)

पूछने की बात केवल इतनी है कि यह दुनिया वास्तविक हो सकी है या नहीं, ठीक दुनिया की तरह निबिड़, अभ्रान्त उपलब्धि देने में समर्थ हो रही है कि नहीं, अपने सत्य से जाग्रत-स्पंदित है कि नहीं।

दूसरी ओर, उसमें जीवन की बात रहने मात्र से ही वह जीवन्त हो उठेगी, ऐसी बात नहीं है। प्रत्यक्ष का, वास्तव का, कर्म-आयतन का पूरा प्रताप और जोश-खरोश रहने पर भी वह निर्जीव, प्राणहीन हो जा सकती है, जैसे वाल्तेअर की रचना 'आँरिआद'। गांधार शिल्प के वस्तुतांत्रिक जीवन-रूपकार में केवल अस्वच्छंदता दीखती है, तथापि नटराज की अलौकिकता में समस्त जीवन ही मानों स्पंदित-नन्दित हो उठा है। इसी से हमारी समझ में आधुनिकों की अति-वास्तविकता की अपेक्षा कई बार प्राचीनों की उपकथाएँ या परियों की कहानियाँ अधिक वास्तविक हैं। शेक्सपियर की अप्सराएँ, दांते के देवदूत और शैतान, कालिदास के गन्धर्व-किन्नर, वाल्मीकि के यक्ष-रक्ष, सभी जाग्रत जीवन-शक्ति की प्रतिमूर्त्ति हैं।

पूर्ण सत्य या गंभीरतम, उच्चतम सत्य को दिखाने के लिए शिल्पी बाध्य नहीं है। ज्ञान की दृष्टि से देखने से कई बार शिल्पी का सत्य संकीर्ण, एकदेशदर्शी मालूम पड़ सकता है। ऐसा लग सकता है कि वह अज्ञान, अर्द्धज्ञान या विकृत ज्ञानकी प्रायः अगल-बगल से चल रहा है। किन्तु इतने पर भी स्रष्टा की हैसियत से शिल्पी का कोई नुकसान नहीं होता। सत्य की पूर्णता, उदारता, गंभीरता, उच्चता शिल्पी नहीं देता, शिल्पी देता है सत्य की प्राणवत्ता। अवश्य ही कहा जा सकता है कि सत्य जहाँ पूर्णतम होता है, जीवन भी वहीं सबसे अधिक सजीव होता है। हो सकता है, किन्तु केवल ज्ञान की चर्चा करने मात्र से वह जीवन्त हो उठेगा, ऐसा नहीं है; उसकी अपेक्षा कहीं अधिक छोटा सत्य भी जगह-ज़गह उससे कहीं अधिक जीवन्त हो सकता है। इसी का नाम शिल्पी के हाथ का जादू है।

सबसे पहले जीवन। सजीवता शिल्प का आदि लक्षण है। कारण, शिल्पी होता है स्रष्टा। लेकिन स्रष्टा का अर्थ है रूप-स्रष्टा। इसलिए रूप, सौन्दर्य, होता है शिल्प का दूसरा गुण। इसीसे शिल्पी को रूपकार कहा जाता है। शिल्पी की सृष्टि सजीव होनी चाहिए और रूपवती भी। लेकिन जिस प्रकार जीवन की नाना धाराएँ होती हैं, उसी प्रकार रूप के भी अनेक साँचे होते हैं। रूप का अर्थ अंग-सौष्ठव हो सकता है—अंगों की गढ़न में एक अनुपात, एक साम्य का समावेश; इसे हम चारुता, शोभनता कह सकते हैं। फिर हो सकती है अंगों की भंगी में एक भावगत, द्योतनागत सुषमा, जिसे श्री-लावण्य कह सकते हैं। एक है अंग का आकारगत और दूसरा प्रकारगत सौन्दर्य। एक छोर पर यूनानियों की सुडौल, सुसीम परिमिति है, दूसरे छोर पर है आधुनिकों की निरंकुश, उद्दाम मुक्त-गति।

एक ओर प्राक्सितेल (Praxiteles) है और दूसरी ओर रोदें (Rodin)। एक ओर संयत, सुसंगत, मार्जित मसृण देहबन्ध है, जैसे मिल्टन की इन पंक्तियों में:

And where the River of Bliss through midst of Heaven
Rolls o'er Elysian flowers her amber stream

या वर्डस्वर्थ की इस उक्ति में

Ethereal minstrel! Pilgrim of the sky!

दूसरी ओर छंद-बंधहीन उन्मार्ग उच्छलता है, जैसे हापकिन्स के इस पद में

The flower of beauty, fleece of beauty, too,
too, apt to, ah! to fleet,
Never fleets more fastened with the tenderest truth.
To its own best being and its loveliness of youth.

या और भी आधुनिक कवि की इच्छाकृत विषमता, रूक्ष कर्कशता है, जैसे रोनाल्ड बोट्राल में।

Is it worth while to make lips smile again,
To transmit that uneasiness in us which craves
A moment's mounting.

एक ओर रवीन्द्रनाथ:

अतल गम्भीर तव
अन्तर होइते कह सान्त्वनार वाक्य अभिनव
आषाढेर जलदमंत्रेर मत।

अपने अतल गम्भीर अन्तर से सान्त्वना की अभिनव वाणी कहो, आषाढ़ के जलद-मंत्र के समान।

या

नयने आमार सजल मेघेर
नील अंजन लेगेछे

मेरे नयनों में सजल मेघों का नीला अंजन आ लगा है।

अथवा दूसरी तरफ, उदाहरणार्थ, समसामयिक बंगाली कवि बुद्धदेव बसु कि ये पंक्तियाँ हैं :

सुन्दर ना हर ले यदि जीवनेर पात्र हते कोन क्षति,
क्षय नहि हम
सुन्दर हवार गूढ, दुरूह साधना
क्लेशकर तपश्चर्या
के आर करिते जाय तबे।

यदि सुन्दर न होने से जीवन-पात्र की कोई भी क्षति क्षति नहीं कहलाती तो फिर क्यों कोई सुन्दर होने की गूढ़, दुरूह साधना, क्लेशकर तपश्चर्या करने जाता ?

या अगर चरम दृष्टांत तक ही पहुँचना हो तो एक और समकालीन बंगला कवि प्रणव राय की ये पंक्तियाँ देखें :

मदेर संगे नारी, मांस ओ ढुनको माड़ाटे प्रेम
जेखाने बिक्री हय
दरदाम करे टाका दिये किने ताइ ?

शराब के साथ नारी, मांस और किराये का क्षणभंगुर प्रेम जहाँ बिकता है, मोल-तोल कर पैसे दे कर उसी को खरीद लेता है।

अतएव एक प्रकार से सब मिला कर कहा जा सकता है कि आधुनिक शिल्पी सरूप की बात नहीं सोचते। शिल्प के इस पहलू को बहुतों ने एकबारगी छाँट देना चाहा है। जीवन, जीवन का प्रकाश, जीवन का सुप्रकाश—सुन्दर प्रकाश नहीं, सम्यक् प्रकाश—यही है शिल्प का आदि, मध्य, शेष। किन्तु जीवन से आधुनिक पंथी समझते हैं जीवन का एक खंड-अंश, जीवन की एक विशेष धारा, एक विशेष भंगी। पहले जीवन एक वृहत्तर, पूर्णतर, गंभीरतर स्रोत था; शुद्धतर न सही, किन्तु कर्म का, भोग का, आवेग का स्रोत था; भले-बुरे को ले कर, षड्रिपु या षडैश्वर्य के साथ मिश्रित हो कर एक भरी-पूरी समर्थ लीला के रूप में था। जीवन का अर्थ तब था प्राण-शक्ति के स्वरूप का प्रकाश। वर्त्तमान युग में जीवन बहुत कुछ संकीर्ण और छिछला हो आया है। पहले जीवन मन के नजदीक की चीज था, मनोमय पुरुष के द्वारा प्रभावान्वित; आज उसे जहाँ तक संभव है देह के दायरे में घसीट लाया गया है : जीवन आज अन्नमय पुरुष का एकान्त दास है। आज वह रक्त में, कोष में, शिराओं और स्नायुओं में, स्थूल इन्द्रियों में, मष्तिष्क में अणु अथवा शक्ति की क्रिया-प्रतिक्रिया बन कर रह गया है। जीवन की जो प्राथमिक या, आदिम अवस्था थी, जब कि जड़ ने हाल ही हाल में अपने को प्राणों में परिणत करना शुरू किया था, उसी प्रत्यन्त लोक के रहस्य ने आजकल की चेतना को मुग्ध और मूढ़ कर रखा है।

अवश्य ही यहाँ यह सफाई दी जा सकती है कि शिल्प की असल वस्तु सुरूप या कुरूप नहीं, रूप अथवा स्वरूप है। वस्तु को यथायथ व्यक्त करने, प्रकाशित करने

में ही सारी कारीगरी है, इसमें संदेह नहीं। किन्तु दूसरी ओर से यह भी कहा जा सकता है कि रूप, शिल्पगत रूप, का अर्थ ही सुरूप है; स्वरूप और सुरूप अभिन्न वस्तुएँ हैं; सुरूप के बिना स्वरूप नहीं होता।

यह सच है कि क्या होने से रूप सुरूप हो जाता है और क्या होने से नहीं, इसकी सीमा का निर्देश करना सहज नहीं है। यूनानी आदर्श ने हमारी चेतना को इतना अभिभूत कर रखा है कि अन्य प्रकार के सुरूप की कल्पना हमारे लिये कठिन है। किन्तु यूनानी रूप के पास सुरूप है, इसीलिए भारतीय रूप में सुरूप का अभाव हो, ऐसा नहीं। यूनानी रूप की बन्दिश में हमें प्रधानतया अंगों की ढलाई देखने को मिलती है। प्रत्येक अंग उसमें सब प्रकार से सुपरिस्फुट हो उठा है—धैर्य, विस्तार, वेध, तीनों मात्राएँ समान रूप से अपनी मर्यादा प्राप्त कर सकी हैं, सर्वत्र एक परिमित, अनुपात की मसृणता मिलती है। भारतीय शिल्पी ने ढलाई को या व्यक्तीकरण को प्रधान नहीं बनाया। उसके निकट प्रधान है चलन: उसने बोल को चाल के सहायक के रूप में ही प्रस्फुटित करना चाहा है। चलन का अर्थ गति और स्थिति दोनों है। इसलिये वेध को, जिसे यूरोपीय शिल्प-शास्त्र में Perspective (परिप्रेक्षण) कहा गया है, भारतीय शिल्पी ने छोड़ रखा है। दैर्घ्य और प्रस्थ, इन्हीं दो मात्राओं पर वह निर्भर है। अंगों की परिपुष्टता, सुडौलपन दिखाने के लिए भी उसने यूनानियों के समान वेध को नितान्त आवश्यक नहीं समझा; पट के समतल क्षेत्र को समतल के ही रूप में ग्रहण किया है, उसे प्रकृति के अनुकरण पर असमतल कर के दिखाने का छल-बल-कल उसने नहीं सीखा। यूनानी अथवा यूनानी प्रभावापन्न चित्र में, इसीलिए, हमें भास्कर्य की शैली मिलती है, और भारतीय भास्कर्य में भी चित्र की पद्धति मिलती है। यहाँ रहस्य की बात यही है कि दोनों में एक प्रतिपूरक धारा विद्यमान है: यूनानी काव्य में बोल के साथ बोल को प्लावित करते हुए खिल उठा है चाल का सुरूप, भारतीय काव्य में रूपायित हुआ है भास्कर्य का बोल—निर्दोष, आपूर्ण आकार।

यूनानी रूप और भारतीय रूप के अतिरिक्त रूप के और भी प्रकार-भेद हो सकते हैं। और ऐसा भी होता है कि वे सब सुरूप न होकर कुरूप या अरूप हों।

किन्तु सूक्ष्म विचार के गहरे जल में हम और जाना नहीं चाहते। सुरूप की सीमा मरु-मरीचिका की तरह हम से कितनी भी दूर क्यों न सरकती रहे, साधारण बोध के अनुसार क्या हम यह अनुभव नहीं करते कि रूप और रूप के अभाव के बीच कहीं एक रेखा अवश्य होती है और कि जीवन का सम्यक् प्रकाश मात्र ही सुरूप नहीं होता?

आधुनिकों ने इस रेखा को कदाचित् अस्वीकार किया है, लेकिन स्वीकार करने पर भी उन्हें मान-हानि का कोई डर न होता। हमने शिल्प-सृष्टि के जिस प्रथम गुण का उल्लेख किया है उसी के बल पर अनेक शिल्पी अमर हो गये हैं। शेक्सपियर को सुरूप के शिल्पी के रूप में स्वीकार करने में बहुतों को दुविधा हो सकती है

किन्तु उसकी सृष्टि सजीव और प्राणोच्छल है, इसमें संदेह करने की गुंजाइश नहीं हो सकती। सब मिला कर अंग्रेजी कवि-प्रतिभा शायद इसी प्रकृति की है। यूनानी, लातिनी या फरासीसी प्रतिभा इससे विपरीत है। उनमें विशेष रूप से जोर दिया गया है सुरूप पर। हमारे संस्कृत साहित्य के विषय में भी यही कहा जा सकता है। वहाँ सुरूप को ही शिल्प का वैशिष्ट्य माना गया है, यहाँ तक कि जीवन की सजीवता को कम करके भी, एक प्रकार की कृत्रिमता को धारण करके भी, बहुतों ने रूप को सुष्ठुतर रूप में ही परिस्फुट करना चाहा है। तथापि जहाँ इन दोनों का मेल है वहीं सोने में सुहागा मिल गया है। जिन्होंने शिल्प के इन दोनों अंगों का समान रूप से आदर किया है, जैसे वाल्मीकि ने, होमर ने, उन्हें श्रेष्ठ आसन देना होगा, इसमें सन्देह ही क्या है?

महात्मा निजामुद्दीन औलिया के उपदेश

(१) सिद्धि (कमाल) चार चीजों से मिलती है—कम खाने से, कम बोलने से, कम मिलने से और कम सोने से। (२) सदा भगवान के भजन और उनकी आज्ञा के पालन में लगे रहो, चाहे महात्माओं की किताबें ही पढ़ो, पर बेकार कभी न रहो। (३) यदि पड़ोसी कर्ज मांगे तो दो, उसकी कोई और जरूरत हो तो पूरी करो, बीमारी में उसकी देखभाल करो और दुःख में उसका साथ दो, जब वह मर जाये, तो उसकी नमाजेजनाजा (मुर्दे के लिए मुक्ति की दुआ) पढ़ो और दफ्फन में शामिल हो। (४) ज्ञानी तो वही है जो आने वाले सफर यानी मौत और परलोक की भलाई के लिए कुछ सामान कर ले। (५) जब आदमी को किसी से दुःख पहुँचे तो उसे चाहिए कि वह उसे शाप न दे, ताकि खुद ईश्वर उससे बदला ले। (६) "धर्मात्मा का सताना ईश्वर को सताना है। धर्मात्मा वह है कि पूरब में किसी धर्मात्मा को काँटा चुभे तो उसे पश्चिम में उसका दर्द हो। (७) संसार को त्याग देने का यह मतलब नहीं कि कपड़े उतार लँगोटा बाँध, धूनी रमा कर बैठे रहें, बल्कि खाओं-पीओं भी, पहनें-ओढ़ें भी, हाँ जो कमाओं उसे भगवान के बन्दों पर खर्च भी करें, जोड़-जोड़कर न रखें, और अपने मन को दुनिया की रँगरलियाँ में न फँसायें। (८) प्रेम की सचाई प्रेमिका की मरजी को पूरा करने से ही परखी जाती है। जब कोई उन (भगवान्) से प्रेम करेगा, तो उनकी मरजी को भी पूरा करेगा। (९) संगीत से मन में ईश्वर का ध्यान पैदा हो जाता है। लेकिन अगर उससे यह नहीं होता, तो वह अधर्म है, पाप है।

—मक्तबा जामिया लिमिटेड (दिल्ली) की पुस्तक (निजामुद्दीन औलिया) से

शेरशाह की दिग्विजय

डा० देवसहाय त्रिवेद, एम्० ए०, पी० एच० डी०

माघ १५९६ में शेरशाह ने मालवा और गुजरात में अपना दूत भेजा, जिससे यहाँ के शासक मिल कर हुमायूँ के राज्य पर आक्रमण करें। बहादुरशाह की मृत्यु के बाद गुजरात और मालवा दोनों की दशा दयनीय थी। गुजरात का शासक महमूदशाह द्वितीय अवयस्क था। दो प्रधान सरदार अपनी शक्ति दृढ़ करने के लिये झगड़ते रहते थे। वहाँ के प्रधान ने लिख दिया कि हमारा राजा अवयस्क है और घरेलू झगड़ों से छुटकारा न मिलने के कारण हम साथ देने में असमर्थ हैं।

बहादुरशाह के बाद मालवा में तीन प्रबल शासक स्वतन्त्र रूप से राज्य करते थे। उन्हें बादशाह को छोड़ने और शेरशाह का साथ देने से कोई लाभ की संभावना न थी। शेरशाह ने एक भारी भूल यह की कि एक पत्र फरमान के रूप में भेजा और उसके ऊपर अपना राज-चिह्न लगा दिया और लिखा कि अपनी सेना आगरे के पास शाही प्रदेश के विनाश के लिये भेजो। यह एक प्रकार से समकक्ष राजा का अपमान था। प्रथम तो शेरशाह को मल्लू खाँ के स्वातंत्र्य की सूचना अभी तक न थी और, दूसरे, अभी शेरशाह को राजनीति के सम्बन्ध में पत्र-व्यवहार करने की प्रणाली का ज्ञान भी न था[1]। अस्तु, शेरशाह के पत्र को देख कर कदीरशाह (मल्लू खाँ ने यह उपाधि धारण की थी) को बहुत क्रोध आया और अपने मुंशी को एक पत्र भेजने की आज्ञा दी और उसके ऊपर अपना राज-चिह्न लगाया। इस प्रकार गुजरात और मालवा दोनों प्रदेशों में इसकी दाल नहीं गली।

आगरे के बाद शेरशाह दिल्ली चला। वहाँ उसने हाजी खाँ वतनी को मेवात का शासक नियुक्त किया। यहाँ पर संभल के नागरिकों ने आ कर शिकायत की कि हमें अनेक प्रकार की यातनायें दी जाती हैं। शेरशाह ने क्रूर पुरुषों को पदच्युत किया और एक वीर और न्यायी शासक को नियुक्त किया। अब शेरशाह ने शांति की साँस ली और कहा--अब मुझे संतोष है कि दिल्ली से लखनऊ तक का प्रदेश सुव्यवस्थित हो गया।

---

१. यदि बड़ा छोटे को लिखे तो राज-चिह्न ऊपर लगावे, यदि छोटा बड़े को लिखे तो राज-चिह्न नीचे लगावे और यदि बराबरी के हों तो पृष्ठभाग पर—यही नियम प्रचलित था।

बलोच और गक्कर[1]

शेरशाह खुशाब में कुछ दिनों तक ठहर गया। इसी स्थान पर अनेक बलोची सरदारों ने आ कर उसकी सेवा-शुश्रूषा की। शेरशाह ने इनकी भूमि पर इनको पुनः नियुक्त किया और इस्माइल खाँ को सिंध का प्रदेश पुनः दिया। टोह के भी सभी कबीलों के सरदारों ने आ कर सेवा की और उन्हें शेरशाह ने बुद्धिमानी से अपने-अपने प्रदेशों में स्थिर किया। अब उसने गक्कर प्रदेश की ओर दृष्टि डाली। भारत की रक्षा के लिये इसे अधिकृत करना आवश्यक था, क्योंकि भारत के सभी विजेताओं ने इसी मार्ग से प्रवेश किया था। कामरान और हुमायूँ के प्रतिनिधि मिर्जा हैदर (जो काश्मीर-विजय में लगा था) किसी समय मिल कर पंजाब पर आक्रमण कर सकते थे।

इस गक्कर प्रदेश को हथियाने की सैनिक आवश्यकता थी। शेरशाह ने विशाल सेना के साथ इस प्रदेश में प्रवेश किया और गक्कर सरदारों को अपने सामने बुलवाया। इन सरदारों ने उपायन रूप में बाण-समूह और दो शेर के बच्चे भेज दिये और कहा—हम शेर और सिपाही हैं; हमसे शेर और बाणों के सिवा और कुछ की आशा न करें। शेरशाह ने क्रोध में कहा—सावधान हो जाओ, अन्यथा मैं तुम्हें ऐसी यातना दूँगा जो कयामत के दिन तक तुम्हें याद रहेगी। शेरशाह ने सारे जंगल और पहाड़ रौंद डाले और एक स्थान पर एक दृढ़ दुर्ग बनवाया, जिसका नाम छोटा रोहतासगढ़ रखा गया। इन गक्करों ने प्रण किया कि कोई भी किले के बनने में मजदूरी न करे, जो कोई भी मजदूर बने उसका वध कर दिया जाय। टोडरमल ने इस बात को लिख कर शेरशाह के पास भेजा। शेरशाह ने उत्तर दिया कि किले का निर्माण जारी रखो, भले पत्थर का मूल्य तौल में पैसे से देना पड़े। दुर्ग तैयार हो गया, यद्यपि खर्च विशेष हुआ। इस पर कुल व्यय ८ करोड़ ५ हजार और ढाई दाम खर्च हुआ। यह किले के फाटक पर अब भी लिखा है।

शेरशाह भारत की प्राकृतिक सीमा तक अपना प्रभुत्व स्थापित कर लेता किन्तु बंगाल के विद्रोह का समाचार सुन कर उसे शीघ्र लौटना पड़ा। वह खवास खाँ को ५०,००० सेना सहित गक्कर प्रदेश में छोड़ कर शीघ्रता से चैत्र में बंगाल को चल पड़ा।

बंगाल

जब बंगाल से शेरशाह ने मुगलों से लोहा लेने के लिये कूच किया था तो उसने खिजर खाँ को बंगाल का शासक नियुक्त किया था। अभी तक बंगाल में शेरशाह के प्रभुत्व की जड़ नहीं जमी थी। खिजर खाँ ने बंगाल के मृत शासक महमूदशाह की कन्या से विवाह कर अपना अधिकार और प्रतिष्ठा और भी बढ़ा ली। वह बादशाहों की तरह राज-प्रासाद की छत पर बैठ कर लोगों को दर्शन देता और लोग उसे

(१) आजकल के रावलपिंडी और झेलम जिले।
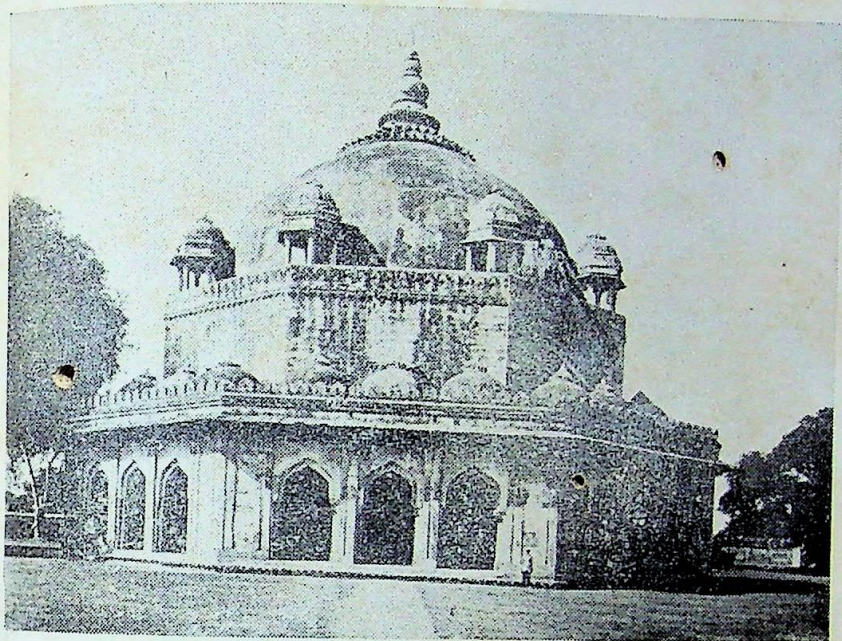
हुसेन सूर शाह का मकबरा—पूर्व ओर का दृश्य
स्थान—सहसराम (शाहाबाद, बिहार)
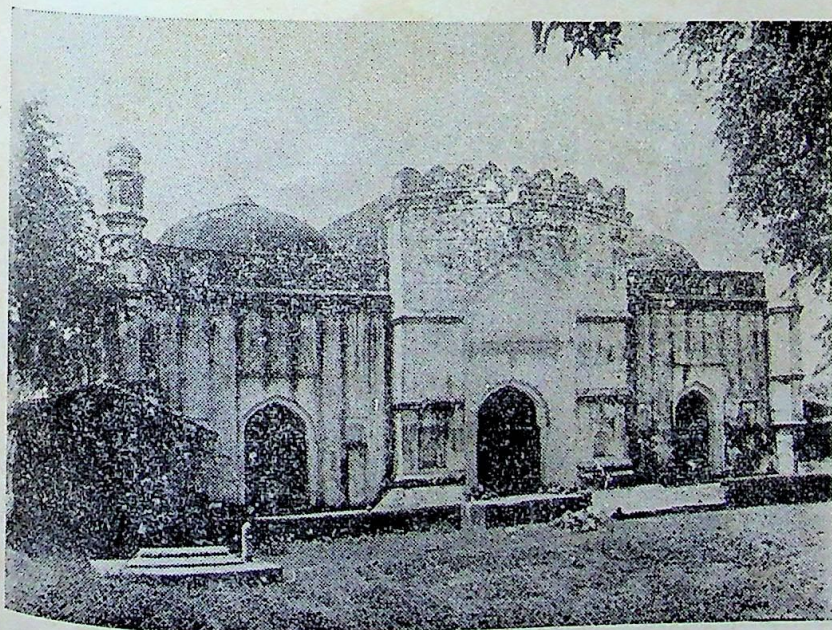
शेरशाह की मसजिद (दक्षिण-पूर्व की ओर का दृश्य)
स्थान—पटना
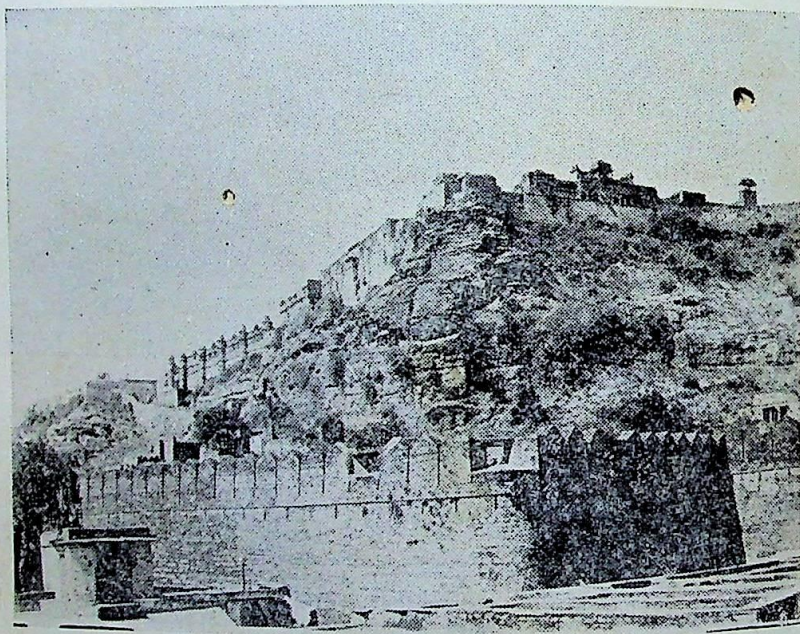
ग्वालियर का किला (उत्तर की ओर से दृश्य)

राजा के रूप में देखते। शेरशाह गुप्तचरों के द्वारा इस समाचार को पाकर बहुत क्रुद्ध हुआ। उधर शेरशाह का सेना सहित तेलियागढ़ी के पास पहुँचना सुनकर खिजर खाँ हतबुद्धि हो गया। सामना करने का साधन न होने के कारण वह शेरशाह से आ कर मिला और उसका शाही स्वागत किया। शेरशाह ने उसे बहुत फटकारा और उसे वंदी बनाकर कठिन दण्ड दिया। तब शेरशाह गौड़ पहुँचा और वंग प्रान्त के शासन का पुनः सुचारुरूपेण प्रबन्ध किया।

बंगाल के शासक प्रायः दूर रहने के कारण समय पाते ही स्वतंत्र हो जाते थे। यदि वे स्वयं ऐसा न करते तो दूसरे उन्हें हटा कर राजगद्दी हथिया लेते थे।

शेरशाह ने पश्चिम में तेलियागढ़ी और राजमहल की पहाड़ियों को बंगाल की सीमा नियत की, सारे बंगाल को १९ सरकारों में, जो प्रायेण क्षेत्रफल में समान थे, विभाजित किया और उन्हें एक-एक स्वतंत्र शासक के सुपुर्द किया। इन शासकों को शेरशाह ने स्वयं नियुक्त किया और उन्होंने शेरशाह के प्रति स्वामि-भक्ति की शपथ ली। सैनिक-नायक की प्रथा उठा दी गयी। अब इन नये शासकों में ऐसी शक्ति न रह गयी कि ये अकेले विशाल सेना एकत्र कर स्वतंत्र होने की चेष्टा करते। इसके साथ ही ये सर्वदा शेरशाह का स्नेहभाजन बनने के लिये प्रतिस्पर्धा करने लगे। इस प्रकार नीति से उसने विद्रोह के मूल को सर्वदा के लिए उखाड़ फेंका। शासन-ऐक्य के लिये उसने प्रसिद्ध काजी-फजिहत को सब का निरीक्षण करने के लिये नियुक्त किया। यह काजी विद्वान् नीतिज्ञ और धर्मात्मा था। कहने के लिये वह सारे प्रान्त का प्रधान था किन्तु इसको वास्तविक अधिकार कुछ भी न था। यह किसी के कार्य में हस्तक्षेप नहीं कर सकता था। केवल बादशाह को सूचना देना और देखना कि बादशाह की आज्ञा का पालन होता है या नहीं, यही इसका काम था। बंगाल में फिर गड़बड़ी न हुई और ठीक से काम चलने लगा। शेरशाह वहाँ सात महीने रहा और माघ १५९८ में आगरे के लिए चल पड़ा।

ग्वालियर

शेरशाह ने बिल्व ग्राम के युद्ध के बाद से सुज्जत खाँ को, जो बिहार और रोहतास का नायक था, ग्वालियर पर अधिकार करने के लिये भेजा था, जिससे यमुना और चम्बल की सारी भूमि हाथ लगी। इसके साथ ही मालवा की गतिविधि पर भी दृष्टि रखना इसका कार्य था। दो वर्षों तक यह अजेय दुर्ग हाथ न आया। किन्तु हुमायूँ का लौटना दूर समझ कर इस गढ़ के अधिकारी ने संधि-वार्ता आरंभ की। शेरशाह सुज्जत खाँ का पत्र पाकर मालवा की ओर चला। जैसे ही वह ग्वालियर पहुँचा दुर्गाधिपति ने आ कर अभिवादन किया और दुर्ग की कुंजी दे दी। इस प्रकार ग्वालियर सहज ही हाथ आ गया।

मालवा

मालवा प्रान्त सर्वदा से भारत के इतिहास में महत्त्व रखता है। बिना इसके उत्तर भारत का इतिहास रोचक नहीं होता। यह दक्षिण भारत की कुंजी है। इसे हम (No Mans Land) किसी की भूमि नहीं कह सकते हैं क्योंकि इसकी उर्वर भूमि पर सभी दाँत गड़ाये रहते थे। बहादुर ने इसे अपने अधिकार में किया था किन्तु फाल्गुन १५९३ में उसकी मृत्यु के बाद मालवा में कोई शासक कुछ दिनों तक नहीं रह गया। बाद में तीन शासक मालवा को बाँट कर स्वतन्त्र रूप से राज्य करने लगे।

शेरशाह वैशाख १५९९ में ग्वालियर होता हुआ माण्डू चला। वहाँ के शासक को कुतुब खाँ की सहायता न करने के कारण वह दण्ड देना चाहता था। यदि हुमायूँ आक्रमण करता तो ये शासक अवश्य ही उसका साथ देते और इसी कारण ये उसको लौटाना चाहते थे, क्योंकि वे जानते थे कि हुमायूँ की शरण में ही उनकी स्वतन्त्रता रह सकती थी। हुमायूँ गुजरात जीत कर वहाँ से भारतवर्ष को फिर अधिकृत करना चाहता था। ग्वालियर का किला अभी तक उसके अधिनायक के हाथ में था। ये सभी किसी समय भी मारवाड़पति मल्लदेव की सहायता के लिये प्रार्थना कर सकते थे, जो जिधर चाहे पलड़ा भारी कर दे। अतः वह गुजरात और मेवाड़ से सीधा सम्बन्ध जोड़ना चाहता था, जिससे इस रास्ते मुगल फिर न आ जायँ। मल्लदेव इनसे मिल कर गड़बड़ी न कर सके इसी लिये पहले ही इनका सर्वनाश हो जाय, इस उद्देश्य से वह मालवा को अधिकृत करने को लालायित था। कादिरशाह ने अपमानजनक पत्र भेज कर उसकी अप्रतिष्ठा भी की थी।

जब शेरशाह सारंगपुर पहुँचा तो कादिरशाह ने आ कर अधीनता स्वीकार की। शेरशाह ने उसकी उचित प्रतिष्ठा की और एक दिन वहाँ ठहरने के बाद उज्जैन पहुँचा। मालवा के अन्य सरदारों ने भी स्वयं आ कर अधीनता स्वीकार की और सोचा कि बहादुरशाह के समान शेरशाह भी हमें अपनी भूमि से विलग न करेगा, किन्तु उज्जैन में कुछ ही दिनों तक ठहरने के बाद शेरशाह ने आज्ञा-पत्र निकाल दिया कि कादिरशाह को मालवा के बदले लखनऊ की सरकार दी जाती है; वह अपने स्त्री-बच्चों को शीघ्र ही वहाँ भेज दे और स्वयं मेरी सेवा में रहे। इस प्रकार शेरशाह ने साँप भी मारा और लाठी भी न टूटी। यह राजनीति की गहरी चाल थी। किन्तु कादिरशाह वहाँ जाना कभी पसन्द न करता। अतः दिखाने के लिये वह नगर से बाहर एक उपवन में ठहरा और वहाँ से एक दिन सपरिवार भाग कर गुजरात चला गया। अब शेरशाह को वहाँ के अन्य सरदारों पर भी विश्वास न रहा। इस लिये गुजरात से भागे हुए दो सरदारों को उसने उज्जैन और सारंगपुर दे दिया और वहाँ से धारा और रणथम्भौर गया। इस तरह रक्त का एक बिन्दु बहाये बिना उसने मालवा पर अधिकार कर लिया।

इस प्रसंग में यह घटना मनोरंजक है :--

एक दिन कादिरशाह ने शेरशाह के सैनिकों से कहा--ग्राप घोर परिश्रम ग्रौर ग्रभ्यास करते हैं। रात या दिन ग्राप को चैन नहीं। ग्राराम ग्रौर विलास से ग्राप वंचित हैं। ग्रफगानों ने उत्तर दिया--हमारे स्वामी का भी ऐसा ही ग्रभ्यास है। सिपाही का यह धर्म है कि स्वामी जो कुछ भी ग्राज्ञा दे या श्रम करावे उसे भार न समझे। ग्राराम तो स्त्रियों को शोभा देता है, ग्रात्माभिमानी के लिये यह लज्जा की बात है।

जब वह रणथम्भौर पहुँचा तो उसने किले के भीतर मधुर-भाषी दूत भेजा। सुलतान महमूद खिलजी ने शांति-पूर्वक दुर्ग भेंट कर दिया। शेरशाह ने इस किले को ग्रपने ज्येष्ठ पुत्र ग्रादिल खाँ के सुपुर्द किया ग्रौर स्वयं ग्राषाढ़ १५९९ में ग्रागरे पहुँच गया।

इधर सुज्जात खाँ को कादिरशाह का, जो गुजरात भाग गया था, कई बार सामना करना पड़ा। एक दिन उसके सिपाहियों ने एकान्त में सुज्जात खाँ को पा कर ग्रधमरा कर दिया। किन्तु वह ग्रपनी वीरता से बच निकला। जब सुज्जात खाँ रोगशय्या पर पड़ा था तो धार के भूमिपति हाजी खाँ ने पत्र भेजा कि कादिरशाह बंसवारा की ग्रोर से ग्राक्रमण के लिये ग्रा रहा है, मुठभेड़ किसी दिन हो सकती है। सुज्जात खाँ शीघ्र ही पालकी में बैठ कर धार को चला। वह ग्राधी रात को हाजी खाँ के खेमे में पहुँचा, उसे जगाया ग्रौर उसी समय शत्रु पर धावा बोल दिया। कादिर हार कर गुजरात भाग गया। शेरशाह इनकी वीरता सुन कर प्रसन्न हुग्रा ग्रौर हाजी खाँ को मांडू का सारा प्रदेश दे दिया। सुज्जात खाँ को १२००० की मनसब (पदवी) दी गयी।

पाटलिपुत्र का किला

शेरशाह ने ग्रागरे से बिहार ग्रौर बंगाल की ग्रोर प्रयाण किया। वहाँ उसे बुखार ग्रौर गठिया हो गयी किन्तु वह शीघ्र ही चंगा हो गया। ग्रभी तक बिहार की राजधानी बिहार शरीफ थी, जो गंगा से दस कोस दूर है। यह पाल-काल से बिहार की राजधानी चली ग्राती थी, यद्यपि प्राचीन काल से पाटलिपुत्र बिहार ही नहीं किन्तु सारे भारत का राजनीतिक ग्रौर सांस्कृतिक केन्द्र प्रसिद्ध था। उस समय पटना एक साधारण नगरी थी। शेरशाह ने पटना ग्रा कर गंगा के तट पर खड़े हो कर ग्रच्छी तरह देखा। ग्रच्छी तरह सोच विचार कर ग्रपने ग्रनुचरों से कहा--यदि यहाँ किला बनाया जाय तो गंगा जल यहाँ से कभी दूर नहीं हटेगा क्योंकि गंगा पश्चिम से बहती है ग्रौर गण्डकी उत्तर से इसकी कटि पर कठिन ग्राघात करती है; कालान्तर में पटना भारत का एक प्रधान नगर हो जायगा। ग्रतः उसने चतुर शिल्पियों को व्यय का ग्रनुमान करने को कहा। उन्होंने ५ लाख रुपये का ग्रनुमान उपस्थित किया। शीघ्र ही राजकोष से रुपया देने की ग्राज्ञा दे दी गयी। थोड़े ही दिनों में किला तैयार हो

गया और वह बहुत ही दृढ़ बना। विहार उजड़ने लगा। और विहार की राजधानी पटना-गुलजारबाग हो गया। यह किला संवत् १६०० में बना।[१]

रायसीना

रायसीने का किला विंध्य की पहाड़ियों पर बसा है। उत्तर से दक्षिण तक यह ७½ मील लम्बा है और वेत्रवती (वेतवा) नदी के किनारे है। उत्तर-दक्षिण से दो पहाड़ी धाराएँ बहती हैं; पूर्व में एक खड़ी पहाड़ी दीवार १७५० फीट ऊँची है।

जब मालवा-विजय के मार्ग में शेरशाह गगरौनी (सारंगपुर से १०० मील उत्तर) पहुँचा तो रायसीना का पूर्णमल्ल सुज्जत खाँ के साथ मिला। उसके साथ ६ सहस्र राजपूत थे। शेरशाह ने उसे १०० घोड़े और १०० सुन्दर वस्त्र देकर बिदा किया। वह अपने छोटे भाई चतुर्भुज को बादशाह की सेवा मे छोड़ गया था।

शेरशाह बड़ा दूरदर्शी था। वह जानता था कि मुगलों के बाद उसके प्रधान शत्रु राजपूत हैं। पूर्णमल्ल की राज्य-सीमा पर बुन्देलखण्ड और गोण्डवाना की पहाड़ियों में अनेक राजपूत सरदार थे; साथ ही मारवाड़ के मल्लदेव का राज्यांचल मालवा की सीमा तक फैला हुआ था। हो सकता था कि किसी दिन पूर्णमल्ल देव से मिल कर शेरशाह को हानि पहुँचावे। अतः शत्रु को उखाड़ने का शेरशाह ने सरल उपाय सोचा। उसने पूर्णमल्ल को काशी का राजा बना कर भेजना चाहा। पूर्णमल्ल ने कादिरशाह के भाग्य के बारे में सुना था और इसलिए अपनी पूरी तैयारी कर ली थी।

शेरशाह के पहुँचने के पहले ही उसके पुत्र ने पूर्णमल्ल के राज्य को विदिशा (भिलसा) तक जीत लिया था। उसके पहुँचते ही राजपूत अपने पहाड़ी दुर्ग में घुस कर वीरता से युद्ध करने लगे। छै मास तक किले को घेरे सेना पड़ी रही। शेरशाह ने सभी जगहों से जितनी धातुएँ मिलीं उन्हें एकत्र कर पिघलवाया और उसका गोला बना कर एकबार चारों ओर से धावा बोल दिया। इन गोलों से किले में छेद हो गया तो पूर्णमल्ल ने भय से घबरा कर किला सौंपने की बातें शुरू की।

पूर्णमल्ल ने निम्न शर्तें पेश की—राजपूत अपने परिवार और वस्तु सहित मालवा की सीमा तक अबाधित चले जायँ; शेरशाह किले से दो पड़ाव अलग हट जाय जिससे राजपूत निकल कर बाहर चले जायँ और उन्हें कोई छेड़ने न पावे; शेरशाह के पुत्र आदिल खाँ और कुतुब खाँ बनेत शपथ लें और प्रतिज्ञा करें कि पूर्णमल्ल के किसी सैनिक या साथी के धन-जन को हानि नहीं पहुचेगी। शेरशाह ने इन प्रतिबन्धों को बिना आना

---

१. लोग कहते हैं कि जिस किले को शेरशाह ने बनवाया था वही आजकल दीवान बहादुर श्री राधा कृष्णजालान के अधिकार में है। उसका नाम किला हाउस है। वहाँ एक सुन्दर संग्रहालय भी है। स्थान रमणीक है। सुना है इस किले में अति प्राचीन मुद्रायें भी मिली हैं।
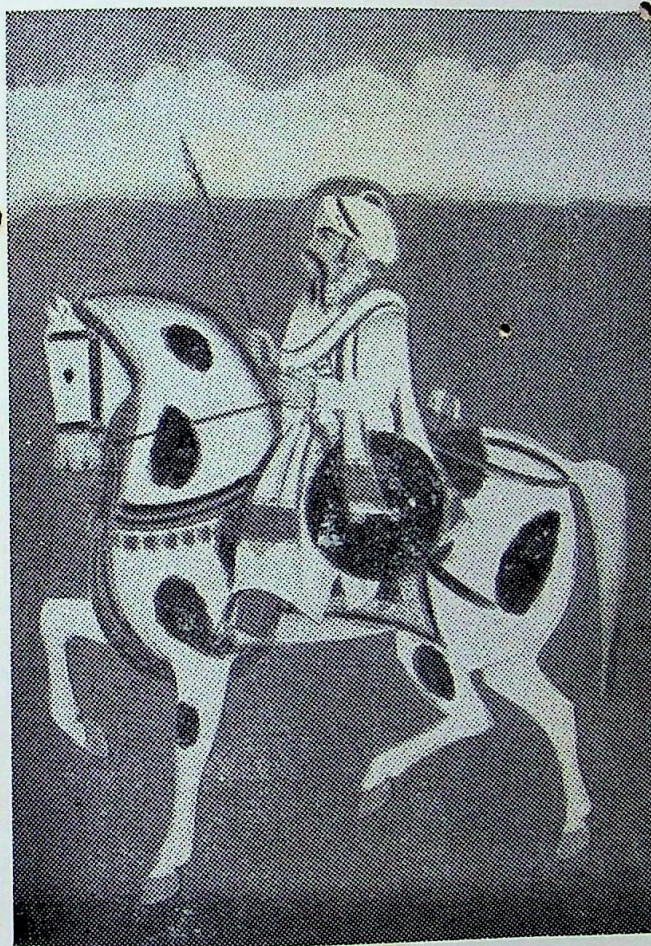
राव मालदेवजी

वि० सं० १५८९—१६१९ (ई० सन् १५३२—१५६२)

"साहित्य"

दिल्ली : पुराना किला—शेरशाह की मसजिद

वानी के मान लिया क्योंकि उसे अपने अफगान सिपाही इतने प्रिय थे कि वह एक सिपाही का सिर एक राज्य के लिये भी देने को तैयार न था।

पूर्णमल्ल के चार हजार राजपूत अपने परिवार और वस्तु सहित किले से बाहर आये और जहाँ पर पहले दिन शेरशाह का पड़ाव था वहीं पर डेरा डाला। दूसरे दिन सबेरे राजपूत आगे चले। इधर एक मूर्ख मुल्ले ने आ कर अफगान सेना को बहुत भड़काया और पूर्णमल्ल की मृत्यु का फतवा दे डाला। लाचार अफगान चल पड़े और रात भर चल कर प्रातः राजपूतों की सेना के सम्मुख पहुँचे। राजपूतों ने यह देख कर अपने स्त्री-बच्चों को अग्निसात् किया और 'परार्थं क्षत्रिया सूते कालस्तस्य समागतः' समझ कर यवनों पर टूट पड़े और वीर गति को प्राप्त हुए।

कुछ लोग शेरशाह पर इस विश्वासघात के लिये कलंक का टीका लगाते हैं किन्तु यह विचारणीय है कि वह स्वयं कहाँ तक इस कुकृत्य के लिए उत्तरदायी था।

उसने रायसीना का किला मुंशी शाहबाज खाँ शेरवानी के सुपुर्द किया और चौमासे में आगरे रहा।

मुलतान

शेरशाह जब बंगाल को चला तो ५०,००० सेना हैबत खाँ नियाजी और खवास खाँ की अधीनता में सीमान्त पश्चिमोत्तर प्रदेश में छोड़ गया था। किन्तु दोनों की आपस में बनती न थी। खवास खाँ ने एक पत्र लिखा जो शेरशाह को उज्जैन में मिला। शेरशाह ने खवास खाँ को बुला लिया और हैबत खाँ नियाजी को पंजाब का शासक नियुक्त किया और उसे तीस-हजारी बनाया। नियाजी का पंजाब में बहुत दबदबा था। इस समय पंजाब के दक्षिण प्रदेश, मुलतान और दिपालपुर (आज-कल जिला मिंटगुमरी) बड़े उद्दण्ड हो गये थे कोट कबुला[1] का सरदार फात खाँ जाट बहुत लूटमार मचा रहा था और इसकी शिकायत प्रायः शेरशाह के पास पहुँचा करती थी। शेरशाह ने हैबत खाँ को आज्ञा दी कि फात खाँ जाट का विनाश कर दो और बलोचों को भगा कर शांति स्थापित करो।

मुलतान से पाँच कोस पश्चिम चनाब के पार बलोचों का प्रदेश था। यहाँ पर एक सरदार रहता था जिसके पास ३०,००० घोड़े और ५०,००० पैदल सिपाही थे। पास ही हूट रहते थे जिनके पास २०,००० सवार और ३०,००० पैदल सिपाही थे। ये बड़े लड़ाके थे और अपनी सीमा के लिये लड़ा करते थे।

बाबर के सरदारों ने मुलतान जीता था। कामरान नाम के लिये ही इसका शासक था। बलोच सरदार प्रायः स्वतंत्र थे। जब शेरशाह खुशाब में था तब कुछ प्रधान बलोच सरदारों ने आकर सेवा की थी किन्तु अभी उसका शासन दृढ़ न था इसलिये उसने छेड़छाड़ न की। इन बलोचों की स्वामि-भक्ति पर इसे विश्वास न था। वे किसी समय भी अपना पक्ष बदल सकते थे।

---

१. यह मिंटगुमरी जिले में सतलज से सात मील उत्तर है। आजकल का कोट कपूरा।

हैवत खाँ नियाजी ने पूर्व से आक्रमण किया। मुलतान के उत्तर और पश्चिम शेरशाह का राज्य था जहाँ से भागा नहीं जा सकता था; हैवत खाँ ने शतगढ़[१] के सामन्त को सूचना भेजी कि सेना तैयार रखो, मैं निरीक्षण करूँगा।

हैवत खाँ ने शीघ्रता से फात खाँ का पीछा किया। फात खाँ ने एक मिट्टी के किले में शरण ली और हैवतखाँ ने उसे घेर लिया। अंततः क्षमा-प्रार्थना करने के लिये फात खाँ हैवत खाँ के पास पहुँचा। किन्तु हैवत खाँ ने कहा——मैं शेरशाह का दास हूँ, मैं उसी की आज्ञा का पालन करूँगा।

फात खाँ बन्दी बना लिया गया। जब यह समाचार किले में पहुँचा तो वहाँ के लोगों ने अपने स्त्री-बच्चों का स्वयं वध किया और एक हिन्दू बलोच के नायकत्व में ३०० वीर योद्धा शत्रुओं के घेरे को चीर कर लड़ते हुए भाग गये; किन्तु हिन्दू बलोच शत्रु के हाथ लग गया। अब अफगान सेना मुलतान पहुँची और उस पर अधिकार कर लिया।

इस विजय का समाचार हैवत खाँ ने शेरशाह को भेजा। उसने प्रसन्न हो कर उसे आजम हुमायूँ की उपाधि दी तथा मुलतान की स्थानीय रीतियों का अनुसरण करने और अन्न का चतुर्थांश लेने की आज्ञा दी। फात खाँ ने जाटों और हिन्दू बलोच के वध का संदेश शेरशाह को भेजा। हैवत खाँ फातजंग खाँ को मुलतान का शासक नियुक्त कर लाहौर लौटा। फातजंग खाँ ने बड़ी कुशलता से शासन-प्रबन्ध किया और शेरगढ़ नामक एक नगर बसाया जो मुलतान के दक्षिण-पश्चिम में है।

अतः रायसीना लेने के पहले ही, श्रावण १६०० में मुलतान भी हाथ आया। अब हुमायूँ का गान्धार (कंदहार) से आने का मार्ग रुक गया।

सिंध

किसी भी अफगान लेखक ने शेरशाह की सिंध-विजय का वर्णन नहीं किया है; किन्तु उसके दो सिक्कों पर लिखा हुआ है——शेरगढ़ उर्फ सक्करवक्कर हिजरी ९५० और ९५१।

मुलतान के सरदार बक्षुलंघा ने रातोंरात सभी कबीलों को इकट्ठा कर ५० नावों पर वक्कर के किले पर धावा बोलने के लिये भेजा; किन्तु आक्रमणकारी हार कर नावों पर लौट आये। बक्षुलंघा वहाँ स्वयं गया किन्तु उसे भी हताश हो कर रोढ़ी होते हुए और नावों को लूटते हुए मुलतान लौटना पड़ा। अन्त में वह विशाल अफगान सेना ले कर गया और सिन्ध को अधिकृत किया। अब इस मरुभूमि में शेरशाह के प्रतिकूल कोई षड्यंत्र नहीं रचा जा सकता था। मार्गशीर्ष १६०० में यह विजय हुई थी।

---

१. रावी से दस मील दक्षिण, बहावलपुर राज्य में।

राजपूताना

इस समय मल्लदेव राजपूताने का सबसे बड़ा राजा था। यह १५९० में सिंहासन पर बैठा। इसने पाँच-छै वर्षों के भीतर ही अपनी नीति और सैनिक बल से अपने साम्राज्य का विस्तार बहुत बढ़ा लिया। पूर्व में टोंक और मलराना, दक्षिण में आबू, पश्चिम में पोखरन और उत्तर में बीकानेर, नागौड़ इत्यादि उसके राज्य में सम्मिलित थे। उसने साँभर की नमक की झील को सुचारु रूप से चलाया और वीर राठौरों की ५०,००० सेना एकत्र की। १५९२ में चित्तौर की तृतीय शाका और १५९४ में गुजरात के बहादुर शाह की मृत्यु के बाद अब मध्य और पश्चिम भारत में दिल्ली के सम्राट् के सिवा उसकी बराबरी कोई नहीं कर सकता था। जब हुमायूँ और शेरशाह में बिहार-बंगाल में संघर्ष हो रहा था तो मल्लदेव ने खूब राज्य-विस्तार किया। वह चाहता था कि किसी प्रकार ये दोनों जूझते रहें जिससे मेरी मनोकामना पूरी हो। यदि शेरशाह हारता तो इसी का साथ देता। जिस प्रकार पानीपत के प्रथम युद्ध के बाद बाबर और राणा साँगा शत्रु बन गये उसी प्रकार अब बिल्वग्राम के युद्ध के बाद मल्लदेव और शेरशाह शत्रु हो गये। दिल्ली की गद्दी पर जो भी बैठता था उसे ही मालवा और राजपूताने के स्वतंत्र शासक ईर्ष्या और भय की दृष्टि से देखते थे। अब मल्लदेव चाहता था कि तलवार की सहायता से हुमायूँ को फिर गद्दी पर बैठाऊँ। इस विचार से जब हुमायूँ बक्कर में था तो उसने उसके पास १५९८ में पत्र भेजा कि हिन्दुस्थान जीतने में मैं आप की सहायता करूँगा। इस समय शेरशाह बंगाल दमन करने में लगा था और उसकी ५०,००० की विशाल सेना गक्करों के प्रदेश में थी। वह स्वयं ७०० मील की दूरी पर था। ग्वालियर का किला अभी मुगलों के हाथ में था। मालवा के सरदारों ने भी विप्लव मचा रखा था। यह सुनहला समय था। यदि इस समय हुमायूँ और मल्लदेव मिल कर काम करते तो कोई भी शक्ति उन्हें रोक नहीं सकती थी।

किन्तु भाग्यवाले का भूत भी हल जोतता है। हुमायूँ ने मूर्खता से मल्लदेव को अविश्वास की दृष्टि से देखते हुए या अपनी विजय के लक्षण न देखकर इस पर ध्यान न दिया। वह उठल्लू के चूल्हे की तरह इधर-उधर मारा फिरता रहा। अन्त में उसने १५९९ में उछ के रास्ते मारवाड़ जाने का निश्चय किया। रास्ते में जंगल के कंद-मूल खाते हुए वह दिलावर के किले के पास पहुँचा जो मल्लदेव के अधिकार में था। यहाँ से वह जैसलमेर, पोखरन होता हुआ फलौदी पहुँचा और मल्लदेव के पास जोधपुर अपना दूत भेजा।

एक तो हुमायूँ निमंत्रण के एक साल बाद पहुँचा, दूसरे बिना सूचना के। अतः मल्लदेव ने स्वयं जाना उचित न समझा। शाही फरमान में लिखा था कि शीघ्र स्वयं आ कर सेवा में उपस्थित हो जाओ। बलदेवने स्वयं उपस्थित न हो कर कुछ फल, निष्क, कवच और स्वागत-संदेश भेजा और कहलाया कि

मैं आपको बीकानेर देता हूँ। किन्तु हुमायूँ ने उसके स्वयं उपस्थित न होने पर सन्देह किया और वहाँ से पश्चिम की ओर प्रस्थान किया।

इसी बीच शेरशाह ने भी मल्लदेव के पास अपना दूत भेजा और मल्लदेव ने हुमायूँ को शेरशाह के पास बंदी बना कर भेजने का वचन दिया। यह सुनकर हुमायूँ भाग चला।

आगरे में सात मास रह कर शेरशाह ने बड़ी भारी सेना एकत्र की। लोग इसकी संख्या का अनुमान करने में असमर्थ थे। वे कभी-कभी एक पहाड़ी पर चढ़ कर देखते कि सेना कितनी लंबी है, पर उसकी लम्बाई का कुछ पता न चलता। बूढ़े कहते थे कि हम ने ऐसी सेना पहले कभी नहीं देखी थी।

मल्लदेव का मोर्चा दिल्ली से प्रायः ५० मील की दूरी पर ही था। अतः शेरशाह ने शीघ्र ही सेना के प्रस्थान की आज्ञा दी और प्रत्येक दल को कहा कि रात्रि में मिट्टी का मोर्चा बना कर रहना। किन्तु मरुभूमि में बालू का मोर्चा बनाना असंभव था। इस पर शेरशाह के पौत्र को सूझा कि बोरों में बालू भर कर मोर्चा बनाया जाय। इस सुझाव से शेरशाह बहुत प्रसन्न हुआ और बनजारों के बोरों में बालू से मोर्चा रचा गया।

उसने मल्लदेव को दूत भेजा कि या तो हुमायूँ को अपने राज्य से निकाल दो अथवा अफगानों को उसे निकालने दो। दूत पहुँचने भी न पाया था कि शेरशाह ने उसके राज्य में सिपाहियों को भेज दिया। मल्लदेव लड़ने को तैयार न था। अतः उसने हुमायूँ का पीछा करने के लिये कुछ सिपाहियों को भेज दिया। इस प्रकार कुछ काल के लिये शेरशाह और मल्लदेव की मुठभेड़ टल गयी।

किन्तु मल्लदेव सर्वदा शेरशाह की आँखों में खटकता था। बहाने की कोई आवश्यकता न थी। दोनों अपनी तैयारी में लगे थे। शेरशाह मेरता के पास अपनी विशाल सेना ले कर पहुँचा। वह राजपूतों की वीरता से मालवा में परिचित हो चुका था। अभी तक उसने युद्ध केवल चाल से जीती थी। उसके लिये दूसरा कोई चारा न था। वह जानता था कि राजपूत वीर उसका छक्का छुड़ा देंगे। अतः उसने कोई उपाय न देखकर गहरी चाल चली।

शेरशाह ने मल्लदेव के सरदारों की ओर से इस अभिप्राय का जाली पत्र लिखवाया। बादशाह विजय की कोई चिन्ता न करे। युद्ध के समय हम मल्लदेव को पकड़ कर उसके सम्मुख उपस्थित कर देंगे। इन पत्रों को खरीते में बन्द कर उसने अपने दूत को मल्लदेव के वकील के खीमे के पास भेजा। दूत ने वहाँ पर चिट्ठियों को गिरा दिया।

वकील ने पत्रों को पढ़ा और उन्हें मल्लदेव के पास भेज दिया। मल्लदेव चक्कर में पड़ गया। यद्यपि सरदारों ने स्वामि-भक्ति की शपथ ली किन्तु उसे विश्वास न

हुआ और वह विना युद्ध के ही जोधपुर भाग गया। कुछ सरदारों ने मिलकर अफगानों पर धावा बोल दिया। अफगान भागने लगे। इस पर एक अफगान ने आकर कहा कि जल्दी घोड़े पर सवार होकर भागों। शेरशाह नमाज़ पढ़ रहा था। वह चुप रहा। इतने में सूचना आयी कि खवासखाँ ने राजपूतों के प्रधान सरदारों को मार डाला। शेरशाह ने एक ठंडी साँस ली और कहा, मैं एक मुट्ठी बाजरे के लिये दिल्ली की गद्दी से हाथ धो बैठता। राजपूतों ने एक भारी भूल की कि वे घोड़े से उतर कर पैदल बरछे और तलवार से लड़ने लगे। अफगानों के हाथियों ने उन्हें रौंद डाला। इस प्रकार भाग्यलक्ष्मी शेरशाह के हाथ लगी। यह चैत्र १६०० की बात है।

अब शेरशाह ने जोधपुर में भी मल्लदेव को चैन न लेने के लिये दो और सेना बढ़ायी। उसने अजमेर और आबू पर भी अधिकार कर लिया। अब मेरता, अजमेर और रोहट तीनों ओर से जोधपुर का मार्ग खुल गया। मल्लदेव भाग कर गुजरात की सीमा पर सिवाने के किले में चला गया।

शेरशाह ने खवासखाँ को नागौर सौंपा और स्वयं लोगों के हृदय से भ्रम दूर करने के लिये अपनी राजधानी पहुँचा। जोधपुर के किले के पास खवासखाँ ने अपने नाम का एक नगर बसाया और सारा नागौर, अजमेर, मारवाड़ और जोधपुर अधिकृत किया।

मेवाड़

आगरा में एक मास रहने के बाद शेरशाह फिर अजमेर पहुँचा। वहाँ से चित्तौर की ओर चला। मेवाड़ की दशा इस समय अत्यन्त दयनीय थी। यदि पन्ना रक्षा न करती तो नीच बनवीर छोटे बच्चे उदयसिंह को भी मार डालता। अभीतक मेवाड़ का गृहकलह समाप्त न हुआ था। शिशु उदयसिंह १५९९ में गद्दी पर बैठा था। जब शेरशाह १२ कोस दूर ही था तभी राजा ने किले की चाभी भेज दी। शेरशाह ने इसे खवासखाँ के छोटे भाई को सौंपा। शेरशाह ने राजपूताने के किसी राजा को नहीं छेड़ा, केवल अपनी प्रभुता स्थापित करने के लिये उसने सेना सहित चक्कर लगाया, जिससे उसके अखण्ड साम्राज्य में कोई विघ्न न हो।

बुन्देलखण्ड

कालंजर के राजा कीर्त्तिसिंह ने आकर शेरशाह की अधीनता स्वीकृत नहीं की। अपितु कीर्त्तिसिंह के यहाँ एक अत्यन्त सून्दरी वेश्या थी जिसकी प्रशंसा शेरशाह ने सुन रखी थी। अतः उसने किले को हस्तगत करने की आज्ञा दी।

यह किला समुद्र की सतह से १२३० फीट की ऊँचाई पर बना है। यह एक उपत्यका पर बसा है। इसकी दीवारें ३५ फीट चौड़ी हैं और कहीं-कहीं पर १५० से २०० फीट ऊँची। चारों ओर जंगल हैं।

शेरशाह ने इसे चारों ओर से घेर लिया और दीवार खड़ी करने लगा। अन्त में दीवार इतनी ऊँची हो गई कि वह किले की भी दीवार से बढ़ गई और किले की भूमि दीखने लगी। सात महीने तक सिपाही और गुलामों ने अनवरत परिश्रम किया। २००० मजदूर गोला ढालने के काम में लगे रहते थे। मजदूरों के भोजन और मजदूरी पर दो लाख टंक प्रति दिन खर्च होता था किन्तु काम एक दिन भी न रुका। सारी तैयारी हो जाने पर शेरशाह हमला करने को स्वयं आगे बढ़ा।

दीवारों को फाँदना संकटमय था क्योंकि ऊपर की चट्टान गिरने से ये मर जाते। अतः किले की दीवार से लोगों को हटाने के लिये बाण का प्रयोग किया गया। शेरशाह ने बम का गोला मँगवाया और जहाँ पर गोला रखा था वहीं पर खड़े होकर गोले में आग लगा कर अन्दर फेंकने की आज्ञा दी। ये गोले चार-चार मन भारी थे। जब सिपाही गोले फेंक रहे थे सहसा एक गोला दीवार से टकराया और फट गया। पास के गोलों में भी आग लग गई बहुत से सिपाही जल कर मर गये। एक जवान शाहजादी भी मर गयी। शेरशाह भी आधा झुलस गया। लोग उसे खीमे में ले गये और सभी दरबारी इकट्ठे हुए।

शेरशाह ने आज्ञा दी कि चारों ओर से च्यूटों की तरह किले पर धावा बोल दी। जब कभी वह होश में आता तो अपने सिपाहियों को किला ले लेने के लिये ललकराता। यदि उससे कोई मिलने आता तो उसे लड़ने को भेजता। अतः उसकी अनुपस्थिति में भी सिपाही और अमीर वीरता से लड़े और अन्त में छुरे और खँजर से लड़ने लगे। जेठ का महीना था यद्यपि शेरशाह के शरीर पर चन्दन पोता जाता, गुलाबजल छिड़का जाता किन्तु प्रति क्षण उसकी व्यथा बढ़ती ही जाती।

दोपहर के बाद अफगानों ने किले में प्रवेश किया और घमासान लड़ाई हुई। संध्या की नमाज के समय विजय समाचार पहुँचा। शेरशाह का चेहरा इस सुसमाचार को सुन दमकने लगा। उसने ईश्वर को धन्यवाद दिया और कहा यही मेरी इच्छा थी। इस प्रकार १० रबिउल-अवल ६५२ हिजरी में शनिवार की शाम को उसने दुनिया से कूच किया। (आज अतस मुर्द)।

इधर राजा कीर्त्तिसिंह ने भी अपने वीर राजपूतों के साथ वीरगति पायी।

शेरशाह का शव लिंजर के पास ही लालगढ़ में दफनाया गया। बाद में उसके अवशेष लाकर सासाराम में दफनाए गए जहाँ उसने अपने लिये विशाल मकबरा बनवाया था।

गोरखनाथ का एक प्राचीन अप्रकाशित पद

(श्री अगरचंद नाहटा)

हिन्दी भाषा और साहित्य के विकाश में सिद्धों एवं नाथों की रचनाओं का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। अपभ्रंश भाषा से हिन्दी के विकाश का स्वरूप जानने के लिये यह साहित्य मध्यवर्त्ती श्रृंखला के समान है। बहुत वर्षों पूर्व "बौद्ध गान ओ दोहा" नामक ग्रन्थ बंगाल से प्रकाशित हुआ था। तभी से विद्वानों का ध्यान इस ओर आकृष्ट है पर हिन्दी के क्षेत्र में इस साहित्य की प्रसिद्धि का बहुत बड़ा श्रेय महापंडित राहुल सांकृत्यायन को है। उन्होंने सर्वप्रथम गंगा के पुरातत्त्व अंक में इस संबंध में अच्छी जानकारी उपस्थित की थी। स्व० पीताम्बर दत्त जी बड़थ्वाल ने गोरख वाणी का सम्पादन किया और हाल में ही डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने नाथ सम्प्रदाय पर मौलिक अध्ययन प्रस्तुत किया है। फिर भी, मेरी दृष्टि से, अभी इस दिशा में जैसा ठोस कार्य होना चाहिये नहीं किया गया। गोरखवाणी का संपादन यद्यपि कई प्रतियों के आधार पर किया गया है। पर वे सभी प्रतियाँ १९ वीं शती की थीं। अतः मूल प्राचीन पाठ का शोध परमावश्यक है। गोरखनाथ का समय ११ वीं शती माना गया है पर उनकी रचनाओं की प्रतियाँ १८ वीं शती की मिलती हैं। फलस्वरूप भाषा में काफी अन्तर व पाठों में प्रक्षेप[१] हो जाना संभव है। अन्य नाथों की वाणियाँ[२] तो अभी पूर्ण रूप से प्रकाशित भी नहीं हुईं।

---

१. हमने उपलब्ध गोरख पदादि की प्रतियों से प्रकाशित पाठ मिला कर देखा तो काफी पाठान्तर और भाषा में परिवर्त्तन पाया। १७ वीं शती की कुछ प्रतियाँ (गोरखनाथ के ग्रन्थों की) हमारे अवलोकन में आई हैं। अभी इसकी पूर्ववर्त्ती प्रतियों की खोज अपेक्षित और आवश्यक है।

बड़थ्वालजी को प्राप्त प्रतियाँ राजस्थान की थीं और गोरखनाथ जी की रचनाओं का इधर काफी प्रचार है और गोरखवाणी की भाषा में राजस्थानी का प्रभाव बहुत अधिक देखा जाता है। ऐसे शब्दों का अर्थ कहीं-कहीं वे समझ नहीं सके हैं। राहुल जी को प्राप्त नाथसाहित्य की प्रतियाँ कितनी प्राचीन हैं। यह भी प्रकाश में आना चाहिये। हिन्दी काव्यधारा में आपने कई रचनाएँ नाथों की प्रकाशित की हैं पर उनकी आधारभूत प्रतियों पर प्रकाश नहीं डाला गया।

२. राजस्थान में दादूपन्थी आदि सन्तों की वाणियों के संग्रह गुटके मिलते हैं। उनमें अनेक सिद्धों और नाथों की वाणियाँ हैं। देखें—सन्तवाणी में प्रकाशित मेरे लेख।

नाथ सम्प्रदाय का साहित्य बहुत विशाल है। सैकड़ों संस्कृत-ग्रन्थों के अतिरिक्त हिन्दी के भी बहुत-से ग्रन्थ जोधपुर के राजकीय पुस्तकालय आदि में प्राप्त हैं। जोधपुर राज्य में नाथ सम्प्रदाय का प्रभाव १९ वीं शती में ही अधिक रहा, फलतः प्राचीन प्रतियाँ और रचनायें कम हैं। पर नेपाल आदि में प्राचीन प्रतियों के मिलने की संभावना है। कोई विद्वान् सिद्धों एवं नाथों की वाणियों पर ही स्वतंत्र शोध और अध्ययन करे तो अच्छा हो। खोज करने पर संभव है गोरखनाथ के भी कई अन्य अप्रकाशित ग्रन्थों का पता चले। उदाहरणार्थ—जैसलमेर के जैन ज्ञान-भंडार में मैणावती की प्रति है जिसमें गोपीचंद का प्रसंग वर्णित है। इसकी भाषा हिन्दी है, पद्य-संख्या २०० है और प्रति १७ वीं शती की लिखित है। इसकी एक अन्य प्रतिलिपि भी उक्त भंडार में है। यह रचना अभी तक प्रकाशित रूप में अवलोकन में नहीं आई। अतः सम्पादन कर प्रकाशित करना आवश्यक है।

मैणावती का आदि-अंत इस प्रकार है:—

आदि—–मैणावती मुखों कथी अले, एहु देहा धर पासी।
पूता पिंडु सदा थिर पावौ, जे तुम्ह रहउ उदासी।१।

अंत——अंडज जारज उत भुज विनसै, सकली चेलहि माई।
भणत गोरख सुणि मैणावती, गोपीचंद पिंडु न पाई।२००।

इसी प्रकार, गत फाल्गुन की बात है, मेरा भ्रातृपुत्र भँवरलाल जैन कथासार शुभशील मणि का विक्रम-चरित ग्रन्थ देख रहा था। उसमें प्रसंगवश उद्धृत सुभाषितों में गोरखनाथ जी का भी एक अप्रकाशित पद प्राप्त हुआ। चूँकि यह ग्रन्थ सं० १४९९ में रचित हुआ अतः उसमें उद्धृत गोरख का पद बहुत महत्त्वपूर्ण है। उसमें १५ वीं शती में उनके पदों के प्रचार और उसकी भाषा आदि का पता चलता है। ऐसे अनेक पद जन-साधारण में प्रचलित होंगे जो लिखे नहीं जाने से स्मृति के गर्भ में विलीन हो गये हैं। लिखे गये होंगे तो उनकी प्रतियाँ नष्ट हो चुकी होंगी या किसी सरस्वती-भंडार में अज्ञात अवस्था में पड़ी होंगी। सं० १४९९ में रचित शुभशील के विक्रम चरित के भा० २ के पृ० ५६–५७ में प्राप्त गोरखनाथ का अप्रकाशित पद इस प्रकार है:—

पुत्ता मित्ता हुइ अनेरा नरहि नारि अनेरी।
मोहइ मोहिओ मूढ जंपइ मुहिआं मोरी मोरी॥
अतिहगहन अतिर अपारा, संसार सायर खारा।
बूज्झउ बूज्झउ गोरख केलइ, सारा धम्म विचारा।७३४।
कवण केरा तुरंग हाथी, कवण केरी नारी।
नरकि जाता कोई न राख ए हीअइ जोइ विचारी।७३५।
क्रोध परि हरि मान मनि करि माया लोभ निवारे।
अवर वइरि मन म आणे, केवल आपुं तारे।७३६।

विहार में गोरखनाथ की वाणी का प्रचार रहा हो तो उधर प्राप्त प्रतियों से पाठ सम्बन्धी सामग्री प्रकाशित होनी चाहिये।

वर्ण और जाति

श्री बटुक देव मिश्र, बी० ए०

हिन्दू समाज का विभाजन विभिन्न जातियों में हुआ है। इस विभाजन का आधार बहुमुखी है। इसके साथ ही साथ वह जटिलताओं से भरा पड़ा है कि उसका वैज्ञानिक विश्लेषण सहज नहीं। सबसे बड़ी मुश्किल तो यह है कि इस तरह के विश्लेषण में किसी जाति-विशेष, अथवा व्यक्ति-विशेष से, किसी तरह सहायता नहीं मिलती। सर्व-साधारण को इस विषय के संबंध में जो ज्ञान है वह अपूर्ण तथा अस्पष्ट है। इसके अतिरिक्त जिन सामाजिक विशेषताओं एवं विभिन्नताओं के साथ उनका अपना प्रत्यक्ष संबंध नहीं उनके प्रति वे सर्वथा उदासीन भी हैं। बंगाल के निवासी आज भी बंगेतर प्रदेशों के स्वदेशवासियों को साधारणतः 'हिन्दुस्तानी' कह कर पुकारते हैं। मारवाड़ी से मारवाड़ (अथवा राजपूताने) के सभी निवासियों को निर्देश होता है। इसी प्रकार 'बंगाली' शब्द से बंगाल के सभी तरह के निवासियों का बोध होता है। साधारणतः औसत व्यक्ति के लिए हर तरह का आदिवासी मात्र 'कोल-भील' है। अतः यह देखा जाता है कि यदि किसी व्यक्ति-विशेष से उसकी जाति के बारे में पूछा जाय तो वह भी कोई ऐसा ही कामचलाऊ उत्तर देकर संतोष कर लेता है जिससे पूछने वाले की उत्सुकता का निवारण हो जाय। सर्व साधारण को इससे बहस नहीं रहती कि बंगाली, मारवाड़ी अथवा कोल-भील के अंतर्गत भी तरह-तरह की जातियों के वैसे ही छोटे-छोटे समूह हैं, जैसे अन्य समूहों के बीच भी होते हैं।

दूसरी कठिनाई यह है कि 'जाति' शब्द से एक साथ कई तरह के अर्थ निकाले जात हैं। कभी तो 'जाति' से किसी व्यक्ति-विशेष अथवा समाज-विशेष के मूल निवास-स्थान का बोध कराया जाता है। और कभी उसके जीवन-निर्वाह के साधन अथवा पेशा का आभास मिलता है; कभी तो 'जाति' द्वारा वर्ण-व्यवस्था में किस का किस वर्ण में स्थान है इसका अनुमान स्थापित होता है, तो कभी समाज में सम्मान तथा आदर के नाते उसका स्थान किस स्तर पर है इसका बोध होता है। एक ही शब्द का जब इतने अर्थों में एक ही साथ व्यवहार होता है, तो 'जाति' का वास्तविक अर्थ क्या है, इसका निश्चय और विश्लेषण आसान नहीं रह जाता।

परन्तु कुछ गौर करने के बाद हम यह देखते हैं कि निवास-स्थान, पेशा, आदि के आधार पर जो विभाजन हैं उन्हें छोड़ कर हिन्दुओं के बीच चार भिन्न तथा स्पष्ट सामाजिक विभाजन हैं। यथा,

(१) शास्त्रोक्त ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, और शूद्र नामक चार वर्ण। इनसे अलग एक पाचवाँ वर्ण भी है, जिसे 'अस्पृश्य-शूद्र' कहा जा सकता है। अनुमान किया जाता है कि इन वर्णों की स्थापना के पहले समाज केवल दो भागों में बँटा हुआ था; आर्य (द्विज) और अनार्य (शूद्र)।

(२) आधुनिक 'जातियाँ' अथवा सामाजिक समूह, जिनके अलग-अलग सार्व-लौकिक नाम हैं और जिनका समूहगत तथा परंपरागत एक ही पेशा है।

(३) वे 'उप-जातियाँ' जिनमें प्रत्येक मुख्य जाति विभाजित है, तथा जिनके बीच आपस में शादी-ब्याह होता है।

(४) 'उपजातियों' के बीच के वे छोटे-छोटे विभाजन, जिन्हें गोत्र, गोत, कुल इल्लम् आदि कहा जाता है और जिनके बीच आपस में शादी-व्याह की मनाही होती है। इन छोटे-छोटे समूहों की उत्पत्ति अलग-अलग पूर्वजों से मानी जाती है।

जातियों की उत्पत्ति के बारे में भी एक मत नहीं। एक वर्ग का मत है कि जातियों की उत्पत्ति शास्त्रोक्त वर्ण-व्यवस्था से है। मनु ने समाज को मूलतः चार वर्णों में बाँटा है। इन चार वर्णों के बीच साधारणतः उन्होंने शादी-ब्याह की कैद लगाई है, परंतु इनके बीच शादी-ब्याह की संभावना हो सकती है, यह भी उन्होंने माना है। इन चारों वर्णों के बीच शादी-ब्याह होने के कारण जिन जातियों की उत्पत्ति होगी, तथा इन जातियों के भी मिश्रण से जिन अन्य जातियों की उत्पत्ति होगी, उनका विवरण मनुस्मृति में है। अतएव विद्वानों का एक वर्ग यह मानता है कि चार वर्णों के मिश्रण, तथा ऐसे मिश्रण से उत्पन्न वंशजों के और भी अधि-काधिक मिश्रण से ही, आधुनिक जातियों की उत्पत्ति हुई है। बहुतेरे विदेशी विद्वान् इस मत के पोषक हैं। परंतु सेनार्ट (Senart) आदि इस मत का पोषण नहीं करते। उनका कहना है कि वर्ण-व्यवस्था, अथवा स्मृतिकारों द्वारा समाज का जो वर्गीकरण किया गया है, उन वर्णों अथवा वर्गों से, जातियों की उत्पत्ति का कोई खास संबंध नहीं। उनका कहना है कि जातियाँ, वर्णों अथवा वर्गों से स्वतंत्र होकर एवं विभिन्न परिस्थितियों से प्रभावित हो कर उत्पन्न हुई हैं। पूर्व काल में विभिन्न जातियाँ अपनी स्थिति एक या अन्य वर्ण अथवा वर्ग में मानती थीं। आज वे इस तरह की वर्ण-व्यवस्था को मानती हैं। किंतु इसका यह अर्थ नहीं कि जिस वर्ण के अंतर्गत कोई जाति अपनी स्थिति मानती है, वही उसकी जाति भी है। वर्ण के आधार पर समाज का जो विभाजन है वह किसी जाति की श्रेष्ठता मात्र का द्योतक है। यदि कोई जाति अपनी गणना किसी एक खास वर्ण के अंतर्गत पहले करती थी या अब करती है तो उस वर्ण में गिने जाने के कारण उसे किस स्तर का सम्मान प्राप्त होगा, यही बात उसके लिए महत्त्व रखती है। इस प्रकार के वर्गीकरण से किसी ज्ञाति-विशेष पर खान-पान एवं शादी-ब्याह के जो प्रतिबंध रहते हैं, उन पर कोई असर नहीं पड़ता।

समाज का एक छोटा समूह जिस माध्यम द्वारा एक दूसरे समूह से अपने को अलग रखता है वह जाति है। एक ही वर्ण अथवा वर्ग के अंतर्गत जो विभिन्न जातियाँ होती हैं, उनमें एक दूसरे के साथ साधारणतः आत्मीयतापूर्ण संबं नहीं रहता । विशेष परिस्थितिवश इस वस्तुस्थिति में अंतर हो जाय, यह दूसरी बात है। कहा जाता है कि पोर्ट ब्लेयर में पुराने सजायाफ्ता कैदियों के बीच किसी एक जाति के लोगों की संख्या बहुत कम रहती है। अतएव परिस्थिति से विवश होकर प्रत्येक जाति को अपना दल बढ़ाने की जरूरत पड़ती है। लाचार हो कर उन्हें एक दूसरी जाति के साथ-खान-पान तथा शादी-ब्याह का संबंध करना पड़ता है। परन्तु इतने पर भी संतान की जाति पिता की जाति होती है। इस प्रकार किसी एक जाति की संख्या काफी बढ़ जाने पर, उस जाति-विशेष के अंदर खान-पान एवं शादी-ब्याह के प्रतिबंध पहले की ही तरह लागू नहीं हो जाएँगे यह कहना कठिन है।

यहाँ यह प्रश्न उठता है कि वर्ण-व्यवस्था और जाति-विभाग का आपस में सम्बन्ध क्या है। सरसरी नजर से देखने पर लगता तो ऐसा है कि वर्ण और जाति में पिता और संतान का संबंध है; मगर बात ऐसी नहीं। समाज का विभाजन मोटे तौर पर वर्ण अथवा वर्गों में किया गया है। समाज का छोटे-छोटे समूहों में जो विस्तृत विभाजन है वही जाति है। अतएव यदि प्रत्येक वर्ण को एक अलग परिवार मान लिया जाय तो जाति को एक परिवार का सदस्य मान लेना कठिन नहीं होगा। वर्ण समाज का बाहरी ढाँचा है, और जाति उसकी भीतर की बनावट। वर्ण यदि समाज के लिए अधिक मुख्य है, तो व्यक्ति-विशेष के लिए जाति। सर्वसाधारण को इससे बहस नहीं होती कि कोई व्यक्ति नाई है या तेली। उसके सामने मुख्य प्रश्न यह रहता है कि किसी व्यक्ति का छुआ पानी पिया जा सकता है या नहीं। इसका अर्थ यह हुआ कि समाज को अधिक चिंता इस बात की रहती है कि कोई व्यक्ति स्पृश्य है या अस्पृश्य छूत है या अछूत। व्यक्ति-विशेष के लिए यह अधिक मुख्य होता है कि कोई दूसरा व्यक्ति उस जाति का है, या नहीं जिसके साथ वह बेटी-रोटी का संबंध रख सकता है। इस कारण वर्ण-व्यवस्था यदि स्थूल रूप से समाज के जीवन के लिए आवश्यक प्रतीत होती है तो जाति समाज के विभिन्न सदस्यों के जीवन के लिए जरूरी है।

वर्ण-व्यवस्था के अनुसार हिन्दू जाति का स्थूल वर्गीकरण हुआ है। प्रायः इसी तरह अन्य देशों में भी समाज का विभिन्न समूहों में वर्गीकरण हुआ है। योरप में भी समाज का वर्गीकरण उच्च, मध्य, और निम्न श्रेणी में पाया जाता है। मैडागास्कर में भी कुलीन (Nobles), स्वतंत्र (freeman) और दास (Slaves) के बीच समाज का विभाजन पाया जाता है। फारस में भी आबादी को पुजारी (priests), योद्धा (wariers), कर्षक (Cultivators), तथा शिल्प जीवी (artisan) के बीच बाँटा गया था। परंतु यद्यपि मनु तथा अन्य स्मृतिकारों ने जनसमूह को प्रथमतः चार वर्णों में बाँटा फिर भी उन्होंने जातियों की स्थिति को भी स्वीकार किया

है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि चारों वर्णों के मिश्रण से मनु ने अन्य जातियों की उत्पत्ति मानी है। इन अन्य जातियों के भी आपस में मिश्रण से और अधिक जातियों की उत्पत्ति का विस्तार मनु ने दिया है। इससे यह अनुमान किया जाता है कि यद्यपि मनु-स्मृति की रचना के समय विभिन्न जातियों की संख्या आज की तरह अधिक नहीं थी फिर भी उस काल में भी परिस्थिति आज से अधिक भिन्न नहीं थी। चीनी यात्री ह्यान-त्सुंग सातवीं शताब्दी में भारत आया था। अपनी यात्रा के विवरण में उसने जो बातें लिखी हैं, उनसे पता चलता है कि उस काल में भी इस देश में वर्ण तथा जाति की साथ-साथ स्थिति थी। आज भी वर्ण तथा जाति साथ-साथ स्थित हैं।

समाज का जातियों के बीच जो विभाजन हुआ है उसकी व्याख्या करना आसान नहीं। जातियों का विकास, देश और काल के अनुसार, इतने विभिन्न कारणों तथा इतने समय में हुआ है, कि उन पर कोई एक नियम अथवा सिद्धान्त लागू नहीं होता। विभिन्न जातियों के बीच, एक दूसरे से अपने को अलग रखने की प्रवृत्ति, यद्यपि अंतः सलिला के प्रवाह की तरह समान रूप से पाई जाती है तथापि इसका पष्टीकरण भिन्न स्थानों तथा भिन्न समूहों में अलग-अलग रूप से हुआ है। इस प्रवृत्ति के फल स्वरूप, विधि निषेधों का जो रूप प्रकट होता है, वह सभी जगह तथा सभी समय, समान रूप से नहीं पाया जाता। इस संबंध में, इसी कारण, किसी स्वयं सिद्धि की अवतारणा नहीं की जा सकती। परंतु साधारणतः यह अवश्य कहा जा सकता है, कि जो विशेषता एक जाति को दूसरी जाति से अलग करती है, वह है खान-पान एवं शादी-ब्याह का प्रतिबंध। एक जाति के लोग किसी दूसरी जाति में शादी-ब्याह नहीं करते। खान-पान का भी उनके बीच कोई संबंध नहीं होता। शादी-ब्याह का संबंध तो एक जाति विशेष के अंदर भी काफी सीमित होता है। प्रत्येक जाति साधारणतः छोटी-छोटी उपजातियों में विभाजित रहती है। शादी-ब्याह इन्हीं उपजातियों के बीच अधिकतर अनुमित रहता है। खान-पान के संबंध में कई तरह के रस्म प्रचलित हैं। कहीं-कहीं एक जाति के सभी सदस्य एक-दूसरे के साथ खाते-पीते हैं। कहीं-कहीं यह रस्म एक जाति के अंतर्गत कुछ चुनी हुई उपजातियों के ही बीच प्रचलित है। ऐसे भी उदाहरण पाए जाते हैं जहाँ एक परिवार के लोग, अपने परिवार के सदस्यों को छोड़, दूसरे के साथ खान-पान का व्यवहार नहीं रखते। अतएव केवल इस आधार पर भी जातियों की व्याख्या उचित नहीं मालूम पड़ती। हमें इस निमित्त तब और अन्य आधार ढूँढ़ने पड़ेंगे। हमें तब यह देखना पड़ेगा, कि उन भिन्न जातियों के बीच, जिनमें आपस में शादी-ब्याह का कोई निषेध नहीं है, दूसरी और कोन-सी समानताएँ पाई जाती हैं, जिनके कारण उन्हें एक ही जाति का होना माना जा सकता है।

ऐसी समानताओं में, नाम और पेशा की समानता, काफी महत्त्वपूर्ण है। मगर यहाँ एक कठिनाई यह उपस्थित हो जाती है। बहुत से स्थलों में नाम किसी जाति के पेशा का ही द्योतक होता है। बहुत बार इस तरह का पेशा पुश्तैनी पेशा

होता है, मगर ऐसा हमेशा नहीं होता। पेशा के कुछ नामों से ऐसे सामाजिक समूहों का भी बोध होता है जिन्हें जाति की संज्ञा दी जा सकती है, मगर ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं जिनसे केवल पेशा का नाम निकलता है, और सामाजिक संगठन का बोध नहीं होता। कुछ शब्दों का व्यवहार किसी जगह तो एक अर्थ में होता है, और दूसरी जगह किसी दूसरे अर्थ में। कोलाबा के यहूदियों का, वहाँ के तेल के व्यापार पर ऐसा एक छत्र अधिकार था, और शायद अब भी है, कि वहाँ लोग उन्हें तेली की संज्ञा देते थे। मगर इसी कारण उन्हें साधारण तेली कहना असंगत होगा। परंतु यदि नाम की समानता के साथ-साथ, आचार-व्यवहार तथा समाज में मान-प्रतिष्ठा आदि की भी समानता हो तो, समाज के भिन्न-भिन्न समूहों के बीच एक प्रकार की सद्भावना दृढ़ होने लगती है, जो समय पाकर उन्हें एक जाति में संगठित कर देने की क्षमता रखती है। अतएव किसी ऐसे सामाजिक समूह में, जिसके सदस्यों के बीच खान-पान एवं शादी-व्याह का निषेध नहीं हो, यदि नाम, और पुश्तैनी पेशा आदि की समानता के साथ-साथ यह भी देखा जाय कि:—

(१) उनकी उत्पत्ति एक ही रूप से मानी जाती है;
(२) वे एक ही देवता तथा कुल-देवता की पूजा करते हैं;
(३) समाज में उनकी श्रेष्ठता एक ही वर्ग की है;
(४) वे एक ही प्रकार के आचार-व्यवहार बरतते हैं;
(५) वे अपने को एक जाति का मानते हैं; तथा
(६) समाज भी उन्हें एक जाति का मानता है;

तो ऐसे समान-कर्मा एवं समान-धर्मा व्यक्तियों को एक जाति की संज्ञा देना अनुचित नहीं होगा।

परंतु ऊपर जिन विशेषताओं का उल्लेख किया गया है, वे सभी अवस्था में समान रूप से नहीं पाई जा सकती हैं; और अपवाद की कल्पना भी आवश्यक है। उदाहरणार्थ हम ब्राह्मण जाति को ही ले लें। यद्यपि ब्राह्मणों की उत्पत्ति आदि के बारे में कोई मतभेद साधारणतया नहीं मिलता, परंतु सभी ब्राह्मणों के बीच खान-पान और शादी-व्याह नहीं होता। तो भी प्रायः सभी ब्राह्मण अपने को एक जाति का मानते हैं, और दुनिया भी उन्हें ऐसा ही मानती है। साथ ही साथ देश और काल के प्रभाव के फलस्वरूप कुछ समूह अपने को किसी बड़े समूह से कभी-कभी अलग भी कर लेता है या एक समूह से नाता तोड़ किसी दूसरे समूह में जा मिलता है। ऐसी हालत में उसे जाति-विशेष की शाखा अथवा एक पृथक् जाति मान लेना जरा कठिन हो जाता है।

हमें यह भी स्मरण रखना पड़ेगा कि देशों के विभिन्न प्रदेशों में समानधर्मा, समानकर्मा, एवं एक ही नाम की जातियों को भी, एक ही जाति मान लेना भूल होगी। बंगाल के कायस्थों, और बिहार अथवा उत्तर प्रदेश के कायस्थों के

बीच धर्म-कर्म या नाम की विभिन्नता नहीं है, परंतु इतने पर भी बंगाल और बिहार अथवा उत्तर प्रदेश के कायस्थ अपने को एक ही जाति नहीं मानते। लोग भी उन्हीं के मत का समर्थन करते हैं। इसका एक प्रधान कारण भी है। आज के कुछ ही दिनों पहले तक, इस देश के भिन्न-भिन्न हिस्सों की अलग-अलग जीवन-प्रणाली थी एक भाग का दूसरे भाग के साथ कोई विशेष सामाजिक संपर्क नहीं था। इसी कारण प्रत्येक भाग में जातियों का उद्भव और विकास अलग-अलग हुआ है। आज भी, जब यातायात के साधनों के कारण, तथा जीवन के और भी अधिक विषम हो जाने के बाद, देश का एक हिस्सा दूसरे हिस्सा के अधिकाधिक निकट होता जा रहा है, सामाजिक एवं धार्मिक विभिन्नता काफी अधिक मात्रा में वर्त्तमान है। समाज के विभिन्न समूह भी अपने को, एक दूसरे से अलग रखने की प्रवृत्ति को पूर्णतः भूल जाने को तैयार नहीं दीख पड़ते।

आज के साहित्यकार का कर्त्तव्य

भक्तिकालीन मौलिक प्रवृत्तियों पर भाषण करते हुए आचार्य श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने भक्ति-काल में प्राचीन भारतीय साधना की प्रवृत्ति और निवृत्ति, दो मार्गों के सामञ्जस्य पर जोर दिया और निर्गुण पंथियों को निवृत्ति, सूर को प्रवृत्ति और तुलसी को सामञ्जस्यवादी बताया और कहा कि भारतीय साहित्य और कला में सूर का प्रभाव तुलसी से कहीं अधिक है, यद्यपि भारतीय जीवन को तुलसी ने सबसे अधिक प्रभावित किया है। उन्होंने आधुनिक हिन्दी साहित्य को अन्तर्राष्ट्रीय साहित्यों में प्रमुख स्थान दिलाने के लिए साहित्य तथा जीवन, दोनों से सम्पर्क रखकर हिन्दी साहित्य को अन्य भाषाओं में अनुवाद द्वारा प्रचारित और प्रसारित करना आज के साहित्यकार का सबसे बड़ा कर्त्तव्य ठहराया।

—दैनिक 'आज'; काशी ; ९–१–५२

मगही भाषा और साहित्य

कपिल देव सिंह, एम्० ए०

अपने देश की स्वतंत्रता के पश्चात जनपद की भाषाओं के पुनरुत्थान की ओर विद्वानों एवं साधारण जनों का साथ-साथ ही ध्यान गया है। यह हर्ष का विषय है। अब लोग यह समझने लग गये हैं कि कृत्रिम एवं विदेशी प्रभावों से दूषित भाषाओं में जीवन के उस स्पंदन का सर्वथा अभाव है, जिसकी एक स्वाधीन जाति के प्राणधारण के लिए अत्यंत आवश्यकता है। यह कहना भ्रमोत्पादक है कि प्रत्येक जनपद की संस्कृति अन्य जनपदों से भिन्न है अतः अपने-अपने जनपदों की ओर लौट कर हम पृथक्-वर्गों में बँट जायँगे। सच तो यह है कि भारत की निजी संस्कृति सभी जनपदों में एक-सी ही है। यदि कहीं-कहीं कोई विभिन्नता है भी; तो वह मात्र बाह्य प्रभाव के कारण ही। अतएव ज्यों-ज्यों जनपदीय भाषाओं के अध्ययन एवं सूक्ष्म विवेचन प्रभृति की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट होने लगेगा त्यों-त्यों हम विवेक-बुद्धि से काम ले कर अपनी लुप्तप्राय संस्कृति तथा प्राणशक्ति का धीरे-धीरे परिचय प्राप्त करते जायँगे। स्वतंत्र देश के लिए वैज्ञानिक अन्वेषण आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है--इस सत्य से हमारा राज्य भी अवगत हो रहा है, यह उन्नति का चिह्न है। फलतः आजके युग में हम किसी भी भाषा को गौण या नगण्य नहीं कह सकते और न उसकी उपेक्षा ही कर सकते हैं। इन्हीं कारणों को दृष्टिपथ में रखकर "मगही भाषा और साहित्य" का यह संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया गया है।

बिहार राज्य की तीन प्रमुख भाषाएँ हैं १ मगही, २ मैथिली और ३ भोजपुरी। इनके भी अनेक सूक्ष्म उपभेद हैं, जिनपर भाषातत्त्वविदों ने प्रकाश डाला है। जन-संख्या की दृष्टि से भोजपुरी का सर्वप्रथम स्थान है लेकिन इसके बोलने वाले काफी लोग उत्तर प्रदेश के हैं, जो बलिया, बनारस तथा गोरखपुर जिलों के निवासी हैं बिहार के भोजपुरी बोलने वालों की संख्या इनसे कम है। बिहार में इसका क्षेत्र शाहाबाद, छपरा और चम्पारन और थोड़ा-सा छोटानागपुर के जिलों तक है। मैथिली बोलने वालों की संख्या भोजपुरी बोलने वालों से कम है। इसका क्षेत्र मुजफ्फरपुर, दरभंगा, भागलपुर और पूर्णिया के जिले हैं। इसका सम्बन्ध बंगाल से भी है। मालदह के थोड़े से निवासी मैथिली भी बोलते हैं। मगही बोलनेवालों की संख्या इन दोनों भाषा-भाषियों की अपेक्षा कम तो है लेकिन इसका संपर्क अन्य प्रांतों से नहीं है। इसके बोलनेवाले पटना, गया, मुंगेर, हजारीबाग, और भागलपुर के रहनेवाले हैं। इसका केन्द्र गया है, यद्यपि बिहार की राजधानी पटना इसी के क्षेत्र

में पड़ता है। इस क्षेत्र के उत्तर में मैथिली, पश्चिम में भोजपुरी, पूरब में छीका-छीकी तथा दक्षिण में उराँव आदि बोलियाँ प्रचलित हैं। इसके बोलने वालों की संख्या लगभग नब्बे लाख है।

मगही भाषा भारतीय-ईरानी उपकुल की एक जीवित भाषा है। सर जार्ज एब्राहम ग्रियर्सन ने अपने 'दी लिंग्विस्टिक सर्वे ऑफ इंडिया' के एक जिल्द में इस पर स्वतंत्र रूप से अपने विचार व्यक्त किये हैं। पुस्तक के आरंभ में बिहारी भाषाओं का सामान्य तथा एक स्थल पर अलग से मगही भाषा का कंकाल-व्याकरण भी लिखा है। एक विदेशी शासक एवं विद्वान् होते हुए भी उन्होंने भारतीय भाषाओं के उद्धार तथा अध्ययन के लिए जो भगीरथ प्रयत्न किया, वह अभिनन्दनीय है। ग्रियर्सन द्वारा प्रस्तुत की गयी सामग्रियों के आधार पर हार्नली ने भोजपुरी भाषा का एक अच्छा-सा व्याकरण लिखा है। इसी प्रवाह में वह इसके अतिरिक्त अन्य पाँच भाषाओं के भी तात्विक विवेचन कर गया है, जिन्हें वह 'गोडियन' भाषाएँ कहता है। कैलॉग ने मगही भाषा का एक व्याकरण लिखा है किन्तु अब वह संस्करण अप्राप्य है। ग्रियर्सन का 'सेवेन ग्रामर ऑफ बिहारी लांग्वेजेज' एक प्रामाणिक पुस्तक है। उसमें भी मगही भाषा पर विशद विवेचन हुआ है।

उनके मतानसार पटना जिलान्तर्गत बाढ़ की मगही पर मैथिली का प्रभाव है, जिसका अनुशीलन आवश्यक है। यह पहले ही निवेदन किया जा चुका है कि गया जिले की मगही ही शुद्ध मगही है। इसके कुछेक कारण हैं। धर्म-स्थान होने के कारण एक ओर यहाँ यदि कट्टरता है (जिसके चलते विजातीय संस्कारों से यहाँ की भाषा कुछ अंशों तक अछूती है); तो दूसरी ओर तीर्थ करने के लिए अनेक प्रांतों के लोग यहाँ सदैव आते रहते हैं; जिससे नगर की भाषा अन्य प्रांतों की भाषा से बराबर प्रभावित रहती है; पर गाँवों की भाषा इस संसर्गदोष से मुक्त है। पटना पर मुसलमानी सभ्यता का एक जमाने में बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा था (जिससे इसका नाम ही अजीमाबाद पड़ गया था); इसीलिए यहाँ की मगही पर उर्दू की प्रवृत्तियों की स्पष्ट छाप है। मुंगेर और गया के सीमाधिष्ठित गाँवों की बोली एक ही है अतएव वह भी शुद्ध मगही का ही एक रूप है। हजारीबाग और राँची की पहाड़ी तलहटी की बोली भी मगही है, जिसे ग्रियर्सन साहब मगही का एक उपभेद मानकर कुर्मीथाल कहते हैं। यहाँ के निवासी इसे रमगढ़िया मानते हैं। आदिवासियों को वे लोग कुर्मी समझते हैं। ये कुर्मी सम्भवतः मगह के निवासी हैं और इसीसे मगही का प्रसार उस दुर्गम स्थल तक हो सका है। इसमें संदेह नहीं कि शुद्ध मगही और वहाँ बोली जानेवाली मगही में ध्वनि संबंधी अन्तर तो है ही, साथ-ही साथ उस पर अनार्य प्रभाव भी परिलक्षित होता है। किन्तु इतना निश्चित है कि उस पर मुसलमानी संस्कृति का आवरण नहीं-जैसा चढ़ पाया है; भले ही, अंग्रेजी का प्रभाव यत्र-तत्र पाया जाता हो!

बिहारी बोलियों के भेद पर प्रकाश डालते हुए ग्रियर्सन ने 'सर्वे' में प्रश्न वाचक सर्वनाम का एक उदाहरण दिया है:--

कसकस कसमरा किना मगहिया
का भोजपुरिया की तिरहुतिया।

कसमर में (सारन जिला में) 'कस' मगही में 'किना' भोजपुरी में 'का' और तिरहुती में 'की' रूप पाया जाता है। इतना ही नहीं जब हम पटना, गया और मुँगेर जिले की मगही को लेकर उनका विश्लेषण करते हैं तब हम इनमें महान अंतर पाते हैं। पटना की मगही पर भोजपुरी की स्पष्ट छाप है तथा मुंगेर और गया की मगही में कोई महत्त्वपूर्ण अंतर नहीं है।

गया की मगही में आदरसूचक क्रियाओं के अधिकाधिक प्रयोग होते ह-- यहाँ तक कि पशुओं के लिए भी। वास्तव में मगही में क्रियाओं के चार प्रकार से प्रयोग होते हैं--एक आदरसूचक, दूसरा अनादरसूचक, तीसरा प्रत्यक्ष रूप में, चौथा अप्रत्यक्ष रूप में। जैसे--दूध पीब, हो बाबू? रोटी खैमे, रे हरिया? दूध पीबा बउआ? भात खायल जायत? मगही में खड़ी बोली तथा भोजपुरी की क्रियाओं के समान लिंग का अंतर नहीं है। देखिए--नानी घर जैमे छोटू? ससुराल जैमे मैंया? भोजपुरी में इसे इस प्रकार कहना पड़ता--ननिहाल जाइब छोटू? ससुराल जइबू बबुनी। अतः मगही में क्रियाओं का ऐसा स्पष्ट भेद नहीं है। यद्यपि कहीं-कहीं यह भेद परिलक्षित होता है, पर वह उपेक्षित-सा है। जैसे, बीरन चलले बजरिया, बच्ची चलली ससुरिया।

इसकी क्रियाओं में 'इल' प्रत्यय का अत्यधिक उपयोग होता है। सामान्यतः इसके प्रयोग तीनों बिहारी भाषाओं में पाये जाते हैं। गया जिला की ओर क्रियाओं में 'थू थू' का तथा पटना की ओर 'खिन खिन' का अधिक प्रयोग होता है। वर्त्तमानकालिक सहायक क्रिया 'हूँ' के रूप उत्तम पुरुष एकवचन में 'ही, 'हिकूँ' म. पु. हें, हही, प्र. पु. हइ., हउ तथा बहु. में ही, हही हहूँ हई आदि अधिकतर पाये जाते हैं। इनके कुछेक अन्य रूप भी प्रयोग में आते हैं।

पटना जिला की मगही पर भोजपुरी का प्रभाव है, जिसका उल्लेख पहले हो चुका है। जैसे, हम खाईला-आवीला, तोरे कहीला आदि। खाले भोजपुरी में जिस तरह 'का खाले, का करेलें, कहँवा जाल कहा जाता है, उसी तरह 'ल' का पटना की मगही की क्रियाओं के अन्त में 'ला' हो गया है। गंगा किनारे बाढ़ के निकट किसी-किसी दियारे में मैथिली-मिश्रित मगही का प्रयोग होता है, जैसे, हमरा के जैसन बोले आयत वैसने न बोलब, या, हमरा के कोनो समय छुट्टी रहैय जे सीखम, इत्यादि। मगही के प्रत्येक शब्द के अंत में 'बा' या 'का' जोड़ देना साधारण बात है--

लकिन जब हम विशेष ध्यानपूर्वक इन शब्दों को सुनेंगे तब मालूम होगा कि ये बा' या 'का' प्रत्यय, जो संज्ञा या विशेषण के अंत में लगे हुए हैं, किसी न किसी अर्थ की विशेषता के द्योतक हैं। आकार और इकार का भी भेद कहीं-कहीं पाया जाता है। जैसे, 'का करह, की करोहा तथा की करे हें' प्रभृति। गया जिला में इस 'झा' का अत्यधिक प्रयोग होता है--भता खा ही यौ। दला नै खैबौ। अतः संज्ञादि के तीन रूप होते हैं--घर घरा घरवा। बहुवचन के रूप न प्रत्यय तथा सम, लोग शब्दों के योग से बनते हैं। विभक्तियों में करण के लिए--एँ अधिकरण में ए का योग मिलता है। कारकों में ए, के, से सें, सेती, मे, में, ला, लागि प्रयुक्त होते हैं। उदाहरणार्थ--लाजे भभहू बोले नै अर्थात् लाज से बहू बोलती नहीं। पुरुषवाचक सर्वनाम एकवचन में हम, मोरा, बहु व० हमनी आदि के प्रयोग होते हैं।

मगही का बाह्य आवरण बड़ा ही रुक्ष है--वह मैथिली के समान मधुर नहीं और न भोजपुरी के समान लाठी मार। एक लोकोक्ति प्रसिद्ध है :--

हलियौ मगहिया कहलियौ रे।
सेकरा लेल की मारमें रे॥

एक बार 'रे' कहने के बाद मार खा चुकने पर भी एक मगही आदमी पुनः 'रे' कहने से बाज नहीं आयगा। यह भी प्रचलित है :--

मगध देश कंचन पुरी।
सभ भला, लेकिन भाषा बुरी॥

गंगा के उस पार के लोग मगह में मरना भी पाप समझते हैं, लेकिन वे लोग मगह और मगहर का भेद नहीं समझ सकने के कारण ऐसा सोचते हैं। कहा भी गया है :--

मगहर मरे से गदहा होई।

मगही भाषा में साहित्य का नितांत अभाव है। भोजपुरी में भी नाम मात्र का साहित्य है। मगर इस भाषा में लोक-गीतों की भरमार है। इधर एक-दो पत्रों का प्रकाशन भी आरम्भ हुआ है, जिनके भविष्य के विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता। आये दिन छोटी-मोटी पुस्तकें भी कलकत्ते तथा बनारस में छपती रहती हैं।

मगही का हिन्दी से कोई विरोध नहीं है। चैटर्जी महाशय ग्रियर्सन के समान बिहारी भाषाओं को पूर्वी समुदाय में स्थान नहीं देते, यद्यपि डॉ० धीरेन्द्र वर्मा ने इसे हिन्दी के ही मध्यदेशीय वर्ग में रखा है।

मगही का अतीत गौरवमय रहा है क्योंकि इसकी उत्पत्ति मागधी से हुई है, जिसका साहित्य बौद्ध-काल में बड़ा ही समृद्धशाली था। मगही को ही आधुनिक हिन्दी की जन्मदात्री होने का सौभाग्य भी प्राप्त है क्योंकि सिद्ध-साहित्य प्रायः मगही में ही रचित हुआ है।

इसलिए मगही पृथक्करण की निम्न मनोवृत्ति से अछूती है। यही कारण है जिससे मगही में स्वतंत्र साहित्य का निर्माण धड़ल्ले से न हो सका। तो भी 'लोरिक' तथा 'ढोला मारू' के गीतों का संग्रह हो चुका है। आये दिन मगही में भी कुछ साहित्यिक पुस्तकें उदाहरणार्थ 'सुनीति'–जैसे उपन्यास, जिसके लेखक नवादा के जयकांत जी हैं—की रचना होती रहती है, जो जागृति का द्योतक है। मगही के आधुनिक कवियों में श्रीकृष्णदेव जी का नाम विशेष उल्लेखनीय है। इनकी 'जग उनी' आदि कविताएँ पटना विश्वविद्यालय की प्रवेशिका परीक्षा के पाठ्य-क्रम में स्वीकृत हैं। रुद्र, विप्लव आदि की कविताएँ मार्मिक होती हैं। मुंगेर के लाल कवि एवं मुंगेर जिलान्तर्गत शेखपुरा के गरीब राम जी भी छोटे-मोटे गीतों की रचना करते हैं। 'पुण्डरीक' जी की कविताओं को आचार्य विनोवा भावे का आशीर्वाद प्राप्त है। जन हरि नाथ नामक एक मगही कवि का अनुसंधान हाल ही में 'तरुण तपस्वी' के संपादक आचार्य श्रीकांत शास्त्री ने किया है।

'तरुण तपस्वी' मगही की एक सजीव मासिक पत्रिका है। इसके संपादक मगही गीतों का संग्रह कर रहे हैं, जिसे वे "मागधी प्रेस" हिलसा, से प्रकाशित करेंगे।

बिहार राष्ट्र-भाषा परिषद् ने भी इस क्षेत्र में डॉ० विश्वनाथ प्रसाद एवं डॉ० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री के तत्त्वावधान में कुछ काम आरम्भ किया है। निस्सन्देह यह प्रयत्न स्तुत्य है; फिर भी व्रजमंडल जैसी किसी गैर सरकारी मगही संस्था की स्थापना की चेष्टा नहीं हो रही है। भविष्य में, इस ओर भी प्रयास होगा, ऐसी आशा है।

भाषा-साम्य

देश में जितनी भाषाएँ प्रचलित हैं, यदि वे नागरी लिपि का लिखने में प्रयोग करें, तो परस्पर एकता स्थापित हो सकती है। और वही भाषा बलवती और टिकाऊ होती है जिसका प्रचार और प्रसार जनता के हृदय पर होता है। उर्दू वालों को उर्दू के साथ-साथ हिन्दी का भी ज्ञान रखना चाहिए और हिन्दी वालों को उर्दू की उपेक्षा भी नहीं करनी चाहिए।

—आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र
दैनिक 'आज',
काशी ; ९–१–५२

बुद्धि का व्यंग्य

श्री अरविन्द का एक पत्र

श्री दिलीपकुमार राय ने अनातोल फ्रांस की निम्नलिखित उक्ति श्री अरविन्द के पास भेजते हुए लिखा—"अनातोल फ्रांस की (Les Dieux Ont Soif) 'तृषार्त्त देवता' नामक पुस्तक में विद्रूपकारी बोतो (Botteaux) ने साधु पुजारी लोंजमार के मुँह पर ईश्वर को लक्ष्य कर यह ठहाका कसा है :

या तो बात यह है कि यदि भगवान् में पाप-निवारण की क्षमता होती तो वे निवारण करते, किन्तु कर नहीं पाते हैं, या यह कि वे कर तो सकते हैं किन्तु करते नहीं हैं या यह कि न तो वे कर ही सकते हैं और न करेंगे ही, या यह कि वे कर भी सकते हैं और करना चाहते भी हैं। यदि बात यह है कि वे करते तो सही किन्तु कर नहीं पाते, तो वे अशक्त हैं, यदि वे कर तो सकते हैं किन्तु करते नहीं, तो वे दुष्ट हैं, यदि वे न तो कर ही सकते हैं और न करते हैं तो वे अशक्त और दुष्ट दोनों ही हैं, और यदि वे कर भी सकते हैं और करना चाहते भी हैं तो फिर पिता, यह तो बताइये कि पृथ्वी पर भला उन्होंने किया क्यों नहीं?

आपको यह उक्ति में भेज रहा हूँ, क्योंकि इसके ठट्ठे का मैंने बहुत मजा लिया और मुझे विश्वास है कि आपको भी मजा आयगा और आशा करता हूँ कि इसका समुचित उत्तर देकर आप इसकी निष्पत्ति करेंगे।

उसीका उत्तर श्री अरविन्द का यह पत्र है।

अनातोल फ्रांस सदैव ही रसके फौवारा हैं, चाहे वे भगवान् और ईसाई धर्म के बारे में या बुद्धिशील जन्तु मनुष्य के बारे में या विश्वमानव और उसकी बुद्धि और उसके आचरण के बारे में व्यंग्य कस रहे हों। किन्तु मैं समझता हूँ कि अनातोल से मिलने पर (मेरे ख्याल से मिलने का स्थान व्यंग्य का स्वर्ग रहा होगा, मृत्यु के पहले अनातोल के धर्मान्तर होने के बावजूद भी कार्ल मार्क्स का स्वर्ग नहीं रहा होगा) भगवान् ने हस्तक्षेप न करने का जो कारण अनातोल को बताया वह तुमने अभी तक नहीं सुना।

सुना जाता है कि घूमते-फिरते भगवान् उनके पास जा पहुँचे और बोले, "देखो अनातोल, तुम्हारा वह मजाक बहुत अच्छा था किन्तु मेरे हस्तक्षेप न करने का भी एक अच्छा कारण था। मेरे पास युक्ति-बुद्धि आयी और बोली: 'अरे, तुम्हारा अस्तित्त्व ही है, ऐसा तुम क्यों मान करते हो? तुम जानते हो कि तुम हो नहीं और

न कभी भी थे, या अगर तुम हो भी तो तुमने अपनी सृष्टि में इतना गड़बड़झाला कर रखा है कि हम तुम्हें अब और बर्दाश्त नहीं कर सकते। बस, एक बार तुम्हें राह से निकाल फेंका नहीं कि पृथ्वी पर सब कुछ ठीक हो जायगा, बिल्कुल ठीक, शुरू से आखिर तक, मैंने और मेरी कन्या विज्ञान ने मिलकर यह सब ठीक कर लिया है। सृष्टि का ताज मनुष्य अपना सर ऊँचा कर खड़ा होगा, महान्, मुक्त, समता और बंधुत्व से भरा, गणतंत्र को माननेवाला, अपने आपको छोड़ और किसी पर निर्भर नहीं करने वाला। विश्वचराचर उसको छोड़ उससे बड़ा और कोई नहीं होगा। कहीं पर भी भगवान् नाम की कोई चीज नहीं होगी, कोई देवता नहीं होंगे, कोई मंदिर नहीं होंगे, कोई पुरोहितगिरी नहीं होगी, कोई धर्म नहीं होगा, कोई राजा नहीं होगा, न कहीं उत्पीड़न, दारिद्र्य, युद्ध या अशान्ति। यंत्र-व्यवसाय पृथ्वी को बहुलता से भर देगा, वाणिज्य अपने मैत्री के सुवर्ण पक्ष सब जगह फैला देगा। जन-शिक्षा अज्ञान को उखाड़ फेंकेगी और किसी मानव-मस्तिष्क में मूर्खता या अयुक्ति के लिए कोई स्थान नहीं रहेगा; मनुष्य होगा सुसंस्कृत, अनुशासनपालक, युक्तिवादी, विज्ञानी, बहुत सारे तथ्यों को जानने वाला, पूर्ण और पर्याप्त तथ्यों पर निर्भर कर हमेशा ठीक नतीजे पर पहुँचनेवाला। वैज्ञानिकों और विशेषज्ञों की आवाज से धरती गूँज उठेगी और वह आवाज मानवजाति के लिए पृथ्वी पर स्वर्ग लायगी। समाज होगा निर्दोष, उन्नत चिकित्सा-विज्ञान और परिपूर्ण स्वास्थ्यतत्व सबको देंगे स्वस्थ शरीर; सब कुछ युक्ति पर प्रतिष्ठित होगा, जड़ विज्ञान विकसित होगा, वह होगा अचूक, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान; जगत् की समस्या सुलझ जायगी, सारे मनुष्यों की महासभा का जन्म होगा, विश्व के संयुक्त संघ का, विकास-क्रम जिसमें मनुष्य, भव्य मनुष्य है विकास की अंतिम सीमा—उसका चरमोत्कर्ष होगा सफेद जातियों में; हमारे पिछड़े हुए बादामी, पीले और काले भाइयों के लिए होगी सर्वमानविक सहृदयता और होगा उत्थान; शान्ति, शान्ति, शान्ति, युक्ति, शृंखला, ऐक्य, सर्वत्र। अनातोल, इस तरह की और कितनी ही बातें वह कहती गयी और मैं उस चित्र की सुन्दरता और सुविधा से इतना अधिक प्रभावित हुआ कि मैं उसी समय कार्य से अवकाश ग्रहण कर बैठ गया, क्योंकि अब न तो मुझे कुछ देखना था और न करना था, और तुम जानते ही हो, मैं शान्तिप्रिय स्वभाव का रहा हूँ। अति गौरव के समय पृष्ठभूमि में या पर्दे के पीछे रहना पसंद करता रहा हूँ। किन्तु मैं यह क्या सुन रहा हूँ। मेरे पास जो खबरें आ रही हैं उनसे ऐसा नहीं लगता कि युक्ति-बुद्धि, विज्ञान की सहायता से भी, अपना वादा पूरा कर रही हो। और यदि नहीं, तो क्यों नहीं? क्या इसलिए कि वह करना नहीं चाहती या इसलिए कि कर नहीं सकती? या इसलिए कि वह करना भी नहीं चाहती और कर भी नहीं पाती? या इसलिए कि वह करना चाहती भी है और कर भी सकती है किन्तु किसी कारण से करती नहीं है? देखो, अनातोल, उनकी इन संतानों का, राष्ट्र, यंत्र-व्यवसाय, पूँजीपतिवाद, साम्यवाद और बाकी जो कुछ भी हैं उन सबका चेहरा विचित्र हो रहा है। वे तो बहुत कुछ मानव-राक्षस जैसे दीख रहे हैं, बुद्धि की सारी क्षमता और जड़ विज्ञान

के सारे अस्त्रों से सुसज्जित? और ऐसा दीखता है कि राजाओं और मंदिरों के राज्यकाल से कोई अधिक स्वतंत्र अब की मानवजाति नहीं है! अरे हुआ क्या? कहीं ऐसा तो संभव नहीं कि युक्ति-बुद्धि परम और अचूक न हो स्वयं मैं गड़बड़झाला कर सकता था, कहीं उससे अधिक उसने न कर दिया हो!"

इस बातचीत की रिपोर्ट यहीं खत्म होती है, इसका जो कुछ भी मूल्य हो उसके लिए तुम्हारे पास भेज रहा हूँ, क्यों कि इन भगवान् से मेरा परिचय नहीं है और इस विषय में अनातोल फ्रांस की बात पर ही हमें विश्वास करना है।

(अनुवादक : श्याम सुन्दर झुनझुनवाला)

योरप के लोगों की आदर्श नैतिकता

'नार्वे' में जब पहुँचे तभी एक नोर्वेजियन ने अभिमान के साथ कहा था कि हमारे देश में कोई चोर नहीं है। उसने तो यह अत्युक्ति ही की होगी, किंतु हमें तो उसका एक अच्छा प्रमाण मिला। होलमेन कोलेन होटल शहर से दूर है, वहाँ से बिजली की रेल में आना पड़ता है। पहली बार जल्दी में हमारा 'सीने कैमेरा' स्टेशन पर छट गया; स्टेशन पर एक भी आदमी नहीं रहता, बिलकुल वीरान स्टेशन है। हम तो निराश हो गये, किन्तु जिसने उसे पाया, उसने अगली ट्रेन के ड्राइवर को दे दिया और वह टरमिनस स्टेशन पर हमारे हाथ में सही-सलामत पहुँच गया! योरप-यात्रा में इस प्रकार चरित्र की उज्ज्वलता हमें पद-पद पर दृष्टिगोचर हुई। सारे योरप के होटलों के कमरे होटल के नौकर-नौकरानियों की कृपा पर निर्भर रहते हैं। रहने वाले की अनुपस्थिति में कमरों की सफाई की जाती है; किंतु कभी कोई जरा-सी चीज भी गायब नहीं होती। देश विदेशों के दर्शन के साथ-ही-साथ यहाँ के निवासियों के इस चारित्र्य के परिचय से विशेष प्रसन्नता हुई।

श्रीगोपाल नेवटिया (धर्मयुग, बम्बई; ६-१-५२)

हस्तलिखित प्राचीन पोथियों का संग्रह : विवरण-पत्र

सम्पादक--डाक्टर धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री

[वर्ष २, अंक २ के पृष्ठ ७४ से आगे]

(३९) **वृहस्पतिवचनबोध**:---ग्रन्थकार–श्री वाचस्पति मिश्र। लिपिकार–श्री केशवनाथ शर्मा। अवस्था–जीर्णशीर्ण, हाथ का बना पुराना पतला कागज, सभी पृष्ठ पृथक्-पृथक् असंबद्ध। पृष्ठ–१०६। प्रति पृष्ठ पंक्ति लगभग--१०। आकार–प्रकार १९$\frac{३}{५}$" × ४$\frac{३}{४}$"।

भाषा--संस्कृत। लिपि–बँगला। रचनाकाल–शकाब्द–१७६। लेखन-काल-- × ।

प्रारंभ---ओं नमो गणेशाय। प्रणम्य सच्चिदानन्दं परमानन्द................।
मुनीन्द्रानां........सितस्तवे वक्ति श्री वसुनन्दनः ॥
मनिम्लु वैद्याय भागेषां संस्कारे शुद्धि निर्णयन्तु वः।
....।

अन्त—इति वाचस्पति मिश्र कृत वृहस्पतिवचनं विषयबोधो.....यदेव भाषितं मया, तत् क्षन्तव्यं बुधैः................। विवेचितं मनिम्लु समाप्तं। शकाब्दं १७६। श्री केशवनाथ शर्म्मणं स्वाक्षरं स्वकीय पुस्तकं चेदं। श्री दुर्गाचरणे मम भवितरस्तु। श्री काली। मम भक्तिवास्ता भवान्या शरणे।

विषय---संस्कार तथा वेदार्थ सम्बन्धी। ग्रंथ के ऊपर लिखा है--"साम श्राद्धे यजुः श्राद्धे शूद्रकृषे विचारणे ज्येष्ठा विंशतिस्थानतमे वक्ष्यामि यत्नतः।"

टिप्पणी--(१) अत्यन्त प्राचीन प्रतीत होता है। लिपि प्राचीन है। वर्तमान बँगला–लिपि से कुछ भिन्न है।

(२) आरंभ के पृष्ठ पर एक अस्पष्ट सूची है जिसमें निम्नलिखित विषय हैं--(क) शिवार्णवतंत्र, (ख) प्रायश्चित्त विवेक, (ग) जप प्रकार, (घ) व्रतानां विवेक, (ङ) रुद्राक्ष संस्कारादि, (च) परीक्षामंत्र, (छ) साक्षिरूपकथनम्।

(३) पोथी पूरी नहीं है। इसके कुछ पृष्ठ नहीं हैं। (विषय–सूची से २२३ पृष्ठों का पता लगता है।

(४) यह ग्रंथ श्री पं० जितेन्द्रमोहनदेव शर्म्मा भट्टाचार्य, स्मृतिरत्न (आनन्दमयी आश्रम, भट्ठा, पूर्णिया) से प्राप्त हुआ है। ५–पृष्ठों के वाम भाग में पृष्ठसंख्या है।

(४०) **बृहद्धर्मपुराणम्**--ग्रन्थकार- × । लिपिकार- × । अवस्था --प्राचीन, हाथ का बना, पतला कागज । पृष्ठ--८१ । प्रति पृष्ठ पंक्ति लगभग--१८ । आकार-प्रकार १८$\frac{१}{५}$" × ४$\frac{२}{५}$" । भाषा-संस्कृत । लिपि-बँगला । रचनाकाल- × ।

प्रारंभ--पृ० ६-इति श्री बृहद्धर्मपुराने तुराधारोपाख्यानम् । वैश्य उवाच--इतोपकथितो श्रेयान् मंत्रज्ञानप्रदो गुरुः न तस्य प्रति पुत्रादीन् श्रेयो वै ......।

दुर्लभं मानुषंजन्म तत्र ज्ञानं च दुर्लभं ।

न दृष्टवानपरं ब्रह्मभक्तं तेन वै संशयः ।।

अन्त--पृ० ११०-इति श्री बृहद्धर्मपुराने वैश्य जाबालि संवादे उत्तर खण्डे ब्राह्मणधर्म द्वितोऽध्यायः ।

वि०--महाभारतीय कथा के आधार पर रचना की गयी है ।

टि०--(१) ४५ पृष्ठ से ६५ तक है। ६६, ६७ पृष्ठ नहीं हैं। पुनः ६७ से ११७ तक है। बाद फिर १० पृष्ठ नहीं हैं। ग्रंथ १२७ पृष्ठों में समाप्त है। ग्रंथ देखने से ज्ञात होता है कि इसके और भी आगे के पृष्ठ नहीं हैं। प्रारंभ में ४४ पृष्ठ नहीं हैं।

(२) ग्रंथ के साथ विषय-सूची है, जो फटी होने के कारण ठीक नहीं है। निम्न लिखित सूची है :--

१-चन्द्रवंशे पाण्डवादि. २-तथावंशे यदुवंश । ३-शिववंश कथनं । ४-गणेशजन्म । ५-इन्द्राणां हि युद्धम् । ६-गणेशपञ्चशतनाम । ७-मध्यखण्डसमाप्तिमंगलम् । ८-चतुर्वर्ण उत्पत्तिः । ९-नीतिकथनं । १०-तर्पणम् । ११-बाजनीतिकथनं । १२-दण्डकथनम् । १३-वैश्य-नीतिकथनम् । १४-शूद्रनीतिकथनं । १५-रिङ्गददानं ।

(३) प्रारंभ के पृष्ठ ४,५, बीच में फटे हैं। प्रारंभ की पंक्तियाँ ६ पृष्ठ की लिखी गयी हैं।

(४) ग्रंथ दो भागों में विभक्त है। ११० पृष्ठ का--इति श्री बृहद्धर्म पुराणे वैश्य जाबलि संवादे उत्तर खण्डे ब्राह्मणधर्म द्वितीयोऽध्यायः ।

(५) ग्रंथ अनुसंधेय है। प्रसिद्ध अठारह महापुराण में यह पुराण नहीं है।

(६) यह पोथी श्री पं० जितेन्द्रमोहनदेव शर्म्मा, भट्टाचार्य, भट्टा, पूर्णियाँ के सौजन्य से प्राप्त हुई है।

(४१) **गुरुमोहन तंत्र**--ग्रंथकार- × । लिपिकार- × । अवस्था--असंबद्ध, प्राचीन, देशी कागज । पृष्ठ १० । प्रति पृष्ठ पंक्ति लगभग--१६ । आकार-प्रकार--१०$\frac{१}{५}$" × ४$\frac{१}{३}$" । भाषा--संस्कृत । लिपि--बँगला । रचनाकाल- × । लिपिकाल-- × ।

प्रारंभ--स्थावरं जंगमं चैव प्रणमामि जगद्गुरुम् । बन्दऽहं सच्चिदानन्दं भेदा दिदं जगद्गुरुम् ।

निजं पूर्णं निराकारं निर्गुणं स्वात्मसंस्थितम्। परात्परतरं ध्येयं निजमानन्दकारकम् ।।
हृदयाकाशमध्यस्थं संगस्थं चित्तसन्निभम्। स्फटिकं प्रतिभारूपं........।।

विषय––तंत्रसाहित्य ।

टि०––(१) इस ग्रंथ में पृष्ठसंख्या नहीं दी हुई है। लिपि और शैली प्राचीन है। ग्रंथ की बँगला–लिपि आधुनिक बँगला–लिपि से भिन्न है।

(२) यह ग्रंथ श्री पं० जितेन्द्रमोहनदेव शर्म्मा, भट्टाचार्य, भट्ठा (पूर्णियाँ) के सौहार्द से प्राप्त हुआ है।

(४२) **विवाह-पद्धति और दशकर्म-दीपिका**––ग्रंथकार– × । लिपिकार–श्री पशुपति पण्डित। अवस्था–प्राचीन, पतला देशी कागज । प्र० पृ० पं० लगभग–१२ लिपिकाल–× । पृष्ठ–५ । भाषा–संस्कृत । लिपि-बँगला । रचनाकाल–×

प्रारंभ––होमार्थं संकल्प्य। ततः पूर्वस्थापितोदकपात्र जलेन भूत............. वधूमूर्धन्यभिषिञ्चेदपरञ्च .... । ओं जाति पतिघ्नि प्रजाघ्नी पशुघ्नी...। प्रजापतये स्वाहा इदं प्रजापतये । ततो ब्रह्मणो........स्थालीपाकं गृहीत्वा.............।

अन्त––एभिर्मन्त्रैः शान्तिं कृत्वा उदकेनात्मानं वधूञ्चाभिषिञ्चामि........। छिद्रावधारणम् अर्यग्...........। इति पण्डित श्री पशुपतिकृतायां दशकर्मदीपिकायां विवाह-पद्धतिः सामाप्ता । अथ गर्भाधानम्–ततो नित्यकर्म ....।

विषय––यह ग्रंथ संस्कारों से सम्बन्ध रखता है।

टि०–– ग्रंथ अपूर्ण है। प्रारंभ के २४ पृष्ठ फटे हुए हैं। २८ पृष्ठ तक ही है। उसके बाद के पृष्ठ नहीं हैं। केवल विवाह-संस्कार का कुछ अंश है। पोथी के नाम से प्रतीत होता है कि इसमें दश संस्कारों की विधि दी हुई है।

यह ग्रंथ श्री पं० जितेन्द्रमोहनदेव शर्म्मा भट्टाचार्य, आनन्दमयी आश्रम, भट्ठा (पूर्णियाँ) की कृपा से प्राप्त हुआ।

(४३) **सतनाम-विहंगम**––ग्रंथकार–श्री गुरु नानक साहब । लिपिकार– × । अवस्था–अच्छी है, प्राचीन देशी कागज। पृष्ठ–१६३ । प्र० पृ० पं० लगभग ३० । आकार – × । लिपि–गुरुमुखी । रचनाकाल – × । लिपिकाल– × ।

प्रारंभ––साखी ।। हुक्म रजाईचलनानानकलिखियानालकिसकापरमारथतवअसाकहया सिधुजीमिलनरहनाआवनजाननांगभूखवक्षमारसबइसनोहुंकुमपरमेश्वरदेवीचहै ।।

अन्त--वाहेगुरुनिर्माणहैजापयाहोमपुनीत तिसेपरापतनानकातराविहंगम चीद,
पौड़ी--वोबैंबसकरलेततसजीया अमृतनामहोतनहिवीया
हहैहटासूधकरिराखैपी अमृतएहोमनतनतिरापै
जगे ग्यान किया मनमांहीजोचीनैंसो भरमैंनाही
रारेरांगबहुत अनकार नानक जबजब उतरे पार
इतीबिहंगमसंपूरन भुलाचुकावक्षणअक्खरलागकनासोध पढ़ाना ।
बोले भाई बाहेगुरुजी, सतगुरुजी, धन्य गुरुजी, बाहेगुरजी ।
एकओंकार सतगुरुप्रसाद ।।

वि०--जपुजी साहब (गुरुजी की प्रथमवाणी)

टि०--(१) गुरुनानक साहब के जीवन की एक कथा है--"गुरुनानक साहब सुमेरु पर्वत पर गये, वहाँ गुरुगोरखनाथ और मछेन्द्रनाथ उपस्थित थे। उनके साथ उस समय उनके शिष्य भाई मरदान जी (मुसलमान) और भाई बालाजी (हिन्दू) थे । वहाँ उन लोगों की गोष्ठी हुई थी । उस स्थान पर श्री गुरु नानक जी ने जो कुछ कहा, वह 'श्री जपुजी साहब' नाम से प्रसिद्ध है"। यह ग्रंथ--साहब का एक गुटका है ।

(२) इस ग्रंथ में 'जपुजी साहब' के अतिरिक्त 'सुखमणी साहब' भी है । 'सुखमणी साहब' पाँचवें गुरु अर्जुनदेवजी का लिखा है । इसमें उक्त दोनों ग्रथों की टीका है । टीकाकार ने मूल ग्रंथ की टीका के अतिरिक्त अपने भी विचार दिये हैं ।

ग्रंथ में, वाणी, साखी और शब्द का प्रयोग है । 'वाणी' सवैया और चौपाई को कहते हैं । यह एक छंद है । 'साखी' वाणी की व्याख्या है । वाणी को ही 'शब्द' भी कहते हैं ।

(३) इसमें बहुत-सी वाणियाँ ऐसी हैं, जो प्रकाशित और उपलब्ध "गुरुग्रंथ-साहब" और सुखमणी साहब जपुजी साहब, में नहीं है । ग्रंथ अनुसंधेय है । यह ग्रंथ, (यह टीका) अप्रकाशित है ।

(४) ग्रंथ के लिपिकार कोई उदासीन-संप्रदाय (सिक्ख संप्रदाय की एक शाखा) के साधु हैं । मूलग्रंथ और टीका के अतिरिक्त लिपिकार ने अपनी ओर से भी कहीं-कहीं कुछ लिखा है । लिपिकार ने अपने को 'विहंगम' कहा है । विहंगम का अर्थ होता है--अहन्ता, अभिमान से रहित । गुरुमुखी में, सिक्खों की भाषा में, 'साधु' को विहंगम कहते हैं । 'अतिथि' के लिए भी इस शब्द का प्रयोग होता है । उक्त लिपिकार ने ग्रंथ की समाप्ति के बाद ग्रंथ के लिए भी इसी शब्द का प्रयोग किया है । "इती विहंगम संपूरन" और "तिसे परापत नानका तरा

विहंगम चीद" में दो बार 'बिहंगम' शब्द आया है। ग्रंथ में अनेक स्थलों पर यह शब्द दुहराया गया है। इससे प्रतीत होता है कि लिपिकार कोई साधु सिक्ख है या इस नाम का कोई अन्य व्यक्ति।

(५) ग्रंथ में स्थान-स्थान पर लिपि में थोड़ा अन्तर है, जिससे ज्ञात होता है कि या तो भिन्न-भिन्न लिपिकारों ने मिलकर लिखा है, या लेखनी भिन्न होने के कारण ऐसी भिन्नता है। ग्रंथ को समाप्त करने के बाद पुनः लिखा है:--

"राग तेलंग किवाड़। अगम अगोचर अलख है रूप न लखा जाय। जोति की है दीदार दिया खै को अलार" आदि। दो पृष्ठ और लिखा है। लिपिकार ने ग्रंथ के प्रारंभ या अन्त में लिपिकाल की ओर संकेत नहीं किया है। अनुमान है, दो सौ साल पूर्व की पोथी है। इसकी लिपि अत्यन्त प्राचीन और अस्पष्ट है।

पोथी में कई स्थलों पर उदासी-संप्रदाय के सिद्धान्त की भी समीक्षा है। यह ग्रंथ श्री गुरुनानक साहब का है। प्रारंभ के कुछ पृष्ठ फटे हुए हैं। यह ग्रंथ बिहार राष्ट्रभाषा-परिषद् के संग्रहालय में सुरक्षित है। श्री गुरुप्रसाद जी, एम० ए०, सोहसराय (बिहार शरीफ, पटना) के सौजन्य से प्राप्त।

(४४) **कल्पवृत्ति**--ग्रंथकार-- × । लिपिकार--श्री भवेश शर्म्मा। स्थिति – अच्छी, बीच के कुछ पृष्ठ, प्राचीन होने के कारण, फट गये हैं। पृष्ठ–६०। प्र० पृ० पं० लगभग–१०। आकार– × । लिपि–प्राचीन बँगला। रचनाकाल–सं० १६८६। लिपि-काल– × । तालपत्र पर लिखित।

प्रारंभ--ओं नमः विनायकाय। गंगोटक विष्णुः। आहुतिः। श्री गणेशाय नमः।
श्री गणेशाय नमः। श्री गणेशाय नमः।
ओं कालिकायनमः।.................।

अन्त----इति ज्योतिषि जयादि विवक्षितकालिका। ओं नमः कालिकाय।
श्री गणपतये नमः। १६८६ सं० श्रीरस्तु शुभमस्तु दुर्गायै नमः।
श्री वामनाय नमः। श्री गणेशाय नमः। श्रीभवेशशर्म्मार्णः लिपिरियं।
शुभमस्तु। श्रीरस्तु। श्री गन्धर्वाय नमः। श्री गणपतये नमः।

वि०--ज्योतिष्-शास्त्र।

टि०-- (१) यह पोथी अत्यन्त प्राचीन और बड़े महत्त्व की प्रतीत होती है। इसकी बँगला-लिपि आधुनिक बँगला-लिपियों से नहीं मिलती है। "कल्पवृत्ति" के साथ ही और भी तीन-चार ग्रंथ हैं। अन्य ग्रंथों के

नाम स्पष्ट नहीं हैं। एक पत्र पर विषय-सूची या ग्रंथों के नाम दिये हुए हैं, जो अस्पष्ट हैं।

(२) ग्रंथ की लिपि अत्यन्त प्राचीन और अस्पष्ट है। स्थान-स्थान पर 'दुर्गायै नम.' और 'गणेशाय नमः' लिखा हुआ है। ग्रंथ के शोध से किसी महत्त्वपूर्ण विषय के पता लगने की संभावना है। ज्योतिष्-शास्त्र से सम्बन्धित, अब तक के प्राप्त ग्रंथों में इस नाम का कोई भी ग्रंथ नहीं है।

(३) यह ग्रंथ पूर्णियाँ-जिला-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के सुयोग्य मंत्री श्री रूप लाल जी "साहित्यरत्न" के सौजन्य से प्राप्त किया। यह विहार राष्ट्रभाषा-परिषद् के संग्रहालय में सुरक्षित है।

(४५) (क) **रामजन्म**--ग्रन्थकार-श्री संत सूर्यदास जी। लिपिकार-श्री जगेश्वर लाल। अवस्था-प्राचीन, हाथ का बना कागज। पृष्ठ-६०। प्र० पृ० पं० लगभग २६। आकार-प्रकार-- × । भाषा--हिन्दी। लिपि--नागरी। रचनाकाल- × । लिपिकाल-वैशाख-शुक्ल १४, रविवार-सन् १२८७ साल, सं० १९३७ वि०, १८८० ई०।

प्रारंभ--श्री गनेसजीसहाऐ .श्री गंगाजी सदा सहाऐ श्री कालीजी सदा सहाए श्री सरोसतीजी सदा सहाऐ श्री पोथी रामजन्म ॥

दोहा ॥ श्री श्री गुरचरनसरोज र नीजमनमुकुरसुधार
बरनोंरघुबरवीमलजस जोदाऐकफलचारी
ऐकभरासाऐकबल ऐकआसबीसवास
ऐकभरोसारामपर जापहीतुलसीदास

सुमीरीनी--कीरीपाकरोसीवनंदन पगुवंदोकरजोरी
गौरीसंकरकंठेवसौ सरोसतीहीरदेमहेस
तोहरेचरनमनोरथ सीधीकरोप्रभुमोर
भुलाअछर परगासहु गौरीके पुत्र गनेस

चौपाई--बरनोगनपतीवीरवीनीवीनासा रामरूपतुमपुरवहुआसा
बरनोसरोसतीअम्रीतवानी रामरूपतुमभलीगतीजानी
बरनो बसुधा धरैजोभारा रामरूपभऐ जगत्रप्रतीपाला
बरनोचादसुजकीजोरी रामरूपजसनीरमलीमोती

अन्त-- दोहा--सभ रानी असबोलही बेटा कहो तो पाप
सीता सभकी माता राम सभको बाप

चौपाइ--रामजन्मकथाजोनरपढइबढैधरमपापछैजाइ
सुनीके ग्यानजोनरकरइ रामजन्मकथाअनुसरड.

दोहा-- पाशरहाबहुतदीननकेमेटीसकतनाकोऐ
लीखनीबालाबावरादासगुरुकेहोऐ

दोहा—- सात सरग अपब्रग सुख घरीग्र तुलाऐंकसंग
तुलैनाताहीसकलमीली जोसुखलहै सतसंग

दोहा—- नामपहलुदेवसनीसी ध्यानतुम्हारकपाठ
लोचनपदनीगत्रीका परानजाहीके हीवाट
ऐतीश्रीपोथीरामजन्मसमपुरनस्मापतजोपत्रीमोदेखासोलीखाममदोषनादीग्रते
पंडीतजनसोमीनतीमोरीछुटलग्रछरलेवसभजोरीदसखतजगेस्रलाल

वि०—-- भगवान श्रीरामचन्द्र के जीवन से सम्बन्धित काव्य।

टि०—-(१) यह पोथी संत सूर्यदास की लिखी है। भाषा कुछ अवधी, भोजपुरी और कुछ-कुछ मागधी से मिलती-जुलती है। इस संत के नाम और रचनाओं का उल्लेख अब तक के किसी भी 'हिन्दी साहित्य के इतिहास' में नहीं हुआ है। ग्रंथकार संतश्रेणी के कवि प्रतीत होते हैं; क्योंकि स्थान-स्थान पर जीवनचरित्र से हटकर इन्होंने दार्शनिक विवेचन भी किया है। कथा का आधार 'रामचरितमानस' है। कथा संक्षेप में कही गयी है। केवल दोहों और चौपाइयों में रचना है। कुछ स्थानों पर अन्य रागों का भी मिश्रण है। इस रचना पर भक्तिकाल का प्रभाव प्रतीत होता है। ग्रंथ सुपाठ्य और विवेच्य है।

(२) लिपिकार ने पोथी के अन्त में अपना परिचय देते हुए लिखा है—- "दसखतजगेस्रलाल जीलागोरखपुरहाल परस्हरलकलकत्ता महलै टंडइलबगान सनबाहसै ८७ सालमहीनावैसाखसुदी १४ दीन अतवार के तईआर हुआ।" इससे ज्ञात होता है कि यह पोथी कलकत्ता मे लिखी गयी है। लिपि पुरानी और स्पष्ट है।

(३) यह पोथी श्री शहीद-द्वारका-पुस्तकालय, खुशरुपुर (पटना) से श्री पं० वासुदेव जी साहित्याचार्य के सौजन्य से, प्राप्त हुई है।

(ख) **रामरतनगीता**—ग्रंथकार—-श्री नंदलाल कवि। लिपिकार—श्री जुगेश्वर लाल। अवस्था—प्राचीन, हाथ का बना देशी कागज। पृष्ठ—६४। प्र० पृ० पं० लगभग—३२। आकार—प्रकार—- ×। भाषा—हिन्दी। लिपि—नागरी। रचनाकाल— ×। लिपिकाल—पौष, कृष्ण ६, शनिवार—सन्—१२८७ साल, सं० १६३७ वि० १८८० ई०।

प्रारंभ—-श्री गनेसजी सहाऐ श्री महादेवजी सहाऐ श्री सरोसतीजी सहाः श्री गंगाजी सहाऐ श्री पोथीरामरतनगीता।

दोहा—-- पहीलेगुरकेगाइऐजीन्हगुररचाजहान
पानीसोपीडज भयौ अलखपुरुखनीरवान
अलखपुरुखनीरवानहै उन्हकेलखैनाकोऐ
उन्हकोतोबाहीलखैजोबाहीघरकाहोऐ

चौपाइ--सीरीगुरवीसनकेचरनमगावों
जेहीपरसादगोबीदगुनगावों
सीरीकीरीसनरसग्रग्रीतबानी
गुरपरसादकछुकहोबखानी
ऐकसमैसीरीजदुराइ आरजुनसंग भएे ऐक ठाइ
धुपदीपलेग्रारतीकीन्हा चरनोदक ले माथे दीन्हा
हाथजोरीग्ररजुनभौठाठै तुमकेमाग्रामोहकस बाढै

दोहा-- तीनीलोककेठाकुरप्रभु भाखौ वचन.......।
बीनतीकरो ग्रधीनहोऐ दीनबंधु नंदलाल

चौपाइ--संसैऐकपरभुग्राहैचीतमोरेकहतहौनाथदुनोकरजोरै
स्रीकीरीसनबोलेबीहसाइ ग्रारजुनकहैसुनोजदुराइ

दोहा-- रामरतनगीताकँर ग्ररजुनकीन्ह ग्रनुसार
सकलसीरीस्टी सुनैचीतदेइ मुकतीहोऐसबसार

ग्रन्त की पंक्तियाँ--चौपाइ---देवनकेपाठैएहेगीतामानुखपढैसोहाऐनीरचीता
गीतापढैसुनेचीतलाइदुखदारीद्रसभजाऐपराइ
ग्रापुत्रीजोपरानीहोइगीतासुनैपुत्रफलहोइ
बरम्हग्यानमंत्रएहग्राही परमतंतुकरी ग्रारजुनराखा
तीनीलोकजोभरीपुरीराखा
सीरीमुखगीतास्मपुरनभेउग्रारजुनकैसंसैछुठीगएेउ

दोहा-- सीरीकीरीसन ग्रारजुनमीलै गुष्ठकीन्हऐेकढाव
से भगवंतहीतभाखेउ कुसल सीघपएहान समपुरन

विषय-- "राम-नाम" महिमा का दार्शनिक विवेचन।

टि० (१) ग्रंथकार का नाम ग्रंथ के ग्रादि या ग्रन्त में नहीं है। प्रारंभ के पद्यों में एक स्थान पर "बीनती करो ग्रधीन होऐ दीनबंधु नंदलाल" पद ग्राया है। 'नन्दलाल' भगवान श्रीकृष्ण के लिए ग्राया है, क्योंकि इस पद के पूर्व श्रीकृष्ण का प्रसंग है। यदि 'दीनबंधु' से श्रीकृष्ण का बोध हो सकता है, तो यह ('नन्दलाल') ग्रंथकार के नाम की ग्रोर संकेत कर रहा है।

(२) पोथी की भाषा ग्रवधी ग्रौर पच्छिमी भोजपुरी से मिलती-जुलती-सी है।

(३) इस पोथी में राम-नाम की महिमा के साथ-साथ दार्शनिक विचार भी हैं, जैसे:--

"ग्रारजुनसुनौक्रीसनकहही रामभजन ते सबसुखग्रहही
महीमामोरजोपावैकोईताकरदीस्टीसुरग्रैसनहोइ
महीमामोरीजोपावैमोहीसमानहोएसोए
सभमीली.....................।

वचनमोरसुनोजदुराइ नाम के महीमा कहतना आइ
एहेसामीकोईकहतना आवै नामके महीमाकहतन आवै
आरजुनउटीकैअस्तुतीलाइ जोगजीवनकहावुझाइ
तेहीतेसकलपापवहीजाइ नेमधरममोहीचीतदेइ
जहीवीधीमोरहोएउधारा मोही सेभाखोनंदकुमारा ''

६१ पृष्ठ के इन पदों में नाम, योग और धर्म आदि के सम्बन्ध में संकेत है। पूरे ग्रंथ में इसी प्रकार कृष्ण और अर्जुन के परस्पर-संवाद के रूप में विषय का विवेचन किया गया है।

(४) ग्रंथ में 'ए' के लिए 'ऐ' का और 'ऐ' के लिए 'एय' का प्रयोग किया गया है। इसी प्रकार 'ष' के स्थान पर 'ख' और 'ख' क स्थान पर 'ख' के नीचे बिन्दु देकर प्रयोग हुआ है।

(५) ग्रंथ विवेच्य और सुपाठ्य है।

(क) और (ख) दोनों पोथियाँ एक ही ज़िल्द में हैं तथा दोनों के लिपिकार भी एक ही हैं। ग्रंथ की लिपि प्राचीन और शैली भी पुरानी होने के कारण अस्पष्ट है।

(६) यह पोथी श्री शहीद-द्वारका-पुस्तकालय से, श्री पं० वासुदेव जी साहित्याचार्य (प्रधानाध्यापक, डी० ए० वी० मिड्ल स्कूल, खशरुपुर) के सौजन्य से, प्राप्त हुई है।

(क्रमशः)

भूमंडल का सर्वश्रेष्ट भित्तिचित्र

(इटली देश के) सागर मिलन में ही 'लियोनागो -द- विंची' की जगत-प्रसिद्ध चित्रकारी का नमूना 'लास्ट सपर' बस से टूटी एक पुरानी चर्च में है। सिर्फ वही एक दीवार बच गई है जिस पर भित्ति-चित्र था, बाकी सारी इमारत टूट गई जो अब फिर से गाँठी-साँठी जा रही है। कहते हैं, भित्ति चित्र का यह दुनिया भर में सर्वश्रेष्ट नमूना है। है तो बहुत जरा पुराना। उसकी कारीगरी अधिकतर तो कल्पना से ही स्थापित करनी पड़ती है। जिस प्रकार अजंता में। 'गाइड' ने तो पूरे १५ मिनट के लम्वे लेकचर में उसकी खूब तारीफ की। अजंता की चित्रकारी की तारीफ करने के लिए अपनी सरकार ऐसा 'गाइड' रखती तो शायद अजंता की ख्याति और भी फैलती।

——श्रीगोपालनेवटिया (धर्मयुग, बम्बई, २३-९-५१)

आत्म-संस्मरण

महामहोपाध्याय पांडेय सकलनारायण शर्मा

संस्मरणीय वही है जिसके गुणों की प्रसिद्धि है, जिसपर देश और समाज को गर्व है। गुणियों की गणना में जो स्मरण-पथ पर शीघ्र आ जाता है तथा जिसके माता-पिता, पुत्र की प्रशंसा से, परम प्रसन्न होते हैं। यदि गुणियों की सूची स्लेट पर लिखी जाती है तो जिसका नाम पहले आ जाय उसी की माता पुत्रवती है, अन्यथा वंध्या में और उसमें कोई अन्तर नहीं है।

"गुणि-गणगणनारम्भे न पतति कठिनी सुसम्भ्रमाद्यस्य ।
तेनाम्बा यदि सुतिनी वँदवन्ध्या कीदृशी भवति"।

जो शूर-वीर तथा दुष्ट है उसकी चर्चा होती है; पर वह उपकारी नहीं है अथवा पुण्य-श्लोक पवित्रकीर्त्ति नहीं है, उसकी याद श्लाघनीय नहीं होती --

"भयाद् भवति यस्य चर्चा यस्माल्लोको विकम्पते ।
नगण्यो मानवः सोऽपि वीर्यबाधा प्रचोदतः"।

सुकरात से एक बादशाह ने पूछा कि आपने शिक्षा किससे पायी है। उन्होंने उत्तर दिया कि अशिक्षित तथा असभ्यों से, ये जिस काम को करते हैं, मैं उससे दूर रहता हूँ।

मेरे संस्मरण में जो विषय निन्दनीय हैं उन से दूर रहना चाहिए।

बाल्यकाल

मेरा जन्म विक्रम-संवत् १६२८ में, पौषकृष्णाष्टमी गुरुवार को, वृष लग्न में हुआ। राशिनाम पोषदत्त है। सुनता हूँ कि आविर्भाव-स्थान 'आरा' में विशेष महोत्सव नहीं हुआ। मैं मोटा-ताजा था, पर चुपचाप अथवा सोया ही रहता था; बाल-लीला से माता-पिता तथा घरके लोगों को सुखी नहीं बनाता था; किसी से प्रेम-स्नेह नहीं था; आठ वर्षों तक कोई खेल नहीं खेलता था; मारपीट तथा घूमना--ये गुण अथवा अवगुण मुझ में थे। प्रतिदिन उलहना घर पर पहुँचता था। इसीलिए मैं घर से गायब रहता था।

कई पाठशालाओं में पढ़ने के लिए गया; पर दुष्टता करने के कारण निकाला गया। मेरे ज्येष्ठ भ्राता पं० सत्यनारायण पाण्डेय चिन्तित थे कि छोटा भाई वर्णमाला भी नहीं सीख सका। मैं एक पाठशाला में सन्ध्या सीखने पहुँचा और उसकी सीढ़ियाँ तोड़कर भाग आया। अध्यापक तथा छात्र कई घंटों तक उसी में बन्द रहे। अन्त में अध्यापक ने नौकरी छोड़ दी। उनका नाम पं० शालग्राम मिश्र था।

एक दूसरे पण्डित महावीर मिश्र जी थे। उनके बड़े-बड़े लोग शिष्य थे। वे मेरे ज्येष्ठ भ्राता के मित्र भी थे। मैं उनके पास पढ़ने को भेजा गया। उनके निवास-

स्थान के गचों को मैंने नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। उनके शिष्य जमींदार ग्रानरेरी-मजिस्ट्रेट बाबू ठाकुर प्रसाद सिंह ने पूछा कि मकान की दुर्दशा किसने की। मैंने उन्हें चिढ़ाते हुए अनुनासिक स्वर में कहा कि यह मेरा काम है। तब से वहाँ जाना बन्द हो गया। जब उनसे रास्ते में भेट होती थी तब मैं कहता था कि 'चश्मे दूरवीन वाले'!

मेरे बड़े भाई सदाचारी, तपस्वी, धर्मशास्त्राचार्य ग्रौर ग्रारा-जिला-स्कूल के हेडपण्डित थे। उन्होंने भागलपुर में कई सौ बीघे जमीन बनैली राज्य से ली थी; हजारों रुपयों की संस्कृत-पुस्तकें खरीदी थीं, उनका पढ़ने वाला कोई नहीं था। सबसे छोटा भाई महश्वरी पाण्डेय अंग्रेजी पढ़ता था। वह पढ़-लिख कर दुमका-जिले में पुलिस-इन्सपेक्टर हो गया। मैं १६ वर्ष का हो गया; पर मैंने कुछ विद्या नहीं सीखी।

दीवाली के दिन एक घटना हो गयी। मैं वर्णमाला जान गया। हिन्दी पढ़ने लगा। बाजार में उस दिन खिलौने बिकते थे। बड़े भाई साहब ने छोटे भाई को खिलौने खरीद कर दिये। मैं रोने लगा। नगर के सुप्रतिष्ठित रईस बुलाकी लाल जी बोले कि इसे भी खरीद दीजिए। उन्होंने कहा--'यह मूर्ख है, इसे खिलौने खरीद कर क्यों दूँ'? मैं रोता हुग्रा बोला कि कोई मुझे पढ़ाता नहीं, मेरे पास पहली पुस्तक भी नहीं है। उक्त बाबू साहब ने वर्णमाला की पोथी कीन दी ग्रौर वे बोले कि जितने ग्रक्षर लिखकर दिखलाग्रोगे उतने खिलौने दूँगा, मैं सैकड़ों खिलौने लिये जा रहा हूँ। घर ग्राकर मैंने पूरी पुस्तक एक घण्टे में लिख डाली। ग्रब हिन्दी पढ़ने लग गया। इसके पहले पढ़ने के लिए कोठरी में बन्द होना पड़ा था, कई बार मार खायी थी। कई गुरुग्रों के बैठने की जगहों में चींटी ग्रौर काँटे रख दिया करता था। ये मार-पीट कर निकाल देते थे। ईश्वर की कृपा से दो घण्टों में मुझे बहुत-से खिलौने मिल गये।

मेरे मकान में एक संस्कृत-पाठशाला थी। उसके छात्रों को मेरे भ्राता पढ़ाया करते थे। उनकी ग्रधिकांश शिक्षा ज्योतिष तथा कर्मकाण्ड (पुरोहिती वृत्ति) की होती थी। उनके पालन-पोषण का प्रबन्ध पाठशाला से होता था। मैं बैठकर उनका कण्ठस्थ करना सुनता था। कुछ दिनों में उन सब का पाठ मुझे ग्रभ्यस्त हो गया। मैं एक छोटा-सा पण्डित बन गया। लोगों को मेरी श्रुतिधरता पर ग्राश्चर्य हुग्रा। नगर के यजमान मेरा ग्रादर करने लगे। इससे ग्रार्थिक लाभ हुग्रा। मैं एक साथ पाँच-छः मनुष्यों की बातचीत का ग्रनुकरण कर देता था तथा बहुत-से कवित्त दूसरों के कहे हुए सुना देता था। इन बातों से परिवारवालों को कोई सुख नहीं प्राप्त हुग्रा— इसका कारण पढ़ने की विमुखता था।

लड़कपन की कुछ बातें

(१) एक धनी के लड़के ने ग्रपने सोने के कड़े से मेरा सिर फोड़ दिया। तब उसे मैंने 'चोंच' पर चढ़ाकर गिरा दिया। वह बेहोश हो गया। एक लकड़ी गाड़

दी जाती है। उस पर दूसरी लकड़ी, बीच में छेदवाली, रख दी जाती है और उसीके दोनों ओर दो मनुष्य चढ़कर घुमाते हैं। इसी का नाम 'चोंच' है। यह पुराना खेल है।

(२) एक लड़के ने मुझे मारा। मैं उससे छोटा था। मैं उसपर चोट नहीं कर सकता था। मैंने उसे एक गुदाम दिखलाया, जिसमें बहुत से अन्न के बोरे रखे हुए थे। चारों ओर के बोरे में एक जगह खाली थी। मैं उसमें घुस गया और निकल आया। साथ का प्रतिद्वन्द्वी भी उसमें पैठ गया। उसके दोनों हाथ भीतर चले गये। इसी समय मैंने उसे खूब मारा।

(३) एक दोमंजिला मकान बन कर तैयार हुआ। लड़कों से मैंने कहा कि जो ऊपर के कंगूरे से कूदेगा उसी की बहादुरी होगी। किसी का साहस नहीं हुआ। मैं कूद पड़ा। सिर फट गया। महीनों बीमार रहा। अभीतक दाहिनी ओर के सिर में बड़ा गहरा निशान है।

(४) बड़ी छोटी अवस्था में, महुली ग्राम (शाहाबाद) में, मेरी शादी हुई। बारात जाने की तैयारी हो रही थी। मैंने आँगन में सीढ़ी खड़ी करके आखिरी डण्डे पर बैलेंस ठीक किया। जरा-सी चूक हो गयी। नीचे रखी हुई थाली पर गिर पड़ा। दाहिनी भुजा कट गयी। हाहाकार मच गया। मैं पालकी पर जा बैठा। बाँह पर पट्टी बँधी थी। अब चिह्न देखने से ज्ञात होता है कि चोट गहरी थी।

(५) मैं प्रातःकाल स्नान करके मटर के समान छोटे शालग्राम जी को मोटी जलेबी के भीतर रख देता था। वही मेरी भक्ति की पूजा थी।

(६) आरा-जिला-स्कूल में श्री मोहिनी मोहन दत्त, एम० एं०, नास्तिक फिलासफर थे। उनसे मेरी बहस हुई। उनका पक्ष था कि ईश्वर को किसी ने देखा नहीं, अतः विना प्रत्यक्ष हुए अनुमान नहीं हो सकता,; धूम से अग्नि का अनुमान होता है; पर जिसने कभी अग्नि और धूम को नहीं देखा, वह कभी उनका अनुमान नहीं कर सकता; इसी प्रकार, ईश्वर अनुमेय नहीं हो सकता। मेरी उक्ति थी—"यदि किसी के अंग में दर्द है तो उसका प्रत्यक्ष दर्दवाले को होता है; जो भक्त हैं उन्हें ईश्वर के दर्शन होते हैं; वे अनुमान कर सकते हैं और करा सकते हैं। इस अनुमान का स्वरूप यह है कि पृथिवी आदि सकर्तृक है; कार्य होने से पृथिवी आदि का कर्त्ता बहुत बड़ा पुरुष हो सकता है। वही ईश्वर है। कर्त्ता के विना कार्य नहीं होता। पहले जो नहीं है, रचना होने पर जो प्रकटित होता है, वही कार्य है। 'क्षित्यंकुरादिकं सकर्तृकं कार्यत्वात् प्रागभाव प्रतियोगि कार्यम्।' दूसरा अनुमान यह है कि ज्ञान सीमावाला है। जो ज्ञान की पराकाष्ठा है वह ईश्वर है। 'तत्र सर्वज्ञातिशयी बीज़म्' (योग-सूत्र)। परमात्मा संसार को क्यों बनाता है? इसमें उसका क्या प्रयोजन है? क्योंकि वह तो पूर्ण कहा जाता है—'पूर्णमिदं। आत्मा केवल अनादि है। उसे केवल कर्म का फल बराबर मिलता है। इसका कोई नियामक होना चाहिए। नहीं तो सब को केवल सुख अथवा दुःख होगा। पर यह बात नहीं होती; क्योंकि करुणा-सागर परमेश्वर न्याय और दया करता है।

तथा यथायोग्य सुख-दुःख दोनों देता है। प्रलय में जब सब दुःख-रहित सुप्त-से रहते हैं तब उसकी यह करुण लीला है—'मुख्यं हि तस्य कारुण्यम्' (शाण्डिल्य-सूत्र)। इस पर प्रश्न यह उठता है कि सबको वह मुक्त ही क्यों नहीं कर देता? वह सबको कैसे सुखी कर दे? न्याय और दया दोनों उसके गुण हैं। नहीं तो यह दुनिया मुक्त और सुखमय दीख पड़ती; क्योंकि वह सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान महामाये (करुणा-सागर) और नित्य है—'ओं, सर्वज्ञं सर्वशक्तिमहामायञ्च ब्रह्म' (छान्दोग्य)।

मैंने बहस में उपर्युक्त बातें उस समय हिन्दी में कही थीं—जिनका मिलान इस समय संस्कृत-ग्रन्थों के प्रमाणों से हो जाता है। उस समय मैं सोलह वर्ष का था और बाग-बगीचों में घूमा करता था। आरा नगर के अहिरपुरवा-मुहल्ले में सूँड़ियों का एक मन्दिर है। वह बड़े एकान्त स्थान में है। वहाँ मैंने शिवजी से प्रार्थना की थी कि आप सर्वव्यापी हैं, मुझे इस योग्य बनाइये कि मैं आप को भलीभाँति समझ सकूँ और आपकी असीम दया का अनुभव करूँ। आश्चर्य की बात है कि वर्णमाला की पहली पुस्तक के अतिरिक्त दूसरी पुस्तक नहीं पढ़ी थी। घर में बड़े तथा छोटे भाई विद्वान थे। घर की संस्कृतपाठशाला में शास्त्रचर्चा सुना करता था। उसी के बल पर, अपनी बुद्धि से, बहस किया करता था। छोटा भाई अँग्रेजी तथा संस्कृत का पण्डित था। वह बैरिस्टरों के समान अँग्रेजी बोलता था। नियुक्ति के छः महीने के बाद ही पुलिस-इन्सपेक्टर बना दिया गया था। उसे संस्कृत बोलने तथा पण्डितों से शास्त्रार्थ करने का व्यसन था। उसने नौकरी करने के समय मुद्दई-मुद्दाले किसी का पान तक नहीं खाया। रिशवत की चर्चा उसके सामने कोई नहीं करता था। बिहार-बंगाल के बड़े पुलिस-साहब ने अपनी रिपोर्ट में यह बात लिखी थी कि महेश्वरी पाण्डेय पुलिस-विभाग का भूषण है। वह मुझे बहुत मानता था। बड़े भाई ने बीस वर्ष की उम्र में घर का बोझ सँभाला। पिताजी स्वर्गवासी हो गये। घर के नक्द रुपये हलवाई-कोठीवाले के यहाँ डूब गये। पर वे भगवान के भक्त थे। न जाने कैसे उन्होंने भाई-बहनों की शादी की तथा मकान बनवाया।

उन्होंने एक जमींदार को चार हजार रुपये ऋण दिये थे, वे भी नहीं मिले। पिता जी के शव को वे गंगा-तट पर ले गये और मुझे दो रुपये दे गये कि तुम दोनों भाई बाजार से मँगा कर खाना। मैंने मिठाइयाँ मँगवायीं और मुहल्ले के लड़कों को दीं। बड़ी खुशी हुई। जब लोग श्मशान-घाट से लौट आये तब मैंने पूछा कि अब कोई कब मरेगा कि मैं अपने साथियों को जलसा दूँगा? छोटा भाई इस जलसे में सम्मिलित नहीं हुआ। वह रोता था। वह स्वावलम्बी और मेधावी था।

एक बार हम दोनों भाई एक पंसारी की दूकान पर गये। वहाँ पिताजी बैठे थे। दोनों ने दो कौड़ियाँ उसकी थैली से चुरा लीं। जब यह बात बड़े भाई को मालूम हुई तब उन्होंने हम दोनों को नंगा करके घर से निकाल दिया। छोटा बोला, मैं इस घर में नहीं रहूँगा, पढ़ूँगा और नौकरी करूँगा। मुझे कपड़े मिल गये, मैं पहन

कर घर में चला गया; पर वह बड़ी आरज़ू-मिन्नत पर घर गया। फिर दोनों ने कभी चोरी नहीं की।

मेरे बड़े तथा छोटे भाई बड़े मितव्ययी और संयमी थे। मैं उनके विपरीत था; साधु-ब्राह्मण-छात्रों को खूब खिलाया-पिलाया करता था--उनके परिवार की सेवा-टहल यजमानों से मिले हुए पदार्थों से किया करता था।

शिक्षा-दीक्षा

श्री मुकुन्दी लाल के पौत्र राजबहादुर रात-दिन मेरे साथ रहते थे। एक नौकर उनके साथ रहा करता था। हम दोनों, महाजनी स्कूल के आँगन में, आँखमुंदौवल खेल रहे थे। उसी समय स्कूल के हेडमास्टर भदवर-ग्राम-निवासी बाबू हरिचरण सिंह आ गये। आते ही दपट कर बोले--"राजबहादुर, तुम बड़े कोठीवाल के लड़के हो, इस भिखमंगे ब्राह्मण के साथ क्यों रहते हो? यह तो भीख माँगकर भी खायगा, तुम्हारी कोठी कैसे चलेगी?" यह सुनकर हम दोनों वहाँ से चले आये। मुझे उनकी बातों का बड़ा दुःख हुआ। मैंने काँच (शीशा) को पीसकर धूल में मिलाया और जेब में भर कर तथा बेंत लेकर हेडमास्टर को मारने चला। विचार था कि आँख में धूल झोंक कर मारूँगा। वे सयाने थे, मैं छोटा था। इतने में बड़े भाई से पता लगा कि हेडमास्टर लोअर-प्राइमरी के परीक्षक हो गये हैं। मन में सोचा कि मैं उन्हें मारूँगा तो भी वे मुझसे बड़े ही रहेंगे। बस मारने का ध्यान छोड़ दिया। बड़े भाई से पूछा, क्या मैं परीक्षक नहीं हो सकता? वे बोले, तुम प्रथमा पास भी नहीं हो, तुम परीक्षक कैसे हो सकते हो? मैंने जेब की धूल फेंक दी और पढ़ने के लिए पुस्तक उठायी। तीन महीने तक पढ़ता ही रहा, रात में भी नहीं सोया। हिन्दी का अच्छा ज्ञान हो गया। काव्य, कोष, छन्द आदि का साधारण बोध हुआ। संस्कृत बोलने और लिखने का कामचलाऊ अभ्यास हो गया। पर प्रथमा में फेल ही हो गया; क्योंकि लघुकौमुदी और अव्ययीभावांत सिद्धान्तकौमुदी पढ़ी हुई नहीं थी। उस समय परीक्षा चार दिनों तक होती थी-- एक दिन व्याकरण; दूसरे दिन काव्य, कोष, छन्द; तीसरे दिन भाषा-प्रभाकर, सुन्दरकांड रामायण, हिन्दी-मुद्राराक्षस; और चौथे दिन वाचनिक प्रश्न होते थे।

फेल का दुःख कम होने पर, वैयाकरण-केशरी पं० पीताम्बर शर्मा के यहाँ व्याकरण पढ़ने जाने लगा। प्रथमा परीक्षा में प्रथम श्रेणी में पास हुआ। छात्रवृत्ति भी मिली। दूसरे वर्ष काव्य और व्याकरण की मध्यमा पास कर गया। इसमें भी छात्रवृत्ति लब्ध हुई। रात को दो घंटे सोता था। रास्ते में चलता-चलता भी पढ़ता था। एक बार द्वार पर टहल-टहलकर अध्ययन करता था कि गिर कर बेहोश हो गया।

बिहार-संस्कृत संजीवन-समाज की परीक्षाओं में श्री रामावतार शर्मा, पं० प्रद्युम्न मिश्र तथा पं० महावीर पाण्डेय भी मेरे साथ ही उत्तीर्ण हुए। श्रीयुक्त रामावतार शर्मा छपरा-निवासी थे। उन्होंने महामहोपाध्याय गंगाधर शास्त्री से संस्कृत-कालेज

(बनारस) में विद्या पढ़ी थी। वे साहित्याचार्य तथा एम्० ए० हुए। लड़कपन म वे महावीरजी के बड़े भक्त थे। अन्त में नास्तिक हो गये। उनका बनाया हुआ 'परमार्थ-दर्शन' बहुत उत्तम ग्रन्थ है। उनमें असाधारण विद्वत्ता और प्रतिभा थी। उनका परिवार सुशिक्षित है। हिन्दू-विश्वविद्यालय और पटना-कालेज में उनकी पाठ-प्रणाली की बड़ी प्रशंसा हुई। उनका खान-पान, आचार-विचार बड़ा शुद्ध था। वे नाना प्रकार की ऊटपटांग बातें बोला करते थे, जिनसे लोग उन्हे अर्ध-विक्षिप्त कहा करते थे। उन्होंने एक संस्कृत-कोष लिखना आरम्भ किया था जिसका मूल्य उन्हें एक लाख मिलता था, पर उन्होंने नहीं दिया। वे कभी-कभी मेरे घर पर आ-जाया करते थे। वे प्रति दिन नयी पुस्तकों के डेढ़-दो-सौ पन्ने अवश्य पढ़ते थे। मुझे उत्साहित किया करते थे कि तुम अपने से नयी पुस्तकें पढ़ा करो। तुमने पण्डित अम्बिकादत्त व्यास से आर्या छन्द तथा प्रस्तार उद्दिष्ट आदि सीखे तथा पटना के साहबजादा सुमेर सिंह जी से हिन्दी की कविता पढ़ी, यह ठीक नहीं; तुम उन विषयों को बार-बार देखते तो उनका अभ्यास स्वयं हो जाता। मैं अपनी सन्तानों को पढ़ाता हूँ। वे मूल पाठों को पढ़ते-पढ़ते विद्वान् हो गये। मैं कभी-कभी दो-चार शब्दों के अर्थ बतला देता हूँ। मैं उनके अनुरोध से स्वयं पढ़ने लगा। विषय थे दर्शन और वेद।

कल्याणपुर—(शाहाबाद) निवासी श्री प्रद्युम्न मिश्र जी बड़े प्रतिभाशाली थे। उन्होंने जो पुस्तकें पढ़ी थीं, वे उन्हें कंठस्थ थीं। उन्होंने अपने लड़के को शिक्षित नहीं किया कि पढ़ने से स्वास्थ्य बिगड़ जाता है। संस्कृत बोलने और लिखने में बड़े निपुण थे। वे युवावस्था में स्वर्गवासी हो गये। वे एक दिन आरा में मेरे पास आये कि आप सरस्वती-मंत्र बनाते हैं तथा विषम समस्यापूर्त्ति करते हैं। मैंने एक कागज पर बत्तीस कोष्ठक बनाये। उन्होंने निर्दिष्ट विषय पर श्लोक-रचना करने को कहा। मैं उनके बतलाये हुए विषय पर भिन्न-भिन्न कोष्ठकों में उलट-पलट कर अक्षर लिखने लगा। दो-तीन मिनटों में मंत्र बन गया और श्लोक तैयार हो गया। विषम समस्या-पूर्त्ति में वक्ता भिन्न-भिन्न विषयों के तीन चरण उपस्थित करता है। मैं एक चरण अपनी ओर से जोड़ दता हूँ और श्लोक पूर्ण हो जाता है। मैंने उन्हें यह पूर्त्ति दिखलायी।

पण्डित महावीर पाण्डेय जी 'रामसहर' के निवासी थे। काव्य और व्याकरण के अच्छे ज्ञाता तथा दार्जिलिंग-जिला-स्कूल के हेड-पण्डित थे। उन्होंने आवृत्ति के द्वारा 'सिद्धान्तकौमुदी' और 'साहित्य-दर्पण' कठंस्थ कर लिये थे। काव्य की टीकाओं में जो श्लोक थे, वे भी उन्हें याद थे। मैंने उनका अनुकरण किया। उससे मुझे बड़ा लाभ हुआ। मैं काव्य-व्याकरण-तीर्थ चार वर्षों में हो गया। मेरे शिक्षा-गुरु महामहोपाध्याय पं० रघुनन्दन त्रिपाठी जी, और पं० पीताम्बर मिश्र जी तथा व्याकरणाचार्य न्यायशास्त्री पं० गणपति मिश्र जी, (मठिया, बलिया-जिला-निवासी) थे। इन मिश्रजी की कृपा मुझ पर बहुत थी। ये मेरे घर पर भी आकर न्याय पढ़ाया करते थे। व्याकरण का अभ्यास पं० पीताम्बर शर्मा जी की कृपा से हो गया।

व्याकरण का परिष्कार पढ़ने के लिए काशी गया। वहाँ श्री संगमलालजी झा तथा तात्या शास्त्री जी से न्याय और परिष्कार का अध्ययन किया। पढ़ने के समय काशी नागरी-प्रचारिणी सभा के पुस्तकालय में जाया करता था। वहाँ पं० माधव प्रसाद मिश्र, श्री रामकृष्ण वर्मा, श्री गंगाप्रसाद गुप्त तथा बाबू श्यामसुन्दरदासजी से साहित्यिक विषयों पर वार्त्तालाप हुआ करता था। उक्त सभा श्री श्यामसुन्दरदासजी की देख-रेख में उन्नति कर रही थी। पं० रामनारायण मिश्र, पं० किशोरीलाल गोस्वामी और पं० रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी की उन्नति में लगे हुए थे। पं० मदनमोहन मालवीयजी हिन्दू-विश्वविद्यालय की उन्नति-चेष्टा में तत्पर थे। मैंने उनसे प्रतिज्ञा की कि मैं पढ़ना समाप्त करने के बाद विद्यालय की सेवा करूँगा। दुःख है कि अवसर आने पर कलकत्ता छोड़ कर वहाँ नहीं जा सका। मालवीयजी विद्यालय में अध्यापकों के लिए मुझे बुला रहे थे। महामहोपाध्याय प्रमथनाथजी कलकत्ता-संस्कृत-कालेज को छोड़कर काशी-विश्वविद्यालय में चले गये और वहाँ प्रिंस्पल हो गये। उन्होंने मुझे भी वहाँ जाकर काम करने के लिए कहा। पर मैं कलकत्ता-कालेज छोड़कर नहीं जा सका।

'चन्द्रकान्ता–सन्तति' की उन दिनों काशी में धूम थी। गहमर-निवासी गोपालरामजी के 'जासूस' का भी आदर था। उसकी भाषा बड़ी सरल होती थी। वे अपने 'जासूस' में भोजपुरी मुहावरों का भी प्रयोग करते थे। उनके छोटे भाई महावीरप्रसादजी गहमरी बड़ी अच्छी हिन्दी लिखते थे। इन लोगों ने 'भारतमित्र' और वेंकटेश्वर-समाचार' नामक पत्रों का महत्त्व अपने सम्पादन से बढ़ाया था। पं० लक्ष्मण-नारायण गर्दे जी ने अपनी लेखनी से हिन्दी म युगान्तर उपस्थित कर दिया।

विद्वद्वर पं० शिवकुमार शास्त्री, पं० गंगाधर शास्त्री, पं० तात्या शास्त्री, पं० बेचन-राम शास्त्री, पं० शीतलप्रसाद शास्त्री, पं० अयोध्याप्रसाद जी शास्त्री, पं० सुधाकर द्विवेदी आदि काशी के वृहस्पति थे। उनके दर्शन को दूर-दूर के लोग आते थे। मैंने अपनी माता के श्राद्ध में यथा-योग्य उनकी पूजा की थी। स्वामी विशुद्धानन्दजी, पं० राममिश्र शास्त्री जी, श्री याज्ञेश्वर जी आदि, उदयनाचार्य तथा वाचस्पति मिश्र के समान, सरस्वती के वरद पुत्र थे। उन्हें जगद्गुरु श्री शंकराचार्य, रामानुज स्वामी तथा मण्डन मिश्र की शास्त्रार्थ-प्रणाली तथा अध्यापन-कला अभ्यस्त थी। अब इन लोगों के समान जगत् में पण्डित नहीं हैं। हाँ, श्री बाबूराव विष्णु पराड़कर जी आज भी हिन्दी की सवा काशी में कर रहे हैं।

शास्त्रार्थ और व्याख्यान

"गुरुं हुंकृत्य तुंकृत्य विप्रान् निर्जित्य वादतः
अरण्ये निर्जले देशे जायते ब्रह्मराक्षसः ॥

अर्थात् "गुरु के अनादर करने से तथा शास्त्रार्थ में ब्राह्मणों के जीतने से मनुष्य निर्जल घोर जंगल में ब्रह्म-राक्षस होता है।"

इस उक्ति के ध्यान से मैं शास्त्रार्थ कम करता था। पर एक अवसर आ गया कि शास्त्रार्थ में प्रवृत्त होना पड़ा। पण्डित जगत्प्रसाद शास्त्री कई सन्दूक पुस्तक लिये हुए आरा में आये। 'जोड़ा-मन्दिर' पर कथा कहने लगे। वहाँ रामायण और महाभारत की कथा होती थी। उनका कहना था कि जगत् में प्रसिद्ध दोनों ग्रन्थ जाली हैं, मुझे असली दोनों कण्ठस्थ हैं, मैंने उन्हें अपनी माँ से पढ़ा है। कथा धारा-प्रवाह वाचनिक रूप से होती थी। प्रति-दिन पण्डित-मण्डली कथा सुनने को जाया करती थी। उनके कथन का सारांश यह है कि श्री जानकीजी भूमि में किसी की फेंकी हुई पड़ी थीं, हल जोतने के समय नहीं मिलीं; स्वयंवर का धनुष पुराना था, छूते ही टूट गया, श्री रामचन्द्र जी को यश प्राप्त हुआ; रावण को एक ही मुख था, वह छः शास्त्रों और चारों वेदों को जानता था, अतएव दशानन कहलाता था, तोप और बन्दूकों से लड़ कर जगत् में विजयी होता था; रामचन्द्र जी की सेना जंगली मनुष्यों की थी, उनमें दो दल थे—एक का नाम वानर और दूसरे का नाम भालू था; पहला दल वृक्ष की टहनी पूँछ की जगह पर खोंसा करता था और दूसरा दल भालू की खाल को ओढ़ा करता था; दोनों दल बड़े कारीगर और वीर थे, तैरने और पुल बनाने तथा किले की रचना में निपुण थे।

इसी ढंग की आश्चर्य-जनक बातें महाभारत की भी होती थीं। वेद की व्याख्या पुस्तक सामने रख कर करते थे। सायण, महीधर, उव्वट और नीलकण्ठ के भाष्यों को मूर्खतापूर्ण कहते थे। रावण-भाष्य की प्रशंसा भलीभाँति होती थी। भाष्य का थोड़ा अंश प्रतिदिन श्रोताओं को सुनाते थे। अवच्छेदकता-प्रकारता का मिश्रित संस्कृत घण्टों बोला करते थे। वह एकदम अशुद्ध होती थी।

मैं एक दिन उनकी कथा में गया और बोला कि आप झूठी कथा कहते हैं, वेद का कल्पित अर्थ कहते हैं। उन्होंने एक वेद-मंत्र लिखकर मुझे दिया और उस की व्याख्या मुझसे पूछी। मैंने व्याख्या लिख कर दी और उनसे शास्त्रार्थ किया। वे कथा छोड़ कर चले गये। लोगों ने उनकी विद्या-बुद्धि समझ ली। वे कथा की आमदनी से बड़े धनी हो गये थे।

मैं अपने विद्यागुरु श्री पीताम्बर शर्म्मा जी की बड़ी भक्ति करता था। एक दिन उन्होंने कहा कि तुम्हारे भाई श्री सत्यनारायण जी से मैंने दस्तावेज लिख कर कर्ज लिया है, सूद कई सौ रुपये हो गये, तुम कम करा दो, मैं अब वृद्ध हो गया, कुछ दिनों में संसार से चला जाऊँगा। मैं दस्तावेज पर वसूली लिख कर उन्हें दे आया। वे बड़े प्रसन्न हुए। दो-चार महीने के बाद बड़े भाई जी को दस्तावेज दे आने की बात मालूम हुई। वे भी बड़े सन्तुष्ट हुए। मैं डरता था कि वे रुष्ट होंगे। श्री पीताम्बर जी के श्राद्ध में भी मेरे ही रुपये खर्च हुए।

आरा-नगर में हजारों घर मेरे यजमान थे। मैंने पुरोहिती वृत्ति छोड़ दी। जीविका के लिए पोस्ट-मास्टर के पास गया कि मुझे पियन का काम दीजिए, मैं पाँच-छः भाषाएँ जानता हूँ और काव्यतीर्थ-व्याकरणतीर्थ हूँ। उन्होंने मुझे पहचान लिया

कि मैंने कई महीने तक आरा-जिला-स्कूल में हेड-पण्डित का काम किया है। उन्होंने मुझसे पूछा, क्या आप का वैमनस्य बड़े भाई से हो गया है कि आप छोटे काम के लिए आये हैं। उनसे मैंने कहा कि मैं बेकार बैठा हूँ, काम छोटा-बड़ा नहीं होता, काम करनेवाला छोटा-बड़ा होता है। भाई साहब को यह बात ज्ञात हुई कि मैं पियन की नौकरी करने गया था। वे रुष्ट होकर बोले कि तुम घर पर पाठशाला खोल कर पढ़ाओ, मैं बीस रुपये मासिक दिया करूँगा। मैं घर पर पढ़ाने लगा।

'शिक्षा' साप्ताहिक पत्रिका, खड्गविलास प्रेस (बाँकीपुर) से, बाबू रामदीनसिंह जी की अध्यक्षता में प्रकाशित होती थी। मैं इसका सम्पादक हुआ और सत्ताईस वर्षों तक सम्पादन-कार्य करता रहा।

आर्य-समाज के विरुद्ध वक्तृता देने और शास्त्रार्थ करने से उस समय अच्छी आय होती थी। इससे बिहार में प्रतिष्ठा हुई। सनातन-धर्म-सभा (आरा) में मेरे मुख से यह बात निकल गयी कि विलायत जाना तथा अक्षतयोनि विधवा का विवाह शास्त्र-संगत है, क्योंकि "स्वर्गम् गच्छ स्वाहा"-- यह वेद की आज्ञा है। मनुजी ने लिखा है कि स्त्री अक्षत योनि है और ससुराल आयी-गयी है तो दूसरे पति से विवाह कर सकती है--

"साचेद् अक्षतयोनिः स्याद्गतप्रत्यागतापिवा।
पौनर्भवेन भर्त्रा सा पुनः संस्कारमर्हति।।"

--(मनुस्मृति)

डाक्टर गणेश प्रसाद विलायत से आये। छपरा के कायस्थों ने जाति-बाहर करने के लिए काशी से पण्डित शिवकुमार शास्त्री जी को बुलाया। मैं उनसे शास्त्रार्थ करने के लिए स्मृतियाँ पढ़ने लगा। धर्मशास्त्राचार्य पण्डित बालगोविन्द तिवारी तथा उनके अनन्य मित्र पण्डित सत्यनारायण पाण्डेय ने मुझसे कहा कि तुम्हें हम दोनों की एक बात माननी पड़ेगी, तुम स्वीकार करो तो कहें। मैंने मानने की स्वीकृति दी। उस पर वे बोले कि हम दोनों के जीवन-भर तुम सनातन-धर्म की प्रचलित बातों के विरोध में कोई काम मत करो तथा छपरा मत जाओ। उन्होंने जो चाहा सो हुआ।

दानापुर में आर्यसमाज तथा धर्म-सभा में विवाद हुआ कि वेदों में "आखुवाहनम् गजाननाय" पाठ है कि नहीं; एक ही प्रेस में छपे वेद की दो प्रतियों में भिन्न-भिन्न पाठ हैं। अतएव एक पुस्तक जाली है, नये पन्ने छपवा कर जिल्द बाँधी गयी है, जो सनातन-धर्म की ओर से दिखलाई जाती है। एक पादरी पंच बना था कि वह निर्णय करे, कौन प्रति ठीक है। मैं बुलाया गया। मैंने वैदिक प्रमाणों से सिद्ध किया कि गणेश जी का वाहन मूषक है, चाहे झगड़ालू प्रतियों में कोई पाठ हो। सभा ने मेरी बात मानी। श्री गंगाविष्णु शर्मा विजयी हुए। उन्होंने मुझे बुलाया था। मैं आरा की गोरक्षिणी सभा की ओर से व्याख्यान दिया करता था। कई बार ब्रह्मपुर तथा सोनपुर के मेले में उक्त कार्य के लिए गया था। सीतामढ़ी में गोरक्षिणी की सभा में

वार्षिकोत्सव के समय गया। वहाँ के लोगों ने मेरी वक्तृता पसन्द की। भागलपुर में मेरे दो-तीन बार भाषण हुए। पटना में कई बार धर्म पर व्याख्यान हुए। इंजीनियरिंग स्कूल में सत्यनारायण-कथा पर समारोह हुआ। पटना की एक सभा में मेरी वक्तृता के अन्त में महामहोपाध्याय हरिहरकृपालुजी ने आलोचना की, कि वेद नित्य नहीं, वह पौरुषेय है। मेरा मत था कि वेद ईश्वर-निर्मित नहीं है--उसका ज्ञान है, उसकी अक्षर-मात्रा परा-रूप में ज्यों-की-त्यों है, वह नित्य है।

मुजफ्फरपुर के श्री पुरुषोत्तमदासजी वैष्णव, छपरा के श्री जीवानन्दजी काव्यतीर्थ धर्म-प्रेमी साहित्यकार थे। उन लोगों ने मेरा गौरव बढ़ाया कि पुराणों की रक्षा तथा श्रीवृद्धि मैं करूँ। मुंगेर में आर्य-समाज और सनातन-धर्म-सभा की ओर से शास्त्रार्थ हुआ। एक तरफ मैं था और पं० भीमसेन शर्मा तथा विद्यावारिधि पं० ज्वालाप्रसादजी थे। दूसरी तरफ श्री नित्यानन्दजी आदि दो संन्यासी थे। वे अच्छे वक्ता और प्रतिभा-शाली विद्वान् थे। उस सभा में केवल दो सौ मनुष्य भीतर जाने पाये थे, बाहर कई हजार मनुष्य खड़े थे। सभा में उपस्थित व्यक्तियों को समझा दिया गया कि वे बीच में कुछ न बोलें और न तालियाँ पीटें, हार-जीत का निर्णय मन में कर लें। पंडित नित्यानन्दजी बोले कि परमात्मा विना हाथ-पैर का है, 'ओं अपाणिपादो जवनोग्रहीता' आदि मंत्रों से सिद्ध है कि उसे शरीर नहीं, 'ओं सपर्यगाच्छुक्रमकायं' आदि से उसकी प्रतिमा नहीं होती, 'ओं न तस्य प्रतिमा अस्ति' आदि मंत्र भी यही बात कहते हैं, 'ओं पूर्णमिदम्' आदि मंत्र बतलाते हैं कि उसे भूख-प्यास नहीं लगती, उसका अवतार पृथिवी पर उतरना नहीं हो सकता, उतरने से सर्वव्यापकता नष्ट हो जाती है, गर्भ में रहना पड़ता है, जो मलमूत्र में वास है वह नरक के समान है, मूर्त्तिपूजा पत्थर-धातु की पूजा है; वह परम चेतन भगवान् का अनादर है। उनके बोलने का प्रभाव बहुत पड़ा। पण्डित ज्वालाप्रसादजी उत्तर देने को खड़े हुए। मैंने उन्हें निम्नलिखित रूप से सहायता दी--निरुक्त में लिखा है कि देवता का आकार पुरुष के समान होता है--"आकारचिन्तनम् देवतानाम् पुरुष विधाः स्युः आत्मैषवः आत्मायुधम् आत्मा सर्वम् देवस्य" (निरुक्त)। आत्मा के लिए आत्मा ही अस्त्रशस्त्र तथा आत्मा ही सब कुछ है। कपिल मुनि का मत है कि विना रजोवीर्य के ऋषि-मुनियों के हजारों सांकल्पिक शरीर उत्पन्न हो जाते हैं। देवताओं का शरीर सांसिद्धिक ज्योतिःस्वरूप नित्यकाय होता है। उसका यह शरीर उत्कृष्ट है, लोकातीत है। इसका सम्पर्क रज-वीर्य से नहीं है। "सांकल्पिकम् सांसिद्धिकम् चेति न नियमः" (कपिल-सूत्र) वह करुणा-मय सर्वज्ञ है। 'ओं सर्वज्ञम् सर्वशक्ति महामायञ्च ब्रह्म" (छान्दोग्य) इस मंत्र में 'माया' शब्द उत्कट दया तथा शक्ति का वाचक है। वह अपनी शक्ति से ब्रह्माण्ड का पालन-पोषण करता है। उसे लौकिक देह की अथवा हाथ-पैरों की आवश्यकता नहीं। उसके सब काम दिव्य शरीर से होते हैं। वेद-मंत्र में 'अकाय' शब्द आया है। उसी के आगे 'अव्रण' और 'अस्नायु' शब्द प्रयुक्त हैं। उनके अर्थ होते हैं कि उसमें व्रण और रग-रेशे नहीं होते। अर्थात उसकी देह व्रण और नाड़ियों से रहित दिव्य है, दोषयुक्त नहीं।

निरुक्त में ही लिखा है कि आत्मा पुरि-शरीर में निवास करती है, अतएव उसका नाम 'पुरुष' है। "पुरिशेते" (नि०) सामवेद में ईश्वर की पुरि-शरीर-मूर्त्ति की पूजा का विधान है। "अर्चत प्रार्चत नरः प्रिय मेधा सः। अर्चन्तु पुत्रकाउतपुरमिदम् धृ-ष्णु वर्चत" (सामवेद)। इसमें तन-मन से मूर्त्ति-पूजा की बात कही गयी है। लड़के भी अर्चना करें, यह धैर्य उत्पन्न करती है। मूर्त्ति-पूजा में 'तृतीया तत्पुरुष समास' है-- मूर्त्ति के द्वारा पूजा। मूर्त्ति की पूजा 'षष्ठी तत्पुरुष' नहीं है कि 'पत्थर की पूजा' अर्थ हो। पूजा करनेवाले 'प्रियमेधा' बुद्धिमान् हैं, जैसे मनुष्य चरण छूता है उससे सम्पूर्ण शरीर तथा आत्मा की वन्दना हो जाती है। उपनिषद् में कहा है कि ईश्वर के मूर्त्त और अमूर्त्त दो रूप हैं। अमूर्त्त रूप निर्गुण निराकार है--"ओं द्वे वै ब्रह्मणो रूपे मर्त्तञ्चामूर्त्तञ्च" (छां०)। सगुण रूप सांसिद्धिक साकार है, उसके द्वारा पूजा सरल है। ईश्वर की प्रतिमा नहीं होती, इस कथन में 'प्रतिमा' शब्द का अर्थ 'सादृश्य' है। उसका सादृश्य नहीं होता, यही तात्पर्य है। वाल्मीकि-रामायण में श्री रामचन्द्रजी को अप्रतिम (प्रतिमा-रहित) कहा है। अर्थात् वे सादृश्य-रहित हैं। "रूपेणाप्रतिमोभुवि" (वाल्मीकीय)। 'अवतार' शब्द में 'घञ्' प्रत्यय करण-कारक में है। मनुष्य जिसके द्वारा भवसागर से पार उतरते हैं--"अवतरन्ति जना अनेनेत्यवतारः"। अग्नि सर्वत्र विद्यमान है, घिसने आदि से प्रकट होती है; कहीं से आती-जाती नहीं, उसकी व्यापकता नष्ट नहीं होती। "अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टे रूपं रूपंप्रतिरूपो बभूव"। (यजुर्वेद)। परमात्मा अग्नि से भी अधिक प्रभावशाली है--जहाँ अवतार होता है वहाँ भी है, दूसरे स्थानों में भी है; वह भक्तिवश तुरत आविर्भूत हो जाता है; उसकी अवतार-मूर्त्ति में भक्तों की श्रद्धा बढ़ जाती है, और किसी को यह कहने का साहस नहीं होता कि उसे किसी ने देखा नहीं। प्रह्लादजी को संकट में देखते ही श्रीनृसिंहजी प्रकट हो गये। उनका सम्बन्ध माता-पिता तथा उनके रजोवीर्य से नहीं था। भगवान् श्रीकृष्ण अपनी माता देवकी के मन से उत्पन्न हुए, गर्भ से नहीं। "मनस्तोदधार" भागवत की यह उक्ति है। श्री रामचन्द्रजी भी 'चरु' से प्रत्यक्ष हुए। सृष्टि के आदि में मनुष्य विना माता-पिता के, गर्भ के विना, उत्पन्न होते हैं, फिर अवतारों के सम्बन्ध में माता-पिता की क्या आवश्यकता है? पूजा के सम्बन्ध में यह बात विचारणीय है कि किसी के घर में करोड़ों रुपये हैं, पर लड़के ने कहीं नौकरी की, अथवा व्यापार किया; घर आने पर उसने पिता के चरण पर वस्त्र तथा पाँच रुपये रखे। आप लोग सोचें कि पिता को प्रसन्नता होगी या नहीं? जगत् में एक भी मनुष्य नहीं है जो कहे कि उसकी पूजा से पिता सन्तुष्ट नहीं हुए। हा भगवन्! अब ऐसा समय आ गया कि पिता-पुत्र का सम्बन्ध लुप्त किया जा रहा है। परमात्मा पिता है, वह अपने पुत्र के प्रेम-प्रदत्त पत्र-पुष्प से अवश्य प्रसन्न होता है।

सभा के लोगों ने ताली बजा दी। सभा के बाहर खड़े लोगों ने हर्षध्वनि की। नित्यानन्दजी हतप्रभ हो गये। सनातनधर्म की विजय हुई। मैंने दोनों पक्ष की बात

लोगों को सुनायी और कहा कि भगवान् सारे चराचर को खाता है, उसे क्या नैवेद्य नहीं रुचेगा ? 'अत्ता सर्वम् चराचरमश्नाति" (वेद)।

उसके बाद मुंगेर में कई बार मेरा व्याख्यान हुआ। राजा कमलेश्वरी प्रसाद की ओर से तीनों पण्डितों की विदाई कई सौ रुपयों की हुई।

योग और तंत्र

भक्तश्री रामरूपजी ने मुझे राजयोग सिखलाया। मैं पद्मासन और सिद्धासन में निपुण हो गया, नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि स्थिर हो गयी और भस्त्रा-क्रिया सिद्ध हो चली। एक दिन कुण्डलिनी खुल गयी और प्राणवायु सुषुम्ना-नाड़ी से ब्रह्माण्ड पर पहुँच गयी। मैं अचेतन हो गया। न जाने कितने घण्टों तक अचेतन अवस्था में रहा। भक्तजी जाति के लोहार थे। किवाड़ तोड़ने के हथियार लिये मेरे घर पर आये। उसे तोड़कर मेरी प्राण-वायु लौटायी और बोले कि आप मेरे मकान पर मेरे सामने योग-क्रिया करें कि मैं रक्षा करता रहूँगा। मैं एक दिन उनके घर पर जा रहा था कि रास्ते में पण्डित पञ्चानन ज्योतिषी से भेंट हुई। वे बोले, छीः छीः आप पण्डित होकर लोहार के शिष्य हो गये हैं। मैंने लज्जित हो कर योग-क्रिया छोड़ दी। भक्तजी के संसर्ग से मैं ऊर्ध्वरेता-सा बन गया था। उन्होंने मुझे दो रत्ती गेहूँ का सत्त और पाँच मुनक्के पाव भर दूध के साथ कई महीने तक खिलाये। उससे बीस वर्षों की धातु-क्षीणता नष्ट हो गयी। उन्हें मनुष्य के मरने का समय ज्ञात हो जाता था। एक लड़का उनके पास मेरे संग गया। वे उसे देखकर बोले कि इससे 'ओं' का जप कराइये, नहीं तो भगवान् जानें, क्या होगा। वह एक महीने के बाद गंगाजी में डूब कर स्वर्गवासी हो गया। एक दिन मैं एक बन्द लिफाफा लिये कहीं जा रहा था। उनसे भेंट हुई। वे लिफाफा की चिट्ठी की एक-एक पंक्ति कह गये और बोले कि आप लिफाफा खोल कर पढ़िये। बड़े आश्चर्य की बात है कि उनकी कही हुई एक-एक बात लिफाफे की चिट्ठी से ज्यों-की-त्यों मिल गयी। तब उन्होंने कहा कि मैं लोहार हूँ, मुझे सिद्धि से क्या काम ? यदि आपमें मेरे समान शक्ति हो जाय, तो सैकड़ों पञ्चानन आपको घेरे फिरेंगे।

योगक्रिया के समय मैं व्याख्यान नहीं देता था, शास्त्रार्थ नहीं करता था। इससे उनकी ओर फिर ध्यान नहीं गया। मैंने उसके बाद वटुक-भैरव, यक्षिणी तथा कालीजी की आराधना आरम्भ की। वटुकजी के अनुष्ठान से अच्छी सहायता मिली। लोगों की भूत-प्रेत-ग्रह-बाधा मेरे पास आते ही दूर हो जाती थी। जब यक्षिणी की पूजा प्रारम्भ हुई, तब मुझे रात को पूजा के समय नींद आ गयी। उसने मुझे जगाकर कहा कि अपनी क्रिया करो। मैंने उसे गाली दी। वह रुष्ट हो गयी। आवाहन का मंत्र कागज पर लिखा हुआ था, वह गायब हो गया। वह दो-चार दिनों में प्रत्यक्ष हो जाती; पर मैंने वह सुयोग नष्ट कर दिया। रात को नहर के पानी में खड़े हो कर 'स्वर्णाकर्षण' का जप करता था। वह दो-चार दिनों में बन्द हो गया। उसकी सिद्धि होने पर बिछौने के नीचे प्रतिदिन तीन रुपये मिलते रहे। किसी लड़के के अँगूठे में

स्याही लगाकर और 'या करीमन' कहकर प्रश्न करता, तो ठीक-ठीक उत्तर मिलता था। इस क्रिया के करने के समय 'कलमा दरूद' पढ़ना पड़ता था; इसलिए मैंने इसे छोड़ दिया। कालीजी बड़ी उग्र देवता हैं। 'दश महाविद्या' पुस्तक में उनका वर्णन है। यंत्र-पूजन, मंत्र-जप, कर्पूर-स्तवराज-पाठ और काली-सहस्र-नाम का कीर्त्तन करना पड़ता है। कई मास अनुष्ठान करने पर कर्ण-पिशाचिनी सिद्ध हो गयी। मैं मूक प्रश्न का उत्तर देने लगा। फिर कानों में बार-बार सुनाई पड़ने लगा कि "मद्यं देहि, मांसं देहि"। मेरे यहाँ 'साम्बशिव राधारमणजी' की उपासना होती है। मैं मद्य-मांस नहीं छू सकता था। मेरे घर में हैजा हो गया। दादी, स्त्री और दाइयाँ मर गयीं। पुरश्चरण बन्द हो गया। पर मुझ में यह शक्ति आ गयी कि विना पढ़ा-लिखा ग्रन्थ भी समझ में आने लगा।

आरा नगर में एक सरकारी वकील थे। एक दिन मैं उनके यहाँ तिवारी जी वैद्यराज के साथ गया। उनकी लड़की भूत-ग्रस्त थी। मुझे देखते ही वह बोली कि 'उन्हें मेरे सामने से हटा दीजिये। रुग्णा अच्छी हो जायगी'। वह नंगी रहती थी, सो उसने साड़ी पहन ली और अच्छी हो गयी। मेरे मन में इच्छा हुई कि श्री शंकराचार्य तथा श्री रामानुजाचारी के समान वैदिक मत का प्रचार करूँ। मैंने संस्कृत-साहित्य, ईसाई धर्म-ग्रन्थ तथा मुसलमान-धर्म-पुस्तकें पढ़ना प्रारम्भ किया। आरा में रामलीला हो रही थी। उसके मेले में एक ईसाई व्याख्यान दे रहा था कि हिन्दू-धर्म घृणित है। उसकी यह कथा है कि ब्रह्माजी कामातुर होकर अपनी पुत्री के पीछे दौड़ रहे थे, इत्यादि। मैं उसके सामने दूसरी ओर वक्तृता देने को खड़ा हो गया और बोला कि ब्रह्माजी की कथा में प्रजापति का अर्थ सूर्य्य है और पुत्री का अर्थ ऊषा (सबेरा) है—सूर्य्य जैसे-जैसे दिखाई पड़ता है वैसे-वैसे ऊषा भागती जाती है। इसमें कोई अश्लील बात नहीं है। बाइबिल की पुरानी इंजील में भी कथा है कि हजरत लूत की दो लड़कियों ने अपने पिता को शराब पिला कर उनके साथ संभोग किया, इत्यादि। बस, मेरे नाम से वारण्ट निकला। मैं स्वयं कलक्टर साहब के पास चला गया। मैंने बाइबिल की पुस्तक उन्हें दिखलाई। उन्होंने कहा कि यद्यपि आपकी बात सच है, तथापि आप सार्वजनिक स्थान में ऐसी बात नहीं कह सकते, जिसे सुनकर साम्प्रदायिक ईसाइ-मुसलमानों को कष्ट पहुँचे। मैंने उनकी बात मान ली और घर चला आया।

—(अगले अंक में समाप्य)

उपासक दशासूत्र

अर्थात्

दस उपासकों की कथा

सप्तम अंग : प्रथम अध्ययन

अनुवादक—श्री रञ्जन सूरिदेव

संक्षिप्त परिचय :—

['उपासक दशासूत्र' श्वेताम्बर जैनियों का सातवाँ धर्मसूत्र (अंग) है। नाम के अनुसार ही यह दस उपासकों (श्रमणोपासकों) के दस अध्ययनों (व्याख्यानों) का संग्रह है। अथच यह श्वेताम्बर जैनियों के प्रथम धर्मसूत्र 'आचारांग सूत्र' का दूसरा भाग-सा प्रतीत होता है। अन्तर इतना ही है कि इसमें जैन गृहस्थों के धर्म और नियम उल्लिखित हैं तथा 'आचारांग सूत्र' में जैन साधुओं के।

प्रस्तुत सूत्र में जो गृहधर्म गृहपतियों के लिए उपदिष्ट हुए हैं, गृहपत्नियों के लिए भी वही गृहधर्म कहे गए हैं, परन्तु यत्किञ्चित् परिवर्त्तन के साथ।

'उपासकदशासूत्र' में समस्त घटनाओं का चित्रण जम्बु-सुधर्मा-संवाद द्वारा सुमनोहर शैली में उपस्थित किया गया है। जम्बु जैन संघ का अन्तिम केवली था और सुधर्मा, भगवान् महावीर का एक आज्ञानुवर्त्ती प्रिय शिष्य। जम्बु प्रत्येक प्रश्न का उद्घाटनकर्त्ता तथा सुधर्मा उनका प्रत्युत्तरयिता है।

मूल ग्रन्थ प्राकृत (अर्द्धमागधी) भाषा में है, जिसका हिन्दी अनुवाद संप्रति प्रस्तुत है। प्रस्तुत अनुवाद में प्राश्निक और उत्तरयिता का नामोल्लेख डॉ० ए० एफ० हार्नले (मंत्री, बंगाल एशियाटिक सोसाइटी) के अंग्रेजी अनुवाद के अनुसार है। अवशेष अनुवाद की मूलानुसारिता सर्वथा अनाहत और अक्षुण्ण है। असंगति के मार्जन के लिए मूलानुवाद के अतिरिक्त बातें कोष्ठक में आबद्ध हैं।

जैनियों के ग्यारहों सूत्र क्रमबद्ध प्राकृत भाषा और नागरी लिपि में संप्रति सुगमत या समुपलब्ध नहीं हो रहे हैं। अतएव, जैसे-जैसे सूत्रों की उपलब्धि होती जायगी, उनका अनुवाद आपकी सेवा में उपस्थित करते जाने के लिए प्रयत्नशीलता रहेगी। अधुना 'उपासकदशासूत्रम्' का अनुवाद आपके सामने उपस्थित है।

उपक्षेप

उस युग में, उस समय, चम्पा नाम की (एक) नगरी थी। (वहाँ) पुण्यभद्र (नाम का एक) चैत्य (था)।

उस युग में, उस समय (उस चैत्य में, अपने एक परिभ्रमणके अवसर पर भगवान् महावीर के प्रिय शिष्य) आर्य सुधर्मा जी पधारे। (केवली) जम्बु ने सादर स्वागत करते हुए (आर्य सुधर्मा जी से) इस प्रकार कहा--"भन्ते! (भगवन्!) यदि, (तिरोभाव को) प्राप्त श्रमण भगवान् महावीर ने छठे अंग ज्ञातृ-धर्म-कथा का यह अर्थ सम्यक् रूप से बतलाया; तो, भन्ते! (भगवन्!) (तिरोभाव को) प्राप्त श्रमण (भगवान् महावीर ने) सप्तम अंग उपासकदशा (सूत्र) का कौन-सा अर्थ सम्यक् रूप से बतलाया?"

(आर्य सुधर्मा ने प्रत्युत्तर किया)--"बहुत अच्छा! जम्बु, (तिरोभाव को) प्राप्त श्रमण (भगवान् महावीर) ने सप्तम अंग उपासकदशा (सूत्र) के दस अध्ययनों को सम्यक् रूप से बतलाया है। जैसे:--

"(प्रथम अध्ययन में) आनन्द (गृहपति) की (कथा), (दूसरे में) कामदेव की, (तीसरे में) गृहपति चुलनीपिता की, (चतुर्थ अध्ययन में) सुरादेव की, (पञ्चम में) चुल्लशतक की, (छठे अध्ययन में) गृहपति कुण्डकौलिक की, (सप्तम में) सद्दालपुत्र की, (अष्टम में) महाशतक की, (नवें अध्ययन में) नन्दिनी पिता की और (दसवें अ० में) सालिही पिता की।"

(पुनः जम्बु ने प्रश्न किया)--"भन्ते! (भगवन्!) यदि, (तिरोभाव को) प्राप्त श्रमण (भगवान् महावीर) ने सप्तम अंग उपासकदशा (सूत्र) के दस अध्ययनों को सम्यक् रूप से बतलाया है; तो, भन्ते! (भगवन्!) (तिरोभाव को) प्राप्त श्रमण (भगवान् महावीर) ने प्रथम (अध्ययन) का कौन-सा अर्थ सम्यक् रूप से बतलाया है?"

(आर्य सुधर्मा ने प्रत्युत्तर किया)--"बहुत अच्छा! जम्बु, उस युग में, उस समय, (लिच्छवियों की राजधानी, वैशाली) म 'वाणिजग्राम' (वणिक्-ग्राम) नाम का (एक) नगर था। उस 'वाणिज ग्राम' नगर के बाहर उत्तर-पूरब की ओर 'दूतीपलाशक' नाम का चैत्य (था)। उस 'वाणिज ग्राम' नगर में 'जितशत्रु' नाम के एक राजा रहते थे। उसी 'वाणिज ग्राम' नगर में 'आनन्द' नाम का (एक) गृहपति भी (जमींदार) निवास करता था। (जो) धनी और अपराजित (था)।

उस आनन्द गृहपति का, चार करोड़ का (नकद) सोना खजाने में सुरक्षित (था), चार करोड़ का सोना सूद पर लगाया हुआ (था) और चार करोड़ के सोने की जगह-जमीन (थी)। चार गोशालाएँ (थीं), जिनमें प्रत्येक में दस-दस हजार गाएँ (थीं)।

वह आनन्द गृहपति अनेक राजेश्वरों, (राजकुमारों, सामन्तों) और सौदागरों के भिन्न-भिन्न कार्यों, कारणों, मंत्रों (परामर्शों) कुटुम्बों, गुह्य रहस्यों, निश्चयों, और व्यवहारों का सत्परामर्शदाता (था)। अथच, अपने कुटुम्ब का भी वह आधार-स्तम्भ (था)। (समस्त परिवारों के भरण-पोषण, देख-रेख और अधिकार-प्रतीकार आदि) सभी कार्य-कलाप (विषयों) के भार को सँभालने के साथ-साथ उनका वह पथ-प्रदर्शक

भी था। (संक्षेप में यह कि परिवार से (स्वजन-परिजन से) संबंधित जिस किसी तरह के व्यापार का वह समुन्नायक था।)

उस आनन्द गृहपति को शिवनंदा नाम की (एक) भार्या थी। अविकलाङ्गी और सुरूपा। आनन्द गृहपति की परमप्रिया। अनुरागवती, विरागविहीना काम्या प्रेयसी (शिवनंदा) आनन्द गृहपति के साथ, सदैव पाँचों प्रकारों के मानवीय कामोपभोगों का आस्वादानुभव करती हुई (सुख-पूर्वक) विचरण किया करती (थी)।

उस 'वाणिज ग्राम' (नगर) के बाहर, उत्तर-पूरब की ओर 'कोल्लाक' नाम का (एक) संनिवेश (उपनगर) था। वह धन-बलशाली (नागरिकों) तथा (गगनचुंबी) अट्टालिकाओं से (शानदार बना था)।

उस कोल्लाक सन्निवेश में आनन्द गृहपति के अनेक मित्र-गोत्र, भाई-बन्धु और स्वजन-परिजन निवास करते (थे)। (वे) धनी तथा अपराजित थे।

उस युग में, उस समय, श्रमण भगवान् महावीर (कोल्लाक सन्निवेश के परिदर्शनार्थ) पधारे। (जनता की एक) परिषद् (सभा) (भगवान् के समीप) उपस्थित हुई। (उसी उपनगर के निवासी) राजा कूणिक जहाँ (सुखासीन थे) वहीं राजा जितशत्रु पहुँचते हैं और उनकी (श्रमण भगवान् महावीर की) उपासना करते हैं।

उसके बाद आनन्द गृहपति ने इस (महावीर के आगमन) संवाद को पाकर (विचार किया)––"सचमुच, श्रमण भगवान् महावीर परिभ्रमण के क्रम में यहाँ ठहरे हुए हैं, यह (अवश्य एक) महाफलदायक (मांगलिक घटना) है। तो, चलकर (उनकी) उपासना करूँ।" इस प्रकार (वह) चिंतन में डूब गया।

उसके बाद आनन्द गृहपति ने स्नान किया, शुद्ध वस्त्र (स्वच्छ शाही पोशाक) धारण किया और दो-चार बहुमूल्य आभूषणों से अपने शरीर को आभूषित कर भवन से बाहर निकला। उसके बाद (परिचारकों द्वारा) आनन्द गृहपति को छत्र धारण कराया गया। छत्र में कुरंट-पुष्प की माला की मृदुल डोरियाँ (झूल रही थीं)। पोष्यवर्ग (गृहपति के चारों ओर) घनी मंडली बनाकर (चल रहे थे)। (आनन्द गृहपति) पैदल ही 'वाणिज ग्राम' के बीचो-बीच से चलकर जहाँ दूतीपलाशक चैत्य (था); जहाँ श्रमण भगवान् महावीर (उपदेश दे रहे थे)––वहीं जा पहुँचा। उसके बाद तीन बार दायीं ओर से (भगवान्) की प्रदक्षिणा की, प्रणाम किया और उपासना में आसीन हो गया।

उसके बाद श्रमण भगवान् महावीर ने आनन्द गृहपति की विशाल मंडली में धर्म-कथा (का प्रवचन किया)। सभा भंग हुई। राजा भी चले गए।

उसके बाद वह आनन्द गृहपति श्रमण भगवान् महावीर के निकट धर्म (प्रवचन) सुन कर, हर्षित और संतुष्ट होते हुए (भगवान् से) इस प्रकार कहा––

"भन्ते! (भगवन्!) (मैं) निर्ग्रन्थ-प्रवचन पर श्रद्धान्वित हूँ, भन्ते! (मैं) निर्ग्रन्थ-प्रवचन पर विश्वस्त हूँ, भन्ते! निर्ग्रन्थ-प्रवचन में (मेरी) अभिरुचि है।

भन्ते ! (भगवन् !), (आपने जैसा कहा, वही) यह ऐसा ही है, यह तथ्य है, यह अवितथ है, यह ईप्सित है, यह इष्ट है, जैसा यह आपका वचन है, वह इष्ट-प्रतीष्ट है। (आपके वचन से ही प्रभावित होकर) आप देवानुप्रिय के निकट, अनेक राजेश्वर, कुलीन पुरुष, राज्यपाल, नगरपाल, कोषाध्यक्ष, सौदागर, सेठ, साहूकार आदि ने मुण्ड (दीक्षित) होकर अपने-अपने घरों का परित्याग कर दिया तथा वे आश्रमवासी बन गए। परन्तु, मुण्ड होकर, गृहत्याग कर, आश्रम-वास करना, मुझसे संभव नहीं। मैं तो केवल (श्रीमान्) देवानुप्रिय के चरणों में 'पंचाणुव्रत', 'सप्तशिक्षाव्रत' तथा बारह प्रकार के गृहधर्म को प्राप्त करूँगा। देवानु-प्रिय, यथासुख (इस पुण्य कार्य को सम्पन्न होने दीजिए), कृपया (आप) इस पर प्रतिबंध मत लगाइए।"

उसके बाद वह आनन्द गृहपति श्रमण भगवान् महावीर के निकट सर्वप्रथम स्थूल प्राणातिपात का प्रत्याख्यान करता है:--

(यह कहते हुए कि) --"आजीवन द्विधा-भाव और तृतीय-पथ का अनुसरण, मन, वचन और कर्म (चिन्तन, मनन और लेखन) से न करूँगा, न कराऊँगा।"

उसके बाद स्थूल मृषावाद का प्रत्याख्यान करता है --

(यह कहते हुए कि)--"आजीवन द्विधा-भाव तथा तृतीय-पथ का अनुसरण, मन, वचन और कर्म द्वारा न करूँगा, न कराऊँगा।"

उसके बाद स्थूल अदत्तादान (अदत्त वस्तुओं का ग्रहण) का प्रत्याख्यान करता है-- (यह कहते हुए कि)--"आजीवन द्विधा-भाव और तृतीय पथ का अनुसरण, मन, वचन और कर्म द्वारा न करूँगा, न कराऊँगा।"

उसके बाद स्वदार-संतुष्टि का परिमाण निश्चित करता है--

(यह कहते हुए कि) --"केवल एक अपनी शिवनन्दा भार्या में ही रमण करूँगा, अवशेष सभी स्त्रियों में मैथुन-विधि का मन, वचन और कर्म से प्रत्याख्यान करता हूँ।"

उसके बाद इच्छाविधि का परिमाण कर, हिरण्य-सुवर्ण-विधि का परिमाण करता है:--

(यह कहते हुए कि)--"केवल खजाना में स्थित चार करोड़ का सोना, सूद पर रखा हुआ चार करोड़ का सोना और बहुमूल्य संपत्ति जगह-जमीन आदि का लागत चार करोड़ का सोना ही (अपने काम में लाऊँगा,) अवशेष सभी हिरण्य-सुवर्ण-विधियों का प्रत्याख्यान करता हूँ।"

उसके बाद चतुष्पद-विधि (पशुविधि) का परिमाण निश्चित करता है--

(यह कहते हुए कि)--"चार गोशालाएँ और दस हजार गायों से ही अपना कार्य-संपादन करूँगा, अवशेष सभी चतुष्पदविधियों का मन, वचन और शरीर से प्रत्याख्यान करता हूँ।"

उसके बाद क्षेत्रवस्तुविधि का परिमाण निश्चित करता है --

(यह कहते हुए कि)--"पाँच सौ हलों के उपयुक्त खेतों को मैं अपने अधीन रखूँगा, अवशेष सभी जमीनों का मैं मन, वचन और शरीर से प्रत्याख्यान करता हूँ।"

उसके बाद शकट-विधि का परिमाण निश्चित करता है--

(यह कहते हुए कि)--"दिगन्तगामी पाँच सौ वाहनों वाली, पाँच सौ गाड़ियों (रथों) से ही मेरी सवारी पूरी होती रहेगी, अवशेष सभी शकट-विधियों का मन, वचन और शरीर से प्रत्याख्यान करता हूँ।"

उसके बाद वाहनविधि का परिमाण निश्चित करता है--

(यह कहते हुए कि)--"दिग्यात्री चार वाहनों को ही मैं अपनी सेवा में नियुक्त करूँगा, अवशेष वाहनों का मन, वचन और शरीर से प्रत्याख्यान करता हूँ।"

उसके बाद उपभोग-परिभोग-विधि का प्रत्याख्यान कर आर्द्रयणिका (अंग-प्रक्षालन-वस्त्र)-विधि का परिमाण निश्चित करता है।

(यह कहते हुए कि)--"एक गन्धकाषायी शाटिका (साड़ी) ही अंग पोछने के लिए पर्याप्त होगी; अवशेष सभी अंग-प्रक्षालन-विधियों का मन, वचन और शरीर से प्रत्याख्यान करता हूँ।"

उसके बाद दन्तपावन-विधि को परिमाणित करता है:--

(यह कहते हुए कि)-"एक आर्द्र यष्टीमधु के अतिरिक्त अन्य वस्तु दन्तपावन के हेतु व्यवहार में नहीं लाऊँगा। अवशेष सभी दन्तपावन-विधियों का मन, वचन और शरीर से प्रत्याख्यान करता हूँ।"

उसके बाद फलविधि का परिमाण निश्चित करता है:--

(यह कहते हुए कि)--"केवल क्षीरामलक को ही (ग्रहण करूँगा), अवशेष सभी फल-विधियों का मन, वचन और शरीर द्वारा प्रत्याख्यान करता हूँ।"

उसके बाद अभ्यंग (तैल-मर्दन)-विधि का परिमाण निश्चित करता है--

(यह कहते हुए कि) --"शतपाक और सहस्रपाक तैल ही केवल, मैं व्यवहार में लाऊँगा, अवशेष सभी तैल-विधियों का मन, वचन और शरीर द्वारा प्रत्याख्यान करता हूँ।"

उसके बाद उद्वर्तन-(उबटन) विधि का परिमाण निश्चित करता है :--

(यह कहते हुए कि)--"केवल सुगंधित गोधूमचूर्ण को ही मैं उबटन के काम में लाऊँगा, अवशेष सभी उद्वर्त्तन-विधियों का मन, वचन और शरीर द्वारा प्रत्याख्यान करता हूँ।"

उसके बाद मज्जन-विधि का परिमाण निश्चित करता है:--

(यह कहते हुए कि):-"आठ घड़ों के जल से ही मेरा स्नान पूरा हो जायगा, अवशेष सभी स्नान-विधियों का मन, वचन और शरीर से प्रत्याख्यान करता हूँ।"

उसके बाद वस्त्र-विधि का परिमाण निश्चित करता है:--

(यह कहते हुए कि)-"दो रेशम वस्त्र ही मेरे लिए अलं होंगे, अवशेष वस्त्र-विधियों का मैं मन, वचन और शरीर द्वारा प्रत्याख्यान करता हूँ।"

उसके बाद विलेपन-विधि का परिमाण निश्चित करता है:--

(यह कहते हुए कि)-"अगुरु, कुंकुम, चन्दन आदि के अतिरिक्त अन्य वस्तु मैं विलेपन के काम में न लाऊँगा, अवशेष सभी विलेपन-विधियों का मन, वचन और शरीर से प्रत्याख्यान करता हूँ।"

उसके बाद पुष्पविधि का परिमाण निश्चित करता है :--

(यह कहते हुए कि)-"केवल शुद्ध कमल या मालती फूल की माला पर ही मेरी अभिरुचि रहेगी, अवशेष सभी पुष्पविधियों का प्रत्याख्यान करता हूँ, मन, वचन और शरीर से।

उसके बाद आभरण-विधि का परिमाण निश्चित करता है :--

(यह कहते हुए कि)-"(आज से) केवल चमकदार कर्णफूल या स्वनामांकित अंगूठी ही मेरा अलंकार होगी, अवशेष सभी आभरण-विधियों का मन, वचन और शरीर से प्रत्याख्यान करता हूँ।"

उसके बाद धूपन-विधि का परिमाण निश्चित करता है:--

(यह कहते हुए कि)-"अगुरु, तुरुष्क (तुर्किस्तानी) धूप आदि ही मेरे धूपन-द्रव्य होंगे; अवशेष सभी धूपन-विधियों का मन, वचन और शरीर से प्रत्याख्यान करता हूँ।"

उसके बाद भोजन-विधि का परिमाण निश्चित कर, पेयविधि का परिमाण निश्चित करता है:--

(यह कहते हुए कि)--"केवल दालवाली पेया ही मेरा पान रहेगी; अवशेष सभी पेया-विधियों का मन, वचन और शरीर द्वारा प्रत्याख्यान करता हूँ।"

उसके बाद भक्ष्य-विधि का परिमाण निश्चित करता है:--

(यह कहते हुए कि)--"केवल घृतपूर (घेवर) या खण्डखाद्य (चीनी या खाँड़ से बना खाद्य) के अतिरिक्त अन्य वस्तु हेय होगी; अवशेष सभी खाद्यविधियों का प्रत्याख्यान मन, वचन और शरीर द्वारा करता हूँ।"

उसके बाद ओदन-विधि का परिमाण निश्चित करता है:--

(यह कहते हुए कि)--"केवल 'कलम' धान के चावल के अतिरिक्त दूसरा चावल मेरे खाने के काम में न आ सकेगा; अवशेष सभी ओदनविधियों का मन, वचन और शरीर से प्रत्याख्यान करता हूँ।"

उसके बाद सूपविधि का परिमाण निश्चित करता है:--

(यह कहते हुए कि)--"केवल उड़द या मूँग की दाल ही मैं खाया करूँगा; अवशेष समस्त सूपविधियों का मन, वचन और शरीर से प्रत्याख्यान करता हूँ।"

उसके बाद घृतविधि का परिमाण बाँधता है :--

(यह कहते हुए कि)--"शरद् ऋतु में तैयार हुआ 'गोघृत-मंड' ही मेरा प्रमुख भोजन-द्रव्य रहेगा; अवशेष सभी घृतविधियों का प्रत्याख्यान मनसा, वचसा, कर्मणा करता हूँ।"

उसके बाद शाक-विधि का परिमाण नियत करता है :--

(यह कहते हुए कि) बथुआ, सोआ और मंडूक शाक से ही मेरा तरकारी का अभाव पूरा होता रहेगा, अवशेष सभी शाक-विधियों का मनसा, वचसा, कर्मणा प्रत्याख्यान करता हूँ।

उसके बाद माधुरक (मधुर तरल पेय) -विधि का परिमाण नियत करता है:--

(यह कहते हुए कि) केवल पालंकी-माधुरक ही मेरे लिए संतोषप्रद होगा; अवशेष सभी माधुरकविधानों का मन, वचन और शरीर से बहिष्कार करता हूँ।

उसके बाद जेमनविधि का परिमाण बाँधता है:--

(यह कहते हुए कि) केवल सेधाम्ल (सैंधवाम्ल) और दाड़िकाम्ल (स्वाद-वृद्धि के लिए) ही पर्याप्त होंगे; अवशेष सभी जेमनविधियों का प्रत्याख्यान करता हूँ।

उसके बाद पानीयविधि का परिमाण निश्चित करता है:--

(यह कहते हुए कि) केवल अन्तरिक्षोदक (आकाशीय जल) से ही मेरी प्यास मिट जायगी; अवशेष सभी पानीयविधियों का मन, वचन और शरीर से प्रत्याख्यान करता हूँ।

उसके बाद मुखशुद्धि-विधान का परिमाण नियत करता है :--

(यह कहते हुए कि) पाँच तरह की सुगन्धियों से सुवासित पान से ही मेरी पर्याप्त मुखशुद्धि हो जाया करेगी; अवशेष सभी मुखवास-विधानों का मानसिक, वाचिक और कायिक प्रत्याख्यान करता हूँ।

उसके बाद चार प्रकार के अनर्थदण्डों का प्रत्याख्यान करता है। चारों अनर्थदण्ड इस प्रकार हैं:--

अपध्यानाचरित, प्रमादाचरित, हिंस्रकशस्त्रप्रदान और पापकर्मोपदश।

(कथा के क्रम में यहाँ पर) श्रमण भगवान् महावीर ने श्रमणोपासक आनन्द से कहा--"आनन्द! जीवन-मरण सें परिचित, निर्ग्रन्थ-प्रवचन का अनुगामी श्रमणोपासक का यह आदर्श धर्म है कि वह विघ्नस्वरूप अनर्थ दण्ड के पाँचों अतीचारों को सम्यक् जानकर, उनके आचरण से बचने की चेष्टा करे। पाँचों अतीचार इस प्रकार हैं:--

शंका, आकांक्षा, विचिकित्सा (उधेड़बुन)', दूसरे के पाखंडपन की प्रशंसा और उसकी स्तुति।

उसके बाद श्रमणोपासक का यह आदर्श धर्म है कि वह स्थूल 'प्राणातिपात वैरमण' के विघ्नभूत पाँचों अतीचारों को सम्यक् जान कर, उनके आचरण से विमुख होने का प्रयत्न करे। पाँचों अतीचार इस प्रकार हैं:--

द्विपद, चतुष्पद आदि जीवों को रस्सी से बाँध कर या बँधवा कर छोड़ देना, उन्हें बेंत आदि से पिटवाना या पीटना, उनके अंगों को कटवा देना या काटना, शक्तिहीनों पर अत्यधिक बोझ लदवाना या लादना और उनका खाना-पीना बंद कर देना या करा देना।

उसके बाद श्रमणोपासक का यह आदर्श धर्म है कि वह विघ्नभूत 'स्थूल मृषावाद' के पाँचों अतीचारों को सम्यक् जानकर, उनके आचरण से विमुख होने का प्रयत्न करे। पाँचों अतीचार इस प्रकार हैं :--

विना विचार किये किसी को सज्जन या दुर्जन कह देना, चुगली करना, अपनी स्त्री के रहस्य को प्रकाशित कर देना, मिथ्या उपदेश करना और कूटलेख का विधान करना।

उसके बाद श्रमणोपासक का यह आदर्श धर्म है कि वह विघ्नस्वरूप 'स्थूल अदत्तादान' के पाँचों अतीचारों का सम्यक् ज्ञान प्राप्त कर उनके आचरण से दूर रहने की चेष्टा करे। पाँचों अतीचार इस प्रकार हैं:--

चोर से चुरा कर लाये गये धन का समर्थन, चोरी के लिए प्रोत्साहन, विरोधी राज्य की सीमा-उल्लंघन, डंडी मारना और शुद्ध वस्तुओं में मिलावट का व्यवहार।

उसके बाद श्रमणोपासक का यह आदर्श धर्म है कि वह 'स्वदारसंतुष्टिव्रत' के विघ्नभूत पाँचों अतीचारों का सम्यक् ज्ञान प्राप्त कर उनके आचरण से अनासक्त रहने का अभ्यास करे। पाँचों अतीचार इस प्रकार हैं :--

कुछ समय तक अपने अधीन रख कर किसी स्त्री के साथ मैथुन का सेवन, पत्नी नहीं बनाई गई, वेश्या, कुलांगना या अनाथ स्त्री के साथ ऐन्द्रिक सुख-संभोग, अपनी स्त्री से, मैथुन-कर्म की अपेक्षा अन्यत्र (कुच, कुक्षि, अरु, मुख आदि से) आलिगनादि रूप अनंग-क्रीड़ा, आत्मीय (जाति) से अन्यत्र विवाह-संबंध स्थापित करना और कामभोग में तीव्र लालसा का लगाना ।

उसके बाद श्रमणोपासक का यह आदर्श धर्म है कि वह 'इच्छा-परिमाण' के पाँचों अतीचारों का ज्ञान प्राप्त कर उनके आचरण से अपने को असंबद्ध रखने की चेष्टा करे।

पाँचों अतीचार इस प्रकार हैं:--

अपनी क्षेत्रवस्तु की सीमा का अनुचित उल्लंघन, राजा आदि से उपलब्ध हिरण्य-सुवर्ण आदि का पैंचा लगाना, उपलब्ध गाय, घोड़ी आदि को उसके बच्चा जनने तक दाता के ही घर छोड़ देना, उपलब्ध धन-धान्य को दाता के ही घर बन्धन-बद्ध रख छोड़ना और घिघिया कर (दान में यथा प्राप्त) बर्त्तन की संख्यावृद्धि करा लेना।

उसके बाद श्रमणोपासक का यह आदर्श धर्म है कि वह 'दिग्व्रत' के विघ्नभूत पाँचों अतीचारों का सम्यक् ज्ञान प्राप्त कर उनके आचरण से अपने को निर्लिप्त रखे। पाँचों अतीचार इस प्रकार हैं:--

ऊपर दिशा की सीमा का उल्लंघन, नीचे दिशा की सीमा का उल्लंघन, तिर्यक् दिशा की सीमा का उल्लंघन, क्षेत्र के वृद्धिकरण में मनमानापन और ("मैंने कितने दिनों का व्रत लिया है, पचास या सौ वर्षों का ?" इस तरह की स्मृति का विभ्रंश।

उसके बाद, उपभोग-परिभोग दो प्रकार के कथित हैं--एक भोजन से, दूसरा कर्म से।

श्रमणोपासक उनमें भोजन-जन्य पाँच अतीचारों को सम्यक् जान कर उनके आचरण से अपने को अलग रखने का प्रयत्न करे। पाँचों अतीचार इस प्रकार हैं:--

पार्थिव, वानस्पतिक आदि सचेतन आहार का ग्रहण, गुठली में प्रतिबद्ध फल के गूदा आदि का ग्रहण, अपक्व चावल आदि का भोजन, अधपके चावल आदि का भक्षण और निःसार ओषधि मूंगफली आदि का चर्वण।

श्रमणोपासक कर्मजन्य पन्द्रह अतीचारों का सम्यक् ज्ञान प्राप्त कर उनके आचरण से अपने को मुक्त करने की चेष्टा करे। पन्द्रहो अतीचार इस प्रकार हैं:--

अंगारकर्म, वनस्पतियों का छेदन-कर्म, शकटविक्रय-कर्म, भाण्डवहन-कर्म, कुदाल, हल आदि द्वारा भूमिकर्षण-कर्म; दाँत, चमड़ा आदि का व्यापार, लाह का व्यापार, सुरादिविक्रय-कर्म, विष का व्यापार, केश का व्यापार, कोल्हू चलाने का व्यापार, गोदना गोदने का कर्म, क्षेत्रादि के शोधन के निमित्त दावाग्नि प्रज्वलित करने का कर्म, सरोवर, ह्रद, तड़ाग, आदि का शोषण-कर्म तथा सतीत्वभ्रष्टा दासियों का पोषणकर्म।

उसके बाद श्रमणोपासक का आदर्श धर्म यह है कि वह 'अनर्थदण्डवैरमण' के पाँचों अतीचारों का सम्यक् ज्ञान प्राप्त कर उनके आचरण से विमुख होने का प्रयास करे। पाँचों अतीचार इस प्रकार हैं:--

अभियुक्त के लिए उपहास-मिश्रित कामोद्दीपक कृत्रिम नामों का उच्चारण, मुँह बिगाड़ कर परिहास करना, बेहयापन के प्रदर्शन के साथ मुँहफट होकर बोलना, संयुक्त अधिकरण (ऊखल-मुसल आदि) का प्रदान और उपभोग-परिभोग से अतिरिक्त द्रव्य का व्यय।

उसके बाद श्रमणोपासक का यह आदर्श धर्म है कि वह 'समयवादिता' (ठीक समय पर काम करना) के पाँचों अतीचारों को सम्यक् जानकर उनके आचरण से अपने को बचावे। पाँचों अतीचार इस प्रकार हैं:--

अतिकरणीयता के उपस्थित होने पर सुकृत-दुष्कृत का विस्मरण; अभिमानपूर्ण निष्ठुर वाक्य का उच्चारण; हाथ, पैर आदि शरीर के अंगों का जमीन पर विषमतापूर्वक स्थापन, यथासमय करने योग्य कार्यों का विस्मरण और किसी कार्य का असमुचित रूप से संपादन या उसका परित्याग।

उसके बाद श्रमणोपासक का यह आदर्श धर्म है कि वह 'देशावकाशिक' (गमनादि चेष्टा से निवृत्त) के पाँचों अतीचारों को सम्यक् जानकर उनके आचरण से अपने को अछूता रखने की कोशिश करे। पाँचों अतीचार इस प्रकार हैं:--

किसी स्थान से किसी वस्तु के मँगवाने का प्रयोग, किसी स्थान से किसी वस्तु के भिजवाने का प्रयोग, दूसरों के श्रवण-विवर में गड़ने लायक शब्दों का उच्चारण, प्रयोजनवशात् विना शब्दोच्चारण किये अपने समीप किसी को बुलाने के लिए अपने शरीर का रूपाभिनय और दूसरे को प्रबोधित या अपनी ओर उन्मुख करने के लिए उस ओर कंकड़-ढेला आदि का प्रक्षेप।

उसके बाद श्रमणोपासक का यह आदर्श धर्म है कि वह 'पोषधोपवास' (अष्टमी आदि पर्वोपवास) के पाँचों अतीचारों को सम्यक् जानकर उनके आचरण से अपने को अलग रखे। पाँचों अतीचार इस प्रकार हैं:--

जीवरक्षार्थ अपनी आँखों से विना निरीक्षण-परीक्षण किये कुश, कंबल आदि को बिछा देना, कपड़े के छोर आदि से विना झाड़े-पोंछे बिछावन लगा देना, सफाई-सुथराई से रहित तथा मल-मूत्र से दूषित चबूतरे पर आसन, लिपाई-पुताई से रहित तथा मल-मूत्र से अपवित्र भूमि पर शयन तथा पोषधोपवास के नियमों का असम्यक् अनुपालन।

उसके बाद श्रमणोपासक का यह आदर्श धर्म है कि वह 'यथासंविभाग' के पाँचों अतीचारों का सम्यक् ज्ञान प्राप्त कर उनके आचरण से अनासक्त रहने की चेष्टा करे। पाँचों अतीचार इस प्रकार हैं:--

अदानबुद्धि से व्रीहि आदि का निक्षेपण, (नहीं दान करने के विचार से व्रीहि आदि का संग्रह), फलक आदि द्वारा उसका स्थगन, साधु-भोजन के समय का उल्लंघन, "इस दान से मेरे माता-पिता आदि पुण्यात्मा हों" ऐसा बोलकर दान एवं "दूसरे ने इतना दान दिया तो क्या मैं उससे भी कृपण हूँ, मैं भी उससे अधिक दान करता हूँ" इस तरह का स्पर्धापूर्ण दानप्रवर्त्तक विकल्प।

उसके बाद श्रमणोपासक का यह आदर्श धर्म है कि वह 'अपश्चिम मरणान्तिकी संलेखना, जोषणा (शरीर कृशीकरण) और आराधना' के पाँचों अतीचारों का सम्यक् ज्ञान प्राप्त कर उनके आचरण से अपने को वियुक्त रखने का प्रयत्न करे। पाँचों अतीचार इस प्रकार हैं:--

"जन्मान्तर में मैं श्रेष्ठी या अमात्य बनूँ" इस तरह की कामना-प्रार्थना के साथ तपस्या का प्रयोग, "देवता हो जाऊँ" इस तरह की महत्त्वाकांक्षा के साथ तपस्या का साधन, बहुत समय तक जीने की प्रार्थना के साथ तपस्या का प्रयोग, शीघ्र मर जाने की प्रार्थना वाली तपस्या का अनुष्ठान तथा कामभोग के लिए प्रार्थित तपोयोग।

उसके बाद वह आनन्द गृहपति श्रमण भगवान् महावीर के निकट 'पंचाणुव्रत', 'सप्तशिक्षाव्रत' और बारह प्रकार के श्रावक-धर्म को ग्रहण करता है। उसके बाद श्रमण भगवान् महावीर की वन्दना करते हुए आनन्द गृहपति ने भगवान् से इस प्रकार कहा--"भन्ते! (भगवन्!) आज से मेरे लिए जैन संघ के अतिरिक्त संघ या तीर्थ, अन्य संघ के देवता (शिव, विष्णु आदि) या अर्हत् प्रतिमाओं से युक्त आश्रमों (अन्य संघीय चैत्य) या मन्दिरों आदि की वन्दना या नमस्कृति कदापि उपयुक्त नहीं है। अथच उक्त संघ के अनुयायियों (भक्तों) के साथ आलाप-संलाप, उनके लिए भोजन-पान आदि का दान-प्रदान मेरे लिए सर्वथा अनुपयुक्त है।

परन्तु, राजा के अभियोग, समुदाय के अभियोग, बल के अभियोग, देवता के अभियोग, गुरुनिग्रह या जीविका के अभाव (संकटकाल) उपस्थित होने पर ही अतिरिक्त

संघ, संघ के देवता और संघ के अनुयायियों के लिए दान-प्रणाम आदि संभव है। (अन्यथा, उन लोगों के लिए दान-प्रणाम आदि का एकान्त निषेध उपयुक्त है।)

अथच इसके अतिरिक्त मेरे लिए श्रमण निर्ग्रन्थ होकर, स्वादिष्ट भोजन-पान, (मृदुल) वस्त्र-कंबल-परिधान, पाद-प्रोञ्छन, प्रशस्त पलंग, गुलगुले बिछावन एवं सुगन्धित द्रव्य और दवा का परित्याग कर विचरण करना समुपयुक्त है।"

ऐसा कहकर आनन्द गृहपति उपर्युक्त विधिवत् प्रतिज्ञा करता है, उसके बाद बहुत-सा प्रश्न करता है और (भगवान् के) प्रत्युत्तरों को ध्यान से सुनता है। उसके बाद वह तीन बार श्रमण भगवान् महावीर की वन्दना करता है। तदुपरांत श्रमण भगवान् के निकट से, दूतीपलाश नाम के चैत्य से बाहर निकल आता है। वहाँ से निकल कर "वाणिज ग्राम" (वणिक्-ग्राम) नगर में स्थित अपने घर वापस चला आता है।

(घर पहुँच कर) उसने अपनी भार्या शिवनन्दा से कहा--"हे देवानुप्रिये! सचमुच मैंने श्रमण भगवान् महावीर के निकट धर्म का श्रवण किया, जो कि मेरे लिए अभीष्ट और अभिरोचक प्रतीत हुआ। अतएव, तुम भी वहाँ जाओ, देवानुप्रिये! जाकर श्रमण भगवान् महावीर की वन्दना करो और उनकी उपासना करो। उपासनोपरांत भगवान् के निकट 'पंचाणुव्रत', 'सप्तशिक्षाव्रत' और बारह प्रकार के गृह-धर्म को प्राप्त करो।

उसके बाद (पतिपरायणा) शिवनन्दा भार्या ने श्रमणोपासक आनंद के आदेश से प्रसन्न हो कर परिवार के लोगों (भृत्य) को बुलवाया और उनसे ऐसा कहा--"मेरे लिए एक द्रुतगामी सुपुष्ट वाहन वाली सवारी जल्द तैयार करा लाओ।"

(सवारी आई। शिवनन्दा ने जाकर भगवान् के चरणों में उपासना समर्पित की।)

उसके बाद श्रमण भगवान् महावीर ने शिवनन्दा और उसकी मंडली के समक्ष धर्मकथा प्रारंभ की।

उसके बाद शिवनन्दा भगवान् के निकट धर्म का श्रवण कर हृदय से हर्षित और संतुष्ट हुई। उसके बाद गृहधर्म को प्राप्त किया। तदुपरांत उसी द्रुतगामी धर्म-यान पर आरोहण कर जिस ओर से आई थी, उसी ओर चली गई।

(शिवनन्दा के चले जाने के बाद) वहाँ भगवान् गौतम का आगमन हुआ। भगवान् गौतम ने श्रमण भगवान् महावीर की वन्दना करते हुए उनसे कहा--"प्रभो! भन्ते! (भगवन्!) सचमुच, आनन्द श्रमणोपासक ने श्रीमान् देवानुप्रिय के चरणों में मुण्ड होकर प्रव्रज्या ग्रहण की है?"

(भगवान् महावीर ने प्रत्युत्तर किया)--"नहीं, ऐसी बात नहीं है, गौतम! श्रमणोपासक आनन्द बहुत वर्षों तक श्रमणोपासक के धर्म का अनुवरण करता रहेगा। तदुपरांत वह 'सौधर्म' नाम के स्वर्ग में, 'अरुणाभ' भवन में देवत्त्व लाभ करेगा।

जुष्ट हो कर, भोजन-पान का प्रत्याख्यान कर काल की अनाकांक्षा करते हुए (अनिश्चित काल तक) विहार करूँ"।

वैसा ही निश्चय कर, दूसरे दिन सवेरे सूर्योदय के बाद से ही उक्त विधियों को आत्मसात् कर श्रमणोपासक आनन्द विहार में मग्न हो गया।

उसके बाद; अन्य किसी दिन श्रमणोपासक आनन्द के शुभ दीर्घ प्रयत्न और शुभ परिणाम द्वारा उसके समस्त अपकर्मजनित पाप-ताप धुल गए और वह कंचन-सा निर्मल हो गया। अथच, उसे एक अलौकिक दृष्टि (अभिज्ञान) प्राप्त हुई। फलतः उसे उत्तर-पूरब तथा दक्षिण-पश्चिम की ओर पाँच सौ योजन क्षेत्र में विस्तृत लवण-समुद्र दिखाई पड़ा। उत्तर की ओर 'चुल्ल हिमवान्' नाम का 'वर्षधर' पर्वत दृष्टिगोचर हुआ। ऊपर 'सौधर्म' नाम का स्वर्ग दृष्टिगत हुआ और नीचे रत्न–प्रभा से प्रभासित पृथ्वी के अन्तस्तल में 'लोलुपच्युत' नर्क अवलोकित हुआ जिसमें दण्डभोग-स्वरूपपापियों के निवास करने का समय चौरासी हजार वर्ष था।

उसी समय श्रमण भगवान् महावीर का पदार्पण हुआ। सभा लगी। धर्म-प्रवचन हुआ। सभा उठ गई।

उसी समय ही श्रमण भगवान् महावीर का ज्येष्ठ शिष्य 'इन्द्रभूति' गौतम-परिवार का गृहत्यागी संन्यासी तपोविहार करता था, जिसकी ऊँचाई सात हाथ थी। चार हाथ की चौड़ाई में उसका आसन था। (उसके अंग-अंग सुडौल और सुगठित थे। उसकी अस्थिसंधियाँ वज्रवत् कठोर थीं।) कसौटी पर कसी गई स्वर्ण-रेखा-सी उसकी (समुज्ज्वल) पीतोज्ज्वल भौहें थीं। वज्र, ऋषभ और नाराच उसके अस्त्र थे। उसकी तपस्या उग्र, दीप्त, तप्त, घोर और महान् थी। उसके गुण घोर और उदार थे। वह घोर तपस्वी और घोर ब्रह्मचारी था। उसके उत्क्षुब्ध शरीर में विपुल तेज संयमित था। छः शाम पर वह आहार ग्रहण करता था। इस प्रकार वह इन्द्रभूति अपने को संयम और तपस्या द्वारा भावित कर विहार करता था।

और, भगवान् गौतम 'षष्ठ संध्यापारणात्मक व्रत' के अवसर पर प्रथम दिवस को स्वाध्याय में व्यतीत करते, द्वितीय दिवस को ध्यान में बिताते और तृतीय दिवस को स्थिर, शान्त और असंभ्रांत होकर अपनी मुखमंत्री (अन्यवस्तु-प्रवेश-निरोधक वस्त्र-खंड) की परीक्षा करते।

एक दिन, छठी संध्या को, भगवान् गौतम ने भाजन-वस्त्र का प्रतिलेखन कर और उसे साफ कर अपने साथ ले लिया; अथच, जहाँ श्रमण भगवान् महावीर सुखासीन थे, वहीं जा पहुँचे। पहुँचकर श्रमण भगवान् महावीर की वन्दना करते हुए गौतम ने कहा––"भन्ते! (भगवन्!) आज छठी संध्या के पारण के दिन, आपकी आज्ञा से चाहता हूँ कि 'वाणिजग्राम' नगर के उच्च, नीच और मध्यम कुलों में भिक्षार्थ पर्यटन करूँ। हे देवानुप्रिय! यथा-सुख आज्ञा दीजिए। प्रतिबन्ध मत लगाइए।"

उसके बाद भगवान् गौतम श्रमण भगवान् महावीर की आज्ञा से 'दूतीपलाश' चैत्य से बाहर निकल आए। उसके बाद, स्थिर, शान्त और असंभ्रान्त होकर युगान्तर-

परिलोचक दृष्टि द्वारा आगे चार हाथ की दूरी तक देखते हुए 'वाणिज-ग्राम' पहुँच गए। पहुँच कर, वाणिज-ग्राम नगर के उच्च, नीच और मध्यम कुलों में भिक्षार्थ पर्यटन प्रारंभ किया।

एक दिन, भगवान् गौतम 'वाणिज-ग्राम' नगर में भिक्षाचर्यार्थ पर्यटन करते हुए यथा-प्रज्ञप्त भोजन-पान को सम्यक् ग्रहण करते हुए आगे बढ़े रहे थे कि 'कोल्लाक' उपनगर के संनिकट उन्हें बहुत आदमियों का सम्मिलित स्वर सुनाई पड़ा। सभी आदमी (विस्मय-विमग्ध स्वर में) आपस में इस प्रकार कह रहे थे—

"हे देवानुप्रिय! श्रमण भगवान (महावीर) का प्रिय शिष्य श्रमणोपासक आनन्द पोषधशाला में अपश्चिममरणान्तिकी, संलेखना, जोषणा आदि तपस्या-विधि में निरत होकर, भोजन-पान का प्रत्याख्यान कर काल की अनाकांक्षा करते हुए तपोविहार कर रहा है!"

बहुत आदमियों से यह बात सुनने पर गौतम के मन में विशिष्ट आध्यात्मिक-चिन्तन के रूप में इस प्रकार का संकल्प उदित हुआ।—"तो चलूँ, जाकर आनन्द श्रमणोपासक को देखूँ।" तत्पश्चात् भगवान् गौतम ने ऐसा ही किया। और वे जहाँ कोल्लाक संनिवेश था, जहाँ आनन्द श्रमणोपासक था, जहाँ पोषधशाला थी, वहीं चले गए।

उसके बाद, वह श्रमणोपासक आनन्द भगवान् गौतम को आते हुए देख हृदय से हर्षित हुआ और भगवान् की हार्दिक वंदना करते हुए उनसे कहा—"भन्ते! (भगवन्!) सचमुच मैं इस उदार-घोर तपस्या से सूख कर धमनीशेष रह गया हूँ। अतएव, आपके संनिकट जाकर आपके चरणों की तीन बार सिर झुकाकर वन्दना करने में असमर्थ हूँ। भन्ते! (भगवन्!) इस तरह की बाध्यता देख कर आप ही मेरे निकट आने की कृपा करें, जिससे कि मैं आपके चरणों की तीन बार सिर झुकाकर वन्दना कर पाऊँ।"

(दयाद्रवितचित्त) भगवान् गौतम श्रमणोपासक आनन्द के निकट जाकर खड़े हो गए।

उसके बाद श्रमणोपासक आनन्द ने भगवान् गौतम की तीन बार सिर झुकाकर वन्दना की और इस प्रकार कहा—"भन्ते! (भगवन्!) घर में निवास करते हुए गृहस्थों को अभिज्ञान (दिव्यदृष्टि) उत्पन्न हो सकता है?"

(गौतम ने प्रत्युत्तर किया)—"हाँ, श्रमणोपासक! संभव है।"

(पुनः आनन्द ने प्रश्न किया)—"भन्ते! (भगवन्!) घर में निवास करते हुए गृहस्थों को यदि अभिज्ञान उत्पन्न हो सकता है, तो भन्ते! (भगवन्!) घर में रहते हुए मुझ गृहस्थ को भी, अभिज्ञान प्राप्त हुआ है। उत्तर-पूरब तथा दक्षिण-पश्चिम की ओर पाँच सौ योजन-क्षेत्र में विस्तृत 'लवण-समुद्र', उत्तर की ओर 'चुल्ल हिमवान्' नाम का वर्षधर पर्वत, ऊपर 'सौधर्म' नाम का स्वर्ग और नीचे रत्न-प्रभा पृथ्वी के अन्तस्तल में चौरासी हजार वर्षों के वास की अवधि वाला 'लोलुपच्युत' नर्क को मैं देखता और जानता हूँ।"

उसके बाद भगवान् गौतम ने श्रमणोपासक आनन्द से इस प्रकार कहा—"बहुत ठीक, आनन्द ! घर में रहते हुए गृहस्थों को 'अभिज्ञान' उत्पन्न होता है। परन्तु, यह मार्ग अत्युत्तम नहीं है। अतएव, हे आनन्द ! तुम तनिक इस विषय पर विचार करो और श्रेष्ठ मार्ग द्वारा तपःकर्म को उपलब्ध करो।"

उसके बाद श्रमणोपासक आनन्द ने भगवान् गौतम से इस प्रकार कहा—"अति उत्तम; भन्ते ! (भगवन् !) भगवान् 'जिन' का वचन है कि तथ्यपूर्ण सुन्दर, सत्य तर्कों और समुन्नत भावों की आलोचना कर सकने वाला ही तपःकर्म का वास्तविक अधिकारी है।"

(भगवान् गौतम ने झेंपते हुए कहा)—"नहीं, ऐसी बात नहीं है।"

(आनन्द ने अपनी उक्ति को जारी रखते हुए कहा)—"अवश्य, भन्ते ! (भगवन्!) भगवान् 'जिन' का वचन है कि जो जब तक तथ्यपूर्ण सुन्दर-सत्य तर्कों और समुन्नत भावों की समीक्षा नहीं कर सकता है। तब तक वह तपःकर्म का वास्तविक अधिकारी नहीं हो सकता। तो, भन्ते ! (भगवन् !) आप इस विषय पर विचार करें, और 'जिन' वचनोक्त मार्ग से तपःकर्म उपलब्ध करें।"

उसके बाद, भगवान् गौतम आनन्द श्रमणोपासक के ऐसा कहने पर शंका, आकांक्षा और विचिकित्सा से समापन्न हो कर आनन्द के समीप से बाहर निकल आये। वहाँ से निकल कर वे 'दूतीपलाश' चैत्यस्थित श्रमण भगवान् महावीर के निकट चले गए। (अब, श्रमण भगवान् महावीर के सम्मुख जाने में गौतम के पाँव बँध गए।) कभी ऊपर ताकते, कभी नीचे देखते, कभी भिक्षा में प्राप्त भोजन-पान की ओर निहारते। विचारों की उथल-पुथल में उनका मन विक्षिप्त हो उठा। पहले तो कुछ देर बाहर ही इधर-उधर पदक्षेप करते रहे, फिर, जाते-आते पाँवों को किसी तरह समता प्रदान कर भगवान् महावीर के सम्मुख गए और उनकी वंदना करते हुए उनसे इस प्रकार कहा—"भन्ते ! (भगवन्!) मैं आपकी आज्ञा से भिक्षार्थ 'वाणिज-ग्राम' (वणिक्ग्राम) गया। 'कोल्लाक' उपनगर के पास बहुत-से आदमियों के समवेत स्वर सुनने से मुझे पता चला कि पोषधशाला में श्रमणोपासक आनन्द (तथाकथित) तपस्या द्वारा सूख कर कंकालावशेष हो गया है। मैं उसके देखने की इच्छा से वहाँ गया। वहाँ जाकर मैंने श्रमणोपासक आनन्द को तथाविधरूप में देखा और उससे कहा कि घर में रहते हुए गृहस्थों द्वारा अभिज्ञान-प्राप्ति उनके (गृहस्थों के) लिए अत्युत्तम मार्ग नहीं है। परन्तु, आनन्द ने श्रीमान् के वेद-वाक्य को उद्धृत करते हुए मेरे कथन का खंडन कर दिया। (मैं तो चकित रह गया)। फलतः श्रमणोपासक आनन्द के निकट से निकल कर श्रीमान् की सेवा में (शीघ्रतापूर्वक) चला आया। तो, अब (कृपया) यह बताइये, भन्ते ! (भगवन्!) कि उस जगह पर सोचकर तपःकर्म की उपलब्धि आनन्द के लिए आवश्यक है या मेरे लिए ?"

(गौतम को क्षुब्ध देखकर भगवान् महावीर ने मुस्कुराते हुए कहा)—"गौतम ! तुम ही इस स्थान पर गंभीरतापूर्वक सोचो और उसी के अनुसार तपःकर्म उपलब्ध करो। अथच, इस (अप्रिय सत्य व्यवहार) के लिए श्रमणोपासक आनन्द को क्षमा कर दो।"

उसके बाद भगवान् गौतम "जैसी आज्ञा" की मुद्रा में श्रमण भगवान् महावीर की बातों को सविनय सुनते हैं। सुनकर उस विषय पर विचार करते हैं। विचारोपरांत जिनोक्त मार्ग के अनुसार तपःकर्म को उपलब्ध करते हैं। अथच श्रमणोपासक आनन्द को उक्तविध वाद-विवाद के लिए क्षमा कर देते हैं।

उसके बाद श्रमण भगवान् महावीर अन्य किसी समय किसी भिन्न देश के किसी स्थान में विहारार्थ चले गए।

इधर, श्रमणोपासक आनन्द अनेक शील, व्रत आदि से अपने को भावित कर, बीस वर्षों तक श्रमणोपासक धर्म की उपासना कर, ग्यारह उपासक प्रतिमाओं का शरीर द्वारा सम्यक् अनुपालन कर मासिक संलेखन (तपोविशेष) से अपने को क्षेपित कर और साठ शाम अनशन द्वारा बिताकर समाधि प्राप्त की (समाधिस्थ हो गया)।

कालान्तर में, उसने 'सौधर्म' नामक स्वर्ग में, 'सौधर्मावतंस' नामक श्री-संपन्न स्वर्गीय महाविमान (महाभवन) के उत्तर-पूरब की ओर 'अरुण' भवन में देवत्व प्राप्त किया।

वहाँ प्रत्येक देवता के पूर्णविराम के लिए चार-चार 'पल्योपमों' का प्रबन्ध था। उनमें आनन्द के लिए भी चार 'पल्योपमों' का प्रबन्ध हो गया।

(उसके बाद गौतम ने भगवान् महावीर से प्रश्न किया—"भन्ते! (भगवन्!) आनन्ददेव यथानिर्धारित आयु के क्षय के बाद उस देवलोक से च्युत होकर कहाँ जायगा और कहाँ जन्म लेगा?"

(भगवान् महावीर ने प्रत्युत्तर किया)—"गौतम! (आनन्द देवलोक से च्युत होकर) महाविदेह देश में पूर्णता (सिद्धि-प्राप्ति के लिए) पुनर्जन्म ग्रहण करेगा।"

(क्रमशः)

महान वही मनुष्य है, जिसने मानव-जाति का कुछ कल्याण किया हो, जिसके द्वारा किसी दुखिया का दुःख कम हुआ हो, जिसने अपने बाहुबल से अनाथों और अबलाओं के उत्थान में मदद दी हो, जिसने नई बातों की खोजकर रोग-ग्रस्त मानव-जाति की सहायता की हो, जिसने सबको अपना भाई समझकर उनके आराम और सुख का प्रबन्ध किया हो, जिसका हृदय आपत्तिग्रस्त को देखकर उसकी मदद को दौड़ पड़ता हो, जिसने किसी राष्ट्र के उद्धार के लिए अपना बलिदान कर दिया हो।

—वालटेयर

अगर लोग कपटी और धोखेबाज न होते तो देश में आपत्तियों का क्यों प्रकोप होता? यह हैजा, प्लेग आदि व्याधियाँ दुष्कर्मों के दण्ड हैं। सत्यवादियों के बल पर पृथ्वी ठहरी हुई है, नहीं तो कब की रसातल चली जाती।

—('पंचपरमेश्वर')—प्रेमचन्द

संकलन

अमीर खुसरो के गुरु निजामुद्दीन औलिया

मुहम्मद साहब से कोई ६०० वर्ष बाद 'बुखारा' के रहने वाले दो सैयद, सैयद-अली और सैयद अरब, हिन्दुस्तान आये। कुछ दिन लाहौर में ठहरे, फिर यू० पी० के प्रसिद्ध शहर 'बदायूँ' में आकर बस गये। कुछ दिनों बाद सैयद अली के बेटे सैयद अहमद का व्याह सैयद अरब की बेटी बीबी जुलेखा से हो गया। इनसे ख्वाजा निजामुद्दीन सन् १२३८ ई० में पैदा हुए, जिनका राज लोगों के दिलों पर था। किसी ने उन्हें 'निजामुल् औलिया,' किसी ने 'निजामुल हक' और किसी ने 'महबूबे इलाही' लिखा है। कुछ लोग आदर से 'सुलतान जी' भी कहते हैं। सच है, जिसने अपने-आप को भगवान की राह में मिटा दिया, उसको सभी नाम शोभा देते हैं। जो भगवान का हो जाता है, भगवान भी उसके हो जाते हैं। देवी जुलेखा के बारे में प्रसिद्धि है कि वे जो प्रार्थना करती थीं, ईश्वर उसे मंजूर करते थे और वे बहुधा आगे होने वाली बातें बताया करते थे। जब जुलेखा अपनी अंतिम बीमारी में पड़ीं तो धड़कता दिल लिये सुलतान जी झट जा पहुँचे और रोते-रोते माता के चरणों में गिर पड़े। बेटे का दायाँ हाथ अपने हाथ में थाम, आकाश की ओर मुँह करके बोलीं, "हे भगवान'! इस दुखियारे बेबस बालक को बस तुझे सौंपती हूँ।"—मुँह से यह बात निकल ही रही थी कि शरीर से आत्मा का पंछी उड़ गया। ऐसी माता का सपूत इतना ऊँचा स्थान प्राप्त करे तो कोई अचरज की बात नहीं। सुलतान जी ने पहले कुरान को जबानी याद किया और दस बरस की उमर में पूरे पंडित हो गये। बारहवें बरस में उनके सिर पर फजीलत (पूर्ण पाण्डित्य) की पगड़ी बाँधी गई, पर उनकी विद्या की प्यास अभी तक बुझी न थी। इसी धुन में दिल्ली पहुँच कर उन्होंने मौलाना तबरेजी से 'हदीस' (महात्मा मुहम्मद के उपदेशों का संग्रह) पढ़ कर डिगरी पाई।

मन में तो किताबी विद्या की लगन थी पर भगवान् को उन्हें वह विद्या सिखाना मंजूर था जिससे मन में प्रकाश होता है, जिससे मुर्दों में भी जान पड़ जाती है। यें बदायूँ ही में थे और अभी उमर भी बारह बरस से ऊपर न हुई थी कि अबूबकर नाम के एक कव्वाल बाबा फरीदुद्दीन गंज-शकर का नाम सुना, उसी समय से इनका मन उनकी ओर खिच गया, और ये उन्हीं का नाम जपने लगे। वे सीधे 'अयोधन' जा पहुँचे जहाँ बाबा फरीद रहते थे। बाबा साहब ने उसी समय इन्हें अपना चेला बना लिया और कहा—"निजामुद्दीन'! मैं हिन्दुस्तान में अपनी जगह किसी और को देना चाहता था, पर भगवान् की यह आज्ञा हुई कि निजाम बदायूनी का इंतजार करो, वही इस के हकदार हैं"

उस समय सुलतान जी की आयु २० वर्ष की थी। कोई सात-आठ महीने गुरु की सेवा में रहने पर इन्हें बाबा फरीद की गद्दी मिली। ये उनके चरणों में गिर पड़े। उन्होंने इनका सिर उठा, अपने सिर से पगड़ी उतारकर, इनके सिर पर रख दी, और खुद अपने हाथ से खिलाफत (सबसे बड़े धर्म-गुरु की पदवी) का चोंगा इन्हें पहनाया। ये गुरु की आज्ञा के अनुसार कठिन से कठिन तप करने में लग गये। इन्होंने अपने-आपको लोगों की नज़रों से बहुतेरा छिपाया, पर सच है कि कस्तूरी की सुगन्धि कभी छिपती नहीं। लोग इनके पास खिंचे चले आने लगे। इनके भजन और जप-तप में रुकावट पड़ती थी। ये शहर से बाहर गयासपुर गाँव में जा टिके। (यही वह गाँव है जो अब 'निजामुद्दीन' के नाम से सारे हिन्दुस्तान में प्रसिद्ध है। यह बस्ती शेरशाह की बनवाई प्रसिद्ध सड़क के किनारे बसी है। यह सड़क दिल्ली में 'मथुरा रोड' कहलाती है। 'निजामुद्दीन' नाम से 'जी० आई० पी० रेलवे० का एक स्टेशन भी है, जो नई दिल्ली से अगला स्टेशन है। निजामुद्दीन की आबादी अब नई दिल्ली से मिल गई है।) पर यहाँ भी लोगों की भीड़ बहुत बढ़ गई। एक दिन एक नौजवान से मुठभेड़ हो गई। वह बोला--"या तो पहले ही आपको मशहूर न होना चाहिए था, अब जो प्रसिद्ध हो गये हो तो इसका ख्याल रखिये कि भगवान् के सामने आपको लज्जित न होना पड़े। भला यह भी कोई वीरता है कि ईश्वर के बन्दों से छुप कर रहा जाय? बात तो तब है कि लोगों की भीड़-भाड़ में भी भगवान् से लौ लगी रहे।" सचमुच इससे बढ़कर कोई तप नहीं है कि भगवान् के बन्दों की सेवा की जाय। यह बात सुलतान जी के दिल को ऐसी लगी कि दुनियावालों से तंग होने की जगह उनसे प्रेम करने लगे। और उनकी सेवा का विचार मन में जोश मारने लगा; अब उनके पास आम जनता के सिवा बड़े-बड़े अमीर, वजीर और अफसर, बल्कि बड़े-बड़े बादशाह तक सिर झुकाते थे।

सुलतान जी के जीवन में आठ बादशाह दिल्ली के सिंहासन पर बैठे--मुइज़ुद्दीन ककुबाद, जलालुद्दीन खिलजी, खिजरखाँ, कुतुबुद्दीन, खुसरोखाँ, गयासुद्दीन तुगलक, मुहम्मद तुगलक और अलाउद्दीन खिलजी। कुतबुद्दीन और गयासुद्दीन के सिवा बाकी छहों बादशाह आपको बहुत मानते थे। कुतुबुद्दीन आपसे दुश्मनी रखता था। पर भगवान् के भक्तों का मन तो केवल बादशाहों के बादशाह से ही डरता है, वे दुनिया के बादशाहों की कब परवाह करते हैं। जो सिर राजाओं के राजा के आगे झुका हो, फिर वह किसी और के आगे कैसे झुक सकता है? सब लोग डरे हुए थे कि भगवान् अब क्या होगा! लेकिन भगवान् की लीला, बादशाह के चहेते गुलाम खुसरोखाँ ने अपनी तलवार से कुतुबुद्दीन का काम तमाम कर दिया, और उसकी जगह खुद राजगद्दी संभाल ली और सुलतान जी की सेवा में भारी भेंट (नजराने) और उपहार (तोहफे) भेजे। गयासुद्दीन को तो एक लड़ाई पर जाना पड़ गया। वहाँ से वह लौटने लगा तो बोला--"दिली पहुँच कर निजामुद्दीन को दिल्ली से निकालकर छोड़ूँगा।" सुलतान जी को यह समाचार मिला तो बोले—"हनोज़ दिल्ली दुरस्त" (अभी दिल्ली दूर है)! भगवान् की

लीला, बादशाह अभी दिल्ली से बाहर ही था कि जिस मकान में वह ठहरा था वह अचानक गिर पड़ा और बादशाह उसमें दब कर मर गया !

आपके रहने की जगह सदा नज़रों और चढ़ावों के ढेर लगे रहते थे, लेकिन आप उन्हें आँख उठाकर देखते भी न थे। जो कुछ आता, सब का सब गरीबों और जरूरत-मन्दों को बाँट देते थे। जबतक रोज की आमदनी पूरी की पूरी बाँट न देते थे, सो नहीं सकते थे। दरवाजे पर भिखारियों का मेला-सा लगा रहता था। आप सब की मुरादें पूरी करते, सबका दिल रखते; लेकिन खुद अपना यह हाल था कि सदा रोजे रखते थे और एक रोटी या आधी रोटी से अधिक न खाते थे। रोजा खोलने के बाद सबको अपने साथ बिठाकर खिलाते थे, खास अपने हाथ से भी कुछ-न-कुछ देते थे। अगर कोई आपके लिए कोई भेंट लाता, तो आप उससे अच्छी चीज उसे भेंट करते थे। अस्सी बरस के हो गये थे, पर दिन रोजे में और रात भगवान के भजन में बिताते थे। रोजा खोलने के समय बस नाम भर को कुछ खा लेते थे। सूरज निकलने से पहले रात में खाने का जो समय होता है, उसमें बहुधा कुछ न खाते थे। एक बार नौकर ने कहा—"सहर (भोर का भोजन) भी छट गई तो तो क्या दशा होगी ?" यह सुनकर रोने लगे और बोले—"इतने भिखारी और गरीब भूखे पड़े हैं, ऐसे में भला मेरे गले के नीचे क्या उतर सकता है ?" यह कहते-कहते भोजन सामने से उठवा दिया और फूट-फूट कर रो उठे। भगवान् के भजन से जो समय बचता वह ईश्वर के बन्दों की सेवा में बीतता। आपके हाथों अनगिनत पापियों ने धर्म का अमृत पिया और हजारों भूले-भटके सीधे रास्ते पर आये।

स्वर्गवास होने का समय आया तो अपने नौकर इकबाल की ओर इशारा करके बोले—"इसने कोई चीज़ घर में छोड़ी तो नहीं ?" इस पर इकबाल ने कहा—"साधु-संतों को खिलाने के लिए बस थोड़ा-सा अनाज रख लिया है।" इस पर आप बिगड़ कर बोले—"उसे भी लुटा दो और झाड़ फेर दो।" उसी समय आपकी आज्ञा का पालन किया गया। सन् १३३७ ई० में ९९ बरस के होकर आप स्वर्ग सिधारे। आपके मजार (समाधि) की शानदार इमारत आपके सामने ही बन गयी थी, पर उसमें दफन होना आपको पसंद न था। इसलिए इस इमारत को आपकी वसीयत के अनुसार मस्जिद बना दिया गया, जो निजामुद्दीन में आज तक मौजूद है। उससे मिली हुई जगह पर आप दफन किये गये। शुरू-शुरू में तो वह समाधि कच्ची थी। पक्की क़बर पहली बार अमीर तैमूर ने बनवाई थी। अब वह बहुत ही सुंदर है। घंटों देखने पर भी जी नहीं भरता। आज भी उसे देखकर मन पर बड़ा असर होता है, बहुत से लोग आँसुओं के मोती भेंट चढ़ाते हैं।

—मक्तबा जामिया लिमिटेड (दिल्ली) की पुस्तक से संक्षिप्त

भारत में जनतंत्र का भविष्य

पिछले चार वर्षों के कांग्रेसी शासन को देखकर--जिसमें जन-प्रतिनिधियों (१) की अयोग्यता, भ्रष्टता और अनुचित पक्षपात निसंदिग्ध रूप से मुखर हो उठे हैं--जन-साधारण में जनतन्त्र के बारे में अनेक आशंकाएँ उत्पन्न हो गई हैं। कुछ कहते हैं कि जन-तन्त्र अभी भारत के लिए --जहाँ की ९० प्रतिशत जनता निरक्षर है और राजनीति का ककहरा भी नहीं जानती--उपयुक्त नहीं; अभी वह यहाँ सफल नहीं हो सकता। कुछ जो अपने आपको शायद दूसरों से अधिक अक्लमन्द और व्यावहारिक समझते हैं--कहते हैं कि अभी थोड़े समय के लिए यहाँ अधिनायकशाही (डिक्टेटरशिप) होनी चाहिए। हमें ये दोनों ही बातें अनर्गल और दोनों के ही रुख खतरनाक लगते हैं। जैसा कि हम ऊपर कह आये हैं, जनतंत्र कोई व्यवस्था या प्रणाली मात्र नहीं है, जिसे अव्यावहारिक कहकर छोड़ दिया जाय। वह मानव के जन्मजात सहज-स्वाभाविक स्वातंत्र्य-समानता के अधिकार का एक मूलभूत आदर्शमूलक विश्वास है, जिसके विना हमारा निस्तार नहीं। अतः यह तो प्रश्न ही नहीं उठ सकता कि वह भारत या किसी भी देश के लिए उपयक्त है या नहीं? यदि उसे हम चाहते हैं, तो हमें सारी विघ्न-बाधाओं का मुस्तैदी से मुकाबला करना होगा तथा सारी कठिनाइयों का अतिक्रमण कर उसका कैसा भी छोटा और नगण्य रूप ही क्यों न हो, श्रीगणेश आज और अभी करना होगा। शोषण और पीड़न के इतने लम्बे युगों के बाद कौन देश नैतिक और सामाजिक पतन तथा भ्रष्टता से बचा है ? पर वह मरा तो नहीं, बल्कि अधिक पीड़ित और शोषित देशों ने ही स्वस्थ जनतंत्र की दिशा में अधिक दृढ़ता और तेजी से कदम बढ़ाया है। हमें भी धैर्य और साहस के साथ ऐसा ही करना होगा। जो लोग इस धीरज और साहस की कमी के कारण कुछ समय के लिए अधिनायकशाही की माँग कर रहे हैं, प्रथम तो उनका जनतंत्र-जैसे किसी आदर्श में सच्चा और गहरा विश्वास नहीं, दूसरे वे, इसके संभावित दुष्परिणाम की कल्पना करने में भी शायद असमर्थ हैं। अपने सिर पर अधिनायक बिठाना चीते की पीठ पर सवार होने-जैसा है, जिस पर से उतरना अपने वश की बात नहीं। अधिनायक एक बार सत्तारूढ़ होने के बाद सबसे पहले जनतंत्र की जीवनदात्री जड़ों पर ही कुठाराघात करता है, जिसके बाद उसे हटाना असंभव-सा हो जाता है। हिटलर और मुसोलिनी की तरह वह तो काफी अनिष्ट करने के बाद ही कुत्ते की मौत मरता है; पर तबतक वह देश को भी कई लम्बे वर्षों तक के लिए मार जाता है। यदि हम चाहते हैं कि हमें अधिनायकशाही के दुष्परिणाम का दुर्दिन न देखना पड़े, तो हमें जनतंत्र की स्थापना की दिशा में लगन और निष्ठा से आगे बढ़ना चाहिए। इसके लिए सबसे पहली आवश्यकता है निरक्षर और अज्ञानग्रस्त जनता में शिक्षा और राजनीतिक अधिकारों के प्रति जागरूकता पैदा करना। दूसरी जरूरत इस बात की है कि जो विविध दल और नेता अपनी वैयक्तिक और दलगत महत्त्वाकांक्षाओं के लिए जनता को बहकाते, बरगलाते और उसके दिमाग में एक प्रकार की निराशा-

भरी भ्रान्ति पैदा कर रहे हैं, वे दिल-दिमाग से जरा सोचें कि वे अपना और अपने दल का ही भला चाहते हैं या देश का? अधिक दल और अधिक उम्मीदवार जनता को--और खास तौर पर जबकि वह निरक्षर और जनतन्त्र के नाम तक से अपरिचित हो--शिक्षित करने की अपेक्षा भ्रान्त ही अधिक करते हैं। इस प्रकार के दल, नेता और व्यक्ति जनतन्त्र और देश की काफी बड़ी असेवा ही करते हैं।

--सम्पादकीय (नया समाज, जनतन्त्र-अंक, कलकत्ता, जनवरी, १९५२ ई०)

साहित्य और जनतंत्र

पराधीनता के पाश से मुक्त होकर हमने जनतंत्र तो स्थापित कर लिया है, पर जनता की हीनावस्था अभी तक बनी हुई है। अभीतक उसमें वही बुभुक्षा, वही अशान्ति और वही असन्तोष है। वह अभी तक जीवन की गरिमा नहीं प्राप्त कर सकी है। समाज के भीतर भिन्न-भिन्न विचारधाराओं का जो संघर्ष हो रहा है, उससे जनता किंकर्त्तव्य-विमूढ़ सी हो रही है। उसने अभी तक अपनी उन्नति का ययार्थ मार्ग निश्चित नहीं किया है। वह अभी तक यह भी नहीं समझ सकी है कि उसके जीवन का यथार्थ गौरव कहाँ है, उसका सच्चा ध्येय या आदर्श क्या है? हिन्दी साहित्य में कुछ वर्षों के भीतर जिन भिन्न-भिन्न वादों का प्रचार हुआ, वे सब इसी गरिमा को प्राप्त करने के प्रयास मात्र हैं। नवीनता के कारण कुछ अंश तक लोकप्रियता प्राप्त कर लेने के बाद भी उनका जनता पर असर नहीं पड़ा; क्योंकि जनता ने उसमें अपने जीवन का सच्चा आदर्श प्राप्त नहीं किया। इसीसे एक क्षुद्र सीमा में उनका प्रचार परिमित होने के कारण वे सभी वाद अब समालोचना के विषय-मात्र हो गए हैं। अभी कला और साहित्य में उसी एक वाद की आवश्यकता है, जिसमें लोक-कल्याण की सच्ची भावना निहित हो। यही कारण है कि हिन्दी के लेखक भी भिन्न-भिन्न वादों के समर्थन या विरोध में ही अपनी शक्ति का अपव्यय कर रहे हैं। स्वाधीनता के भैरव-नाद से उनमें जो अन्तः प्रेरणा उदित हुई थी, वह अब भिन्न-भिन्न वादों के तर्कजाल में लुप्त हो गई है।

--सम्पादकीय (सरस्वती, प्रयाग, दिसम्बर, १९५१ ई०)

राष्ट्र का आराध्य

महाकवि कालिदास सरस्वती का श्री श्रृंगार ही नहीं राष्ट्र का चेतना-प्रेरक पुरुष भी है। विदलित देश का उद्धारक भी है। जीवित रहकर उसकी लेखनी ने जिस अमर साहित्य की सृष्टि की है उसके दिवङ्गत हो जाने पर भी उसकी अमर शब्द-सृष्टि ने हम समस्त भारतीयों का मस्तक गौरव से उन्नत किया है। आज हम महाकवि की पूंजी पर कुबेर का अक्षय भंडार लिये हुए हैं। किन्तु यह पूँजी वह भौतिक नहीं है, जिसका कोई व्यक्ति, नगर, देश या राष्ट्र ही उत्तराधिकारी बन सके। इस ज्ञान-

वैभव की यही विशेषता है कि सभी उसका निर्बाध उपयोग कर अपने को समृद्ध-सम्पन्न समझते हैं। यही कारण है कि कालिदास जितना हमारा है, उतना ही विश्व का है, सभी उसकी साहित्यश्री से समृद्ध-समलंकृत हैं।

किन्तु उनके जन्म देने का सौभाग्य इस महान् सांस्कृतिक देश को ही है। इसलिए हमारा गर्व करना स्वाभाविक है। भव्य भारत की वह अमर विभूति है। राष्ट्र की ज्ञानराशि का उन्नत नगाधिराज है। सरस्वती का सुन्दर शृंगार है। प्रतिभा की पावन प्रतिमा है। सर्वकालीन जीवित साहित्य की अक्षय निधि है और वह अनन्त काल तक प्रदीप्त और ज्योतिर्मय बना रहने वाला ज्ञान दीप है। जिसका प्रकाश सदैव निर्मल आलोक प्रसार करता रहता है।

आधुनिक युग के महाकवि श्री रवीन्द्र के शब्दों में:––

उत्सव के दिनों में मिट्टी की जो दीपमाला रची जाती है उसे कोई दूसरे दिन के लिए नहीं उठा रखता, भारतवर्ष में उत्सव के दिनों में ऐसे ही अनेक मिट्टी के प्रदीप क्षणिक-साहित्य रात्रिकाल में ही अपने जीवन की शोभा दिखलाकर प्रातःकाल अनन्त विस्मृति-गर्भ में तिरोहित हो जाते हैं। किन्तु धातु का जो प्रज्ज्वलित पहला दीप देखा गया वह महाकवि कालिदास का है। वह पैतृक प्रदीप आज भी हमारे घरों में अपना प्रकाश फैला रहा है। पहले वह हमारे उज्जयिनी वासी पितामह के प्रासाद-शिखरों पर प्रज्ज्वलित हुआ था। वह आज भी ज्यों का त्यों है, उसमें कभी कोई कलंक-कालिमा नहीं लगती।

––संपादकीय–(विक्रम, उज्जैन, कालिदास-अंक, नवम्बर, १९५१ ई०)

कोष-निर्माण

हिन्दी में शब्द-कोषों के नाम पर जो ग्रन्थ मिलते हैं, उनमें मौलिकता का अधिकार रखने वाले ग्रन्थ अधिक नहीं हैं। मौलिकता से मेरा आशय स्वतंत्र खोज और अनुशीलता से है। इस सम्बन्ध में सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य निश्चय ही नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी का है, जिसने 'शब्द-सागर' नामक विशाल कोष-ग्रन्थ का निर्माण अनेक अधिकारी विद्वानों के अनेक वर्षों के परिश्रम से किया है। त्रुटियाँ होते हुए भी, वह अनेक अर्थों में हमारा सर्वश्रेष्ठ राष्ट्रीय शब्द-संग्रह है। परन्तु हिन्दी शब्द सागर में दार्शनिक और वैज्ञानिक शब्दावली की संख्या अधिक नहीं है। वह मुख्यतः साहित्यिक शब्द कोष है। हिन्दी शब्द-सागर की नींव पर बहुत-से नए शब्द-कोष तैयार किये गए, पर उनमें कोई ऐसी महत्त्वपूर्ण विशेषता न आई कि उनका स्वतंत्र रूप से उल्लेख किया जाय। फिर भी ज्ञानमण्डल, काशी द्वारा प्रकाशित हिन्दी शब्द-संग्रह और हाल में श्रीरामचन्द्र वर्मा द्वारा संपादित प्रामाणिक हिन्दी शब्द-कोष, नवीन अध्यवसाय की सूचना अवश्य देते हैं।

कुछ ऐसे शब्द-कोष हैं, जो भारत की प्रान्तीय भाषाओं के शब्दों का हिन्दी रूपान्तर देते हैं। कुछ अंग्रेजी-हिन्दी-शब्द-कोष भी हैं। परन्तु ये कोष इतने विशाल और प्रामाणिक नहीं हैं कि राष्ट्रभाषा के गौरव के अनुरूप कहे जा सकें। फिर भी इनका निर्माण शुभलक्षण है और इस कार्य को निरंतर आगे बढ़ाने की आवश्यकता भी है। भारतवर्ष की प्रान्तीय भाषाएँ एक दूसरे के संपर्क में आकर ही एक राष्ट्रीय भाषा के निर्माण और प्रतिष्ठापन में योग दे सकेंगी। श्री जी० आर० वैशम्पायन द्वारा प्रस्तुत किये गए 'हिन्दी-मराठी-व्यवहार कोष' 'राष्ट्रभाषा-मराठी-लघुकोष' तथा श्री कुलकर्णी तथा श्री चन्द्रशेखर झिकरे द्वारा संपादित किया गया 'उर्दू मराठी-हिन्दी-शब्द-कोष' इस दिशा में आरम्भिक किन्तु प्रशंसनीय प्रयत्न हैं। श्री यशवन्त रामचन्द्र दाते जी का 'मराठी हिन्दी-शब्द-कोष' भी प्रकाशित हुआ है। हिन्दुस्तानी, हिन्दी और उर्दू को पृथक् पृथक् भाषा मानने वालों ने भी इन भाषाओं के तुलनात्मक शब्द-संग्रह प्रस्तुत किये हैं, जिनका उपयोग हिन्दी की अभिवृद्धि के लिए किया जा सकता है।

पारिभाषिक शब्द-कोष के निर्माण का कार्य भी हिन्दी में होता आया है और आज अनेक शास्त्रीय और पारिभाषिक विषयों के पर्यायवाची शब्द हिन्दी में मिलते हैं। नागरी प्रचारिणी सभा से प्रकाशित राजकीय पारिभाषिक शब्द-कोष इस क्षेत्र का एक उल्लेखनीय प्रयत्न है। प्रयाग की विज्ञान-परिषद् श्री दयाशंकर दुबे जी की अर्थ परिषद् आदि ने भी इस दिशा में आरम्भिक कार्य किया है। वनस्पतियों और उद्भिजों पर एक कोष-ग्रन्थ भी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित हो चुका है। और कचहरियों में व्यवहृत होने वाले शब्दों के हिन्दी पर्याय प्रस्तुत करने में उत्तर प्रान्तीय सरकार और उसके द्वारा नियोजित श्री गोपालचन्द्र सिंह का कार्य भी उल्लेखनीय है।

हिन्दी साहित्य सम्मेलन द्वारा प्रकाशित श्री राहुल सांकृत्यायन का पारिभाषिक शब्द-कोष इस दिशा में आगे बढ़ाया गया एक मुख्य कदम है। इस उद्योग की विशेषता इस बात में है कि इसमें विभिन्न देशभाषाओं और जनपदों में प्रचलित शब्दों का चयन करने की भी चेष्टा की गई है। परन्तु परिमाण और विशिष्टता की दृष्टि से भी अभी इस क्षेत्र में अधिकाधिक कार्य अपेक्षित है। केवल दो-चार व्यक्तियों को ही नहीं, पचीसों, पचासों लोकसेवी साधकों को देहातों में जाकर डेरा डालना पड़ेगा और ग्रामीण जीवन में परिव्याप्त-सहस्रशः वस्तुवाचक शब्दों का संग्रह करना होगा, तुलना करनी होगी और अन्ततः उनका चयन करना होगा, तब जाकर यह कार्य सन्तोष-जनक स्थिति पर पहुँचेगा।

पारिभाषिक शब्द-निर्माण में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य डाक्टर रघुवीर और उनके सहयोगियों का है, जिसकी नियोजना मध्यप्रदेश की प्रान्तीय सरकार ने की है। इस कार्य के लिए प्रान्तीय शासन की इस राष्ट्रीय योजना की जितनी प्रशंसा की जाय थोड़ी होगी। सभी नये कार्यों में त्रुटियाँ होती हैं, सभी नये कार्य अनोखे लगते हैं और उनका विरोध तथा उपहास भी किया जाता है। पर जब हम दूसरे पक्ष से देखते हैं, तब हमें इस बात की प्रसन्नता होती है कि हमारे समाचारपत्रों में, हमारी उच्च श्रेणी

की पाठचपुस्तकों में, प्रामाणिक लेखों और वक्तव्यों में डा० रघुवीर की बनाई शब्दावली का अच्छी मात्रा में प्रयोग होने लगा है और सफलतापूर्वक होने लगा है। जब हम आज से दस-पन्द्रह वर्ष पूर्व के समाचार-पत्रों की भाषा और शब्द-प्रयोगों से आज के समाचार-पत्रों के पारिभाषिक पद-प्रयोगों की तुलना करते हैं तो यह स्पष्ट हो जाता है कि हम निश्चय ही प्रगति के पथ पर चल रहे हैं। अभी-अभी वैज्ञानिक शब्दावली का एक विशाल संग्रह डा० रघुवीर के सम्पादन में प्रकाशित हुआ है, जिसे हम इस क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण ही नहीं, युगप्रवर्त्तक कार्य कह सकते हैं।

शब्द-कोष के अतिरिक्त कुछ अन्य प्रकार के कोष भी होते हैं, जिन्हें हम विषय-कोष, ज्ञान-कोष अथवा विश्व-कोष कह सकते हैं। विषय-कोष से मेरा अभिप्राय किसी एक प्राचीन या नवीन विषय से संबंधित समस्त ज्ञातव्य सामग्री को एक स्थान पर एकत्र कर देने से है। उदाहरण के लिए वैदिक और पौराणिक कथाओं अथवा चरित्रों का अलग-अलग ग्रंथों में क्रमबद्ध संग्रह कर दिया जाय तो उसे हम वेदों या पुराणों का विषय-कोष कह सकते हैं। इसी प्रकार, धार्मिक, ऐतिहासिक या राजनीतिक परम्पराओं से संबंध रखने वाले आवश्यक और उपयोगी विषयों का संग्रह ज्ञान-कोष कहा जा सकता है: ऐसे न जाने कितने विषय और ज्ञान-क्षेत्र हैं जिनका प्रामाणिक कोष तैयार हो जाय तो हमारी राष्ट्रीय सम्पत्ति अधिकाधिक प्रकाश में आ सकेगी। सभी समृद्ध भाषाओं में ऐसे ज्ञान-कोष उपलब्ध होते हैं और वे उन राष्ट्रों के सांस्कृतिक संदेश-वाहक माने जाते हैं। हिन्दी में अब तक ऐसे विषय-कोष और ज्ञान-कोष अधिक नहीं हैं। लखनऊ विश्वभारती नामक एक ऐसा कोष अवश्य प्रकाशित किया जा रहा था, पर वह अबतक अधूरा ही है।

जब शब्द-कोष, विषय-कोष तथा ज्ञान-कोष निर्मित होकर हमारी राष्ट्रभाषा क माध्यम द्वारा राष्ट्रीय जीवन, राष्ट्रीय परम्परा और राष्ट्रीय ज्ञान-धारा का परिवाहन करने लगेंगे, तब आवश्यकता होगी हिन्दी में 'विश्व-कोष' या 'एनसाइक्लोपीडिया' के निर्माण की। मैं समझता हूँ, विश्व-कोष के निर्माण का समय अभी कुछ वर्षों के बाद आयगा, क्योंकि किसी भाषा का विश्व-कोष वास्तव में इस देश के राष्ट्रीय ज्ञान की प्रतिनिधि संपत्ति होती है। जबतक हमारे देश में साहित्य, विज्ञान, दर्शन तथा अन्य विविध विद्याओं के क्षेत्र में इतना महत्त्वपूर्ण नवीन कार्य नहीं हो जाता कि हम अपनी उस सम्पत्ति को विश्व के राष्ट्रों के सम्मुख प्रदर्शित करने की स्थिति में हो जायँ, तबतक सच्चे अर्थ में 'विश्व-कोष' का प्रकाशन संभव नहीं है। ब्रिटेन का अपना विश्व-कोष है, अमेरिका का विश्व-कोष है, अन्य आधुनिक समृद्ध देशों के विश्व-कोष हैं। इन विश्व-कोषों में, जो अधिकतर पश्चिमी राष्ट्रों द्वारा प्रस्तुत किये गए हैं, भारतीय और पूर्वी ज्ञान, विज्ञान तथा कला, साहित्य आदि की चर्चा नाम मात्र को ही की गई है। जो कुछ चर्चा की गई है, वह भी पश्चिमी दृष्टि से, पश्चिमी चश्मे से। परिणाम यह है कि आज भी संसार के सभ्य देशों के सम्मुख हमारी वस्तुएँ बहुत कम आ पाई हैं और जो

कुछ आई हैं उनमें ऊपर कहे गए दृष्टि-दोष और एकांगिता भी है। हमें भारतीय और पूर्वी ज्ञान-विज्ञान, कला-कौशल और अन्य समस्त सांस्कृतिक उपकरणों का एक विश्व-कोष तैयार करना है। तभी हम अपने अतीत के प्रति अपना उत्तरदायित्व पूरा कर सकेंगे। पर प्रश्न केवल अतीत का ही नहीं है, वर्त्तमान और भविष्य को भी देखना है। जबतक हम वर्त्तमान को पुष्ट और प्रौढ़ बनाकर सुदूर भविष्य का पथ प्रशस्त नहीं कर लेते, तबतक, केवल अतीत का प्रदर्शन पूरी सार्थकता नहीं रख सकेगा।

प्रो० नन्ददुलारे वाजपेयी ('वीणा', इन्दौर, जनवरी, १९५२ ई०)

सांस्कृतिक पुनरुद्धार की आवश्यकता

हमारी अत्यावश्यक समस्याओं का--क्या राजनीतिक, क्या आर्थिक और क्या नैतिक का--साधन, जीवन के प्रति नवीन दृष्टिकोण, एक नवीन जीवन-दर्शन ग्रहण करने पर निर्भर करता है। हमें यह बात भूल न जानी चाहिए कि अपनी शारीरिक और सामाजिक परिस्थिति को बहुत कुछ हम आप ही बनाते हैं, और यदि उस परिस्थिति को बदलने की आवश्यकता है, तो हमें पहले अपने आपको बदलना आरंभ करना चाहिए।

नये तत्त्वज्ञान, जीवन के प्रति नवीन दृष्टिकोण का आरंभ इस बात से होना चाहिए कि हम स्वयं जीवन के मूल्य को पहचानें। जब हम संसार को ही माया मानते हैं, तो इसमें आनेवाली अपनी विपत्तियों पर रोना स्पष्टतः बेहूदगी है। जीवन का उद्देश्य जीवन को न मानना, किसी काल्पनिक निर्वाण में इसकी समाप्ति कर देना नहीं। इस ऋणात्मक दृष्टिकोण को निकालकर उसके स्थान में धनात्मक दृष्टिकोण लाना चाहिए, जगत् को मिथ्या नहीं वरन् सत्य समझ कर व्यवहार करना चाहिए। जीवन का उद्देश्य जीना, जीते रहने के आनन्द को बढ़ाना और उस आनन्द को बढ़ाने की अपनी क्षमताओं को विकसित करना है। स्वतंत्रता का यही आदर्श है। नवीन संस्कृति में उसी को सबसे अधिक महत्त्व देने की आवश्यकता है।

श्री सन्तराम ('सरस्वती', प्रयाग, दिसम्बर, १९५१ ई०)

नवीन....और....उल्लेख्य

नदी के द्वीप
स० ही० वात्स्यायन
प्रगति प्रकाशन, नई दिल्ली

आलोचक
न० वि० श०

मैंने अक्सर कहा है कि हिंदी साहित्य का सम-सामयिक युग उपलब्धियों का युग नहीं है। लेकिन मैं महसूस करता हूँ कि यह युग संभावना और आशा का युग है।

किसी प्राचीन विचारक ने कहा है, जिस युग में कम-से-कम एक उत्कृष्ट महाकाव्य नहीं लिखा जाता वह युग निष्फल होता है। आज हम तनिक और उदार होकर उत्कृष्ट महाकाव्य को ही नहीं, महान् उपन्यास की प्रतीक्षा कर रहे हैं। मुझे अपने द्रुतगामी युग से आशा है। मैं भी दूसरों की तरह प्रतीक्षा करता हूँ।

इधर एक बार से अधिक अवसर आए जब मैंने उर्दू शायरी के सुपरिचित आशिक की तरह आशा से थरथराते हाथों से उपन्यास खोले। कुछ उपन्यास पूरे-के-पूरे पढ़ गया, किन्तु भ्रम तो दो-चार अध्यायों के बाद ही मिट गया था। 'अज्ञेय' का हाल में प्रकाशित 'नदी के द्वीप' ऐसे उपन्यासों में से एक है। ऐसे उपन्यासों में वह सर्वोत्तम है, इसलिए उसे पढ़ लेने के बाद उस पर कुछ कहना भी चाहता हूँ।

जब 'नदी के द्वीप' का प्रकाशन नहीं हुआ था, या कम-से-कम मैंने उसे देखा-पढ़ा नहीं था, तभी, कई महीने पहले, मैंने एक साहित्यिक पत्रिका के अग्र-लेख के रूप में लिखा था, "अज्ञेय के 'नदी के द्वीप' के बारे में हम आशान्वित भी हैं और सशंक भी।" यह नहीं कि मुझे साहित्यिक भविष्य-वाणी करते रहने में कोई दिलचस्पी हो। आशा और शंका का आधार था उपन्यास का एक अंश, जो एक मासिक पत्रिका में, शायद बतौर बानगी, मुद्रित हुआ था। हाँड़ी के उस एक चावल को देख कर मैंने जो कहा था वह सच साबित हुआ, इसकी मुझे खुशी नहीं है।

प्रकाशित होते ही 'नदी के द्वीप' ने गहरी प्रतिक्रियाएँ उत्पन्न की हैं। उपन्यास लोकप्रिय सिद्ध हुआ है। उसके संबंध में आलोचकों के प्रतिकूल मत भी प्रकाशित हुए हैं। एक ख्यातनामा उपन्यासकार को शिकायत है कि इस उपन्यास को "पढ़ते हुए मैं भींगा क्यों नहीं, डूबा क्यों नहीं!" उन्हें शिकायत हो सकती है, पर मैं तो उनके भींगने और डूबने से बच जाने पर उन्हें बधाई देना ही अपना कर्त्तव्य मानता हूँ। एक साहित्यिक पत्रिका के अग्र-लेख में उपन्यास की प्रायः नहीं, पर उसके एक पात्र की कुछ उक्तियों के आधार पर, शिकायत है कि इस उपन्यास में राजनीति की एक विशेष प्रणाली पर व्यंग्य है और व्यंग्य गलत

है, वह राजनीतिक प्रणाली ही ग्रौर उसके साहित्यिक सिद्धान्त ही ठीक हैं। चूँकि इन सभी ग्रालोचनाग्रों में उपन्यास की, उपन्यास के रूप में, वास्तविक ग्रालोचना नहीं है, इसलिए इनके संबंध में मुझे कुछ भी नहीं कहना है। लेकिन इन ग्रालोचनाग्रों से यह तो साफ जाहिर होता है कि इस उपन्यास से ग्राशाएँ बहुत थीं ग्रौर वे पूर्ण न हुईं।

मैं ग्रपनी निराशा का कारण बताना चाहूँगा। शेखर की तरह भुवन के बारे में 'ग्रज्ञेय' ने यह बताना जरूरी नहीं समझा है कि ग्राप मानें कि वह 'ग्रज्ञेय' नहीं है। मुझे इससे यहाँ बहस भी नहीं कि शेखर 'ग्रज्ञेय' है या नहीं। लेकिन मुझे भुवन को, जो 'नदी के द्वीप' का मुख्य नायक है, पहचान लेने के बाद जरूर निराशा हुई। भुवन ग्रौर कोई नहीं, शेखर ही है। वह ग्रपनी समझ में पूरी तरह वेष-परिवर्त्तन कर हमारे सामने ग्राता है। उसे ग्रपने वेष-परिवर्त्तन पर भरोसा होगा, पर उसे पहचान लेने में जरा भी दिक्कत होती नहीं। ग्रवश्य वेष-परिवर्त्तन की ग्रसफलता के लिए उपन्यासकार ही उत्तरदायी है। शेखर का वेष ही क्या कम बनावटी है कि उसका फिर वेष-परिवर्त्तन किया जाए ग्रौर यह विश्वास भी पाला जाए कि नए वेष में वह पहचान नहीं लिया जाएगा ?

'नदी के द्वीप' में निर्ममता ग्रौर निर्लिप्तता के साथ चित्रित पुरुष पात्र, चन्द्रमाधव, ग्रपनी एक चिट्ठी में एक बार ग्रौर बहुत कुछ लिखते हुए भुवन को कहता है : 'बुद्धू हो तो क्या हुग्रा !' मैं नहीं समझता, शेखर के रूप में भुवन से परिचित होने पर चन्द्रमाधव ग्रपनी यह राय बदलता ही।

शेखर ग्रौर भुवन, या कहूँ, शेखर या भुवन, ग्रपने बारे में ग्रगर ग्रदना-सी यह बात समझ सकते तो वे चिरकाल तक वयःसंधि की ग्रवस्था में ही बँधे रहने को ग्रभिशप्त नहीं होते, न ग्रात्म-दया ग्रौर ग्रात्म-प्रवंचना के शिकार ही बने रहते। मैं मानता हूँ कि शेखर या भुवन वस्तुतः जैसे हैं उसी रूप में उन्हें ग्रौपन्यासिक पात्र बनाने में कोई सैद्धान्तिक ग्रड़चन नहीं है, लेकिन बात बिगड़ती इस लिए है कि उन्हें लेखक ग्रपनी सहानुभूति देता रहता है, उन पर ग्रावश्यकता से ग्रधिक दया दिखाता है ग्रौर, इसके फलस्वरूप, उनके प्रति उस तटस्थता का निर्वाह नहीं कर पाता जिसे वह बड़ी सिद्धता के साथ ग्रपने दूसरे पुरुष या स्त्री-पात्रों के साथ बरतता है।

चन्द्रमाधव ग्रौर रेखा को ले कर एक महान् उपन्यास की रचना हो सकती थी। दुर्भाग्य यह है कि लेखक का ध्यान भुवन ग्रौर गौरा पर ही लगा रहता है, जो उसके हाथ की कठपुतली बन कर रह जाते हैं। कहना ग्रनावश्यक है कि ठीक इसी कारण 'शेखर : एक जीवनी' भी एक महान् उपन्यास बनते-बनते नहीं बन पाया है।

स्थापत्य की दृष्टि से 'नदी के द्वीप', 'शेखर : एक जीवनी' की ग्रपेक्षा ग्रधिक संतुलित है, क्योंकि इसमें दूसरे उपन्यास की तरह स्थापत्य संबंधी विलक्षणता समाविष्ट करने की महत्त्वाकांक्षा नहीं है। 'शेखर : एक जीवनी' में प्रत्यग्दर्शन-प्रणाली का प्रारंभ में समावेश तो किया गया है, किन्तु बाद में जैसे लेखक भूल ही जाता है कि कथा-प्रवाह

को प्रत्यग्दर्शन के अनुरूप खंडित और असंबद्ध दिखाना आवश्यक है। 'नदी के द्वीप' के प्रारंभिक अंश में भी यह दोष है किन्तु उससे समूचे उपन्यास का स्थापत्य नहीं बिगड़ता, क्योंकि सभी अंश अपने-आप में पूरे हो जाते हैं और दूसरे अंशों से केवल ग्रथित कर दिए जाते हैं। भुवन रेल के डब्बों के हैंडल के सहारे बाहर लटका हुआ है, और प्रत्यग्दर्शन-प्रणाली से, लखनऊ में रेखा के साथ उसके परिचय, बातचीत आदि का ऐसा ब्यौरेवार विवरण उपस्थित कर दिया जाता है कि हमें भुवन की लोकोत्तर मनस्विता पर तो विश्वास नहीं हो पाता, हाँ उसके संकट का खयाल बार-बार होने लगता है।

'नदी के द्वीप' का अत्यन्त सशक्त स्थल है अस्पताल में रेखा के जीवन को बदल देने वाली घटना का वर्णन। इस वर्णन की तुलना हेमिंग्वे के 'ए फेयरवेल टु आर्म्स' के एक ऐसे ही वर्णन से की जा सकती है, जो अनेक दृष्टियों से उपादेय सिद्ध होगी।

'नदी के द्वीप' में हिंदी का वैसा दृढ़बंध, प्रौढ़ और परिष्कृत गद्य मिलता है जिस पर हम गर्व कर सकते हैं। यहाँ एक छोटा-सा उद्धरण दे कर संतोष करना पड़ेगा, जिसमें उपन्यास के शीर्षक की कुंजी भी मिल जाती है: "हाँ, मगर सचमुच सेतु बन सकें तो दोनों ओर से रौंदे जाने में भी सुख है, और रौंदे जा कर टूट कर प्रवाह में गिर पड़ने पर भी सिद्धि। पर मैं तो कह रही हूँ कि मैं तो उतनी कल्पना भी नहीं कर पाती, मैं तो समझती हूँ, हम अधिक-से-अधिक इस प्रवाह में छोटे-छोटे द्वीप हैं, उस प्रवाह से घिरे हुए भी, उससे कटे हुए भी, भूमि से बँधे और स्थिर भी, पर प्रवाह में सर्वदा असहाय भी, न जाने कब, प्रवाह की एक स्वैरिणी लहर आकर मिटा दे, बहा ले जाए, फिर चाहे द्वीप का फूल-पत्ते का आच्छादन कितना सुन्दर क्यों न रहा हो!"

'नदी के द्वीप' के कथोपकथन भी 'शेखर : एक जीवनी' की तुलना में अधिक चमत्कृत करने वाले और विदग्धता-पूर्ण हैं। एक दृष्टान्त : चन्द्रमाधव कुछ राजनीतिज्ञों से मिल कर अभी लौटा है। भुवन पूछता है : "चन्द्र, तुम्हारा इंटरव्यू कैसा रहा? भेंट हुई तो?" चन्द्र जवाब देता है: "बताता हूँ, जरा काफी आने दो, उनकी बातचीत का जायका धो लूँ।" इसके विपरीत उपन्यास में कुछ-एक ऐसे स्थल भी हैं जिनमें गद्य-काव्य का अवांछनीय उच्छ्वास और सजावट है।

समासतः 'नदी के द्वीप' हिंदी उपन्यास-धारा के बीच एक ऐसा द्वीप अवश्य है जो ध्यान आकृष्ट करता है।

आलोचक
न० वि० श०

धूप और धुआँ
श्री रामधारी सिंह 'दिनकर'
अजन्ता प्रेस, पटना

'दिनकर' का यह नवीन काव्य-संग्रह है स काव्य-संग्रह से कुछ लोगों को निराशा हो सकती है; मुझे भय है, ज्यादा निराशा उन्हें ही होगी जो 'दिनकर' की कविता के प्रेमी और प्रशंसक हैं। इनके विपरीत, हिन्दी कविता के विकास पर सतर्क

श्रौर उत्सुक दृष्टि रखने वाला श्रालोचक, 'धूप श्रौर धुश्राँ' में संगृहीत कविताश्रों को पढ़ कर, संतोष का श्रनुभव करेगा।

'धूप श्रौर धुश्राँ' की कविताएँ 'दिनकर' की तीक्ष्ण श्रालोचक-बुद्धि का प्रमाण उपस्थित करती हैं। श्रालोचक 'दिनकर' ने श्रपनी कविताश्रों के संबंध में तटस्थ हो कर समझा है कि कहाँ तक उनका विकास होता रहा था श्रौर कब से उनकी पुनरावृत्ति होने लगी थी। 'दिनकर' के श्रतिरिक्त हिंदी में एकमात्र 'निराला' ने ऐसी निर्मम श्रौर प्रखर श्रालोचक-बुद्धि का परिचय दिया है। स्वरूप-विधान श्रौर शैली के श्रधिकृत प्रकारों को पराकाष्ठा तक पहुँचा कर उनका परित्याग कर देना श्रौर नई दिशा में भटकने का साहस कर लेना इस बात का पर्याप्त प्रमाण है कि कवि का लिखते रहना श्रपना निरर्थक श्रनुकरण मात्र नहीं है। 'धूप श्रौर धुश्राँ' का महत्त्व इसी दृष्टि से है।

संग्रह के 'दो शब्द' में कवि ने श्रपने पद्य-कौशल के परिवर्त्तन के बारे में कहा भी है: "मैं देखता हूँ कि इधर मेरे लिखने की तर्ज कुछ बदली हुई है श्रौर यह नई तर्ज मेरी वर्त्तमान मनोदशा के मुश्राफिक भी श्रा रही है।" 'धूप श्रौर धुश्राँ' की बदली तर्ज हिंदी कविता की बदलती हुई तर्ज है। 'दिनकर' ने इस परिवर्त्तन के महत्त्व के विषय में केवल इतना कह कर छोड़ दिया है'—यह प्रयोग है या प्रगति, मैं नहीं बता सकता'। मेरी दृष्टि में चूँकि यह प्रयोग श्रवश्य ह इस लिए प्रगति भी है।

'रेणुका श्रौर 'हुंकार' श्रौर 'रसवंती' के कवि की 'धूप श्रौर धुश्राँ' पुस्तक की यह कविता देख:

साँपों को तो देखिए, मौत का
रस दांतों में भरे हुए,
चंदन से लिपट पड़े रहते,
खेलते फल की छाँहों में।
जन्नत से कढ़वा दिया शुरू
में ही बेचारे श्रादम को,
श्रौ तब से ही ये पड़े स्वर्ग
में दूध, बताशे खाते हैं।
साँपों से पाएँ त्राण, श्रक्ल
में श्राती कोई बात नहीं,
जनमेजय कितना करे ?
दवता ही साँपों के बस में हैं।
शंकर को तो देखिए, गले
म हैं नागों के हार लिए
श्रौ विष्णुदेव भी साँपों की
गुल-गुली सेज पर सोते हैं।

इस कविता को प्रचलित अर्थ में कविता मानना भी कठिन हो सकता है, क्योंकि यह ठीक है कि इसमें कवितापन तनिक भी तो नहीं है। ये छंद न तो हिंदी काव्यालोचकों के सदा से प्रिय 'प्रेम-लपेटे अटपटे छंद' हैं, न राजनीतिक प्रचार-पद्य। इनमें काव्य के मस्तिष्करण का वह सफल प्रयास है जिसमें माधुर्य या ओज के बदले विचार-तत्त्व और दृष्टिकोण की ही अपेक्षा रहती है।

'दिनकर' ने 'तार-सप्तकों' के प्रयोगशील (जिन्हें प्रयोगवादी कहना भ्रम है) कवियों की तरह एक साथ ही कवि, आचार्य और आलोचक बनने की कोशिश नहीं की है। वह प्रयोगवादियों या कोणवादियों की तरह प्रयोग को काव्य का साध्य मानने की चरम सीमा तक भी नहीं जाते। 'धूप और धुआँ' में संगृहीत कविताएँ, उनकी पहले की कविताओं की तुलना में, प्रयोग हैं। ये प्रयोग उनके भावी काव्य के स्रोत हैं और पूर्वाभास देनेवाले हैं। इनमें जो संभावना है वह मूल्यवान् सिद्ध हो सकती है।

'तुम क्यों लिखते हो' शीर्षक इस संग्रह की एक उल्लेखनीय कविता में इस संभावना का निर्देश-सा किया गया है :

> तुम क्यों रचते हो वृथा स्वाँग, मानों, सारा
> आकाश और पाताल तुम्हारे कर में हो !
> मानों, मनुष्य नीचे हो तुमसे बहुत दूर
> मानों, कोई देवता तुम्हारे स्वर में हो।
>
> सच्चाई की पहचान कि पानी साफ रहे,
> जो भी चाहे, ले परख जलाशय के तल को,
> गहराई का भेद छिपाते हैं केवल,
> जो जान-बूझ गँदला करते अपने जल को।

'धूप और धुआँ' में ऐसी भी अनेक कविताएँ हैं जो उसके महत्त्व को कम करती हैं।

हिंदी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ — *आलोचक*
डा० नगेंद्र; — **न० वि० श०**
आत्माराम एंड सन्स, दिल्ली

हिंदी में, देखकर आश्चर्य होता है, आलोचना की जितनी पुस्तकें प्रकाशित होती हैं उतनी शायद ही उन विषयों की जिनकी आलोचना की जाती है। ऐसी प्रकाशित पुस्तकों में बहुत कम ही महत्त्वपूर्ण होती हैं, किन्तु अक्सर दो-एक काम की पुस्तकें भी इनमें निकल आती हैं।

नगेंद्र की सद्यःप्रकाशित 'आधुनिक हिंदी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ' की गणना इस प्रकार की उपादेय पुस्तकों में अवश्य की जा सकती है। पुस्तक का अधिकांश स्वतंत्र निबंधों के रूप में समय-समय पर प्रकाशित हो चुका है, किन्तु चूँकि सभी हिंदी कविता की

विभिन्न प्रवृत्तियों से संबद्ध हैं, इसलिए उनका एकत्र प्रकाशन सुविधाजनक है। स्वतंत्र निबंधों को, नए अंश जोड़ कर, पुस्तक का आकार देने में लेखक ने सफाई स काम लिया है।

नगेंद्र की इस पुस्तक में आधुनिक हिंदी कविता का, प्रवृत्तियों के अनुसार, इस प्रकार वर्गीकरण किया गया है: छायावाद, राष्ट्रीय-सांस्कृतिक कविता, गांधी-दर्शन से प्रभावित कविता, वैयक्तिक कविता, प्रगतिवादी और प्रयोगवादी कविता। निस्संदेह इस वर्गीकरण में अव्याप्ति दोष नहीं है, अतिव्याप्ति भले ही इसमें मिले। इसका परिहार करते हुए लेखक ने पुस्तक के प्रारंभ में ही कहा है: "आदर्शवादी चिंताधारा के अंतर्गत छायावाद तथा राष्ट्रीय-सांस्कृतिक कविता आती है।" इसके बाद लेखक वैयक्तिक कविता को स्थान देता है जो, उसके शब्दों में, "आदर्शवाद और भौतिक वाद के बीच का सेतु-मार्ग है"। नगेंद्र "भौतिकवादी चिन्ताधारा के अंतर्गत प्रगतिवाद और प्रयोगवाद" दोनों को ही रखते हैं। और फिर भी, मेरी दृष्टि में, अतिव्याप्ति दोष इसलिए बना रह जाता है कि वैयक्तिक कविता को आवश्यकता से अधिक महत्त्व दिया गया है। इसका व्यावहारिक कारण कदाचित् यह हो कि लेखक के पास जो सामग्री सुलभ थी उसका उसे उपयोग ही नहीं करना था, युक्तियुक्त सिद्ध करते हुए उपयोग करना था। यह युक्ति कि वैयक्तिक कविता आदर्शवाद और भौतिकवाद का 'सेतु-मार्ग' है तथ्य से पोषित नहीं हो पाती। बच्चन या अंचल जैसे जिन कवियों की चर्चा वैयक्तिक कविता के अंतर्गत हुई है, वे वस्तुतः गौण छायावादी कवि हैं, क्योंकि उन्होंने छायावाद की एक विशेषता को अपनी कविता की मुख्य विशेषता बनाई है। बच्चन गौण छायावादियों में अवश्य उल्लेखनीय हैं, किन्तु जिस प्रवृत्ति-परिचायक आलोचक-पुस्तक में निराला, प्रसाद, पंत या महादेवी पर स्वतंत्र परिच्छेद नहीं हैं, उसमें बच्चन पर विस्तृत अध्ययन किसी दृष्टि से अनुपात-सम्मत नहीं माना जा सकता। ठीक इसी प्रकार आदर्शवादी धारा के अंतर्गत अकेले सियारामशरण गुप्त पर जितना लिखा गया है वह तभी औचित्यपूर्ण माना जा सकता था जब मैथिलीशरण गुप्त, माखनलाल चतुर्वेदी और 'दिनकर' पर सविस्तर विवेचना हो चुकी रहती। स्पष्ट है कि स्वतंत्र निबंधों को एक सुव्यस्थित योजना का रूप देने के प्रयास में यह अनुपात दोष अनिवार्यतः आ गया है। यह सब होते हुए भी पुस्तक अनुपादेय नहीं है।

बिहार का साहित्यिक इतिहास

'साहित्य' के पिछले अंकों में हिन्दी-प्रेमियों से निवेदन किया जा चुका है कि वे उपर्युक्त इतिहास के लिए आवश्यक सामग्री यथासंभव शीघ्र भेजने की कृपा करें। बहुतेरे सज्जनों ने भेजने की कृपा की है। जिन सज्जनों ने अबतक कोई समग्री न भेजी हो, वे अविलम्ब भेज दें। उपर्युक्त इतिहास के लिए निम्नलिखित प्रकार की सामग्री चाहिए:—

(१) पुराने और नये (मृत और जीवित) लेखकों, कवियों, पत्रकारों और हिन्दी-प्रचारकों का संक्षिप्त जीवन-परिचय। उनका जन्म-संवत् और रचना-काल। उनकी प्रकाशित और अप्रकाशित रचनाओं के नाम तथा विषय-विवरण। उन रचनाओं में से संकलित उत्तम उदाहरण। कुछ विशेष उल्लेखनीय वृत्तान्त। (२) ऐसी संस्थाओं का संक्षिप्त परिचयात्मक विवरण, जिनके द्वारा हिन्दी के विकास और प्रसार में सहायता पहुँची हो। (३) उन पत्र-पत्रिकाओं का विवरणात्मक परिचय, जो बिहार के किसी स्थान से किसी भी समय निकली हों अथवा इस समय निकलती हों। उनके संपादक और प्रकाशक का नाम, उनके प्रकाशन का समय और स्थान, कब से प्रकाशन का आरंभ और कब अन्त हुआ, विषय-विशेष और वार्षिक मूल्य, उनके प्रमुख लेखक और कवि, अन्य ज्ञातव्य बातें।

सब तरह की सामग्री नीचे के पते से भेजी जानी चाहिए:—

मंत्री, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्
सम्मेलन-भवन, पटना—३

बिहार के पुस्तकालयों के संचालकों से नम्र निवेदन

हम चाहते हैं कि बिहार के प्रमुख पुस्तकालयों और हिन्दी संग्राहलयों का संक्षिप्त परिचय 'साहित्य' में क्रमशः प्रकाशित करें। हम केवल ऐसे ही पुस्तकालयों का संक्षिप्त विवरण छापेंगे जिनका उपयोग हिन्दी-साहित्य-संबंधी शोध के लिए किया जा सकता है। जिस पुस्तकालय में अनुसंधान और अनुशीलन के लिए योग्य सामग्री न हो, उसका विवरण हमें नहीं चाहिए। हमारा उद्देश्य केवल इतना ही है कि प्रान्त के प्रमुख पुस्तकालयों में जो शोधोपयोगी सामग्री बिखरी पड़ी है उसका आवश्यक विवरण विद्वान् अन्वेषकों को ज्ञात हो जाय। इसलिए हम निम्नलिखित विवरण चाहते हैं:—

(१) पुस्तकालय का नाम और पूरा पता तथा वहाँ तक पहुँचने के सुगम मार्ग का संकेत। (२) संस्थापक का नाम और संस्थापन-काल। (३) निजी स्वतंत्र भवन है या नहीं? (४) आय के साधन और आर्थिक स्थिति। (५) छपे हुए वार्षिक कार्य-विवरण सुलभ हैं या नहीं? (७) संगृहीत प्राचीन हस्तलिखित पोथियों की संख्या। (८) पुरानी छपी हुई अप्राप्य पुस्तकों की सूची। (९) पुरानी पत्र-पत्रिकाओं की सुरक्षित फाइलों की सूची—सन्-संवत् सहित। (१०) साहित्यिक अनुसंधान में सहायक होने योग्य अन्य महत्त्वपूर्ण सामग्री की सूचना।

'साहित्य'-सम्पादक, सम्मेलन भवन, पटना—३

सम्मेलन के अधिवेशन, उनके सभापति एवं स्वागताध्यक्ष

सभापति	स्वागताध्यक्ष	ईसवी-सन्	स्थान
१. प्रो० जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी	रायबहादुर वैद्यनाथप्रसाद सिंह	१९१९	सोनपुर
२. श्री राजा राधिकारमणप्रसाद सिंह	श्री राधाकृष्ण मोटाणी	१९२०	बेतिया
३. श्री शिवनन्दन सहाय	सेठ श्री रामविलास राय	१९२१	सीतामढ़ी
४. पं० सकलनारायण शर्मा	श्री लक्ष्मीप्रसाद वकील	१९२२	छपरा
५. पं० चन्द्रशेखर मिश्र	देशरत्न डा० राजेन्द्र प्रसाद	१९२३	पटना
६. राजाबहादुर कीर्त्यानन्द सिंह	पं० शिवचन्द्र मिश्र, आयुर्वेदाचार्य	१९२४	मुजफ्फरपुर
७. देशरत्न डा० राजेन्द्र प्रसाद	पं० भुवनेश्वर मिश्र	१९२५	लहेरियासराय
८. आचार्य बदरीनाथ वर्मा	श्री अनुग्रहनारायण सिंह	१९२७	गया
९. रायबहादुर रामरणविजय सिंह	रायबहादुर राजनीतिप्रसाद सिंह	१९२९	मुंगेर
१०. स्वामी भवानीदयाल संन्यासी	श्री मदनलाल बजाज	१९३१	वैद्यनाथ धाम
११. डा० काशीप्रसाद जायसवाल	श्रीमान् कुमार रमानन्द सिंह	१९३३	भागलपुर
१२. पं० जनार्दनप्रसाद झा 'द्विज'	श्रीजगदेवनारायण सिंह	१९३५	छपरा
१३. श्री यशोदानन्दन अखौरी	रायबहादुर रघुवंश प्रसाद सिंह	१९३६	पूर्णिया
१४. श्री व्रजनन्दन सहाय	श्री चंद्रचूड़ देव	१९३६	बेगूसराय
१५. श्री पीर मुहम्मद मूनिस	राजा राधिकारमणप्रसाद सिंह	१९३७	आरा
१६. महापंडित राहुल सांकृत्यायन	श्री दिगम्बर राम	१९३८	राँची
१७. प्रो० शिवपूजन सहाय	आचार्य बदरीनाथ वर्मा	१९४१	पटना
१८. श्री मनोरंजन प्रसाद सिंह	श्री भगवती प्रसाद वर्मा	१९४२	मोतीहारी
१९. श्री रामधारी प्रसाद	श्री श्यामा प्रसाद सिंह	१९४५	मन्दार (बौंसी)
२०. प्रो० जगन्नाथ प्रसाद मिश्र	रायबहादुर श्री उमाशंकर प्रसाद	१९४८	मुजफ्फरपुर
२१. श्री लक्ष्मीनारायण सिंह 'सुधांशु'	श्री कामता प्रसाद सिंह 'काम'	१९५०	गया
२२. श्री रामवृक्ष बेनीपुरी	श्री रामायण प्रसाद	१९५१	आरा

सम्मेलन के वर्त्तमान पदाधिकारी

सभापति--पं० श्री छबिनाथ पाण्डेय। उपसभापति--श्रीमुकुटधारी सिंह, श्री जगन्नाथ प्रसाद मिश्र, श्री देवव्रत शास्त्री, श्री कामता प्रसाद सिंह, 'काम', श्री नन्दकिशोर अग्रवाल। प्रधान मंत्री--श्री ब्रजशंकर वर्मा। संयुक्त मंत्री--श्री रघुवंशनारायण सिंह। सहकारी मंत्री--श्री शिवचन्द्र शर्मा, श्री बालेश्वर अग्रवाल। कोषाध्यक्ष--श्री जयनाथ मिश्र। आय-व्यय-निरीक्षक--बी० गुप्ता एण्ड कंपनी। प्रचार-मंत्री--श्री नीतीश्वर प्रसाद सिंह।

कार्यसमिति के वर्त्तमान सदस्य

(१) पं० श्री छबिनाथ पाण्डेय (२) श्री शिवपूजन सहाय (३) श्री लक्ष्मीनारायण सिंह 'सुधांशु' (४) श्री जगन्नाथ प्रसाद मिश्र (५) श्री रामवृक्ष बेनीपुरी (६) श्री रामधारी सिंह 'दिनकर', (७) श्रीश्रीकान्त ठाकुर, विद्यालंकार, (८) श्री देवव्रत शास्त्री (९) श्री ब्रजनन्दन आजाद (१०) प्रो० श्री नलिन विलोचन शर्मा (११) श्री गंगाशरण सिंह (१२) श्री ब्रजशंकर वर्मा (१३) श्री उमानाथ जी (१४) श्री जगदीश चन्द्र माथुर (१५) श्री नीतीश्वर प्रसाद सिंह (१६) श्री हंसकुमार तिवारी (१७) श्री जयनाथ मिश्र (१८) श्रीमती यमुना वर्मा (१९) श्री ज्ञान साहा (२०) श्री रामदयाल पाण्डेय (२१) प्रो० कपिल (२२) श्री रूपलाल मण्डल (२३) श्री मथुरा प्रसाद सिंह (२४) श्री रामप्रीत शर्मा (२५) श्रीपंचानन मिश्र।

बिहार-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, कदमकुँआ, पटना--३
मुद्रक, मोहनलाल बिश्नोई, मोहन प्रेस, पटना--३